समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

प्रथम खण्ड

डॉ. प्रतापनारायण टंडन

समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ
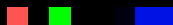
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विश्व समीक्षा शास्त्र का सैद्धांतिक इतिहास तथा विविध देशों की प्रमुख भाषाओं तथा परम्पराओं, विशेष रूप से संस्कृत, हिन्दी, यूनानी, रोमीय, अँग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, जर्मन, रूसी, तथा अमरीकी आदि का वैज्ञानिक एवं गवेषणापूर्ण अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्रमुख समीक्षात्मक परम्पराओं, विचार प्रणालियों तथा चिंतन धाराओं का विकासात्मक इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही साथ इसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य वैचारिक दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा सम्यक् मूल्यांकन भी उपस्थित किया गया है, जिसके कारण यह प्रबंध हिंदी शोध के इतिहास की गौरवशालिनी परम्परा में एक ऐतिहासिक उपलब्धि बिन्दु के रूप में मान्य होगा।

डॉ०   टंडन—जन्म लखनऊ शिक्षा बी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए० (स्पेशल) लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा, मध्यमा (विशारद) तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् १९५८ में लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास शीर्षक प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। लखनऊ विश्वविद्यालय से ही सन् १९६३ में समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रबन्ध पर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६३ का बोनर्जी रिसर्च प्राइज भी प्रदान किया गया। प्रकाशित कृतियाँ : आधुनिक साहित्य (निबंध संग्रह) सन् १९५६, (प्रकाशक—विद्यामंदिर, लखनऊ) हिन्दी उपन्यास में वर्ग भावना : प्रेमचन्द युग (शोध रचना) सन् १९५६ (प्रकाशक—हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय), कैंडिडे (अनुवाद) सन् १९५६ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन, दिल्ली), रीता की शादी (उपन्यास) सन् १९५७ (प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन, लखनऊ), हिंदी साहित्य : पिछला दशक (आलोचना) सन् १९५७ (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ), हिंदी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास (शोध प्रबन्ध) सन् १९५९, (प्रकाशक—हिंदी साहित्य भण्डार, लखनऊ), अन्धी दृष्टि (उपन्यास) सन् १९६० (प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली), बदलते इरादे (कहानी संग्रह) सन् १९६० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ), हिंदी उपन्यास का उद्भव और विकास (संक्षिप्त प्रबंध) सन् १९६० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य भण्डार, लखनऊ), रीता (पॉकेट संस्करण) १९६२ (हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली) स्वर्ग माया (नाटक) सन् १९६२ (प्रकाशक—भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली), रुपहले पानी की बूँदें (उपन्यास) सन् १९६४ (विवेक प्रकाशन, लखनऊ), शून्य की पूर्ति (कहानी संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन, लखनऊ) तथा नवाब ककनौवर (कहानी संग्रह) सन् १९६४, (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन, लखनऊ) आदि। उपर्युक्त में से हिंदी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास तथा अन्धी दृष्टि नामक रचनाएँ उत्तर प्रदेशीय शासन द्वारा पुरस्कृत की गयीं। संपादन कार्य : लखनऊ से प्रकाशित नई कहानी संकलन (१९५६) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९५५ से १९५९ तक युग चेतना (लखनऊ) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक दर्जन से अधिक कहानियाँ, वार्ताएँ तथा नाटक आदि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९६४ में इटली (योरप) की यात्रा की तथा रोम, पिस्टोइया, पीसा तथा फ्लोरेंस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। अध्यापन : जनवरी-अक्टूबर १९५९ में राजकीय रजा डिग्री कालेज, रामपुर में हिंदी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९५९ से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[लखनऊ विश्वविद्यालय की डी० लिट्० (हिंदी) की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

प्रथम खंड

लेखक

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्.

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
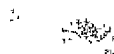
मूल्य
पच्चीस रुपये (प्रथम खण्ड)
संस्करण
प्रथम, १९६५

प्रकाशक
विवेक प्रकाशन
किशोर बुक डिपो, अमीनाबाद, लखनऊ
मुद्रक
वंदना प्रेस,
नजीरगंज, डालीगंज, लखनऊ

गुरुवर

डॉ० दीनदयालु गुप्त, डी. लिट्.

को सादर समर्पित

—प्रतापनारायण टंडन

विषय सूची

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय: ४

रीति कालीन हिंदी समीक्षा शास्त्र का विकास और विविध सिद्धान्तों का स्वरूप, पृ० ४०३—५००

श्लेष, परिवृत्त, सहोक्ति विनोक्ति, समासोक्ति [illegible], अत्युक्ति, लोकोक्ति, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, युक्ति, प्रतीप, परिकर, परिकरांकुर, अनुमान, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, आक्षेप विभावना, अधिक, मीलित, उन्मीलित, सामान्य विशेष, पिहित, तद्गुण, अतद्गुण, अनुगुण, पूर्वरूप, समुच्चय, वक्रोक्ति, श्लेष, एकावली, मालादीपक, क्रम, पर्याय, विनोक्ति, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, ललित, अनुज्ञा, रत्नावली, मुद्रालंकार, भाविक, उदात्त, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, दृष्टान्त, प्रस्तुतांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, असंगति, सम, विचित्र, व्याघात, प्रत्यनीक तथा अनुप्रास—४५८।

अन्य आचार्य—श्रीधर, नायिका भेद, चित्र काव्य—४५९, लाल—विष्णुविलास—४५९, कुंदन बुन्देलखण्डी—नायिका भेद—४५९, केशवराय—नायिका भेद तथा रस कलिका—४५९, गोबु राम—रस भूषण, दश कवच—४५९, बेनीप्रसाद—रस शृंगार समुद्र—४५९, सांग राम—रस दीपक, नायिका भेद—४५९, गंजन—कमरुद्दीन खाँ हुलास—४५९, भूपति—कंठाभूषण, रस रत्नाकर—४५९, वीर—कृष्ण चन्द्रिका—४५९, वंशीधर, तथा दलपतिराय—अलंकार, रत्नाकर तथा भाषा भूषण—४५९।

सोमनाथ मिश्र—परिचय तथा कृतियाँ—४५९, रस पीयूषनिधि—४५९, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान विलास, माधव विनोद—४६०। काव्य निरूपण—४६०, शब्द शक्ति निरूपण—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—४६१। ध्वनि निरूपण—४६१, अविवक्षित वाच्य ध्वनि, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि, विवक्षित वाच्य ध्वनि—४६२। रस निरूपण—४६६, भाव के भेद—स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव—४६२ विभाव के भेद—आलंबन विभाव तथा उद्दीपन विभाव—४६३। शृंगार रस के भेद—संयोग शृंगार तथा वियोग शृंगार—४६४। अन्य रस—हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त रस—४६६। दोष निरूपण, शब्द गत दोष—असमर्थ, कर्णकटु, अप्रयुक्त, अश्लील तथा सन्दिग्ध—४६५, अर्थगत दोष—व्यूनपद तथा कृतवृत्त—४६६, वाक्यगत दोष—न्यून पद, सहचर भिन्न, ग्राह्य युत, आकृत, निर्हेतु, दुष्क्रम, पुनरुक्त, अनवीकृत, सामान्य, विशेष, सामान्य प्रसिद्ध विरुद्ध, तथा विद्या विरुद्ध—४६६। गुण निरूपण"—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—४६६। अलंकार निरूपण—उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय, प्रतीप रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति

शब्द दोष—श्रुति कटु, मात्रहीन, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, ग्राम्य, संदिग्ध, अप्रतीत, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विरोध तथा विरोधमान—४७७। वाक्य दोष—प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, विसंधि न्यून पद, अधिक पद, पतत्प्रकर्ष, पुनरुक्ति, समाप्त, पुनरात्त, चरणान्तर्गत पद, अभवन्मतयोग, अकथित कथनीय, अस्थान पद, संकीर्ण पद, गर्भित, अमतपरार्थ, प्रकरण भंग, तथा प्रसिद्धहीन—४७७। अर्थ दोष—अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, अनवीकृत, नियम, परिवृत्त, अनियम, परिवृत्त, विशेष परिवृत्त, सामान्य परिवृत्त, साकांक्ष, विधि, अयुक्त, अनुवाद अयुक्त, प्रसिद्ध विरुद्ध, प्रकाशित विरुद्ध, सहचर भिन्न, अश्लीलार्थ, तथा त्यक्त पुनः—४७८। रस निरूपण—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, तथा अद्भुत—४७८। शृंगार रस—वियोग तथा संयोग—४७९। वियोग शृंगार के प्रकार—अभिलाष, प्रवास, विरह, असूया तथा शाप—४७९। काम दशाएँ—उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, तथा मरण। व्यभिचारी या संचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, विषाद, उत्कंठा, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विरोध, अमर्ष, अवहित्थ, गर्व, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क,—४८०। अलंकार निरूपण—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता तथा प्रतिवस्तूपमा—४८०। उत्प्रेक्षा वर्ग—उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, संदेह—४८१। व्यतिरेक, रूपक वर्ग—अधिक, हानि, सम, तद्रूप—४८१। अतिशयोक्ति वर्ग—अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प, विशेष,—४८१। अन्योक्ति वर्ग—अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, पर्यायोक्ति—४८१। विरुद्ध वर्ग—विरुद्ध, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, विषम—४८१। उल्लास वर्ग—उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्व रूप, अनुगुण, मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेष—४८२। सम वर्ग—सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, प्रहर्षण, विषादन, संभावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थ पत्ति—४८२। सूक्ष्म वर्ग—सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर, परिकरांकुर—४८२। स्वभावोक्ति वर्ग—स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर—४८२। यथासंख्य तथा दीपक वर्ग—यथासंख्य, एकावली, कारण माला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय, दीपक—४८३। अन्य—उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय, अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा, यमक, सिंहावलोकन—४८३। शब्दालंकार

अध्याय ५

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परंपराओं और दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन,

पृ० ५०१-५३२

समीक्षा के मान

और

हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

निवेदन

समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विविध देशों और भाषाओं के मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उनकी परम्पराओं का प्रसार सुदूर अतीत काल तक है। विभिन्न सम्प्रदायों की निर्मिति दीर्घकालिक प्रक्रिया के फलस्वरूप होती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की भाषाओं में उपलब्ध समीक्षा परम्पराओं का ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार अध्ययन करते हुए यह देखने की चेष्टा की गयी है कि भिन्न-भिन्न युगों में समीक्षा के मानदण्डों में किस प्रकार से परिवर्तन हुआ है। इस कृति में उन परिवर्तनों के कारणों की खोज करते हुए उनके स्थायित्व अथवा असामयिक अन्त का विश्लेषण करने के साथ ही साथ उनकी सम्यक्ता और अपूर्णता की भी परख की गयी है। विभिन्न समीक्षा प्रणालियों का अध्ययन करके इस सम्भावना पर विचार किया गया है कि ऐसी समीक्षा पद्धति किस प्रकार की हो सकती है, जिसका क्षेत्र संकुचित न हो। सारांश यह है कि इस प्रबन्ध में एक सम्यक्, शाश्वत तथा उपयुक्त समीक्षात्मक मानदण्ड का निरूपण करते हुए उसके स्वरूप की रूपरेखा स्पष्ट की गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सैद्धांतिक रूप से समीक्षा और उसके व्यापक स्वरूप की विवेचना की गई है। इसमें "समीक्षा" शब्द तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए समीक्षा की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। समीक्षा और शोध का पारस्परिक भेद भी इसी में स्पष्ट किया गया है। फिर "समीक्षा" शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए उसकी प्राचीनता पर विचार किया गया है। समीक्षा और शोध के पारस्परिक भेद के इस स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में शोध का अर्थ, शोध की प्रक्रिया, शोध का क्षेत्र, शोध का विभाजन, शोध-कर्ता की योग्यताएँ तथा शोध के प्रकार भी उल्लिखित किये गये हैं। समीक्षा की मर्यादा का निर्धारण करते हुए एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की गई है। समीक्षक और लेखक का

दृष्टिकोण और क्षेत्र बताते हुए पाठक, लेखक और समीक्षक के अनिवार्य गुणों की ओर संकेत किया गया है। सहृदयता, सुशिक्षा, निष्पक्षता, उदारता, सौन्दर्यानुभूति, रचनात्मक प्रतिभा, भाषा पर अधिकार तथा मूल्यांकन का दृष्टिकोण एक समीक्षक के गुण माने गये हैं। समीक्षक के दायित्वों पर विचार करते हुए यह संकेत किया गया है कि उसे एक शास्त्रीय कार्य का निर्वाह करना होता है, इसलिए उसमें विषय की योग्यता होना अनिवार्य है। साहित्य परीक्षण के लिए साहित्य विषयक अन्तर्दृष्टि का भी होना उसमें आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में बहुधा गतिरोध की स्थिति विद्यमान रहती है। तब समीक्षक का दायित्व एक रचनात्मक लेखक अथवा जागरूक पाठक की अपेक्षा अधिक हो जाता है। इसलिए मानवीय चेतना का विवेक और उसे व्यावहारिक रूप दे सकने की क्षमता भी समीक्षक में होनी चाहिए। जहाँ तक समीक्षा के क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसका विस्तार साहित्य की भाँति शाश्वत माना जाता है। युगीन धरातल पर किसी कृति का परीक्षण और जातीय या राष्ट्रीय संस्कृति में निहित संदेशों का परीक्षण समीक्षा इसलिए करती है, क्योंकि वह साहित्य की पूरक होती है।

समीक्षा के लिए चिन्तनात्मक प्रशस्ति भी अनिवार्य है। समीक्षा के आधार के सम्बन्ध में यह संकेत किया गया है कि एक शास्त्र होने के कारण कुछ मूलभूत तत्व उसके आधार होते हैं। एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्धारण शास्त्रीय तत्वों द्वारा नियन्त्रित रूप में होना चाहिए। समीक्षा के क्षेत्र में सैद्धान्तिक नियमन के साथ ही साथ कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी विद्यमान रहती हैं। इसका कारण यह होता है कि समीक्षा का कार्य एक उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य है, जो साहित्य की श्रेष्ठता का माप करता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की समस्या भी इसी के अन्तर्गत है, क्योंकि सैद्धान्तिक अपूर्णता और एकांगिता उसमें व्याप्त रहती है। इसके अतिरिक्त समीक्षा के सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन एक बात है और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रयोग में लाना भिन्न बात। साथ ही, शास्त्रीय परम्परा में बहुधा विदेशी भाषाओं का प्रभाव तथा नवीन दृष्टिकोण संयुक्त होता चलता है। इसलिए भी व्यावहारिक प्रयोग में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। इस अध्याय के अन्त में, समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या पर विचार किया गया है, क्योंकि प्रत्येक युग में यह समस्या साहित्य विचारकों के सामने रहती है। प्राचीन और नवीन विचारधाराओं का संघर्ष होता है, नये मूल्यों का निर्धारण होता रहता है और वैचारिक अनेकरूपता भी सामने रहती है। इसलिए किसी भी युग में मान निर्धारण के पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों का परीक्षण अनिवार्य हो जाता है।

के लिए कुछ योग्यताओं का भी निर्धारण किया है। उसके विचार से समीक्षक को कला, दर्शन, सौन्दर्य शास्त्र और समालोचना का सम्पूर्ण अध्ययन, अनुभव और ज्ञान होना चाहिए, तभी वह अपने गुरुतर कार्य का निर्वाह उचित प्रकार से कर सकेगा। लोंजाइनस के साथ ही प्राचीन यूरोप की इस यूनानी चिन्तन परम्परा का अन्त हो गया। इसीलिए, लोंजाइनस का नाम इस सुदीर्घ परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इसके बाद जो यूनानी विचारक हुए, उन्होंने इस परम्परा की समृद्धि में कोई योग नहीं दिया। साहित्य के चिन्तन का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र भी एथेन्स न रहा और एक नई वैचारिक परम्परा का आरम्भ हुआ।

यूनानी साहित्य चिन्तन की परम्परा के अन्त के पश्चात् यूरोप में साहित्य और कला का चिन्तन केन्द्र रोम बन गया, जहाँ लैटिन समीक्षा का आरम्भ और विकास हुआ। यह नवीन वैचारिक परम्परा स्वतन्त्र रूप में बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी अंशतः यूनानी परम्परा के अनुकरण पर ही विकसित हुई। इस रोमीय परम्परा के अन्तर्गत पहला उल्लेखनीय विचारक सिसरो हुआ। सिसरो ने मुख्य रूप से भाषण शास्त्र से सम्बन्धित चिन्तन किया। भाषण शास्त्र विषयक उसके महत्वपूर्ण विचारों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही साथ काव्य के तत्व तथा समीक्षा के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले उसके कुछ विचारों का भी संकेत इस सन्दर्भ में किया गया है। तत्पश्चात् रोमीय चिन्तन की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले दूसरे महान् विचारक होरेस के काव्य के स्वरूप, काव्य और अनुकरणात्मकता, नाट्य कला, शैली, विवेचन तथा समीक्षात्मक विचारों का उल्लेख किया गया है। उसकी महत्वपूर्ण देन यह थी कि उसने अनुकरण की नई परिभाषा बनाई और उसकी मौलिक प्रयोगात्मकता पर बल दिया। होरेस के पश्चात् क्विण्टीलियन का आविर्भाव हुआ। उसने रोमीय साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हुए अपने विचारों की स्थापना की। क्विण्टीलियन के साथ ही साथ रोम की इस वैचारिक परम्परा का अन्त हो गया।

यूनान तथा रोम की परम्पराओं की समाप्ति के पश्चात् यूरोप में पुनर्जागरण कालीन स्थिति आती है। इस पुनर्जागरण काल के साथ ही कई सौ वर्षों के अन्तराल के पश्चात् पुनः साहित्य समीक्षा के स्वरूप का प्रसार हुआ। लगभग सोलहवीं शताब्दी में अँग्रेजी समीक्षा का व्यवस्थित रूप में आरम्भ हुआ, जिसके अन्तर्गत स्टीफेन हॉज, सर टॉमस विल्सन, सर जॉन चीक, अशॉम आदि विचारकों के साथ ही साथ कुछ अन्य-चिन्तकों के विचारों का भी विश्लेषण किया गया है, जिनमें सर फिलिप सिडनी का नाम

के अन्तर्गत की गई है। इस शताब्दी की प्रमुख वैचारिक विभूति के रूप में डॉ० सैमुअल जानसन को मान्य किया गया है, क्योंकि उनका वैचारिक व्यक्तित्व और महत्व असाधारण था। आधुनिक युगीन समीक्षा के अन्तर्गत इटली के क्रोचे की चर्चा की गई है, जिसने एक सौन्दर्य शास्त्री और दार्शनिक होते हुये भी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र को विशद रूप से प्रभावित किया। फ्रांसीसी समीक्षा के अन्तर्गत ज्यां पॉल सार्त्र का उल्लेख भी किया गया है। वह वर्तमान समय का महान् चिन्तक है। स्पेन की समीक्षा के अन्तर्गत विविध प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए आधुनिक जर्मन चिंतन में लेसिंग की चर्चा विशेष रूप से की गयी है। आधुनिक युगीन रूसी समीक्षा में लोमोनोसोव, बेलिंस्की, मिखायलोवस्की तथा टॉल्सटाय के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। आधुनिक युगीन अमेरिकी समीक्षा में हेनरी जेम्स, स्टेडमेन तथा स्पिनगार्न की चर्चा विशेष रूप से की गई है। आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षकों में विलियम वर्ड्स्वर्थ, कॉलरिज, कॉरलाइल, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट तथा ई० एम० फार्स्टर आदि विचारकों के प्रमुख मन्तव्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए पाश्चात्य समीक्षा परम्पराओं का महत्व और समीक्षात्मक स्वरूपों का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में संस्कृत समीक्षा शास्त्र के विकास का परिचय देते हुए विविध सिद्धान्तों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। भारत की चिन्तन परम्पराओं में प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा अन्यतम है। रचनात्मक साहित्य और शास्त्रीय क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियाँ आज भी असाधारण रूप में मान्य हैं। संस्कृत में समीक्षा शास्त्र का विशद महत्व बताया गया है। यहाँ तक कि समीक्षा शास्त्र को वेद का सातवाँ अंग तक माना गया है। अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीनता की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा विशेष रूप से महत्व रखती है और ऋग्वेद तक उसका प्रसार मिलता है। परन्तु साहित्य शास्त्रीय नियमन और संयोजन की दृष्टि से भरत मुनि प्रथम साहित्य शास्त्री हैं, जिन्होंने अपने "नाट्य शास्त्र" नामक ग्रन्थ में साहित्य शास्त्र का सम्यक् निरूपण प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में मुनि भरत को मान्य करते हुए उनके सिद्धान्तों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में जो विभिन्न सम्प्रदायों का प्रसार हुआ है, उनमें रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप में भी भरत मुनि को मान्यता दी जाती है। भरत मुनि ने रस का विवेचन करते हुए उसका सम्यक् निरूपण प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ में रस का महत्व, रस का विभाजन, भाव वर्णन, रस और भाव, रस उत्पत्ति, रस देवता, रस वर्णन, शृंगार, हास्य, करुण,

प्रस्तुत प्रबन्ध के चौथे अध्याय में रीति कालीन हिन्दी साहित्य के विकास और विभिन्न सिद्धान्तों के स्वरूप की व्याख्या की गयी है। रीति कालीन हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार-भूमि उसकी पूर्ववर्ती भाषा-परम्पराएँ रही हैं। उनमें से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से है। उसी से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करके रीति कालीन हिन्दी आचार्यों ने अपने साहित्य सिद्धान्तों का निरूपण किया। हिन्दी रीति साहित्य की परम्परा के अन्तर्गत सर्वप्रथम पुंड अथवा पुष्य तथा कृपा राम की चर्चा की गयी है। गोप, मोहनलाल मिश्र तथा नन्ददास का उल्लेख भी इसी सन्दर्भ में किया गया है। फिर हिन्दी रीति शास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में "कवि प्रिया" और "रसिक प्रिया" आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणेता केशवदास के सिद्धान्तों के अन्तर्गत कवियों के प्रकार, कवि-रीति-वर्णन, काव्य-दोष-वर्णन, अलंकार-वर्णन, रस-विवेचन, नायक-भेद, नायिका-भेद, रस के अंग, वियोग शृंगार तथा अन्य रसों की व्याख्या की गयी है। सुन्दर कवि की चर्चा भी इसी सन्दर्भ में की गयी है। फिर आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य-पुरुष, काव्य के गुण, रस-निरूपण, रस के अग, अलंकार-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण तथा ध्वनि-निरूपण आदि से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत किया गया है। चिन्तामणि के परवर्ती आचार्यों में गोप, जसवन्त सिंह, हेमराम, शम्भूनाथ तथा सम्भाजी एवं मंडन आदि आचार्यों का उल्लेख किया गया है। मतिराम और भूषण की चर्चा के साथ कुलपति के काव्य का लक्षण, काव्य का प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्य के भेद, शब्द-अर्थ-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, ध्वनि-निरूपण, रस-निरूपण, दोष-निरूपण, गुण-निरूपण, रीति-निरूपण तथा अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से सुखदेव मिश्र, रामजी, गोपाल राम, बलिराम, बलबीर, कल्याणदास, श्री निवास और कालिदास त्रिवेदी के विचारों का भी उल्लेख किया गया है।

आचार्य देव के काव्य-निरूपण, अलंकार-निरूपण, रस-निरूपण आदि की व्याख्या के साथ इसी अध्याय में सूरति मिश्र, गोप, याकूब खाँ, कुमार मणि भट्ट तथा श्रीपति के परिचय के साथ आचार्य श्रीपति के काव्य का स्वरूप, काव्य के दोष, अलंकार-निरूपण तथा रस के निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से रसिक सुमति, श्रीधर, कुन्दन बुन्देलखंडी, केशवराय, गोदुराम, बेनी प्रसाद, खंगराम, गंजन, भूपति, वीर, बंशीधर तथा दलपति राम आदि का उल्लेख किया गया है। आचार्य सोमनाथ मिश्र के सिद्धान्तों में मुख्य रूप से काव्य-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, ध्वनि-निरूपण, रस-निरूपण, दोष-निरूपण, गुण-निरूपण, अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गई है। फिर करन,

प्रस्तुत प्रबन्ध के चौथे अध्याय में रीति कालीन हिन्दी साहित्य के विकास औ विभिन्न सिद्धान्तों के स्वरूप की व्याख्या की गयी है। रीति कालीन हिन्दी समीक्ष शास्त्र की आधार-भूमि उसकी पूर्ववर्ती भाषा-परम्पराएँ रही हैं। उनमें से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से है। उसी से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करके रीति कालीन हिन्दी आचार्यों ने अपने साहित्य सिद्धान्तों का निरूपण किया। हिन्दी रीति साहित्य की परम्परा के अन्तर्गत सर्वप्रथम पुंड अथवा पुष्य तथा कृपा राम की चर्चा की गयी है। गोप, मोहनलाल मिश्र तथा नन्ददास का उल्लेख भी इसी सन्दर्भ मे किया गया है। फिर हिन्दी रीति शास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में "कवि प्रिय'।' और "रसिक प्रिया" आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणेता केशवदास के सिद्धान्तों के अन्तर्गत कवियों के प्रकार, कवि-रीति-वर्णन, काव्य-दोष-वर्णन, अलंकार-वर्णन, रस-विवेचन, नायक-भेद, नायिका-भेद, रस के अंग, वियोग शृंगार तथा अन्य रसों की व्याख्या की गयी है। सुन्दर कवि की चर्चा भी इसी सन्दर्भ में की गयी है। फिर आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य-पुरुष, काव्य के गुण, रस-निरूपण, रस के अंग, अलंकार-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण तथा ध्वनि-निरूपण आदि से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत किया गया है। चिन्तामणि के परवर्ती आचार्यों में तोष, जसवन्त सिंह, हेमराम, शम्भूनाथ तथा सम्भाजी एवं मंडन आदि आचार्यों का उल्लेख किया गया है। मतिराम और भूषण की चर्चा के साथ कुलपति के काव्य का लक्षण, काव्य का प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्य के भेद, शब्द-अर्थ-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, ध्वनि-निरूपण, रस-निरूपण, दोष-निरूपण, गुण-निरूपण, रीति-निरूपण तथा अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से सुखदेव मिश्र, रामजी, गोपाल राम, बलिराम, बलबीर, कल्याणदास, श्री निवास और कालिदास त्रिवेदी के विचारो का भी उल्लेख किया गया है।

आचार्य देव के काव्य-निरूपण, अलंकार-निरूपण, रस-निरूपण आदि की व्याख्या के साथ इसी अध्याय में सूरति मिश्र, गोप, याकूब खाँ, कुमार मणि भट्ट तथा श्रीपति के परिचय के साथ आचार्य श्रीपति के काव्य का स्वरूप, काव्य के दोष, अलंकार-निरूपण तथा रस के निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से रसिक सुमति, श्रीधर, कुन्दन बुन्देलखंडी, केशवराय, गोदुराम, बेनी प्रसाद, खंगराम, गंजन, भूपति, वीर, वंशीधर तथा दलपति राम आदि का उल्लेख किया गया है। आचार्य सोमनाथ मिश्र के सिद्धान्तों में मुख्य रूप से काव्य-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, ध्वनि-निरूपण, रस-निरूपण, दोष-निरूपण, गुण-निरूपण, अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गई है। फिर करन,

गोविन्द, रसलीन, रघुनाथ बंदीजन, उदयनाथ कवीन्द्र आदि के उल्लेख के साथ आचार्य भिखारीदास के काव्य-स्वरूप-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, ध्वनि-निरूपण, काव्य-दोष-निरूपण, रस-निरूपण, अलंकार-निरूपण आदि की व्याख्या की गयी है। दूलह कवि, शम्भुनाथ मिश्र, रामकृष्ण, लाला गिरिधारी लाल, चन्द्रदास, रूपसाहि, बैरीसाल, ससनेस, शिवनाथ, रतन, ऋषिनाथ, जनराज, उजियारे, हरिनाथ, रंग खाँ, चंदन, देवकी नन्दन, यशवंत सिंह, जगत सिंह, राम सिंह, मान कवि, बेनी प्रवीन, रणधीर सिंह, नारायण, रसिक गोविन्द तथा प्रताप साहि का उल्लेख किया गया है। प्रताप साहि के सिद्धान्तों में विशेष रूप से काव्य-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण, रस-निरूपण, काव्य-गुण निरूपण और काव्य-दोष-निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्त में नवीन आचार्य की चर्चा के साथ रीति कालीन साहित्य शास्त्र की परम्परा का सिंहावलोकन करते हुए यह संकेत किया गया है कि लगभग एक सहस्त्र वर्षों तक प्रसारित यह परम्परा मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य शास्त्र के अनुकरण पर विकसित हुई। संस्कृत और रीति साहित्य शास्त्रों में मुख्य भेद यह रहा कि संस्कृत के आचार्य मूल रूप से काव्य शास्त्रज्ञ थे, जब कि हिन्दी के प्रधानतः कवि। उद्देश्यगत इस विपरीतता के कारण उनके सिद्धान्त-निदर्शन में परस्पर भिन्नता रहने के कारणों की ओर भी अंत में संकेत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय मे पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराओं के दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि इन दोनों परम्पराओं में पर्याप्त साम्य मिलता है, तो चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त भेद भी। दोनों ही के प्राचीनतम रूप सूत्रात्मक शैली में उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक काव्य के प्रयोजन का सम्बन्ध है, पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता है। होमर, हेसियड, अरस्तू, वामन, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि के विचारों में काव्य के उद्देश्य के रूप में मुख्य रूप से आनन्द प्राप्ति को ही मान्य किया गया है। पाश्चात्य विचारकों ने आनन्दानुभूति के साथ ही साथ मानव का कल्याण भी उसका एक उद्देश्य बताया है। अरस्तू ने उपदेशात्मक अथवा नैतिक आदेश की शर्त भी लगा दी है, क्योंकि उसके विचार से काव्य सत्य का निरूपण करता है। भारतीय दृष्टिकोण भी काव्य के उपर्युक्त उद्देश्यों से असहमति नहीं रखता, यद्यपि भारतीय विचारकों ने काव्य की आत्मा के अन्वेषण की ओर ही अधिक ध्यान दिया है।

काव्य के विविध रूपों के विश्लेषण के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने नाटक और महाकाव्य को प्रधानता दी है। काव्य के मुक्तक तथा अन्य रूपों का उल्लेख उन्होंने अप्रासंगिक रूप मे किया है। भाषण अथवा वक्तृता को उन्होंने विशेष

उदात्त तत्वों को अधिक महत्व देता है, तो यथार्थवाद यथार्थानुकारिता पर; अभिव्यंजना-वाद यदि अभिव्यक्ति की शैली पर गौरव देता है; तो रूप वाद उसकी वाह्‌य रूपात्मकता पर। किसी न किसी रूप में ये वैचारिक विस्तार का ही सूचन करते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सातवें अध्याय में भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट किया गया है। भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत जो सैद्धान्तिक आन्दोलन आविर्भूत हुए, उनका क्षेत्र प्राय: संस्कृत साहित्य शास्त्र ही रहा। आगे चल कर हिन्दी रीति शास्त्र की परम्पराओं ने उन्हीं के अनुसार सिद्धान्त निर्देशन किये। ये आन्दोलन मुख्यत: काव्य की आत्मा के अन्वेषण से सम्बन्धित हैं और परस्पर भिन्नता होते हुए भी एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। इनमें से प्राचीनतम रस सिद्धान्त है, जिसके प्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भाव के सहयोग से रस की निष्पत्ति बतायी। आगे चल कर इस सिद्धान्त का जो कुछ भी विकास हुआ, उसके मूल रूप में भरत मुनि का यही सिद्धान्त विद्यमान रहा। भरत मुनि ने रस का जो स्वरूप-विवेचन किया, वह नाटक पर आधारित था। आगे चल कर काव्य पर इस सिद्धान्त का आरोपीकरण हुआ और उसे व्यापक क्षेत्रीय प्रसार और मान्यता मिली। रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव नामक चार अंग माने गये हैं। प्रमुख रसों की संख्या नौ बतायी गयी है, जो शृंगार, वीर, करुण, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र तथा शान्त हैं। इनमें से प्रत्येक रस की पृथक्-पृथक् निरूपण और व्याख्या की गयी है। इस सिद्धान्त का भारतीय साहित्य शास्त्र में इस कारण व्यापक क्षेत्रीय प्रसार रहा, क्योंकि इसके अन्तर्गत काव्य के कला और भाव पक्षों का संतुलन मिलता है।

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख सम्प्रदायों में अलंकार सिद्धान्त भी एक है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में अलंकार की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। संस्कृत में इसके प्रवर्तक आचार्य भामह थे, यद्यपि उनका अलंकार विभाजन न तो बहुत विस्तृत है और न प्राचीनतम। भरत मुनि ने अपने "नाट्‌य शास्त्र" में अलंकार वर्णन करते हुए केवल चार अलंकार स्वीकृत किये थे। आगे चलकर उनकी संख्या सैकड़ों में हो गयी। भामह, दंडी तथा उद्‌भट आदि ने भी अलंकार-निरूपण प्रस्तुत किया। अलंकारों का विभाजन मुख्यत: शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में हुआ है। अलंकार सिद्धान्त कवि की अभिव्यक्ति और कला की प्रौढ़ता का मापक है। काव्य के सौन्दर्य और प्रभाव की वृद्धि में अलंकार एक सशक्त माध्यम का काम करता है। इसीलिए उसकी परम्परा वर्तमान समय तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहशील मिलती है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त रीति सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसका प्रवर्तन आचार्य वामन ने किया। वामन के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य शास्त्र में ऐसे अनेक विचारक हुए जिन्होंने रीति की विवेचना की। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया। रीति का शाब्दिक अर्थ "मार्ग" या "पंथ" है। प्राचीन युग में काव्य क्षेत्रीय दो मार्ग माने जाते थे। इनमें से प्रथम वैदर्भ मार्ग था और द्वितीय गौड़ीय मार्ग। वामन ने इनमें पांचाली को और जोड़ दिया तथा इसकी सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की। राजशेखर ने भी इन्हीं को मान्यता दी। रुद्रट ने इनमें एक चौथी रीति लाटीया भी जोड़ दी। आगे चल कर भोज ने आवन्ती तथा मागधी के रूप में दो और रीतियों को मान्यता दी। इस प्रकार से, रीतियों की कुल संख्या छः हो गयी, यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने वामन की ही तीन मान्य रीतियों का अनुमोदन किया। इस परम्परा के विचारकों ने रीति की व्याख्या करते हुए रीति विभाजन के आधार, रीति के तत्त्व, रीति के नियामक हेतु, रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति और शैली की दृष्टि से भेद, कवि मार्ग, शैली के गुण तथा दोष आदि की विस्तार से व्याख्या की। इस सिद्धान्त को आगे चल कर संस्कृतेतर भाषाओं में भी मान्यता मिली।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रवर्तित वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना आचार्य कुन्तक ने की। इस सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति का प्रयोग और अर्थ विविध आचार्यों ने पृथक्-पृथक् रूप में किया है। भामह ने शब्द वक्रता तथा अर्थ वक्रता के सम्मिलित रूप को वक्रोक्ति कहा। दंडी ने वक्रोक्ति को वाङ्मय का एक भेद माना और वक्रता, चामत्कारिकता अथवा अतिशयोक्ति के अर्थ में उसे स्वीकार किया। वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना। रुद्रट ने उसे शब्दालंकार का एक भेद स्वीकार किया। आनन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार, अभिनव गुप्त ने सामान्य अलकार और मम्मट तथा रुय्यक ने उसे विशिष्ट अलकार के रूप में ही मान्य किया। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने प्रसिद्ध कथन से भिन्न वर्णन शैली को वक्रोक्ति बताया। यह शैली लोक व्यवहार से भिन्नता रखती है। उन्होंने वक्रोक्ति के छ: भेद किये—वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, पद-परार्द्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता। इन सबके भी अनेक उप-भेद करते हुए उन्होंने उन सबकी व्याख्या की। इससे यह सिद्ध है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त मुख्यत: काव्य में निहित चामत्कारिक तत्वों को निरूपित करने वाला सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यह एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसमें अनेक प्रकार की पूर्ववर्ती वैचारिक संकीर्णताओं का अभाव है।

प्रस्तुत-प्रबन्ध के छठे अध्याय में पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट किया गया है। लगभग ढाई हजार वर्षों की सुदीर्घ परम्परा से सम्बद्ध पाश्चात्य चिन्तन समय-समय पर अनेक विचार धाराओं को जन्म देता रहा है। विश्व की प्राय: सभी प्रमुख भाषाओं की भाँति प्राचीन यूरोपीय साहित्य और चिन्तन मे आदर्शवादी विचारधारा की प्रधानता रही है। आदर्शवाद एक प्रकार की उदात्ता का सूचक है, जो मनुष्य की भौतिक उन्नति की आध्यात्मिक परिणति की सम्भावनाओं पर विचार करती है। इससे उच्चतर जीवन-स्तर के निर्वाह की प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टिकोण से इसका क्षेत्र विस्तार बहुत अधिक है। परन्तु इस पर मुख्य आक्षेप यह लगाया जाता है कि इसमें भावनात्मकता और कल्पनात्मकता का आधिक्य है। पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में यह विचारधारा अनेक रूपों मे महत्व रखती है। लोंजाइनस के उदात्तवादी विचारों को भी आदर्शवाद का ही एक रूप समझा जा सकता है। आदर्श-वाद के साथ ही इस अध्याय में जिन अन्य विचारधाराओं की परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उनमें से एक प्रभाववाद भी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी रचना के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया जाता है। इसी प्रकार से प्रतीकवादी विचारधारा का प्रसार भी पाश्चात्य साहित्य में विशद रूप में मिलता है। प्रतीकवाद के साहित्यिक और वैज्ञानिक रूपों का प्रसार बहुत अधिक है। अनेक प्रतीक विविध क्षेत्रो में परम्परा से मान्यता रखते हैं। इसीलिये पाश्चात्य साहित्य और कला के चिन्तन के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में महत्व रखता है।

पाश्चात्य विचारधाराओं में अज्ञेयवाद का भी प्रचार रहा। १९वीं शताब्दी मे सर्वप्रथम टॉमस हेनरी हक्सले ने इसका अनुगमन किया। इस मत के अनुसार संसार के मूल तत्त्व अज्ञात है, इसलिए इनके विषय में किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। साथ ही, इस संसार में किसी अलौकिक शक्ति या ईश्वर का अस्तित्व अवश्य है, परन्तु उसके विषय में किसी प्रकार का कोई ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। एक दूसरी विचारधारा अभिव्यंजनावाद की चर्चा भी इसी अध्याय मे की गई है। अभिव्यंजना कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप को कहते है। प्रसिद्ध यूरोपीय सौंदर्य शास्त्री क्रोचे ने यह निर्देशित किया है कि कला सदैव आत्माभिव्यक्ति का एक रूप होती है। प्राचीनता की दृष्टि से रचनात्मक अभिव्यक्ति के प्रयोग और साधन रोमीय साहित्य शास्त्र तक में मिलते है। क्रोचे का यह मत है कि सौंदर्य वस्तुओं का कोई गुण नहीं है, बल्कि वह किसी आत्मिक क्रियाशीलता से स्वाभाविक रूप से नि:सृत होता है। इसीलिए वह

अभिव्यंजना को अन्तरंग बताता है, जो अपने आप में साहित्य और कला की चरम परिणति है। इसी प्रकार से एक और महत्वपूर्ण विचारधारा रूप वाद है, जो साहित्य और कला में उसके शिल्प-विधान और रूप-योजना को ही अधिक महत्व देती है। यह सिद्धांत भी सूत्र रूप में प्राचीन चिन्तकों से सम्बद्ध किया जाता है, यद्यपि इसे व्यापक क्षेत्रीय मान्यता न मिल सकी।

पाश्चात्य चिन्तन में कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी प्रचलित हैं, जिनका क्षेत्र मुख्य रूप से दर्शन शास्त्र आदि हैं, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी व्यापक निहिति मिलती है। अस्तित्ववादी विचारधारा इसी प्रकार की एक दार्शनिक चिन्तन प्रणाली है, जिसका प्रभाव साहित्य मे विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट, गतिरोध अथवा संक्रान्ति का दर्शन है। इसके अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल मे संकट विद्यमान है। मनुष्य अनेक कारणों से परिस्थिति के सामने आत्म-समर्पण कर देता है। अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट की बड़ी मौलिक और सटीक व्याख्या करते हुए इसके अन्धकार को दूर करने की चेष्टा करता है। यह विचारधारा भी अनेक चिन्तकों द्वारा समर्थित हुई और अनेक ने इसका विरोध किया। आधुनिक युग में अनेक रचनात्मक साहित्यकारों ने अपने साहित्य में इसको स्वीकार किया। इस विचारधारा के प्रमुख विचारकों के सिद्धान्तों का परिचय देते हुए, अन्त में यह बताया गया है कि आधुनिक यूरोपीय साहित्य के क्षेत्र में सृजनशील शक्ति के रूप में इसका प्रमुख स्थान है।

यूरोप में यथार्थवाद तथा उसके पश्चात् अतियथार्थवाद के रूप में भी साहित्यिक विचारधाराओं का प्रसार हुआ। यथार्थवाद साहित्य मे यथार्थता के अनुकरण पर विशेष रूप से बल देता है। कल्पनात्मकता तथा आदर्शात्मकता उसी यथार्थवाद का विकसित रूप है। यह भी एक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक चिन्तन है। सिद्धान्ततः अतियथार्थवादियो के अनुसार कला या साहित्य को पूर्णतः बौद्धिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि वैसा होने से मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अंर्तविरोध के चिन्तन की सम्भावनायें कम हो जायँगी। अतियथार्थवादी विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सभ्य समाज में मान्य नैतिक दृष्टिकोण भी निरर्थक है। अतियथार्थवाद का ध्येय यथार्थवाद की निर्धारित सीमाओं का विस्तार करना था। इसे प्रकृतवाद भी कहा जाता है। कुछ लोग इसका आधार "दादावाद" को भी मानते हैं। इस प्रकार से, इस अध्याय में पाश्चात्य विचारधाराओ मे से कुछ का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए अन्त में यह संकेत दिया गया है कि इनमें परिवर्तनशीलता की ओर विस्तार की भी प्रवृत्ति है। आदर्शवाद यदि साहित्य मे

चर्चा नहीं की। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने आरम्भ से ही भाषण कला को प्राथमिकता दी है। इस विषय में प्रारम्भिक चिन्तन तो टीसियस आदि ने ही आरम्भ कर दिया था, परन्तु इसका विशद विवेचन यूनानी चिन्तकों में सर्वप्रथम अरस्तू ने ही किया। रोम के साहित्य शास्त्रियों में भी सिसरो ने भाषण शास्त्र को साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया। उसका विचार था कि कलात्मकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से भाषण शास्त्र साहित्य की अपेक्षा प्राथमिक महत्व का अधिकारी है। यूरोप के पुनर्जागरण कालीन चिन्तक सर टॉमस विलसन ने भी भाषण कला का विवेचन किया। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों ने वाङ्मय की एक प्रमुख विधा के रूप में भाषण कला को मान्यता दी है, जब कि हमारे देश में उसे इतना महत्व नहीं दिया गया।

जहाँ तक साहित्य के नाट्य रूपों का सम्बन्ध है, प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाटक की व्याख्या करते हुए अपने "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रन्थ में उस पर विचार किया। भरत के पश्चात् संस्कृत चिन्तकों में भामह, धनंजय आदि ने नाटक के विविध अंगों और तत्त्वों की गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत की। पाश्चात्य साहित्यकारों में भी सर्वप्रथम प्लेटो ने नाट्य कला पर विचार किया। प्लेटो के पश्चात् यूरीपाइडीज और अरस्तू ने इस विषय की व्याख्या की। अरस्तू ने काव्य की भाँति ही नाटक को भी अनुकरण का एक माध्यम माना। रोमीय चिन्तकों में होरेस ने तथा पुनर्जागरणकालीन चिन्तकों में बेन जानसन और उसके पश्चात् डा० जानसन ने नाट्य कला और नाट्य रूपों का विश्लेषण किया। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भारतीय चिन्तकों ने काव्य की भाँति ही नाटक का मूल तत्त्व भी रस को ही मान्य किया है, जब कि पाश्चात्य विचारकों ने उसके अन्य तत्त्वों को प्रधानता देते हुए उसकी व्याख्या की है।

भारतीय समीक्षा शास्त्र का आरम्भ करने वाले भरत मुनि संस्कृत रस सिद्धान्त के भी प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। उन्होंने रस की शास्त्रीय व्याख्या करते हुए उसे नाटक और काव्य की आत्मा के रूप में मान्य किया। महाकाव्य और नाटक में रस विवेचन पर उन्होंने मुख्यता दी। आनन्दवर्द्धन ने भी रस औचित्य का विशेष रूप से समर्थन किया। अभिनव गुप्त ने रस की उत्पत्ति नाटक में ही बतायी। धनंजय ने रस को दर्शकवर्ती बताया। हमारे यहाँ जितना महत्व रस को प्रदान किया गया, पाश्चात्य समीक्षा में उतना ही महत्व अनुकरण को। अरस्तू ने तो काव्य और नाटक की मूल प्रेरणा ही अनुकरण को सिद्ध किया। यहाँ तक कि उसने कलाओं का विभाजन भी अनुकरण के आधार पर ही किया और काव्य, नाटक तथा संगीत को अनुकरण के विविध प्रकार माना। कहने का

आशय यह है कि भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में इस क्षेत्र में अन्तर यह रहा है कि पाश्चात्य चिन्तन व्यावहारिक रहा, जबकि भारतीय चिन्तन में सैद्धान्तिकता अधिक रही।

काव्य-भेदों के निरूपण के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत साहित्य में भामह ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने गद्य और पद्य रूपों की विस्तार से व्याख्या की। दंडी ने भी इसी प्रकार का वर्गीकरण किया। वामन का काव्य-विभाजन का आधार भी गद्य और पद्य ही रहे। आनन्दवर्द्धन ने महाकाव्य के भेद करते हुए रस-प्रधान महाकाव्य को इतिवृत्त-प्रधान महाकाव्य से श्रेष्ठ कहा। नाटक में भी उन्होंने रस-विवेचन की मुख्यता निर्देशित की। धनंजय ने रूपक के दस भेद बताते हुए उनकी चर्चा और व्याख्या की। भोज ने काव्य और दृश्य काव्य का वर्गीकरण किया। मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने भी श्रेष्ठता के आधार पर काव्य के भेद प्रस्तुत किये। जहाँ तक इस विषय मे पाश्चात्य दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, प्लेटो ने सबसे पहले गीति काव्य, नाटक और महा-काव्य के रूप में इनका वर्गीकरण किया। अन्य विचारकों में लोंजाइनस तथा सिसरो आदि ने भी प्रायः पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत प्रस्तुत किये। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में इन विषयों के सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह रहा है कि जहाँ भारतीय दृष्टिकोण में इन पर बल देते हुए विस्तार के साथ सिद्धान्त रचना हुई है, वहाँ पाश्चात्य चिन्तन के क्षेत्र में इन पर इतना अधिक गौरव नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि प्लेटो आदि अनेक विचारकों ने कभी-कभी रचनात्मक दृष्टिकोण से भी नाटक आदि का विरोध किया।

पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों की स्वरूपगत सर्वांगीणता की ओर भी इसी अध्याय में संकेत किया गया है। संस्कृत साहित्य में अलंकार सिद्धान्त का व्यापक प्रसार मिलता है और अनेक विचारकों द्वारा की गई इसकी विशद व्याख्या उपलब्ध है। भरत, भामह, दंडी, वामन, रुद्रट आदि ने अलंकार को महत्व देते हुए उसका सम्यक् विवेचन किया है। अलंकार की ही भाँति जो अन्य सम्प्रदाय हैं, उनमें रस, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति का महत्व प्रतिपादित हुआ है। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में काव्य में अलंकार को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वहाँ भाषण-कला की प्राथमिकता सिद्ध करते हुए उसी पर अधिक बल दिया गया है। सारांश रूप में, इस अध्याय के अन्त में पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा के दृष्टिकोणगत साम्य और वैषम्य पर विचार करते हुए यह संकेत किया गया है कि पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में वैयक्तिकता का आग्रह है और उस गवेषणा वृत्ति का अभाव है, जो भारतीय चिन्तन की वैचारिक संगठनात्मकता की प्रतीक है।

इस अध्याय में, अन्तिम सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। उन्होंने ध्वनि काव्य को सर्वोच्च कोटि का काव्य बतलाया है। ध्वनि सिद्धान्त विषय क्षेत्रीय व्यापकता की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। इसके स्वरूप के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में शब्द शक्तियों की व्याख्या करते हुए उनके भेदों और उपभेदों का निरूपण किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य और ध्वनि के भी अनेक भेद होते हैं, जिनकी इसमें चर्चा की गयी है। इस प्रकार से, काव्य के अंतरंग एव बहिरंग का परीक्षण करने वाले प्रमुख भारतीय शास्त्रीय सिद्धान्तों का परिचय इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के आठवें अध्याय में पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की आधार भूमि के सन्दर्भ में इन दोनों के स्वरूप पर विचार किया गया है। पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद के तत्वों की व्याख्या करते हुए उसकी समीक्षात्मक परिणति का भी निर्देश किया गया है। क्रोचे अभिव्यंजना को एक ऐसी आन्तरिक अभिव्यक्ति मानता है, जिसका सम्बन्ध मन से है। अभिव्यंजना की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए वह यह कहता है कि जो भी वाह्य अभिव्यंजना हम अभिव्यक्त करते हैं, वह पूर्व रूप में हमारे हृदय में आन्तरिक रूप से अभिव्यक्त हो चुकी होती है। इसलिए इस संसार में जो कुछ भी प्रकट में है, वह मानसिक कार्य या व्यापार का ही वाह्य रूप है और समस्त कला की रचना का मूल आधार मन ही है। इस प्रकार से, क्रोचे ने काव्य में कल्पना-तत्त्व का महत्व स्वीकार करते हुए काव्य की आत्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है और काव्य के अन्य तत्वों को अप्रधान बताया है। जहाँ तक भारतीय विचारधारा का सम्बन्ध है, उसमें कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है, जिसके अनुसार कल्पना को काव्य की आत्मा माना गया हो।

पाश्चात्य समीक्षा के यथार्थवादी आन्दोलन के अनुसार साहित्य में यथार्थानुकारिता का महत्व सबसे अधिक है। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान मिलती है और पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप इसमें वैभिन्न और विकास लक्षित होता है। हिन्दी में ये दोनों ही विविध रूपों में दिखाई देती हैं। पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवादी आन्दोलन भी अपेक्षाकृत अधिक नियोजित रूप में मिलता है। हमारे देश में प्रतीक की शैली बहुत प्राचीन है, परन्तु प्राचीन अथवा आधुनिक युग में इसे एक संगठित आन्दोलन का रूप नहीं दिया गया। पाश्चात्य अतियथार्थवादी विचारधारा पूर्व कालीन रोमाण्टिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुई। हमारे यहाँ भी उसका न्यूना-

धिक प्रभाव देखा जा सकता है। अस्तित्ववादी विचारधारा मूलतः दर्शन क्षेत्रीय है। जहाँ तक अस्तित्ववाद की साहित्यिक परिणिति का सम्बन्ध है, वह स्वच्छंदतावाद से प्रभावित कहा जा सकता है। युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य साहित्य में इसका समावेश व्यापक रूप मे मिलता है। हिन्दी के भी नवीन साहित्य चिन्तन पर इसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय रस सिद्धान्त काव्य की आत्मा का अन्वेषण करने वाला सिद्धान्त है। क्रोचे आदि ने पाश्चात्य चिन्तन के क्षेत्र में जिस सहजानुभूति की व्याख्या की है, वह रसानुभूति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस विषय से सम्बन्धित भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ रसानुभूति पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है और वहाँ अनुकरण पर। भारतीय अलंकार सिद्धान्त व्यापकता और सम्यकता की दृष्टि से साहित्य जगत में विख्यात है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ "रिटारिक" में अलंकार का प्रयोग भारतीय अर्थ में नहीं किया है, बल्कि भाषण कला तथा काव्यांग के सन्दर्भ में ही इसे प्रयुक्त किया है। वह अनुकरण पर गौरव देता था जब कि हमारे यहाँ अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप मे मान्य किया गया है। भारतीय ध्वनि सिद्धान्त भी काव्य की आत्मा का अन्वेषक है। इसका विस्तार इतना अधिक है कि अन्य सभी सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु पाश्चात्य दृष्टिकोण में काव्य का तात्विक विश्लेषण करने वाला ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं मिलता।

भारतीय रीति सिद्धान्त काव्य में गुणों को अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। इसमें विशिष्ट पद रचना या विशिष्ट काव्य शैली को रीति कहा गया है। इसकी तुलना पाश्चात्य प्रतीकवाद से की जा सकती है, जो शैली की विशिष्टता पर गौरव देता है। इनमें मुख्य अन्तर यह है कि प्रतीकवाद जहाँ देश, काल और शैली की ओर ही संकेत करता है, वहाँ रीति सिद्धान्त उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य में चामत्कारिक तत्वों को महत्व देता है। पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी विचारक भी उक्ति की मार्मिकता पर गौरव देते हैं। परन्तु अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक और सौन्दर्यवादी है, जब कि वक्रोक्ति सिद्धान्त विशुद्ध अन्वेषण युक्त और साहित्य शास्त्रीय। इस प्रकार से, प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य आन्दोलनों की तुलना करते हुए इस अध्याय के अन्त में यह संकेत किया गया है कि इनमें दृष्टिकोणगत कुछ मौलिक भेद है। पाश्चात्य चिन्तन धाराएँ प्रायः एकांगी है और काव्य के किसी एक अंग से सम्बन्ध रखती हैं। उनमें स्थानीयता भी अधिक है।

वैयक्तिकता का आग्रह तथा अन्य सीमाएँ भी उनके प्रसार में बाधक हुईं। इसके विपरीत भारतीय सिद्धान्त अधिक सामयिकता का परिचय देते हैं और विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन का रूप प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के नवें अध्याय में आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए उनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख समीक्षकों के सैद्धान्तिक विचारों की संक्षेप में परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र रहा है। जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से आधार तथा प्रेरणा ग्रहण करके रीति शास्त्र का विकास हुआ था, उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी समीक्षा का विकास रीति शास्त्र से प्रभावित रहा। रीति शास्त्र के अन्तर्गत जो प्रमुख विचारक हुए हैं, उन्होंने आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विकास और उसके आरम्भिक कालीन विचारकों को विशेष रूप से प्रभावित किया। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इस अध्याय में सर्वप्रथम ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति का आरम्भ, विकास, मुख्य विशेषताएँ तथा प्रमुख समीक्षकों की चर्चा की गयी है, जिनमें गार्सा द तासी, ठा० शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सुधार परक समीक्षा की प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की विविध समीक्षा कृतियों के आधार पर उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप के अन्तर्गत उसका आरम्भ और विकास स्पष्ट करते हुए मुख्यतः मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन तथा शचीरानी गुर्टू आदि के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ क्रियाशील दिखाई देती हैं, उनमें से शास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है। समीक्षा के इस दृष्टिकोण को प्राचीनता, सैद्धान्तिकता तथा विशुद्धता की दृष्टि से उच्चतर कोटि का मान्य किया जाता है। इस प्रवृत्ति की पूर्व परम्परा के अन्तर्गत इस अध्याय में कविराज मुरारिदीन, प्रताप नारायणसिंह, कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद "भानु", रमाशंकर शुक्ल "रसाल", सीताराम शास्त्री, अर्जुनदास केडिया, अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध", बिहारीलाल भट्ट, मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, सीताराम चतुर्वेदी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि के प्रमुख सिद्धान्तों और मान्यताओं का परिचय दिया गया है। तत्पश्चात् छायावादी समीक्षा

की प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद का जन्म हुआ था। इसके प्रमुख विचारकों ने इसे एक सुनियोजित स्वरूप प्रदान किया। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जयशंकर "प्रसाद", सूर्यकान्त त्रिपाठी, "निराला", सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा गंगाप्रसाद पांडेय आदि के प्रमुख विचारों का परिचय दिया गया है।

आधुनिक युग की साहित्यिक विचारधाओं में प्रगतिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है। हिन्दी साहित्य में इसका आरम्भ मुख्यतः विदेशी साहित्य के प्रभाव स्वरूप हुआ था। इसका विकास यथार्थवादी प्रवृत्ति से संयुक्त होकर हुआ। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, मन्मथ नाथ गुप्त, डा० रांगेय राघव तथा श्री रामेश्वर शर्मा आदि के मुख्य विचारों को प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों में व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी क्रियाशील है। यह विचारधारा सामयिकता का विरोध न करते हुए भी साहित्य में युगानुकूल प्रयोगों का समर्थन करती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में इस विचारधारा को प्रयोगवादी आन्दोलन के पयार्य के रूप में समझा जाता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जिन विचारकों के मन्तव्यों का उल्लेख किया गया है, उनमें सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "अज्ञेय", गिरिजाकुमार माथुर, डा० धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति की भी चर्चा की गयी है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत मुख्यतः जैनेन्द्र कुमार, तथा इलाचन्द्र जोशी आदि के विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रवृत्ति शोधपरक समीक्षा की भी कही जा सकती है। वर्तमान शताब्दी में भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में बृहत् रूप में जो शोध कार्य हो रहा है, उसके अन्तर्गत विकसित रूपों को इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कई रूप मिलते हैं, जिनमें से प्रथम साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के प्रथम रूप अर्थात् कवि परक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० बल्देव प्रसाद मिश्र, डा० व्रजेश्वर वर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० हरवंशलाल शर्मा आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, यद्यपि अन्य भी अनेक ऐसे नाम है जो इसी के अन्तर्गत रखे गये हैं। इसी प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सम्प्रदाय परक शोध प्रवृत्ति में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० विनयमोहन शर्मा तथा अन्य विद्वानों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रवृत्ति के तीसरे रूप अर्थात् शास्त्र परक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० रमाशंकर शुक्ल "रसाल", डा० भगीरथ मिश्र,

डा० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', डा० भोलाशंकर व्यास, डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' तथा डा० पुत्तूलाल शुक्ल आदि के नामों का उल्लेख किया गया है। इस प्रवृत्ति का एक रूप भाषा वैज्ञानिक शोध की प्रवृत्ति के रूप में भी मिलता है। इसके भी अनेक रूप में जिनमे से ऐतिहासिक रूप के अन्तर्गत डा० उदयनारायण तिवारी, डा० बाबूराम सक्सेना आदि, व्याकरणिक के अन्तर्गत डा० धीरेन्द्र वर्मा, तथा कामताप्रसाद गुरु, बोलीपरक के अन्तर्गत डा० हरिहरप्रसाद गुप्त, डा० अम्बाप्रसाद सुमन, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० कृष्णलाल हंस आदि तथा तुलनात्मक के अन्तर्गत मुख्य रूप से डा० कैलाशचन्द्र भाटिया का उल्लेख किया गया है।

हिन्दी में व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का आरम्भिक रूप भारतेन्दु युग में ही आभासित होने लगता है, यद्यपि इसके अन्तर्गत केवल प्राचीन ग्रन्थों की टीका और व्याख्या मिलती है। आगे चलकर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जो उल्लेखनीय समीक्षक हुए, उनमें ललिताप्रसाद सुकुल, परशुराम चतुर्वेदी, पदुमलालपुन्नालाल बख्शी, डा० सत्येन्द्र, प्रभाकर माचवे तथा रामकृष्ण शुक्ल "शिलीमुख" आदि के विचारों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों में अन्तिम समन्वयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के मूल में पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों के समन्वय की भावना है। इसीलिए इसका आधार अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। इस प्रवृत्ति का आरम्भिक रूप डा० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि की कृतियों मे मिलता है। आगे चल कर डा० विनयमोहन शर्मा, नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० नगेन्द्र तथा डा० देवराज आदि ने इस प्रवृत्ति को व्यापक सम्भावनाएँ प्रदान कीं। इस अध्याय के अन्त में निष्कर्ष रूप में यह संकेत किया गया है कि आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं, उनमें पर्याप्त विविधता और समयानुरूपता लक्षित होती है। ये प्रवृत्तियाँ हिन्दी समीक्षा की व्यापक आधार भूमि और सम्भावना का द्योतन करती हैं। इनमें जहाँ एक ओर प्राचीनता की अनुगामिनी प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक चिन्तन की नवीनतम प्रणालियों का भी परिचय प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के दसवें और अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में एक सम्यक् मान के निर्धारण की आवश्यकता और सम्भावनाओं पर विचार किया गया है। समीक्षा के स्वरूप और विकास का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि विविध युगों में विभिन्न वैचारिक मान्यताएँ जन्म लेती हैं और अपनी सैद्धान्तिक एकांगिता के कारण

उसका ह्रास हो जाता है। इस अनुगामिता का मुख्य कारण वैचारिक आग्रह की प्रधानता है। भिन्न-भिन्न युगों में जो चिन्तनात्मक आन्दोलन हुए, उन सब में प्रायः किसी न किसी प्रकार की एकांगिता मिलती है। इसके अतिरिक्त एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त का पूरक भी प्रतीत होता है, क्योंकि यथासम्भव वह उस अभाव की पूर्ति करता है, जो पूर्ववर्ती सिद्धान्त में व्याप्त था। परन्तु इसके साथ वह अन्य मूलभूत तत्त्वों की उपेक्षा भी करता है। इसलिए समीक्षा का प्रत्येक प्रतिक्रियात्मक रूप अनिवार्य रूप से किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता लिए रहता है। समीक्षा के कुछ रूप सामयिक आवश्यकताओं की अनिवार्यता के फलस्वरूप आविर्भूत होते हैं। इनको तात्कालिक मान्यता तो प्राप्त होती है, परन्तु ये परिवर्तनशील समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं।

समीक्षात्मक सिद्धान्तों के निर्धारण के सन्दर्भ में एक और तथ्य यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि समीक्षा साहित्य का तो मूल्यांकन करती ही है, साहित्य सिद्धान्तों का परीक्षण भी करती है। इसलिए उसका रूप द्वयात्मक होता है। समीक्षा का सामयिक मान उद्देश्यगत इस बहुरूपता को ध्यान में रखे बिना नहीं निर्धारित किया जा सकता। इस अध्ययन में प्रमुख समीक्षात्मक सिद्धान्तों का संक्षिप्त परीक्षण करते हुए यह संकेत किया गया है कि चूँकि समीक्षा के मानों का नियमन और उनका व्यावहारिक प्रयोग पारस्परिक पृथक्ता रखते हैं, इसलिए उसकी पूर्ण प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी किसी मान दंड का निर्धारण किया जा सकता है। इस अध्याय के अन्त में निष्कर्ष रूप मे इस मन्तव्य की स्थापना की गयी है कि समीक्षा का समन्वित परिवेश युग और प्रवृत्ति की संकुचितता से मुक्त होना चाहिए। उसे प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य मानदंडो की भाँति केवल साहित्य के आन्तरिक या बाह्य रूप का परीक्षक न होकर अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की सम्यक् परख करनी चाहिए। पाठक के सर्वप्रथम अनुभव की विवेचना करने में भी उसे समर्थ होना चाहिए। समीक्षा का यह मानदंड वस्तुतः केवल समन्वयात्मक स्वरूप वाला ही हो सकता है और इस मान के निर्धारण की सम्भावनाएँ तभी हो सकती हैं, जब साहित्य की विविध युगीन महान् उपलब्धियों का संयोजन करके वैज्ञानिक विकास के साथ उनका संतुलित समन्वय किया जाय।

इस प्रकार से, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हिन्दी शोध के इतिहास के क्षेत्र में एक नई दिशा का संकेत करता है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित जो भी शोध कार्य हुआ है, उसको दृष्टि में रखते हुए यह कृति एक व्यापक आधार को लेकर लिखा गया सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रयास कहा जा सकता है। साहित्य और समीक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इनमें से किसी की भी उपेक्षा इनके लिए

ह्रासात्मक कारण सिद्ध हो सकती है। इसलिए समीक्षा के स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त प्रबुद्ध समीक्षा पद्धतियाँ जिस प्रकार की अपूर्णता लिए हुए होती हैं और इसी कारण असामयिक अन्त को प्राप्त होती हैं, उनकी ओर ध्यान देना जागरूक और प्रमुख अध्येताओं के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में समीक्षा क्षेत्रीय इसी मूलभूत समस्या का विश्व समीक्षा की पृष्ठभूमि में निरूपण करते हुए इस समन्वयवादी समीक्षात्मक के मान के स्वरूप और निर्माण की सम्भावनाओं का नियोजन किया गया है, जो समीक्षा प्रशस्ति में समर्थ हैं। इस दृष्टि से यह प्रबन्ध पूर्ण मौलिकता से युक्त कहा जा सकता है। यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि चूंकि इस कृति में विविध भाषाओं के समीक्षा सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का उल्लेख है, इसलिए सभी स्थलों पर मौलिक भाषाओं के ग्रन्थों के स्थान पर दूसरी भाषाओं से ही उनका चयन कर लिया गया है। साथ ही, चूंकि सिद्धान्त और प्रवृत्ति निरूपण की परिचयात्मक व्याख्या और तुलना ही इस प्रबन्ध का एक आधार भूत तत्व रही है, इसलिए कहीं-कहीं पर विविध नामों, प्रवृत्तियों, सिद्धान्तों, विचारों अथवा तथ्यों की पुनरावृत्ति भी हो सकती है, यद्यपि यथासम्भव इस सम्बन्ध में सतर्क रहने की चेष्टा की गयी है। प्रबन्ध में अनेक स्थलों पर बहुत से विषयों का केवल संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत किया गया है, जो किसी सीमा तक सैद्धान्तिक परिचय की दृष्टि से अपूर्ण भी प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर यह प्रयत्न किया गया है कि उसकी प्रतिनिधि जानकारी प्रस्तुत की जा सके, क्योंकि विस्तार के भय से बहुत से अंश इस प्रबन्ध में नहीं दिये जा रहे हैं।

अन्त में, लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष एवं कला संकाय के अधिष्ठाता डॉ० दीनदयालु गुप्त और पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० भगीरथ मिश्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है, जिनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं सहज स्नेह के फल स्वरूप यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत किया जा सका। डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र तथा डॉ० हरवंशलाल शर्मा के महत्वपूर्ण सुझावों से भी प्रबन्ध में परिपूर्णता आयी है, अतः लेखक उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता है। लेखक अन्य सभी श्रद्धेय हितैषियों को भी धन्यवाद देता है, जिनका कृपा पूर्ण प्रोत्साहन उसे समय-समय पर मिला और जिसके फलस्वरूप इस प्रबन्ध की रचना का यह कार्य सम्पन्न हो सका।

लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

—प्रतापनारायण टंडन
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

अध्याय : १

विषय प्रवेश

समीक्षा, समीक्षक तथा समीक्ष्य

समीक्षा का अर्थ :—

हिन्दी साहित्य में 'समीक्षा', 'आलोचना' तथा 'समालोचन.' आदि शब्दों को प्रायः समान अर्थों में ही व्यवहृत किया जाता है। समीक्षा का अर्थ है—सम्यक्+ईक्षा, अर्थात् भली प्रकार परीक्षा करना। साहित्य में समीक्षा का आशय होता है—किसी रचना अथवा रचनाकार का समग्रता से विवेचन। सामान्यतः आलोचना और समालोचना का भी यही कार्य होता है, यद्यपि कभी-कभी इनमें कुछ सूक्ष्म भेद भी बताये जाते हैं। मूलतः इन शब्दों का अर्थ समीक्ष्य विषय को उसके समग्र रूप में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना है, जिससे गुण ओर दोष प्रकाशित हो सकें। इस कारण साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन को ही समीक्षा कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा में समीक्षा के अर्थ का सूचक शब्द 'क्रिटिसिज्म' है। वहाँ भी इस शब्द का प्रयोग साहित्य परीक्षण के अर्थ मे ही किया जाता है।

समीक्षा की परिभाषा :—

समीक्षा के एक स्वतंत्र शास्त्र होने के नाते इसमें और साहित्य में भारी भेद है। साहित्य में समीक्षा की भाँति विश्लेषणात्मकता का तत्व उतनी अधिक मात्रा में समाविष्ट नही मिलता। जहाँ तक विविध समीक्षात्मक प्रभेदों का सम्बन्ध है, यह बात सत्य है कि प्रत्येक युग में किन्हीं विशिष्ट प्रणालियों को ही प्रमुखता मिलती है। इसी प्रकार से से प्रत्येक युग में साहित्य समीक्षा की प्रणालियों की रचना का आधार उस युग की विविध आदर्श वृत्तियाँ रहती हैं। इसीलिए यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य की भाँति ही समीक्षा भी मनुष्य के स्वभाव की मूल वृत्तियो में से एक है।

समीक्षा की परिभाषा एक और दृष्टिकोण से की जा सकती है। प्रधानतः समीक्षा का कार्य साहित्य की सम्पूर्णता से परीक्षा है। इसलिए उसका साहित्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। और साहित्य को हम मनुष्य की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों की भाषाबद्ध अभि-

व्यक्ति कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा साहित्य का मात्र परीक्षण ही नहीं करती, वरन् पाठक और साहित्यकार के बीच एक माध्यम का भी काम करती है। यहाँ वह साहित्य को अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य बनाती है और उसकी ऐसी व्याख्या करती है कि एक अपेक्षाकृत साधारण कोटि का पाठक भी उसकी सहायता से किसी विशिष्ट साहित्यकार की किसी विशिष्ट रचना को से पढ़ और समझ सके। अवश्य ही एक स्वतन्त्र शास्त्र की भांति समीक्षा के भी अनेक प्रकार हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना अलग क्षेत्र और विशेषताएँ हैं, परन्तु पाठक की विवेक वद्धि में समीक्षा एक सहायक का कार्य भी करती है।

समीक्षा और साहित्य :—

समीक्षा का स्वरूप विकासशील होता है। किसी भी युग मे लिखा गया साहित्य अपने आप में उन अनेक प्रभावों और विचारधाराओं के संकेत लिये रहता है, जो उस युग में मुख्य रूप से जन-जीवन के विभिन्न परिवेशों को विशदता से प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार से समीक्षा का समकालीन स्वरूप भी उनसे प्रभावित होता है और अपना रूप परिवर्तित करता है। साहित्य और समीक्षा, इस दृष्टिकोण से एक दूसरे के समान धर्मा कहे जा सकते हैं, क्योंकि दोनों में ही युग-जीवन और युग चेतना का दिग्दर्शन होता है और दोनों पर समकालीन विचारधाराओं और परिस्थितयों की छाप रहती है। इसलिए यह कहना उचित न होगा कि समीक्षा का महत्व किसी भी प्रकार से साहित्य की अपेक्षा कम है। इसके विपरीत साहित्य और समीक्षा को एक दूसरे का पूरक भी कहा जा सकता है, क्योंकि जहाँ साहित्य युगीन यथार्थ का समग्रता से अंकन करता है, वहाँ समीक्षा द्वारा उसका दिशा निर्देश करने के साथ ही साथ नवीन सम्भावनाओं की ओर भी संकेत किया जाता है।

सृजनशील साहित्य युग में जब कि वैचारिक संघर्ष एक प्रकार का संक्रांति कालीन वातावरण उत्पन्न कर देता है और ठोस रूप में साहित्य के गति-दिशा-निर्देश की आवश्यकता होती है, तब समीक्षा का उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। तब वह किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन उसके अपने स्वतन्त्र रूप में न करके युगीन यथार्थ के सन्दर्भ में करने को बाध्य हो जाती है। उस समय वह यह देखती है कि किसी विशिष्ट साहित्यिक कृति में वह वर्तमान किस रूप में उपस्थित हुआ है तथा इसके साथ ही साथ वह यह भी देखेगी कि जो यथार्थ उस साहित्यिक कृति में उस समय के युग जीवन के रूप में उपस्थित किया गया है, उसकी कलात्मक सीमाएँ उस कृति मे

प्रस्तुत रूप के अतिरिक्त और क्या हो सकती थीं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा साहित्य की परीक्षा करने के साथ ही साथ युग के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में भी योग देती है।

कभी-कभी समीक्षा का अर्थ और प्रयोजन रूढ़ तथा संकुचित रूप में भी किया जाता है। और उस समय समीक्षा का काम किसी युग या विचारधारा के सन्दर्भ में आलोच्य कृति का मूल्यांकन करना न होकर स्वतन्त्र रूप में उसका कलात्मक और साहित्यिक मूल्यांकन करना होता है। इस दृष्टिकोण से समीक्षा उस कृति में प्रस्तुत किये गये उसके रचनाकार के किसी क्षेत्र विशेष में अनुभूत यथार्थ की सम्भावनाओं का परीक्षण करके उसकी असाधारणता पर विचार करती है। ऐसा करते समय उसमें युगीन मानदंडों का आश्रय न ग्रहण करके सौन्दर्य और उदात्तता के शाश्वत आदर्श का आधार लिया जाता है। मनुष्य के हृदय की मूल भावनाओं की नवीनतर अभिव्यक्ति की अपेक्षा इस कोटि की समीक्षा आलोच्य साहित्य में करती है और उसके उसमें विद्यमान होने पर स्वतंत्र रूप में उसके महत्व की घोषणा करती है।

ऊपर हमने समीक्षा को किसी सीमा तक साहित्य का समानधर्मा कहा है। इस कथन से यह भ्रम हो सकता है कि साहित्य और समीक्षा में कोई मौलिक भेद नहीं है और साहित्य या समीक्षा की रचना करना समान रूप से किसी सुशिक्षित और सुपठित व्यक्ति के लिये सम्भव हो सकता है। वस्तुतः साहित्य एक कला है और समीक्षा एक शास्त्र। साहित्य के लिए जहाँ प्रतिभा की अपेक्षा होती है, वहाँ समीक्षा के लिए पांडित्य की। और अनिवार्यतः यह आवश्यक नहीं होता कि कोई श्रेष्ठ साहित्यकार उच्च कोटि का समीक्षक भी हो, अथवा उच्च कोटि का समीक्षक श्रेष्ठ साहित्यकार। वाङ्मय की ये दोनों विधायें अपनी स्वतंत्र सत्ता और महत्व रखती हैं।

"समीक्षा" शब्द की व्युत्पत्ति

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि "समीक्षा" शब्द का अर्थ भली प्रकार परीक्षण करना है और इस शब्द से हम साहित्य की सर्वांगीण विवेचना और मूल्यांकन से आशय समझते हैं। इसी प्रकार इसके पर्यायवाची शब्द "समालोचना" का अर्थ भी भली प्रकार देखना है। यह शब्द "लुच्" धातु से बना है और उसका अर्थ भी देखना या जांचना ही

है। इसका समानार्थक अंग्रेजी शब्द "क्रिटिसिज्म" भी "क्रिटीज" धातु से बना है और यही अर्थ रखता है। वह कला या साहित्य के विषय में निर्णय अथवा मूल्यांकन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्राचीनता और पर्याय :—

हिन्दी साहित्य में समीक्षा की परम्परा अधिक प्राचीन नहीं है। बीसवीं शती के प्रथम चतुर्थांश के पश्चात्, जब हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र निर्मित होना आवश्यक समझा जाने लगा, तब इस शब्द का बहुलता से प्रयोग होने लगा, यद्यपि अब भी समालोचना, आलोचना और क्रिटिसिज्म शब्दों का प्रयोग समीक्षा के लिये किया जाता है। हिन्दी समीक्षा की परम्परा का उद्‌गम और विकास संस्कृत साहित्य शास्त्र के आधार पर हुआ है। संस्कृत में आलोचना के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता था। वहाँ इसके लिये प्रचीनतम शब्द "क्रियाकल्प" मिलता है। इनमें "क्रिया" का अर्थ काव्यग्रन्थ तथा "कल्प" का अर्थ विधान है। इसीलिये इसे काव्य का विधायक शास्त्र माना जाता था। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग अधिक समय तक न हो सका। दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने इस शब्द का पर्याय "साहित्य विद्या" रखा। जिस अर्थ में हम आज "समीक्षा" शब्द का प्रयोग करते हैं, ठीक उसी अर्थ में संस्कृत साहित्य में जो शब्द बाद में प्रचलित हुआ, वह है "अलंकार शास्त्र"। व्यापक अर्थ में अलंकार का आशय काव्य की शोभा है। कुछ संस्कृत साहित्य शास्त्रज्ञों ने इसे काव्य का मूल तत्व भी स्वीकार किया है।

इस प्रकार से, हमारे देश में "समीक्षा" शब्द का प्रयोग भले ही बहुत प्रचीन काल से न होता रहा हो, परन्तु समीक्षा शास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। संस्कृत मे जब इस शास्त्र की एक दीर्घ और समृद्ध परम्परा स्थापित हो गयी तब उसी के आधार पर हिन्दी में भी इस शास्त्र की परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ। यह सन्तोष का विषय है कि बहुत अल्प समय में ही हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में एक चतुर्मुखी जागरूकता और दृष्टिकोण गत विस्तार लक्षित होने लगा है। हिन्दी समीक्षा के भावी विकास की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुये यह बहुत शुभ लक्षण प्रतीत होता है, जो इस बात का परिचायक है कि पूर्ववर्ती समीक्षा परम्पराओं में जो अतिवादिता और सीमा संकोच मिलता था, उसका इसमें सर्वथा अभाव है। यह स्वस्थ समीक्षा के मानदंडों का निर्धारक संकेत है, जो उसकी निश्चयता का भी अभास देता है।

समीक्षा और शोध

शोध का अर्थ :—

सामान्य रूप में अधिकांश समीक्षात्मक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विविध युगीन साहित्य धाराओं से रहता है। इसके समानान्तर ही उसके एक विशिष्ट भेद के रूप मे शोध को भी माना जा सकता है, जिसके लिये हिन्दी में "अनुसन्धान" अथवा "खोज" आदि शब्द भी प्रचलित हैं। अंग्रेजी भाषा में उसका समानार्थ सूचक शब्द "रिसर्च" है। इसका अर्थ "अनुशीलन" भी है। इस प्रकार "शोध", "अनुसन्धान", "खोज", "अनुशीलन" तथा "रिसर्च" आदि सब एक ही अर्थ में समान्यतः प्रयुक्त होते हैं।

पारस्परिक भेद :—

समीक्षा और शोध में मौलिक अन्तर यह है कि समीक्षा जहाँ किसी उपलब्ध और प्रस्तुत कृति की व्याख्या तथा गुण दोष विवेचन करती है, वहाँ शोध का मुख्य कार्य अज्ञात तत्वों की खोज करना होता है। परन्तु इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि शोध का क्षेत्र इसी कार्य तक सीमित है। वस्तुतः अज्ञात तत्वों की खोज को समीक्षा का एक प्रकार ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके अन्य रूप भी हैं और उनके अनुसार ज्ञात तत्वों की नवीन व्याख्या भी शोध का कार्य होता है। यह व्याख्या सामान्य समीक्षात्मक व्याख्या से इस अर्थ में भिन्न होती है, कि जहाँ सामान्य समीक्षात्मक व्याख्या में किसी दृष्टिकोण मात्र का होना ही कभी पर्याप्त हो सकता है, वहाँ शोध द्वारा की गयी व्याख्या के लिए उसमें वैज्ञानिकता का समावेश होना भी अनिवार्य है। इसलिए यदि हम हमीक्षा को शास्त्र कहेंगे, तो हमें शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्य करना होगा। इसलिए शोध, अनुसन्धान, खोज, अनुशीलन अथवा रिसर्च को हम वैज्ञानिक अन्वेषण के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

शोध की प्रक्रिया :—

शोध की प्रक्रिया भी उपर्युक्त मुख्य कारण से ही समीक्षा से भिन्न होती है। समीक्षा में आलोच्य कृति का सर्वांगीण परीक्षण ही प्रधान उद्देश्य रहता है, परन्तु शोध मेउस कृति से सम्बन्ध रखने वाले विविध तत्वों का सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण प्रधानरहता है। समीक्षक अपने मत का किसी कृति के सन्दर्भ में प्रकाशन स्वतन्त्र रूप सेह कहीं भी कर सकता है, परन्तु शोध के मूल में एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्वा अनिवार्य है। समीक्षा के लिए समीक्षक किसी भी स्थान से अपना वक्तव्य आरम्भ करके

आलोच्य विषय का परीक्षण आरम्भ कर सकता है, परन्तु शोध में इस परीक्षण से पूर्व एक सुस्पष्ट वर्गीकृत विषय क्रम होना आवश्यक है। इसके अभाव में उस शोध की वैज्ञानिकता में सन्देह हो सकता है। उसमें लेखक अपने मत का प्रतिपादन विविध निष्कर्ष के आधार पर करता है और ये निष्कर्ष उस दीर्घ प्रक्रिया का अन्त तक निर्वाह करने के पश्चात् ही स्पष्ट होते हैं और तभी उन्हें मान्यता भी मिलती है। इसमें लेखक आलोच्य विषय का वर्गीकरण करने के पश्चात् उसके विभिन्न अंगों का परीक्षण करता हुआ अपने अध्ययन को सूत्र बद्ध करता है। यह सूत्र बद्ध अध्ययन किसी नवीनतर निष्कर्ष तक पहुँचने में उसकी सहायता भी करता है।

अन्य भेद :—

समीक्षा और शोध में एक दूसरा भेद यह भी होता है कि समीक्षा शास्त्रीय होते हुए भी किसी मत अथवा प्रवृत्ति विशेष की कट्टर अनुगामिनी हो सकती है। और यदि वह ऐसी होती है, तो उसमे इससे किसी प्रकार की हीनता नहीं आती, वरन् इसके विपरीत यदि वह दृढ़तापूर्वक अपना मत पोषण और प्रवृत्ति समर्थन करती है, तो यह उसके पक्ष में ही होता है और इससे उसके महत्व की वृद्धि ही होती है। विश्व की प्रमुख भाषाओं की विकसित समीक्षात्मक परम्परायें इस कथन का प्रमाण है, क्योंकि बहुधा उनमें किसी पूर्ववर्ती या समकालीन समीक्षा धारा का खंडन या मंडन ही किया गया होता है और इसी के प्रयत्न लक्षित होते हैं। परन्तु शोध के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। शोध किसी प्रवृत्ति या विचारधारा की मात्र पोषक या विरोधी नहीं हो सकती। उसमें कर्त्ता की दृष्टि मूलतः तटस्थ रहती है और वह यथासम्भव समीक्षात्मक प्रवृत्तियों के पारस्परिक विवादों से अपने आपको मुक्त रख कर अपना कार्य करती है। उसे भी समीक्षा की तरह पहले अपने मत का प्रतिपादन करना पड़ता है और तब उसके पोषण की दिशा में कार्यशील होना पड़ता है। परन्तु दोनों में प्रधान भेद यही रहता है कि जहाँ समीक्षक को उस प्रवृत्ति विशेष के प्रति ईमानदार रहना पड़ता है और प्रत्येक प्रकार से उसी की पुष्टि करनी पड़ती है, वहाँ शोध कर्त्ता के लिए ऐसा अनिवार्य अथवा अपेक्षित नहीं है। वह यथासम्भव प्रवृत्तिगत वाद विवाद से अलग रह कर वैज्ञानिकता और तर्क सिद्धता की ओर ही अधिक ध्यान देता है। इसलिए दोनों में अन्तर यह आ जाता है कि जहाँ समीक्षा का कोई वर्ग विशेष हो सकता है, वहाँ शोध स्वतंत्र ही रहती है। उसके विविध प्रकार, रूप तथा वर्ग हो सकते हैं किन्तु विभिन्न स्कूल अथवा सम्प्रदाय नहीं।

ऊपर कहा गया है कि शोध कार्य का उद्देश्य या तो अज्ञात तत्वों की खोज और या ज्ञात तत्वों की नवीन व्याख्या है। यह शोध की एक विशेषता होती है और इसकी उससे आशा भी की जाती है। परन्तु इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि समीक्षा में नवीनता अथवा मौलिकता के गुणों का अभाव रहता है और ये शोध में ही होते हैं। वस्तुतः उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि यदि किसी शोध कार्य में इन गुणों का अभाव है, तो उसे वैज्ञानिक शोध की श्रेणी में नहीं रखा जायगा और मूलभूत गुणों अथवा शर्तों के रूप में शोध कर्त्ता को इनकी ओर ध्यान देना और इनकी चिन्ता करनी ही होगी। यों समीक्षा में भी मौलिकता अथवा नवीनता हो सकती है परन्तु समीक्षा और शोध में स्वरूपगत भेद यह होता है कि समीक्षा के लिए किसी निश्चित पूर्व धारणा अथवा प्रकल्पना को लेकर चलना आवश्यक नहीं होता, जब कि इसके अभाव में शोध कार्य कठिन हो जाता है। समीक्षा में नवीनता या मौलिकता का आधार किसी वादगत सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण से अनुसार भी हो सकता है और इसमें भी उसकी सार्थकता हो सकती है। इसलिए नवीनता और मौलिकता के गुण समान रूप से समीक्षा और शोध में विद्यमान रहते हैं, परन्तु माध्यम के अनुसार इनमें पारस्परिक भिन्नता होती है।

समीक्षा और शोध में एक अन्तर यह भी है कि समीक्षा का क्षेत्र इस दृष्टिकोण से पूर्णतः स्वतन्त्र है कि उसके लिए समीक्षक को किसी शिक्षण-संस्था अथवा शोध-संस्थान से सम्बध् होने की आवश्यकता नहीं होती। यदि समीक्षक में समीक्ष्य विषय से सम्बन्ध रखने वाली जानकारी और उसकी व्याख्या करने की योग्यता है, तो वह इस कार्य में प्रवृत्त हो सकता है और समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु एक शोध-कर्ता के लिए स्वतन्त्र रूप से शोध करना सम्भव नहीं होता। उसे किसी न किसी सस्थान से सम्बद्ध होना ही पड़ता है। और उस संस्थान द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हुए शोध कार्य करने पर तत्पश्चात् उसे परीक्षा के लिए प्रस्तुत करने और उसमें सफल होने पर ही उसके लिए नियत उपाधि प्रदान की जाती है। ये शोध उपाधियाँ विविध स्तरों की होती हैं और इसके लिए भिन्न नियमावलियाँ हैं। परन्तु यह शोध-कार्य मुख्यतः उपाधि के लिए किया जाता है और उसके सम्पन्न होने पर निर्धारित उपाधि भी मिलती है। उपाधि के लिए यह कार्य करने में कुछ अनिवार्य नियमों का दृढ़ता से पालन करना पड़ता है और इसके अतिरिक्त उसे आरम्भ करने के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता का होना भी आवश्यक होता है। अतः जो शोधकर्त्ता इन न्यूनतम शैक्षिक योग्यताओं से विहीन होते हैं, अथवा उनसे युक्त होते हुए भी किन्हीं कारणों से उन नियमों का पालन

नही करना चाहते, वे स्वतन्त्र रूप से किसी भी सस्थान से सम्बद्ध न रह कर स्वय अपना कार्य करते रहते हैं और उसके समाप्त होने पर उसे प्रकाशित करवा देते हैं।

इस प्रकार से शोध कृति वह भी हो सकती है जो किसी उपाधि के लिए न भी लिखी गयी हो, उसका किसी ने निर्देशन न किया हो, और उसका परीक्षण न हुआ हो। परन्तु हिन्दी में सामान्यतः ऐसी कृति को समीक्षा कृति ही कहा जाता है, शोध कृति नहीं। यद्यपि इससे यही सिद्ध होता है कि हम "शोध" शब्द का प्रयोग बहुत रूढ़ अर्थो में करते हैं और विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध होकर उपाधि प्राप्त कार्य को ही शोध कार्य के रूप में मान्यता देते हैं। परन्तु यह एक सत्य है कि इन क्षेत्रों से अलग भी अनेक ऐसी असाधारण और विशिष्ट महत्व की कृतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, जो मान्य शोध कृतियों की अपेक्षा हीन स्तर की नहीं हैं। इसलिए "शोध" शब्द का व्यवहार रूढ़ अर्थ में किया जाने पर भी इसका आशय उच्च कोटि के खोज कार्य से समझा जाना चाहिए, भले ही वह किसी उपाधि के लिए किया गया हो, अथवा स्वतन्त्र रूप से। उच्च शोध उपाधियाँ योग्य व्यक्तियों को ऑनरेरी रूप से प्रदान कर दिए जाने का भी यही आशय होता है कि वे व्यक्ति विश्वविद्यालयों से शोध कर्त्ता के रूप में सम्बद्ध न होने पर वैसी योग्यता रखते हैं और उस उपाधि के लिए सर्वथा योग्य होते है। स्वतन्त्र रूप से शोध स्तरीय महत्व की प्रस्तुत की गयी कृतियाँ भी मान्य शोध कृतियों की ही भाँति भावी शोध और समीक्षा के क्षेत्रों में मार्ग दर्शन का कार्य करती हैं।

शोध का क्षेत्र :—

समीक्षा के विस्तृत क्षेत्र और प्रकारों की ही भाँति शोध का क्षेत्र भी स्वतन्त्र और विस्तृत होता है। संक्षेप में अनुसन्धान के निम्नलिखित वर्ग किये जाते हैं : शब्दानुसन्धान, पाठानुसन्धान, भाषानुसन्धान, अर्थानुसन्धान, तथ्यानुसन्धान, तत्वानुसन्धान, कलानुसन्धान, भावानुसन्धान, प्रवृत्यानुसन्धान तथा आदर्शानुसन्धान आदि। इस प्रकार से यह सिद्ध है कि समीक्षा का स्वरूप साहित्यानुसन्धान, काव्य का इतिहास अथवा काव्य शास्त्र से सर्वथा भिन्न हैं। जो लोग यह धारणा रखते हैं कि उक्त विषयों का क्षेत्र प्रायः समान ही होता है, वे इनका स्वतन्त्र क्षेत्र और विस्तार नहीं आँकते। अधिक से अधिक इनके विषय अथवा उद्देश्य की समता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में इनमें पारस्परिक साम्य होता है, परन्तु इस उद्देश्य और विषयगत एकता के होते हुये भी अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयों के प्रतिपादन और सीमाओं की दृष्टि से इन माध्यमों में पर्याप्त अन्तर रहता है।

शोध का विभाजन :—

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शोध का विभाजन कई अंगों में किया जा सकता है। स्थूल रूप से ये दो होते हैं। प्रथम शोध की क्रमबद्ध रूपरेखा तैयार करना और द्वितीय विकसित और मान्यता प्राप्त समीक्षकीय मानदंडों के अनुसार उनका सम्यक् विश्लेषण करना। इसी वर्गीकरण के अनुसार सारे शोध कार्य को ही दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम भाग में शोध कार्य के आरम्भ करने के पूर्व उसकी बाह्य रूपरेखा की तैयारी होगी तथा द्वितीय भाग में व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसका लेखन। इससे स्पष्ट है कि जिस शोध प्रबन्ध की प्रारम्भिक रूपरेखा विशेष सावधानी और परिश्रम से तैयार की जायगी, बाद में उसका दूसरा कार्य अर्थात् लेखन अपेक्षाकृत सरल हो जायगा। इस सम्बन्ध में इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि शोध और सामान्य समीक्षा चूंकि एक ही नहीं होती, इसलिए शोध प्रबन्ध के लेखन में शोधकर्ता को भाषा की शुद्धता, अभिव्यक्ति की सरलता और आलोच्य विषय के समग्रता से प्रतिपादन आदि में विशेष रूप से सावधानी से काम लेना होगा।

शोधकर्ता की योग्यताएँ :—

शोध की व्याख्या करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि वह एक प्रकार का समीक्षात्मक सम्पादन है, जिसमें शोधकर्ता के लिये मुख्यतः दो योग्यताओं की आवश्यकता होती है। एक तो यह कि उसमें आलोच्य विषयों की सम्यक् समीक्षा करने के लिए उनकी कितनी आधारिक जानकारी है, तथा दूसरी यह कि वह उस समीक्षात्मक विवरण को अपने सम्पादन कौशल से कितने अच्छे, औचित्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक ढंग से क्रमबद्ध रूप में संयोजित कर सकता है। ध्यान देने की बात यह भी है कि ये दोनों योग्यताएँ दो ऐसे क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती हैं, जो परस्पर वैभिन्नय रखते हैं। इसलिए यदि किसी शोधकार्य में समीक्षा अथवा सम्पादन की कोई कमी रह जाती है, तो इसका कारण यही होता है कि शोधकर्ता में उपयुक्त दोनों योग्यताओं में से किसी का अभाव है।

शोध के प्रकार :—

व्यावहारिक दृष्टि से शोध कार्य में कर्ता को किसी क्षेत्र विशेष में विद्यमान किसी मुख्य समस्या अथवा किसी नवीन सिद्धांत का प्रवर्तन अथवा व्याख्या करनी होती है। इसके लिए कुछ निश्चित कार्य और निर्धारित प्रक्रिया होती है, जिसके अनुसार कर्ता को कार्य करना होता है। ऐसा करते समय वह प्रायः दो प्रकार के उपायों का आश्रय

लेता है। या तो वह ऐसा करता है कि "विषय प्रवेश" अथवा "पृष्ठभूमि" शीर्षक से अपने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सूत्र रूप में उस विषय से सम्बध रखने वाली समस्या को प्रस्तुत करके निर्धारित रूप रेखा के अनुसार क्रमशः उस पर कार्य आरम्भ कर देता है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में उपसंहारात्मक रूप से उसका मंडन करता है। और या वह ऐसा करता है कि प्रारम्भिक वक्तव्य के रूप में ही उस मत या निष्कर्ष की घोषणा कर देता और उसे मान कर आगे चलता है, जिस पर अन्ततः उसे आना होता है। इनमे से पहले रूप को हम शोध का एक प्रकार अप्रकल्पनात्मक तथा दूसरे को उसका दूसरा प्रकार प्रकल्पनात्मक कह सकते है। यों ये दोनों ही शोध प्रकार वैज्ञानिक रूप से मान्य होते हैं, क्योंकि दोनों में ही जो मन्तव्य होते हैं वे तर्क द्वारा प्रमाणित होते हैं।

वैज्ञानिक और साहित्यिक शोध :—

प्रायः शोध कार्य का स्वरूप निर्धारण करते समय उसके दो भिन्न प्रकार बताये जाते हैं। इनमें से प्रथम को वैज्ञानिक और द्वितीय को साहित्यिक शोध कहा जाता है। हमारे मत के अनुसार यह विभाजन औचित्यपूर्ण नहीं है। शोध एक व्यापक अर्थ का सूचक शब्द है, जिसका क्षेत्र-विस्तार बहुत अधिक है। इसलिए यह विभाजन या तो अवांछनीय है और या अपूर्ण। क्योंकि यदि शोध साहित्यिक और वैज्ञानिक हो सकता है, तो ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्रीय, राजनीति शास्त्रीय आदि भी।

यदि हम शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं, तो फिर इस विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता और वह भिन्न विषयों के क्षेत्र को अपने में समाविष्ट कर लेता है। और जहाँ तक वाङ्मय के विविध अंगों में शोध का सम्बन्ध है, उनमें विषयगत वैभिन्नय होते हुए भी प्रक्रियागत एकता है। फिर प्रत्येक कला अथवा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी अलग आवश्यकताएँ और समस्याएँ होती हैं, जिनके ऊपर कार्य करना उस क्षेत्र के सजग शोध कर्त्ताओं का कार्य होता है। परन्तु यह कहना कि साहित्यिक शोध अवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शोध वैज्ञानिक होती है, एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में शोध की महत्ता को कम करना है। शोध की सार्थकता इसी में होती है कि उसके माध्यम से सम्बद्ध क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान का विस्तार हो तथा इस या और किसी रूप में उसकी सार्थकता सिद्ध हो।

क्षेत्रगत विस्तार :—

समीक्षा और शोध के क्षेत्रगत विस्तार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से इनकी तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि समीक्षा और शोध दोनों ही स्वतन्त्र और मान्य शास्त्र तथा विज्ञान हैं। इसलिए यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण न होगा कि शोध की अपेक्षा समीक्षा का अथवा समीक्षा की अपेक्षा शोध का क्षेत्र कम या अधिक विस्तार रखता है। वास्तव में इन दोनों का ही क्षेत्र स्वतन्त्र और पर्याप्त विकसित है। दोनों में कभी-कभी उद्देश्यगत या किसी और प्रकार की कोई समता अवश्य मिल जाती है अथवा प्रक्रियागत कोई विषमता भी मिल सकती है, परन्तु ऐसी किसी समता या विषमता के आधार पर इन दोनों में से किसी एक को हीनतर अथवा उच्चतर घोषित करने की चेष्टा करने लगना उचित नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि कभी हमारे सामने कोई ऐसी कृति आये, जो समीक्षात्मक शोध कृति हो या कोई ऐसी रचना देखने का संयोग मिले जो शोधात्मक समीक्षा का उदाहरण हो। दोनों ही स्थितियों में यह या तो एक संयोग हो सकता है, जो विषय की एक रूपता के कारण अनिवार्यतः ऐसा हुआ; और या वह शोधकर्त्ता अथवा समीक्षक की अयोग्यता सिद्ध करता है। लेकिन इसके आधार पर इन दोनों स्वतन्त्र विषयों को किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध कर देना अथवा केवल इसी आधार पर इन दोनों का क्षेत्र संकुचित अथवा विस्तृत घोषित कर देना उचित नहीं है। वस्तुतः शास्त्रीय समीक्षा और वैज्ञानिक शोध दोनों का ही स्तरीय महत्व बहुत अधिक है और इन दोनों को ही वह महत्व प्राप्त है।

सामयिक आवश्यकता :—

समीक्षा की ही भाँति शोध भी एक सामयिक अनिवार्यता और आवश्यकता बन जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि प्रायः सभी भाषाओं में समीक्षा शास्त्र का निर्माण पहले हुआ और शोध विज्ञान का विकास बाद में। इसका कारण यह हो सकता है कि विविध देशों और जातियों के इतिहास में ऐसे समय आये थे, जब कि उनके यहाँ की महत्वपूर्ण कला और साहित्य कृतियाँ या तो नष्ट हो गयीं और या खो गयीं। बाद में शान्ति काल में जब फिर से शक्षिक ज्ञान का विकास होने की सम्भावनाएँ हुईं और लोग इस दिशा में कार्यशील हुए, तब प्राचीन विलुप्त कला और साहित्य सामग्री के अनुसन्धान की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

इस प्रकार से शोध कार्य पहले एक बहुत सीमित क्षेत्र में खोज के लिये आरम्भ हुआ और कालान्तर में इसका विकास होता गया तथा वर्तमान समय में ज्ञान की सभी विधाओं तक इसका प्रसार है। अब शोधकर्त्ता का एक मात्र उद्देश्य किसी विलुप्त और अज्ञात कृति की खोज करना ही नहीं रह गया है, या किसी अल्प ख्याति वाली पांडुलिपि की खोज करना भी नहीं रह गया है, वरन् उपलब्ध साहित्य की भी नवीनतर व्याख्या करके समकालीन समीक्षा प्रवृत्तियों के विकास में एक प्रकार का योग देना है। इस दृष्टिकोण से शोध को समीक्षा का पूरक और सहयोगी भी कहा जा सकता है, क्योंकि शोध के द्वारा समीक्षा के विकास की नयी सम्भावनाएँ उपजती हैं और उनके विकास की दिशाएँ भी स्पष्टतर होती हैं।

आधारभूत तत्व :–

समीक्षा और शोध के विषय में जहाँ तक आधार का प्रश्न है, ऐसा कहा जाता है कि समीक्षा के लिए क्रियात्मक साहित्य का और शोध के लिए क्रियात्मक समीक्षा का विद्यमान होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यदि क्रियात्मक साहित्य प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं है, तो समीक्षा की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि क्रियात्मक समीक्षा प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं है, तो शोध-विज्ञान का विकास नहीं हो सकता; क्योंकि इन दोनों के लिए पिछले दोनों का पूर्व अस्तित्व होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वाह्य रूप से इस कथन में कुछ असगति नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसकी सत्यता पर इस कारण से सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य शास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों की रचना के पूर्व क्रियात्मक साहित्य उच्चस्तरीय तथा विकास प्राप्त हो ही चुका हो, तथा शोध की स्तरीयता के लिए पहले समीक्षा के परम्परानुगत विकास की पृष्ठभूमि तैयार ही हो चुकी हो।

ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि पहले क्रियात्मक रूप से साहित्य शास्त्र का प्रणयन हुआ हो और फिर शास्त्रीय साहित्य की सम्भावनाएँ उपजी हों। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि इन विभिन्न विषयों की अपनी स्तरीयता दूसरे की स्तरीयता को प्रभावित करती है और सम्भावनाओं की दृष्टि से एक दूसरे के लिए प्रेरक होकर अन्तर्सम्बन्धित रहती है। इसके साथ ही एक समीक्षक यदि समकालीन साहित्य प्रवृत्तियों का निर्देशक हो सकता है तो एक शोधकर्त्ता भी इसी कार्य को कर सकता है।

समीक्षा की मर्यादा

समीक्षा का कार्य एक सीमा-निर्धारण और मर्यादा-निर्वाह की अपेक्षा रखता है। आज हिन्दी साहित्य में जो दिशा-निर्देशन का अभाव होने की बात बहुधा कही जाती है, उसका एक कारण यह भी है कि जो साहित्य रचना हो रही है, उसके मूल्यांकन के लिए ठोस प्रयत्न नहीं किये जाते। इसका कारण किसी सीमा तक प्रमुख समीक्षकों की वर्तमान हिन्दी साहित्य की कुछ प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता हो सकती है। ऐसी स्थिति में साहित्य के विविध अंग प्रगति के मार्ग पर अग्रसर तो होते हैं और नित्य नये मोड़ों पर आकर आगे बढ़ने की चेष्टा भी करते हैं, परन्तु उपयुक्त दिशा निर्देशन के अभाव में वे विकसित नहीं हो पाते। यह वृत्ति समान रूप से दो बातों का संकेत देती है। एक तो समीक्षकों की इस क्षेत्र में अजागरूकता, अकर्तव्यता तथा उपेक्षा-भावना, और दूसरे नये साहित्य की अप्रौढ़ता और निष्प्राणता। इस तथ्य का एक दूसरा पक्ष भी है। उसके अनुसार आज साहित्य के विविध अंगों में समीक्षा के क्षेत्र से ही सबसे अधिक क्रियाशीलता दिखाई देती है और नये हिन्दी साहित्य का यही अंग सबसे समृद्ध जान पड़ता है। यदि वास्तव में ऐसा है, तो यह किसी सीमा तक सन्तोष का ही विषय है, क्योंकि साहित्यिक विकास की नवीन धाराओं के साथ यदि समीक्षा के क्षेत्र में भी स्वस्थ विकास की दिशाएँ परिलक्षित होती हैं, तो साहित्य की सर्वांगीण उन्नति की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

समीक्षा की मर्यादा के विषय में सबसे पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि यह एक स्वतंत्र शास्त्र है। इस दृष्टिकोण से यह साहित्य और अन्य कलाओं से सर्वथा वैभिन्नय रखता है। इसलिये साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में क्रियाशील होने के पहले व्यक्ति का रसज्ञ तथा शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है और ये दोनों योग्यताएँ भी स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य और रुचि पर निर्भर करती हैं। इसलिए यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि साहित्य और समीक्षा का गाम्भीर्य समझ कर इनकी मर्यादा समझ ली जाय। एक साहित्यकार अपनी कृतियों में उस युग के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसमें वह रहता है और जो उसके द्वारा अनुभूत होती है। अब उस साहित्य का रस ग्रहण करना एक दूसरे व्यक्ति का कार्य होता है, जिसका स्थान साहित्यकार और समीक्षक के बीच का होता है। वह व्यक्ति पाठक होता है। पाठकों मे प्रायः सभी प्रकार और सभी कोटियों के साहित्य में रुचि लेने का न्यूनाधिक क्षमता विद्यमान होती है। इसी कारण वे अपनी रुचि और स्तर के अनुकूल साहित्य को पढते और उससे अपना मनोरंजन करते हैं। इन पाठकों से बहुत सी श्रेणियाँ होती हैं

और उन्हीं के अनुसार इनमें सामान्य से लेकर विशिष्ट प्रकार के लोग होते हैं। इनकी धारणाएँ भी समकालीन साहित्य के बारे में भिन्न प्रकार की होती हैं और उनका निर्धारण उनकी अपनी रुचि और स्तर से होता है। इनमें जो विशिष्ट कोटि के पाठक होते हैं वे साहित्य की समकालीन प्रवृत्तियों और धाराओं के विषय में अपेक्षाकृत अधिक जागरूक होते हैं और कभी-कभी तो उनके अनुभव और विचार वास्तव में महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि साहित्य का नियमित अध्ययन करके यों भी उनकी विवेक बुद्धि का परिष्कार हो चुका होता है। कहने का आशय यह है कि किसी भी स्थिति में ये जागरूक और विवेकवान पाठक समीक्षा करने के अधिकारी तब तक नहीं हो सकते जब तक कि उन्हें समीक्षा शास्त्र का गहन रूप से ज्ञान न हो तथा उन्होंने उसका सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक अध्ययन न किया हो। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य का प्रणयन, उसका रस लेने की सामर्थ्य तथा उसकी समीक्षा, ये तीनों कार्य तीन प्रकार के हैं और यदि संयोग से कोई व्यक्ति इनमें से किसी एक की सामर्थ्य रखता है, तो उसे यह समझ लेने का भ्रम कदापि न करना चाहिए कि वह दूसरे कार्य का अधिकारी हो सकता है और इसके लिये उसमें किसी अतिरिक्त गुण की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार से प्रतिभाशाली व्यक्ति ही साहित्य की रचना कर सकता है, रसज्ञ पाठक ही उसका भली प्रकार आनन्द ग्रहण कर सकता है, उसी प्रकार से एक शास्त्रज्ञ समीक्षक ही उसकी सम्यक् समीक्षा कर सकता है और ऐसा करने का अधिकारी हो सकता है। इसलिए समीक्षा के सम्बन्ध मे यह मर्यादा निर्वाह की बात सर्वाधिक महत्व रखती है, क्योंकि यह ही वह वस्तु है, जिसका निर्वाह होने पर समीक्षा शास्त्र का एक उच्चस्तरीय धरातल पर विकास सम्भव है।

समीक्षक और लेखक

आज के युग में बहुधा समीक्षक के सामने लेखक की ओर से और लेखक के सामने समीक्षक की ओर से कुछ विशेष मांगें प्रस्तुत की जाती है। बहुधा लेखक का काम समीक्षक और समीक्षक का काम लेखक भी करते देखे जाते हैं। यह बहुत भ्रामक परिस्थितियों का परिणाम है, परन्तु यह प्रत्येक उस युग में स्वाभाविक होता है, जिसमे जीवन की जटिलताएँ अपने यथार्थ रूप में युगीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक अपने सामाजिक दायित्व की उपेक्षा करके रूढ़ियो या वादों के संकुचित घेरों में ही चक्कर लगाते रहते हैं। तब जागरूक समीक्षक स्वभावत:

पाठक, समीक्षक और लेखक :—

इस विषय में यह कहा जा सकता है पाठक और समीक्षक के बाद तीसरी सीढ़ी लेखक होता है। पाठक किसी लेखक की कृति में अभिव्यक्त अनुभूतियों का रसास्वादन करता है और समीक्षक उनकी मीमांसा। लेखक अपनी अनुभूतियों को अलंकृत भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। इसलिए ये अनुभूतियाँ विशेष रूप से रससिक्त होती हैं। इनका आनन्द प्राप्त करने के लिए पाठक और समीक्षक दोनों में रसग्राह्यता या भावुकता समान रूप से होनी चाहिए। यहाँ पाठक और समीक्षक एक ही श्रेणी में आते हैं, क्योंकि दोनों का ही कार्य इस रसमयता का किसी लेखक के साहित्य में रसास्वादन तथा परीक्षण होता है। यह तभी सम्भव है जब पाठक तथा समीक्षक समान रूप से इसके योग्य तथा सक्षम हों। यह योग्यता एक पाठक में कम या अधिक होने से काम चल सकता है परन्तु एक समीक्षक के लिए यह एक बड़ा उत्तर-दायित्व है। जब तक उसकी रसग्राहिणी शक्ति का समुचित विकास न होगा तब तक वह किसी भी उच्च कोटि के साहित्य का भली भाँति रसास्वादन तथा परीक्षण न कर सकेगा।

एक समीक्षक में इस शक्ति का विकास होने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे अपनी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास और उपलब्धियों का सम्यक् ज्ञान हो और उनका क्रमिक अध्ययन करके उसने उनकी उपलब्धियों का भी परिचय पाया हो। इसलिए यह साहित्यिक अनुशासन एक सामान्य पाठक की अपेक्षा एक उत्तरदायी समीक्षक में अधिक अपेक्षित है। एक पाठक का काम इस अध्ययन और परिचय ज्ञान के भी चल सकता है, किन्तु समीक्षक के लिए साहित्य और समीक्षा शास्त्र के सैद्धांतिक नियमों और व्यावहारिक रूपों की भी गहरी जानकारी होना आवश्यक है।

रस सम्वेदना:—

ऊपर हमने लिखा है कि एक समीक्षक में किसी सामान्य पाठक की अपेक्षा रसग्राहिणी शक्ति अधिक होनी चाहिये। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लेखकों की ओर से इस बात की शिकायत की जाती है कि सामान्यतः समीक्षकगण इस योग्यता के आधिक्य से वंचित रहते है। और यदि किसी समीक्षक में यथार्थतः इस योग्यता का अभाव रहता है, तो वह किसी भी साहित्यिक कृति का परीक्षण साहित्य व समीक्षा शास्त्र द्वारा निर्देशित नियमों और सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में करता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह समीक्षा सर्वग्राह्य और सर्वप्रशंसित नहीं होती और ऐसा होना अनिवार्य भी नहीं है,

परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध हो जाता है कि कोई समीक्षक वास्तव में इस रस ग्राहिता की सामर्थ्य से रहित है और वैसा होने पर वह समीक्षक होने का कितना अधिकारी हो सकता है, इसके विषय में क्रियात्मक लेखकों का निर्णय बहुत उत्साहजनक नहीं होता, भले ही उस समीक्षक द्वारा की गई समीक्षा पूर्ण रूप से शास्त्रीय ही क्यों न हो।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से, यद्यपि लेखक और समीक्षक में विविध क्षेत्रीय अध्ययन और उच्च कोटि के ज्ञान के विषय में अन्तर हो सकता है, परन्तु जहाँ तक रसग्राहिता का सम्बन्ध है, यह गुण उन दोनों समान रूप से विद्यमान होना चाहिये, क्योंकि इसके अभाव में न केवल श्रेष्ठ साहित्य सृजन कठिन है, वरन् श्रेष्ठ समीक्षा भी सम्भव है। इस गुण के बिना साहित्य समीक्षा करना लगभग वैसा ही होगा, जैसे सम्वेदनशीलता के अभाव में साहित्य रचना के नियम पढ़कर क्रियात्मक साहित्य रचना करना।

समीक्षा के गुण

सहृदयता:—

एक समीक्षक में सबसे पहला गुण यह होना चाहिये कि वह सहृदय हो क्योंकि समीक्षा का प्राथमिक कार्य किसी कृति में किसी कृतिकार द्वारा अभिव्यक्त रसानुभूति की व्याख्या करना है। इस सहृदयता को हम समीक्षक की रसग्राह्यता, भावुकता अथवा सम्वेदनशीलता भी कह सकते हैं। कोई समीक्षक अन्य प्रकारों से कितनी भी योग्यताएँ क्यों न रखता हो, यदि वह सहृदय नहीं है, तो किसी भी उच्च कोटि की कृति के साथ पूर्ण रूप से न्याय नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त उसके स्वयं के लिये भी एक श्रेष्ठ और सफल समीक्षक होने की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। इसीलिये उसे समीक्षक बनने से पहले अपनी रसग्राहिणी शक्ति का विकास भली प्रकार से करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करते समय उसका कार्य प्रायः एक सजग पाठक के समान होगा, जो किसी कृति में साहित्यकार की काव्यानुभूति का रसास्वादन कर सकेगा। मूलतः यह काव्यानुभूति काव्यमय होती है और उसे समझ सकने के लिये पाठक का सजग होना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार से जब उसमें इस काव्यानुभूति की परख और स्तर निर्धारण की योग्यता आ जायगी, तब वह समीक्षा का कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकेगा, क्योंकि अब तक उसकी रसग्राहिणी शक्ति का सम्यक् रूप में परिष्कार और विकास हो चुका होगा।

सुशिक्षा:—

समीक्षक के लिये दूसरा आवश्यक गुण यह है कि उसे सुशिक्षित होना चाहिये। तब तक उसे विश्व की प्रमुख भाषाओं की समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं की आपेक्षिक

जानकारी न होगी, तब तक वह उनका तुलनात्मक अध्ययन करके कोई निष्कर्ष न निकाल सकेगा। ऊपर हमने कहा है कि समीक्षक के लिये समीक्षा का कार्य स्वीकार करने के पूर्व एक और सीढ़ी से होकर गुजरना आवश्यक है और वह यह है कि उसे एक सजग पाठक होना चाहिये। और इसीलिये जब हम यह कहते हैं कि समीक्षक पूर्वतः समृद्ध भाषाओं की साहित्यिक उपलब्धियों से सुपरिचित होना चाहिये, तब हमारा आशय यह होता है कि समीक्षक यथार्थतः साहित्य का उच्चतम कोटि का पाठक होता है। एक ऐसा पाठक जिसकी रसग्राहिणी शक्ति का उचित प्रकार से परिष्कार और विकास हो चुका है और जो विश्व की प्रमुख भाषाओं की महान् और गौरवमय परम्पराओं की अवगति रखता है। यदि हीन कोटि की रस सम्वेदना श्रेष्ठ समीक्षा के मार्ग में बाधा सिद्ध हो सकती है, तो साहित्यिक क्षेत्रीय अल्पज्ञता भी आपेक्षिक रूप में उच्च स्तरीय समीक्षा की रचना के मार्ग को रुद्ध करती है। इसीलिये सहृदयता के बाद एक समीक्षक के लिये दूसरा आवश्यक गुण उसका सुशिक्षित होना है, क्योंकि साहित्य का विविध क्षेत्रीय ज्ञान भी उसके लिये अपेक्षित होता है। दूसरे शब्दों में समीक्षक का सुशिक्षित होना एक प्रकार से इस तथ्य का प्रमाण होता है कि वह एक अनुशासनात्मक प्रक्रिया से गुजर चुका है और इस दृष्टिकोण से भी समीक्षा का अधिकारी है।

निष्पक्षता :—

समीक्षक का तीसरा गुण उसकी निष्पक्षता है। उसे किसी वाद या विचारधारा का कट्टर समर्थक नहीं होना चाहिए। जो समीक्षक निष्पक्ष नहीं होता, उसका व्यक्तित्व इस कट्टर वादानुगामिता के कारण फीका पड़ जाता है और फिर उसका प्राथमिक कार्य समीक्षा न रह कर प्रचारवाद ही हो जाता है। वास्तव में जो भी समीक्षक परिवर्तित होते हुये समाज, परिस्थितियों और मान्यताओं पर बल देता है, उसे यह समझना चाहिए कि मानव प्रवृत्ति अपने मूल रूप में सदैव से एक रही है और इसलिए उसे समग्रता से ही देखना चाहिए। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि उसे समसामयिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करनी चाहिए। जो भी समीक्षक किसी विशिष्ट विचार धारा या वाद का कट्टर समर्थक है, उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जब वह साहित्य में आदर्शात्मकता या यथार्थात्मकता का नारा लगाता है, तो इसका आशय यह कभी नहीं समझा जाता कि वह जीवन सत्यों की उपेक्षा कर सकता है। किसी भी ऐसे सत्य को आत्मसात् के लिए यह आवश्यक है कि उसमें युग की यथार्थ चेतना बहुत प्रखर और परिष्कृत रूप में विद्यमान हो। अन्ततः वही साहित्य श्रेष्ठतम कोटि का सिद्ध होगा,

जिसमें सामाजिक यथार्थ और उसकी गहरी चेतना की अभिव्यक्ति की गयी हो तथ दूसरी ओर उसे प्रभावित करने की चेष्टा भी जिसमें लक्षित हो।

इस दृष्टिकोण से एक समीक्षक के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि वह सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही किसी कृति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करे और यह देखे कि किसी समीक्ष्य कृति विशेष में सामाजिक परिस्थितियाँ किस सीमा तक अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं। उसके साथ ही उन्हें प्रभावित करने और परिष्कृत करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है अथवा नहीं। हमारा विचार है कि किसी भी ऐसे समीक्षक के लिए यह कार्य कठिन है, जो कि वाद से आक्रान्त रहता है, क्योंकि वह एक ओर तो पक्षपूर्णता के कारण समीक्षा के लिए आवश्यक सन्तुलन खो देता है और दूसरी ओर उसमें अनुशासन का अभाव भी हो जाता है। ये दोनों सीमाएँ तटस्थ दृष्टिकोण से उसे किसी कृति का मूल्यांकन नहीं करने देतीं और वह सदैव अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए ही चेष्टाशील रहता है जो किसी न किसी वादगत स्थापना का आग्रह ही होती है।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह नहीं है कि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में सभी प्रकार के वाद त्याज्य हैं और किसी भी प्रकार से उनका अनुगमन वांछनीय नहीं है। वास्तव में किसी भी वाद द्वारा गौरविल वे ही तत्व समीक्षक को ग्रहण करने चाहिए जिनमें वह वाद किन्हीं उल्लेखनीय यथार्थताओं का उद्घाटन करता हो। और इन यथार्थताओं के वोध के बाद भी समीक्षक को दूसरे वादों की इन्हीं विशेषताओं तथा युग की अन्य सत्यताओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कहने का आशय यह है कि यदि कोई वाद युग जीवन के नये क्षेत्र और परिवेश में किन्हीं सत्यों की अवगति कराने की क्षमता रखता है, तो उसके उन तत्वों को वादानुगामी न होते हुये भी स्वीकार किया जा सकता है।

उदारता अथवा सहिष्णुता:—

समीक्षक का चौथा गुण उसकी उदारता अथवा सहिष्णुता है। यह सहिष्णुता ही उसे इस योग्य बनाती है कि वह प्राचीनता तथा नवीनता का समन्वय करके यथा सम्भव युग की आवश्यकता के अनुरूप विचारणा कर सके। यदि कोई समीक्षक पूर्ववर्ती साहित्य और समीक्षा धाराओं की ओर अधिक झुकाव रखता है और युग के साथ कदम नहीं मिला पाता, तो वह कभी भी नवीन साहित्य की उपलब्धियों की अवगति नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि वे उसकी दृष्टि में सदैव ही उपेक्षणीय होती है। यद्यपि यह सत्य है कि

समीक्षक अपने संस्कारों से प्रभावित होता है और अपनी मान्यता के अनुसार ही समीक्षा करता है, परन्तु ऐसा करते समय उसे एकांगिता और अपूर्णता के दोनों से बचे रहने का यत्न करना करना चाहिए। आज यह धारणा अधिकतम क्षेत्रों से मान्यता प्राप्त कर रही है कि उच्चतम कोटि के साहित्य में मानव जीवन का समग्रता में चित्रण होना चाहिए। इस दृष्टि से कोई भी ऐसा साहित्य इस कोटि में नहीं आ सकता, जो एकांगी, वादगत अथवा संकुचित दृष्टिकोण वाला हो। चूंकि समीक्षक साहित्य का नेतृत्व और नियंत्रण भी करता है, इसलिए उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का भी परिचय प्राप्त करता रहे।

सौन्दर्यानुभूति :—

समीक्षक का पाँचवाँ गुण विविध विषयक कृतियों की कलात्मक और सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों को ग्रहण करने की योग्यता है। उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह समीक्ष्य कृति की विशेषताओं को समझते हुये उन कारणों को समझ सके, जिनमें मूल रूप से उस कृति की महत्ता निहित हो। समीक्षक में यह विवेक तभी होगा, जब उसमें ऊपर लिखे गये अन्य गुण विद्यमान हों, क्योंकि उनकी उपस्थिति ही समीक्षक की ग्राह्य शक्ति को सूक्ष्मता देती है और यदि उसमें यह गुण नहीं है तो वह किसी भी कृति का वास्तविक रूप में मूलयांकन नहीं कर सकेगा और उसके महत्व के यथार्थ कारणों की भी खोज करने में असमर्थ रहेगा। ऐसा समीक्षक कभी भी शास्त्रीय कोटि की समीक्षा नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसका प्रायः सम्पूर्ण विवेचन सतही और ऊपरी तौर का होगा, और उसमें विषयगत गहराई का अभाव होगा।

इसके अतिरिक्त वह किसी कृति के विशेष रूप से रस प्लावित अंशों को उनकी कुंठित विवेक शक्ति पहचानने में कभी भी सफल न हो सकेगी और इसलिए उसके खंडन या मंडन में वह कभी भी उतनी ईमानदारी न ला सकेगा, जितनी एक गम्भीर और समर्थ समीक्षक से अपेक्षित है। इसके साथ ही वह यह भी खोज करने में सफलता न प्राप्त कर सकेगा कि प्राथमिक रूप से समीक्ष्य साहित्यकार की रसाभिव्यक्ति कितनी परिष्कृत और उच्चस्तरीय है। यह भी तभी सम्भव होगा, जब समीक्षक में यह गुण हो कि वह किसी कृति की कलात्मक अनुभूतियों को उनकी पूर्णता में देख सके। इसलिए समीक्षक में अन्य अनेक गुणों के साथ ही यह गुण भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए, क्योंकि पूर्ण और शास्त्रीय समीक्षा के लिए यह न केवल अपेक्षित गुण है, वरन् अनिवार्य भी है।

रचनात्मक प्रतिभा और भाषा पर अधिकार :—

उपर्युक्त कुछ प्रधान गुणों के अतिरिक्त एक समीक्षक में कुछ अन्य योग्यताएँ भी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह किसी कृति के विषय में जो बात अनुभव कर रहा हो और कहना चहना हो, उसे प्रभावशाली और सशक्त भाषा में स्वयं भी अभिव्यक्त कर सके। यह कार्य वह तभी कर सकता है, जब उसमें भी एक साहित्यकार की भाँति क्रियात्मक प्रतिभा विद्यमान हो, क्योंकि इस दृष्टि-कोण से वह स्वयं भी एक क्रियात्मक समीक्षक होता है। प्रभावशली तथा सशक्त भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रकट करने की योग्यता उसमें अध्ययन और अभ्यास से ही आती है। समीक्षा में भी क्रियात्मक साहित्य की भाँति अभिव्यक्ति का महत्व होता है। जिस प्रकार से एक साहित्यकार सशक्त भाषा के अभाव में अपनी अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता, उसी प्रकार से एक समीक्षक भी इसके अभाव में उस अनुभूति की श्रेष्ठता का निदर्शन नही कर सकता।

उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं है कि वह किसी कृति के कलात्मक महत्व के कारणों की ही खोज नहीं कर सकता। हो सकता है कि वह वैसा कर सकने के योग्य हो भी, परन्तु भाषा के माध्यम से उन्हें व्यक्त कर सकना सर्वथा भिन्न बात है। सैद्धान्तिक रूप से भी एक समीक्षक का भाषा की सूक्ष्मताओं और विशेषताओं से गहन परिचय होना चाहिए, क्योंकि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भाषा का महत्व बहुत अधिक है। एक कवि, नाटककार, उपन्यासकार या कहानीकार भाषा के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को कलात्मकता का आवरण प्रदान करने में सफल होता है। ऐसा करते समय वह भाषा की सभी विशेषताओं और सीमाओं का ध्यान में रखता है। वह परम्परागत और नवीन प्रतीकों की योजना अपने साहित्य में करता है और इस प्रकार से अपने अभीष्ट की अभिव्यक्ति करता है। ऐसा वह इसलिए कर पाता है, क्योंकि उसे भाषा विषयक आवश्यक ज्ञान होता है और अभ्यास से भी वह उसका परिमार्जन कर चुका होता है। एक समीक्षक के लिए भी भाषा विषयक इस प्रक्रिया से गुजर चुकना उतना ही अथवा उससे अधिक आवश्यक होता है, जितना कि एक क्रियात्मक साहित्यकार के लिए। यों एक उच्च कोटि के कलाकार की कृति के रसास्वादन के लिए भाषा के रहस्यों से परिचित होना एक सामान्य पाठक के लिए भी आवश्यक होता है, फिर समीक्षक तो उच्चतम कोटि का पाठक कहा जाता है और वह दूसरे पाठकों को किसी कृति के विषय में मत निर्देश करते हुए उन्हें उससे प्रभावित भी करता है।

इस प्रकार से वह भाषा के कलाकार साहित्यकार और भाषा के जिज्ञासु पाठक के बीच में एक माध्यम का कार्य करता है, और इस कार्य का निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकना उसके लिए तभी सम्भव है, जब वह इन दोनों की अपेक्षा भाषा पर अधिक अधिकार रखता हो। दूसरे शब्दों में यहा जा सकता है कि भाषा पर यदि किसी समीक्षक का भली भाँति अधिकार नहीं है, तो उसकी स्थिति एक प्रकार से एक पंगु व्यक्ति की भाँति होती है या एक गूँगे की भाँति, जो अपने मन्तव्य का भाषाबद्ध प्रतिपादन करसे में असफल रहता है।

मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण :—

समीक्षक का अन्तिम गुण है, उसके पास साहित्यिक मूल्यांकन के लिए एक सुनिश्चित और सुदृढ़ समीक्षात्मक दृष्टिकोण होना, जिसके अभाव में उसकी समीक्षा उद्देश्यहीन सी प्रतीत होती है। समीक्षक का यह दृष्टिकोण न केवल किसी कृति की विशेषताओं को प्रभावशाली रूप में पाठकों के सामने रखता है, वरन् किसी लेखक का भी दिशा निर्देश कर सकता है, क्योंकि वह बहुसूत्री होती है और उसी पर साहित्य और समीक्षा विषयक निर्णय निर्भर करता है। प्रश्न हो सकता है कि सजग समीक्षक के लिए यह बात इतने महत्व की है, तो वह इस प्रकार का दृष्टिकोण निर्मित और निर्धारित कैसे करे।

संक्षेप में, यह दृष्टिकोण एक समीक्षक की परिष्कृत अभिरुचि से विकास पाता है। यदि उसे अपने साहित्यिक और समीक्षीय अध्ययन में इन क्षेत्रों के प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कृतित्व का सान्निध्य प्राप्त रहता है, तो वह दृष्टिकोण उसकी बुद्धि में स्वतः परिपक्व और विकसत होता रहता है। साहित्य का व्यवहार और सिद्धात रूप में अध्ययन एक सजग पाठक को एक जागरूक समीक्षक बनाता है।

दृष्टिकोण के निर्माण के लिए समीक्षक श्रेष्ठ साहित्य का कई प्रकार से अध्ययन कर सकता है। वह पहले किसी उच्च कोटि की शास्त्रीय महत्व की क्रियात्मक पुस्तक का पारायण करके उसके विशेष रूप से रससिक्त अंशों की परख कर सकता है। उनके विषय में अपनी बुद्धि से किन्हीं निर्णयों पर आ सकता है, सैद्धान्तिक रूप से अपने उन निर्णयों की पुष्टि कर सकता है, और फिर अन्त में उसी कृति पर किसी अधिकारी और मान्य समीक्षक की लिखी हुई समीक्षात्मक कृति का पारायण करके यह भी देख सकता है कि उसने समय जो निष्कर्ष निकाले हैं और उस कृति विशेष के सम्बन्ध में

उसकी जो मान्यताएँ हैं। वे उस श्रेष्ठ समीक्षक की मान्यताओं और निष्कर्षों से कहाँ तक ऐक्य या वैभिन्न्य रखती हैं। यदि इन दोनों में पारस्परिक भेद बहुत अधिक है, तो वह फिर से वैसा ही क्रमिक अध्ययन करके पुनः इन निर्णयों और मन्तव्यों की परीक्षा कर सकता है और किसी अन्तिम निर्णय पर आ सकता है।

किसी कारणवश यदि इतने पर भी उसका उस मान्य समीक्षक से मतैक्य नहीं हो पाता, तो फिर वह उसी कृति पर किसी दूसरी उसी उच्च स्तर के समीक्षक को पढ़ सकता है। इस समीक्षक के भी निर्णय और मन्तव्य के सन्दर्भ में वह क्रियात्मक कृति विशेष के सम्बन्ध में अवश्य ही किसी अन्तिम परिणाम पर आ सकता है, जो उसके इस सारे अध्ययन और विवेचन का परिणाम होता है। विविध क्षेत्रों और विविध साहित्यिक माध्यमों की प्रतिनिधि कृतियों और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उन कृतियों पर लिखी गयी समीक्षाओं से एक जागरूक समीक्षक अपने दृष्टिकोण का निर्माण, परिष्कार और विकास कर सकता है।

समीक्षक के दायित्व

शास्त्रीय कार्य का निर्वाह :—

समीक्षा करना एक शास्त्रीय कार्य है और इसके लिए एक समीक्षक में असाधारण योग्यता होती है। इसीलिए समीक्षक का बड़ा दायित्व होता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह दायित्वों का निर्वाह करेगा। समीक्षा में साहित्य के विपरीत सबसे प्रधान विशेषता यह है कि वह एक प्रकार का विश्लेष्णात्मक कार्य व्यापार है। एक साहित्यकार जिस अनुभूति को औचित्यपूर्ण समझता है, उसे अभिव्यक्त कर देता है। उस भाषाबद्ध अभिव्यक्ति का एक समीक्षक परीक्षण करता है। ऐसा वह सफलतापूर्वक तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि उस आलोच्य साहित्यकार की अनुभूतियों के माध्यम से भाषाबद्ध चेतना में स्वयं अपने आपको न रखे और इस प्रकार से उस मनः स्थिति में स्वयं कल्पना न करे। ऐसा करने पर ही वह प्रत्यक्ष और प्राथमिक रूप से उस साहित्यानुभूति को उसकी समग्रता में कल्पित और फिर अनुभूत कर चेतना भाव से उसे ग्रहण कर सकता है और इसीलिए उसका परीक्षण और दिशा निर्देश कर सकता है। इस गहन दायित्व के लिए चतुर्मुखी प्रतिभा और अति सजग विवेक अपेक्षित है।

साहित्य विषयक अन्तर्दृष्टि :—

आज की स्थिति में एक समीक्षक का दायित्व अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि यह एक संक्रान्ति युग है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में कह चुके हैं, आज के समीक्षक

के लिए अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यह कई दृष्टियों से लाभप्रद होता है। एक तो इस दृष्टि से कि समीक्षक अतीत युगों में कलाओं के विषय की धाराओं और रूपों से अवगत हो जाता है। और दूसरे इस दृष्टि से भी कि वह यह भी जान पाता है कि प्रत्येक युग में विभिन्न साहित्यिक समस्याएँ महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, परन्तु युग परिवर्तन के साथ उनमें अन्तर समझा जाने लगता है।

अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए एक समीक्षक यह देखता है कि कोई साहित्यकार मानव जीवन की किन्हीं मूल समस्याओं के उद्‌घाटन की क्षमता रखता है या नहीं, कि वह एक नई और समर्थ दृष्टि से सम्पन्न कलाकार है या नहीं, कि वह अपने साहित्य में चिरंतन मानव मूल्यों का समावेश करके किसी नये जीवन दर्शन को प्रस्तुत कर सका है या नहीं, कि वह अपनी विकासशील साहित्य धाराओं का परिचय प्राप्त करके उसके मूलभूत तत्वों को आत्मसात् कर चुका है या नहीं, आदि।

उसके लिए ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक होता है क्योंकि उसका कार्य साहित्य के मूल्यों की व्याख्या करना होता है। साथ ही, वह लेखक और पाठक के बीच एक माध्यम बनकर पाठक को साहित्य विषयक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। इन दायित्वों का निर्वाह भी वह तभी कर सकता है जब वह किसी कृति की कलात्मक अनुभूतियों का परीक्षण करके अपनी बात को प्रभावपूर्ण और सशक्त ढंग से कह सकने की सामर्थ्य रखता हो।

गतिरोध कालीन कार्य :—

समीक्षक का दायित्व किसी भी सन्क्रान्ति अथवा गतिरोध कालीन परिस्थिति में एक क्रियात्मक लेखक अथवा पाठक की अपेक्षा अधिक होता है। इसका कारण यह है कि किसी भी प्रकार की साहित्यिक विकृति का प्रभाव सामान्य रूप से इस क्षेत्र से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों पर पड़ता है, परन्तु इसके लिए उत्तरदायी प्रधानतः समीक्षक को ही ठहराया जाता है, क्योंकि वह एक लेखक और सारे समाज के मध्य एक प्रकार का माध्यम होता है, जो इन दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। इसलिए उसका स्थान दोनों की दृष्टि में ही उच्च तथा महत्वपूर्ण होता है। यह भी एक कारण है कि समीक्षक को अपने दायित्वों के प्रति सजग तथा ईमानदार रहना पड़ता है। यह द्विकोणिक उत्तरदायित्व भी उसे इस बात के लिए बाध्य करता है कि वह समीक्षा कार्य करते समय दोनों ओर अपने दायित्व को निर्वाह। अन्ततः समीक्षक का काम

समीक्षा के उच्चतम मानदण्ड के अनुसार यह है कि वह यह परीक्षण करे कि किसी साहित्यकार की किसी कृति ने किस प्रकार अपना वर्तमान स्वरूप अपने युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के फलस्वरूप ग्रहण किया है और युग के यथार्थ का उद्‌घाटन करके युग की चेतना को सम्पन्न बनाने में क्या योग दिया है।

मानवीय चेतना के विवेक की व्यावहारिकता :—

एक समीक्षक का मुख्य दायित्व, इस प्रकार से, मानवीय चेतना के प्रति होता है, जिसके अनेक पक्ष और रूप होते हैं। इनका सबम्न्ध मानव जीवन के विविध परिवेशों से होता है। इसलिए समीक्षक को यथा सम्भव इस चेतना के प्रति ईमानदारी से अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए, क्योंकि सांस्कृतिक समृद्धि और ह्रास में इसका ही हाथ सबसे अधिक होता है। कभी-कभी समीक्षक अपने इस दायित्व का निर्वाह पूरी ईमानदारी के साथ नहीं कर पाता, क्योंकि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में समय-समय पर समाविष्ट संकुचित दृष्टिकोण और वादानुगमन आदि की प्रवृत्तियाँ उसे भी मार्ग भ्रष्ट कर देती हैं। इसीलिए समीक्षक को चाहिए कि वह इस प्रकार के सामयिक दोषों के विरुद्ध दृढ़ता से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करे, और इस प्रकार से अपने इस दायित्व को निर्वाहे।

समीक्षक के अपने वैयक्तिक विकास और बौद्धिक सम्पन्नता के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि कम से कम वह उस सच्चाई से विमुख न हो, जो एक ईमानदार समीक्षक से अपेक्षित है और जो समीक्षा की उच्चता की पहली शर्त है। जब किसी भाषा के साहित्य और समीक्षा क्षेत्रों में वादानुगामिता की प्रवृत्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि वे सभी लेखकों और समीक्षकों पर हावी हो जायँ, तब इनके प्रभाव से मुक्त रह सकना दुर्बल साहित्यकारों और समीक्षकों लिए कठिन होता है। ऐसे समय में जागरूक समीक्षक का दायित्व अपेक्षाकृत अधिक होता है, क्योंकि यह उसी का कार्य होता है कि इस गतिरोध की स्थिति से साहित्यकारों और साहित्य को मुक्त करे और उसकी भावी प्रगति की दिशाओं में कार्य करे। समर्थ और ईमानदार समीक्षकों के के लिए ही इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह सम्भव होता है।

समीक्षा का क्षेत्र

शाश्वत मानवता :—

किसी भी युग का साहित्य समसामयिक सामाजिक जीवन और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। यह एक ऐसा तथ्य है, जो साहित्य के विकास के युगों के पर्यवेक्षण

से प्रभावित होता है। परन्तु ऐसा प्रत्येक साहित्य, जिसमें युगीन परिस्थितियाँ विशदता और प्रधानता से प्रतिबिम्बित होती हैं, स्थायी साहित्य की कोटि में नहीं आता। समीक्षा के क्षेत्र में यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो बहुधा विचारकों के सामने रहता है। वस्तुतः जो साहित्यकार प्रतिभाशाली होने के साथ ही महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं से भी सुपरिचित होते हैं तथा महान् सांस्कृतिक उपलब्धियों की भी अवगति रखते हैं, वे विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में रह कर भी उनकी सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते हैं। ऐसे साहित्यकारों में ही यह क्षमता होती है कि वे मानव जीवन के स्थायी मूल्यों की अवगति प्राप्त करके साहित्य के क्षेत्र में किन्हीं महान् और चिरन्तन समस्याओं का संयोजन अपनी कृतियों में कर सकें। अन्ततः ऐसा ही साहित्य अस्थायी नहीं प्रमाणित होता है।

युगीन धरातल :—

समीक्षा का क्षेत्र किसी कृति के यथार्थात्मकता के गुण परीक्षण तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि कोई कृति अथवा उसके कुछ पात्र यथार्थता की दृष्टि से उतने महत्व पूर्ण न होते हुये भी अधिक महत्व के सिद्ध हो सकते हैं, यदि उनका अधार मानवता के व्यापक धरातल पर है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ऐसी कोटि की चरित्र सृष्टि केवल उसी लेखक द्वरा सम्भव है, जो समाज और जन जीवन को उसकी समग्रता में देख सके। संकुचित दृष्टिकोण या वादानुगामिता ऐसे साहित्यकार की सीमाओं में नहीं बाँध पाती।

इसी प्रकार यह भी निश्चिय है कि कोई भी ऐसी समीक्षा, जो किन्ही विशिष्ट सिद्धान्तों पर अधारित होती है, साहित्य में सदैव उन्ही आदर्शों पर गौरव देती है, जिनकी माँग युग करता है। और जब इस तत्त्व पर अधिक बल दिया जाता है, तब शास्त्रीयता और उसके अनुसार कलात्मकता के तत्व गौण हो जाते हैं। यह संकुचित मनोवृत्ति प्रत्येक वाद गत समीक्षा में अंशतः विद्यमान रहती है। अन्ततोगत्वा किसी भी प्रकार की वादगत एकांगिता श्रेष्ठ समीक्षा के मार्ग में बाधा ही सिद्ध होती है और उसके क्षेत्र को संकुचित कर देती है।

इस प्रकार से समीक्षा के क्षेत्र में सदैव ही प्रायः दो प्रकार के प्रश्न मुख्य रूप से विद्यमान रहते हैं। इनका सम्बन्ध युग की परिस्थितियों और चिरन्तन मानवी अनुभूतियो

से होता है। और इस दृष्टिकोण से एक समीक्षक के लिए यह निर्धारण करना होता है कि उच्चतर कोटि का साहित्य वह होगा, जिसमें शाश्वत मानव अनुभूतियों का अंकन है अथवा वह साहित्य जिसमे उस युग विशेष की पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति होती है। विश्व का महानतम् कोटि का साहित्य स्पष्ट रूप से इन दोनों प्रकार की कृतियों से पूरित है।

जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति :—

साहित्य की भाँति ही समीक्षा का क्षेत्र भी जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि साहित्य की रचना और उसकी समीक्षा दोनों ही सांस्कृतिक कोटि के प्रयत्न हैं। साहित्य क्षेत्र यदि अपने युग की यथार्थता से सम्बन्ध रखता है, तो समीक्षा का क्षेत्र उसके निर्देशन और परीक्षण से। ऐसा करते हुए एक समीक्षक यह भी स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि किसी युग के साहित्य मे अभिव्यक्त उस युग की चेतना किन परिवेशों में स्पष्टतर होकर उभरी है। इसी प्रकार से वह यह संकेत भी करता है कि चेतना के वे परिवेश उस युग विशेष का किस सीमा तक प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त एक अपेक्षाकृत उच्च धरातल की अभिव्यक्त चेतना की दुरूहता से अनावृति कर उसे साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करना भी समीक्षा के क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है। इसलिए समीक्षा को साहित्य का पूरक भी भी कहा जा सकता है।

चिन्तनात्मक प्रशस्ति :—

समीक्षा को अपने सम्यक् रूप में विकास के लिए अनिवार्यतः कोई न कोई विशिष्ट विचार धारा, सिद्धांत, शास्त्र अथवा वाद का सहारा लेना पड़ता है। जिस प्रकार से एक क्रियात्मक लेखक यथासम्भव नवीनतम साहित्यिक वाद को अपने साहित्य मे प्रश्रय देने की चेष्टा करता है और उसके द्वारा निर्देशित जीवन दर्शन को स्वीकारता है, उसी प्रकार से समकालीन समीक्षा प्रवृत्तियों के लिए भी किसी रूप में यह आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार साहित्य और समीक्षा दोनों ही प्रमुख और नवीनतम वैचारिक मत वादो को स्वीकारते हैं, परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में यह स्वीकरण बिल्कुल उसी प्रकार से नही होता, जिस प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में। इसका कारण यह होता है कि युग परिवर्तन के अनुसार उसके लिए नवीन शैलियों का प्रवर्त्तन भी कभी-कभी अनिवार्य होता है और वह भविष्य में प्रायः उन्हीं का आश्रय लेकर पनप भी सकता है।

समीक्षा के क्षेत्र में जब किसी वैचारिक मत वाद को प्रश्रय मिलता है, तब यह इसलिए नहीं होता कि उसे किन्हीं नवीन शैलियों को ग्रहण करने की अनिवार्यता होती है, वरन् इसलिए होता है कि समीक्षा का क्षेत्र समकालीन विचारों और उन पर अग्रसर साहित्य के मूल्यांकन में किसी प्रकार के अनुत्तरदायी निष्कर्ष से न लद जाय। वह इसलिए भी उन्हें प्रश्रय देता है, क्योंकि उनमें सभी उदार और उच्चतर विचारों के लिए सदैव स्थान रहता है।

इसी प्रकार से समकालीन विचारधाराओं के स्वीकरण की प्रतिक्रिया भी साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भिन्न प्रकार की होती है। साहित्य का क्षेत्र कभी-कभी किसी विचारधारा को स्वीकार करने के बाद उससे इतना अधिक आक्रान्त हो जाता है कि उसमें उसी का रूप प्रबल होकर उभर उठता है, परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में उसके फलस्वरूप दृष्टिकोणगत उदारता और विशदता ही आती है, जो श्रेष्ठ समीक्षा का एक आवश्यक तत्व भी होती है। इसलिए समीक्षा का क्षेत्र समकालीन परिवेशों का परित्याग कर सदैव युग की माँगों और विचारधाराओं के अनुसार प्रशस्त होता चलता है तथा उनकी अवगति से उदार भी।

समीक्षा के आधार

व्यापक दृष्टिकोण :—

समीक्षा के आधार, उसके एक शास्त्र होने के नाते, कुछ मौलिक तत्व हैं। ये तत्व विशेष रूप से साहित्यिक विविधता से सम्बन्धित होते हैं। यों समीक्षा का कार्य मूल रूप से यह निर्देशित करना होता है कि किसी लेखक ने किसी कृति में मानव जीवन के किस पक्ष को कितने सशक्त रूप में प्रकट किया है। साथ ही साथ उसे यह भी निर्धारण करना होता है कि कोई कृति यथार्थ की चेतना को उत्पन्न करने में किस सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकती है। दूसरे दृष्टिकोण से वह यह निर्देशित करती है कि एक क्रियात्मक लेखक को अपने युग की जटिलताओं को व्यापकता और गहनता से अभिव्यक्ति देनी चाहिए। इसके साथ ही समीक्षा यह उत्तरदायित्व भी लेती है कि वह उसके समुचित मूल्यांकन का प्रयत्न करे, जो कि प्रधानतः उसका कार्य है ही।

कभी-कभी समीक्षा के कुछ क्षेत्रों से एक क्रियात्मक लेखक से यह माँग की जाती है कि क्रियात्मक लेखक को केवल जीवन के कुछ ही पक्षों का समावेश साहित्य में करना

चाहिए, परन्तु ऐसी माँग करने वाला समीक्षक किसी वादाक्रान्त क्रियात्मक लेखक की भाँति होता है, क्योंकि कोई भी विचारशील लेखक यह नहीं चाहता है कि जीवन को उसकी सम्पूर्णता में न देखा जाय अथवा उसी विशदता के साथ उसका अंकन न किया जाय। इस प्रकार से समीक्षा का सर्वप्रथम आधार कोई दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार किसी साहित्य की समीक्षा की जाती है। यह दृष्टिकोण ही वह वस्तु होती है, जिसके आधार पर समीक्षा अपने मुख्य और गुरु कार्य अर्थात् सम्यक् मूल्यांकन में सफल होती है।

दृष्टिकोण का निर्धारण :—

समीक्षा के इस प्रथम आधार अथवा दृष्टिकोण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह ध्यान में रखने योग्य है कि वास्तव में यह ही उसका प्रमुख आधार रूप मानदंड होता है। इसके अभाव में पूर्ण समीक्षा सम्भव नहीं होती; क्योंकि किसी भी कोटि की समीक्षा में यह दृष्टिकोण होना आवश्यक है। इसलिए दृष्टिकोण न केवल समीक्षा का सर्वप्रथम आधार ही है, वरन् उसका नियोजक भी है। उच्च कोटि की समीक्षा भी अनेक प्रकार और रूपों में गहन होते हुये भी इस दृष्टिकोण तत्व के अभाव में हीन सिद्ध हो सकती है, क्योंकि दृष्टिकोण ही वह तत्व है, जो समीक्षा को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

यह समीक्षात्मक दृष्टिकोण कई प्रकार से निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो दृष्किोण के निर्धारण की एक निश्चित प्रक्रिया होती है। इस के अनुसार सबसे पहली सीढ़ी समीक्षा के शास्त्रीय सिद्धान्तों का सम्यक् परिचय होता है। यह परिचय विविध समीक्षात्मक सैद्धान्तिक दर्शनों की अवगति भी रखता है। इसके फलस्वरूप समीक्षक की रसग्रहिणी शक्ति का परिष्कार होता है और उसमें विशदता आती है। इसके साथ ही साहित्य और समीक्षा शास्त्र से अन्तर्सम्बन्धित कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयो का सामान्य स्तरीय ज्ञान भी इसके लिए अपेक्षित होता है।

तत्वगत प्राथमिकता :—

समीक्षा में दृष्टिकोण का प्रश्न बहुत महत्व रखता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दृष्टिकोण के अभाव में समीक्षा के अपूर्ण रह जाने की सम्भावना रहती है। परन्तु दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सबसे प्रधान बात यह विचारणीय होती है कि समीक्षात्मक दृष्टिकोण कैसा हो और उसका निर्धारण कैसे हो; क्योंकि यदि दृष्टिकोण के अभाव में

सन्तुलित और पूर्ण समीक्षा नहीं हो सकती, तो फिर इसका प्राथमिक स्थान और महत्त्व स्वीकार करना होगा। परन्तु इसके सम्बन्ध में यह तथ्य स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि दृष्टिकोण अपने आप में पर्याप्त महत्व रखते हुये भी अन्ततः समीक्षा का एक अंग मात्र है और इस प्रकार उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके माध्यम से किसी समीक्ष्य कृति में अभिव्यक्त अनुभूति की वैशिष्ट्यपूर्ण व्याख्या की जाय।

दृष्टिकोण की भिन्नता :—

कभी कभी दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण भी समीक्षा की प्रवृत्तियों और स्तर में बहुत अंतर आ जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई समीक्षक केवल कलात्मकता की दृष्टि से किसी कृति विशेष की समीक्षा करना चाहेगा, तो वह यह देखने का प्रयत्न करेगा कि उसके रचयिता ने जिस यथार्थ को अपनी रचना में अभिव्यक्ति देने का दावा किया है, वह कितनी व्यापक, कितनी गहन और किस सीमा तक साहित्यकार के द्वारा अनुभूत है। इसके साथ ही वह यह भी परीक्षण कर सकता है कि उस अभिव्यक्ति में कितनी सरसता और प्रस्तुत करने की योग्यता है।

यदि कोई समीक्षक अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं और उनकी उपलब्धि के धरातल की अवगति रखता है और इसके साथ ही अध्ययन और अनुशासन की पूर्ण प्रक्रियाओं से गुजरने के कारण उसमे विकसित रस सम्वेदना विद्यमान है, तो वह उसकी सम्यक् व्याख्या कर सकता है। जो समीक्षक परम्परावादी होते हैं, वे प्राचीन अलंकार शास्त्र तथा उसके द्वारा संकेतित मानों का तो प्रायः प्रयोग करते हैं, परन्तु उनसे यह आशा कम ही की जा सकती है कि वे इसके साथ नवीन व्याख्या सूत्रों की भी उद्‌भावना भी कर सकेंगे, यद्यपि उनके वैयक्तिक ज्ञान और योग्यता के आधार पर इसकी भी सम्भावनाएँ हो सकती हैं। मूलतः ऐसे समीक्षक यथार्थवादिता के पोषक होते हैं।

दृष्टिकोणगत एकांगिता की समस्या :—

दृष्टिकोण के निर्धारण में सबसे बड़ी समस्या यह आती है कि उसे एकांगी होने से कैसे बचाया जाय। प्रायः मान्य समीक्षात्मक दृष्टिकोण भी पूर्णता से युक्त नहीं होते, इसलिए कभी-कभी तो अनिवार्यतः यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि कोई भी समीक्षात्मक दृष्टिकोण पूर्ण नहीं हो सकता। अधिक से अधिक भेद उनमें पारस्परिक रूप

से यह हो सकता है कि कोई दृष्टिकोण किसी सिद्धान्त के अनुसार औचित्यपूण हो और कोई दृष्टिकोण किसी दूसरे सिद्धान्त के अनुसार। परन्तु सिद्धान्तों और विचार धाराओ में व्याप्त अपूर्णता के अनुपात में ही ये दृष्टिकोण भी प्रायः अपूर्ण रह जाते हैं। इतना निश्चित होते हुए भी समीक्षा का दृष्टिकोण ही वह तत्व है जिसे हम समीक्षा का निर्देशक तत्व कह सकते हैं। इसमें एक तरह की एकांगिता विद्यमान रहती है, जो इस क्षेत्र की मुख्य समस्या है।

शास्त्रीय सिद्धांत :—

समीक्षा का एक महत्वपूर्ण आधार उसके सिद्धांत हैं। ये सिद्धांत शास्त्र सम्मत होते हैं और इनका विवेचन भी बहुत विस्तृत होता है। युगों तक परम्पराओं के रूप में प्रसारण के साथ इनमें विकास होता जाता है और पक्ष विपक्ष में तर्क वितर्क तथा टीका टिप्पणी के कारण इनकी मान्यता भी विस्तृत क्षेत्रीय हो जाती है। इस प्रकार युग और काल की कसौटी पर खरे उतरने पर ये सिद्धांत विविध शास्त्रियों द्वारा मण्डन और अनुमोदन प्राप्त करते हैं और फिर सैद्धांतिक समीक्षा में नियमतः और व्यावहारिक समीक्षा में व्यवहारतः इनका प्रयोग होता है। बहुधा शास्त्रीय सिद्धांतों में भी एकरूपता नहीं देखी जाती और इसी कारण इनके क्षेत्र में भी विरोधी सिद्धान्तों का प्रचार होता देखा जाता है। समीक्षा सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से यह प्रवृत्ति भी उसके लिए हितकर ही सिद्ध होती है, क्योंकि विविध क्षेत्रीय विस्तार के कारण इससे समीक्षा शास्त्र मे पूर्णता आती है और वह सर्व ग्राह्य हो जाता है।

अवश्य ही विविध युगों में ऐसे समय भी आते हैं, जब शास्त्रीय सिद्धान्तों को अमान्य कर समकालीन सिद्धान्तों को मान्य करने पर बल दिया जाता है। परन्तु इससे भी इन शास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्व नहीं घटता और भाषा तथा साहित्य की महती परम्पराओं का प्रवर्त्तन और अनुगमन करने की दृष्टि से इनका महत्व अक्षुण्ण रहता है। इसके अतिरिक्त दीर्घ समय तक जीवित रहने के कारण इन सिद्धान्तों का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी मान्य घोषित कर दिया जाता है। संक्रान्ति कालों में अस्थायी और वादगत सिद्धान्तों के विरुद्ध भी इन शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं होना पड़ता, क्योंकि परम्परागत समृद्धि और युगों से प्राप्त मान्यता इनका पोषण करती है।

समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक कठिनाइयाँ

समीक्षा कार्य की गुरुता :—

समीक्षा के क्षेत्र में सिद्धान्तगत पूर्णता और क्षेत्रगत व्यापकता के होते हुए भी प्रायः व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ विद्यमान रहती हैं। सबसे प्राथमिक बात होती है समीक्षा के कार्य की गुरुता। एक उच्च कोटि के साहित्यिक लेखक के लिए उच्च कोटि का साहित्य सृजन करने के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपनी अनुभूतियों में अधिक गहराई, अधिक पकड़, अधिक व्यापकता और अधिक स्पष्टता लाने का प्रयत्न करे। ईमानदारी से रचे गये इस साहित्य का रसास्वादन एक पाठक करता है और एक समीक्षक उसका विश्लेषण और व्याख्या। इसलिए समीक्षक के सामने व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः अनेक कठिनाइयाँ रहती हैं।

प्रायः प्रत्येक युग में साहित्य की प्रवृत्तियाँ और समीक्षा के सिद्धान्तों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं, जिनमें मुख्य यह है कि मूल रूप में जिस युग में भी इनका निर्माण होता है, उनका आधार उस युग तक विकसित वैचारिक प्रौढ़ता होती है। विकास के भावी युगों में मनुष्य का अनुभव बढ़ता है। यह अनुभव पूर्व युगों में निर्धारित सिद्धान्तों को व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रभावित करता है। तब तक सैद्धांतिक अध्ययन का आधार भी पुष्ट हो चुका होता है और यह समीक्षात्मक सिद्धांतों के पुनर्निर्माण और पुनर्निर्धारण में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में, युग के विकास के साथ ही मनुष्य में जो वैचारिक पूर्णता और नवीनता का आविर्भाव होता है, उसे सैद्धांतिक रूप देने का वह प्रयत्न करता है। वाङ्मय के विभिन्न अंगों में वैचारिक संक्रान्ति और सैद्धांतिक परिवर्तन का मुख्य कारण यही होता है।

शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की समस्या :—

ऊपर समीक्षा के क्षेत्रों में होने वाले अनिवार्य सैद्धांतिक परिवर्तन और विकास की ओर संकेत किया गया है। इसके सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि इस विकास की प्रक्रिया भी अपने आप में प्रायः स्पष्ट रहती है और उसका अनुभव किया जाना सम्भव रहता है। वास्तव में इस सारी प्रक्रिया के मूल में यह अनिवार्य कारण होता है कि शास्त्रीय और परम्परानुगत समीक्षा सिद्धान्त प्रत्येक युग में थोड़ी या बहुत

मान्यता तो प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु परवर्ती युगों मे उन्हें पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं घोषित किया जा सकता।

प्राचीन सिद्धांतों से नवीन साहित्य का परीक्षण और मूल्यांकन बहुत अधिक संगत नहीं मालूम होता, यद्यपि साहित्य और समीक्षा दोनों ही विषयों से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी अनेक कृतियाँ उन्नत और समृद्ध भाषाओं में मिल जाती हैं, जिनका स्थायी महत्व है और जो किसी भी युग में पूर्ण विश्वास के साथ अपने-अपने क्षेत्रों मे आदर्श और उच्च स्तर की परिचायक और प्रमाण कही जा सकती हैं। इसीलिए प्रमुखतः संक्रान्ति और गतिरोध के युग में सजग साहित्यकारों और समीक्षकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्तों के अनुसार नवीन साहित्य का परीक्षण करने के पूर्व उन मूल सिद्धान्तों का ही पुनर्परीक्षण कर लें।

सैद्धान्तिक अपूर्णता :—

समीक्षा के क्षेत्र में एक और व्यावहारिक कठिनाई पूर्व युगों में निर्धारित सिद्धांतों की अपूर्णता है। इस अपूर्णता का कारण यह नहीं होता कि सिद्धान्तों के निर्माण के समय उनकी विशदता के लिए क्षेत्र का अभाव था, वरन् यह कि उपलब्ध सामग्री का सम्यक् अनुशीलन करना सर्वव सम्भव नहीं होता, और उसमें कुछ न कुछ कमी सदैव रह जाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युग में मनुष्य के ज्ञान का विकास का क्रम एक निश्चित सीमा में होता है। यह उसकी उस युग में उच्चतम ज्ञान परिधि होती है, जिसके स्तर का अतिक्रमण सामान्यतः नहीं सम्भव हो पाता। इसलिए प्रत्येक नवीन युग में यह आवश्यक हो जाता है कि नवीन विचारधाराओं के सन्दर्भ में ही प्राचीन समीक्षात्मक सिद्धान्तों को मान्यता दी जाय।

अतः स्वाभाविक रूप से ही सैद्धांतिक क्षेत्रों में नवीनता का आविर्भाव होता है। और परिवर्तनों के फल स्वरूप प्रौढ़ता तथा विशदता आती है। उसका नया रूप युग के अनुसार होता है और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्यक् मूल्यांकन की समर्थता उसमें विद्यमान रहती है। अवश्य रूढ़िवादिता के समर्थक आलोचक शास्त्रीय सिद्धान्तो लीक छोड़ने को तैयार नहीं होते, परन्तु अन्ततः युग की माँग के सामने उन्हें अपना यह दुराग्रह छोड़ना होता है। यदि कभी समीक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ जमी हुई होती हैं और सरलता से किसी समझौते के लिए नहीं तैयार होती, तो इनमें पारस्परिक संघर्ष होने लगता है। आरम्भ में इस संघर्ष में भले ही

रूढ़िवादियों का पलड़ा ऊँचा रहे, पर अन्ततः विजय नयी विचारधारा के समर्थकों की ही होती है, क्योंकि उनके साथ पूरे युग की आवाज और माँग होती है।

सिद्धान्त और प्रयोग :—

इस प्रकार से समीक्षा के सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन एक बात है और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रयोग में लाना सर्वथा दूसरी। हो सकता है कि कोई समीक्षात्मक विचार या सिद्धान्त अपने आप में पर्याप्त पूर्णता लिए प्रतीत होता हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उस पर विचार करते समय ऐसा बोध हो कि उसका कोई भी मूल्य नहीं है। क्योंकि बहुधा प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार नवीन और समकालीन साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करना व्यावहारिक दृष्टिकोण से कठिन हो जाता है और तब उनकी अपूर्णता या असामयिकता की ओर चिन्तकों का ध्यान आकर्षित होता है। तब यथा सम्भव नवीन दृष्टिकोण से उन प्राचीन और शास्त्रीय समीक्षा सिद्धान्तों का पुनर्निर्धारण होता है और उनके माध्यम से समकालीन साहित्य का मूल्यांकन सम्भव हो पाता है।

कोई समीक्षा सिद्धान्त कितना भी पूर्ण हो, प्रायः वह साहित्यिक कृति उसकी कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती, जिसकी रचना उस सिद्धान्त की रचना से कई सौ वर्ष बाद होती है। इन दोनों के बीच का यह कालिक अन्तर मिटाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस समीक्षा सिद्धान्त को उस साहित्यिक कृति पर प्रयोग में लाने के पूर्व समय के अनुकूल बना लिया जाय और इस प्रकार से उसमें काल के फलस्वरूप आये हुए अनिवार्य अभाव को दूर कर दिया जाय, जिससे स्वभावतः किसी भी विचार धारा के अनुयायी समीक्षक को विरोध नहीं होता।

शास्त्रीय परम्परा और बाह्य प्रभाव :—

आधुनिक युग में हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक दृष्टि से एक कठिनाई यह भी है कि प्रायः दो मुख्य समीक्षा धारायें समान रूप से गतिशील दिखाई देती हैं। इनमें से प्रथम है शास्त्रीय समीक्षा की धारा और द्वितीय है पाश्चात्य समीक्षा की धारा। हिन्दी के प्रमुख समीक्षक सामान्यतः इन्हीं दो में से किसी का अवलम्बन करते हैं और इन्हीं के अन्तर्गत गिने जाने वाले विविध वादों के पोषक हैं। इनके आगे भी नित्य नये वादों के नाम सुनायी पड़ते हैं और उनकी पुष्टि के लिए विश्लेषणात्मक वक्तव्य लिखे जाते हैं।

इन सबको देखते हुए कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि अभी तक हिन्दी में वादमुक्त धरातल पर समीक्षा करने के प्रयत्न कम हुये हैं, यद्यपि इस प्रकार की समीक्षा का औचित्य कहाँ तक मान्य होगा, यह भिन्न बात है। और अब तो प्राय: यह धारणा दृढ़ बनती जा रही है कि कोई भी समीक्षक अपने आपको वादगत आग्रहों से पूर्णत: मुक्त नहीं रख सकता और यह उसके स्वयं के भी हित में होता है कि वह किसी न किसी वाद का आश्रय ग्रहण कर ले।

उपर्युक्त कारण से ही अब कुछ लोगों को निष्पक्ष और वाद रहित समीक्षा व्यवहार की वस्तु नहीं प्रतीत होती। परन्तु हिन्दी के कुछ नये समीक्षक जहाँ एक ओर अपने गहन दायित्व को समझने की चेष्टा कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर वे उनके निर्वाह के लिए भी प्रयत्नशील हैं। यह हिन्दी समीक्षा के भावी विकास की दृष्टि से यद्यपि एक शुभ लक्षण है, परन्तु इतने मात्र से इस समस्या का हल नहीं निकलता। और उसके लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र बने। क्योंकि प्रत्येक भाषा और साहित्य की समृद्धता का द्योतक उसका समीक्षा शास्त्र भी होता है।

कभी-कभी तो समीक्षा शास्त्र का महत्व क्रियात्मक साहित्य की अपेक्षा बढ़ जाता है, क्योंकि विकास की विविध अवस्थाओं में समीक्षा द्वारा क्रियात्मक साहित्य का निर्देशन भी होता है। इसलिए हिन्दी भाषा में निजी समीक्षा शास्त्र की आवश्यकता कई दृष्टियों से है। एक तो यह कि वर्तमान समय की समीक्षा क्षेत्रीय समस्याओं का उससे निराकरण होगा, और दूसरे यह कि वर्तमान युग में क्रियात्मक साहित्य का निर्देशन और संयोजन होगा।

साहित्यिक और समीक्षात्मक संक्रान्ति के युगों में भी किसी भाषा का अपना समीक्षा शास्त्र उसकी रक्षा और विकास के लिए एक पुष्ट आधार का काम करता है। इसके अभाव में बहुधा समकालीन साहित्य का वादों के कुहासे के कारण सही मूल्यांकन नहीं हो पाता और प्राय: समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ अपूर्ण रहती हैं, क्योंकि उनमें मौलिकता या निजत्व के स्थान पर प्राय: दूसरी भाषाओं के समीक्षा सिद्धान्तों की स्वीकृति मात्र ही रहती है। इस कारण उनमें कोई दृष्टिकोण और सिद्धान्तगत सन्तुलन नहीं आ पाता और उसके अभाव में पूर्ण समीक्षा सम्भव नहीं हो पाती। इसलिए हिन्दी समीक्षा के लिए इसकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि दूसरी भाषाओं के समीक्षात्मक सिद्धान्तों की अपूर्ण और आंशिक स्वीकृति की अपेक्षा अपना निजी समीक्षा शास्त्र प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी होगा।

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या प्रत्येक नये विकास युग में साहित्य विचारकों के सामने उपस्थित रहती है। इसका मुख्य कारण समीक्षा के शाश्वत मानदंडों का अभाव है, क्योंकि प्रत्येक युग में साहित्य के क्षेत्र में विविध सामयिक समस्याएँ उपस्थित रहती हैं और उस युग के निर्मित साहित्य और समीक्षा सिद्धान्तों का उनसे अवश्य सम्बन्ध रहता है। इन विविध युगीन समस्याओं में पारस्परिक रूप से भिन्नता होती है। इसका कारण यह होता है कि प्रत्येक नवीन युग में कला के नये रूपों का प्रादुर्भाव होता है और इनका आधार प्रत्येक युग में सामयिक परिस्थितियों का परिवर्तित होते रहना है।

इस परिवर्तनशीलता के कारण या तो कला के नवीन रूप जन्मते हैं और या वे विकास के द्वारा नवीनता को प्राप्त होते हैं। यदि सामान्य विकास की प्रक्रिया के अनुसार ऐसा न हो तो कला या साहित्य अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों को अपने आप में प्रतिबिम्बित न कर पाये और न ही सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति में समर्थ हो। इस अपूर्ण रूप में वह जन जीवन की समस्याओं के उद्घाटन की शक्ति से भी रहित होता है।

सामान्यतः यह स्थिति ही गतिरोध की स्थिति होती है। और इस प्रकार की स्थिति में स्वभावतः साहित्य और कला विकास की इस प्रक्रिया और गति का भी अभाव होता है। इस समय अपेक्षाकृत नवीन साहित्यिक और समीक्षात्मक प्रतिभायें, जो इन क्षेत्रों में सृजनात्मक रूप से क्रियाशील होती हैं, नवीन जीवन दर्शन और नवीन मूल्यों के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करती हैं और उनकी रचना की दिशा में प्रवृत्त होती हैं। इनमें जो वास्तविक रूप में प्रतिभाशाली और ईमानदार होते हैं, वे ही ऐसा करने में सफल हो पाते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक को युगीन प्रचलित धाराओं, मान्यताओं और परम्परागत रूढ़ियों का विरोध करना पड़ता है। यदि वे इस विरोध और संघर्ष में विजयी होते हैं, तब वे युगप्रवर्तक कहे जाते हैं। परन्तु इस रूप में साहित्य और समीक्षा क्षेत्रों में उनका अस्तित्व या महत्व तब तक मान्य नहीं होता, जब तक उनके द्वारा आविर्भूत और प्रवर्तित परम्परा या मार्ग प्रशस्ति पूर्णतः स्वीकृत न हो जाय। इस प्रकार से पुरातनता से ही नवीनता का अविर्भाव होता है।

साहित्य के विकास क्रम या इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है, जब उसमें परिवर्तनशीलता की गति अपेक्षाकृत तीव्र हो जाती है और वह नवीन रूप ग्रहण करता

है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत विस्तृत होती है और बहुत दीर्घ काल तक समान रूप और गति से क्रियाशील रहती है। इसका कोई भी नवीन रूप जब जन्म लेता है, तब अपने प्रारम्भिक रूप में उसे उस पिछले रूप से संघर्ष करना पड़ता है, जो प्राचीन, परिपक्व और स्थिर हो चुका होता है। इस संघर्ष की भी अनेक सम्भावनायें हो सकती हैं। एक तो यह कि पिछला रूप नये रूप को विकसित न होने दे, उगते ही नष्ट कर दे, दूसरी यह कि नया रूप अपने अस्तित्व की रक्षा करता रहे और तीसरी यह कि वह अपने उसी रूप में पुराने पर हावी हो जाय और अपने जड़ें मजबूती से जमा ले।

प्राचीन और नवीन विचारधाराएँ :—

समीक्षा के क्षेत्र में विकास का क्रम कुछ ऐसा रहता है कि कोई भी नया रूप जब जन्म लेता है, तब स्वभावतः ही प्राचीन रूप द्वारा उसका विरोध होता है। इस विरोध के फलस्वरूप या तो वह नया रूप नष्ट हो जाता है और या किसी प्रकार बना रहता हुआ क्रमशः विकसित होता रहता है। इस प्रकार से जब वह अपने विकास की मध्यम अवस्था भी पार कर चुका होता है और अपने विकास की अन्तिम सीढ़ी या उच्च अवस्था में होता है, तब तक सामान्यतः उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह एक या अनेक पुरानी परन्तु जमी हुई विचारधाराओं के विरोध के बावजूद अपने महत्व की घोषणा कर सके। इस स्थिति में साहित्य समीक्षा के विकास क्रम की स्वाभाविक गति के अनुसार प्राचीन विचारधारायें, प्रवृत्तियाँ या वाद एक एक करके समाप्त होने लगते हैं और अन्त में वे स्वयं एक परम्परा बन कर अपनी विरासत में नवीन रूप को छोड़ जाते हैं।

नवीनता का आविर्भाव :—

उपर्युक्त विवरण के अनुसार साहित्य समीक्षा में आवश्यकतानुसार समय समय पर नवीनता का आविर्भाव होता चलता है और प्राचीन विचारों में ही नये विकास की सम्भावनाएँ दिखायी पड़ने लगती हैं। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि किन्ही विशेष अवसरों पर इन क्षेत्रों में नवीनता का आविर्भाव आकस्मिक रूप से होता है, वरन् केवल यह कि समसामयिक साहित्य धाराओं में ही पुरातनता के बीच नवीन विकास रूपों के परिचायक तत्व लक्षित होने लगते हैं। उन्हीं पुरातन सिद्धान्तों मे नवीनता के बीज फूटते दिखायी देते हैं और आगे चल कर विकसित होने पर वे ही नवीन रूपों के निर्माता भी सिद्ध होते हैं। आशय यह है कि सदैव ही पुरातनता में ही नवीनता का समावेश रहता है, जो स्वयं ही समय पर स्पष्टतः विकसित होता है।

नये मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया :—

इस प्रकार से साहित्य में नये मोड़ों का उदय और नये मानों का निर्धारण किसी समय विशेष, अवसर विशेष अथवा युग विशेष की आवश्यकता के अनुसार नही होता है, वरन् वह साहित्य समीक्षा के विकास की अनिवार्य और स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार होता है, जो स्वतः ही सदैव गतिशील रहती है। उसे किन्हीं वादों, किन्ही आन्दोलनों या किन्हीं प्रवृत्तियों के योग या प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। इनकी चर्चा तो तब आरम्भ होती है, जब ये परिवर्तन विविध स्पष्ट रूप धारण कर लेते हैं और स्पष्टतः लक्षित होने लगते हैं। अब उन्हें समृद्ध बनाना तथा विभिन्न मानदंडो के अनुसार तौल कर सजाना, संवारना तथा निखारना प्रतिभाशाली लोगों का कार्य होता है।

अतः जब भी ऐसी स्थिति अपनी स्वाभाविक विकास प्रक्रिया के अनुसार समीक्षा के क्षेत्र में उपस्थित रहती है, तभी मान निर्धारण की समस्या भी सजग चिन्तकों के सामने आती है। इसे सुलझाना सरल इसलिए नहीं होता क्यों कि विकसित समीक्षा परम्पराओं और प्रवृत्तिगत उपलब्धियों के सन्दर्भ में ही यह मान निर्धारण का कार्य होता है। इसके अतिरिक्त प्रायः प्राचीन सिद्धान्तों को संशोधित रूप में ही प्रस्तुत कर देने से उन्हें मान्यता मिल जाती है। अवश्य कभी कभी इन मानों का पुनर्निर्धारण भी युग की आवश्यकता के अनुसार अनिवार्य हो जाता है।

वैचारिक अनेक रूपता :—

व्यावहारिक दृष्टिकोण से समीक्षा के मानदंडों का निर्धारण विकास युगों में रचित साहित्य की विविधता और बहुरूपता को ध्यान में रख कर किया जाता है। समीक्षा के मानों में भी विविधता और अनेक रूपता का यही कारण होता है। साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में मानव जीवन के भिन्न क्षेत्रों और उनके क्रियाकलाप के समानान्तर ही वैविध्य रहता है, जो मूलतः एकाधिक अभिरुचियों का द्योतक होता है। जीवन की सारी विविधताएँ अपनी उसी समग्रता के साथ साहित्य के क्षेत्रों में प्रस्तुत की जाती हैं। व्यावहारिक जीवन में एक साहित्यकार और समीक्षक अपना स्वतन्त्र मत और रुचि रखता है। न्यूनाधिक रूप मे यही मनोवृत्ति उसके साहित्यिक और समीक्षक के रूपों में भी कार्यशील रहती है। अपनी अपनी रुचि के अनुसार ही विविध साहित्यकार विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियों को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति देते हैं।

इसी प्रकार से विविध समीक्षक भी अपनी रुचि के अनुसार ही साहित्यिक विशेषताओं का श्रेणी विभाजन कर देते है और उन्हें प्राथमिक अथवा गौण रूपों मे मान्यता देते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में एकाधिक सिद्धान्तों के मान्यता प्राप्त होने का मूल कारण भी यही है कि कभी भी कोई एक सिद्धान्त, मत अथवा दृष्टिकोण पूर्ण रूप से मान्य नहीं हो सकता, भले ही वह कितना भी महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ क्यों न हो। यदि एक ओर उसके कट्टर समर्थक होंगे, तो दूसरी ओर उसका घोर विरोध करने वालों की संख्या भी न कम होगी।

इस प्रबन्ध के आगामी अध्यायों में हमने भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास और उनके सिद्धान्तों के स्वरूप के विवेचन के साथ यह देखने की चेष्टा की है कि उनकी एकांगिता के क्या कारण रहे हैं। परम्परानुगामिता तथा नवीन वैचारिक प्रगति सदैव एक गतिरोध की स्थिति को जन्म देती है। समीक्षा के मानों के निर्धारण मे मुख्य रूप से यह प्रश्न भी साहित्य विचारकों के सामने रहता है कि वे कभी भी अपनी पूर्ववर्ती महान् परम्पराओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। वे उनकी उपलब्धियों को भी अस्वीकार नहीं कर सकते। इसी प्रकार वे युगीन यथार्थ की ओर से भी मुँह नही मोड सकते, क्योंकि वे ईमानदारी से उसे अनुभव करते हैं। और इन दोनों बातों के अतिरिक्त वे शाश्वतता ओर चिरन्तनता के लोभ से भी विमुख नहीं हो सकते।

इसलिये जब भी समीक्षात्मक मानों के निर्धारण का प्रश्न उठता है, तब प्रधानतः ये ही तीन बात विचारकों की दृष्टि में रहती हैं। वे दो दृष्टियों से मान निर्धारण करते हैं। एक तो इन्हीं तीन तथ्यों की दृष्टि से और दूसरे अपनी निजी रुचि के अनुसार। प्रत्येक समीक्षक अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग अलग विशेषताओं पर गौरव देता है और क्रियात्मक साहित्यकार से उन्हीं की माँग करता है। समीक्षात्मक मानों के निर्धारण की प्रक्रिया में यह रुचि वैशिष्ट्य भी कार्यशील रहता है। इससे मिलकर युग के प्रश्न आते हैं और इन दोनों से सम्मिलित तथा मिश्रित रूप से एक प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त होती है। सैद्धान्तिक रूप से इस अनेक रूपता का मुख्य कारण यही है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से साहित्य में सन्निहित सौन्दर्यात्मकता का श्रेणीबद्ध विश्लेषण भी मान निर्धारण के दृष्टिकोण को स्पष्टतर रूप में दृढ़ करता है। कुल मिलाकर समीक्षा के क्षेत्रों में मानों का निर्धारण करते समय मुख्यतः उपर्युक्त तत्व ही क्रियाशील रहते हैं और उन्हीं के अनुसार उनमें वैविध्य आता है।

अध्याय : २

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का विकास
और
विविध सिद्धान्तों का स्वरूप

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का विकास

प्रारम्भिक युग :—

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में प्रायः चौथी शताब्दी ई० पू० से उनके अस्तित्व के संकेत मिलते हैं। इस सम्बन्ध यद्यपि यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उस काल के समीक्षा सिद्धान्तों का आरोपण आधुनिक युगीन साहित्य पर उसी रूप किया जाना न तो सम्भव ही है और न औचित्यपूर्ण ही, परन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि वे समीक्षा सिद्धान्त परवर्ती विकास के युगों की आधार भूमि के रूप में कार्य करते रहे हैं।

इस तथ्य के साथ ही एक और भी बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। उस प्रारम्भिक युग में समीक्षा शास्त्र के कुछ विशिष्ट अंगों पर यद्यपि पर्याप्त विस्तार से अवश्य लिखा गया, परन्तु उससे परवर्ती युगों में पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रीय विकास का कोई स्वरूप बोध समग्र रूप में नहीं हो सकता। इस प्रारम्भिक युग में प्रचलित प्रवर्तित और मान्य सिद्धान्तों को उनके मूल रूपों में ही आगे आने वाली अनेक शताब्दियों में निरन्तर मान्यता प्राप्त होती रही और लगभग एक सहस्र वर्षों के बाद भी उनके महत्व को अस्वीकृत न किया जा सका; यद्यपि इतने काल के व्यतीत हो जाने के पश्चात् विविध दृष्टियों से उनके अर्थ और व्याख्याओं का स्पष्टीकरण और उस पर भी टीका टिप्पणी आरम्भ हो गयी। यह एक विचित्र परन्तु ऐतिहासिक सत्य है कि इस काल के फलस्वरूप भी उसका विरोध कम हुआ, पुष्टीकरण अधिक।

प्राचीन केन्द्र :—

प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रीय चिन्तन का केन्द्र यूनान था। ज्ञान-विज्ञान की अनेक विधाओं की भाँति ही समीक्षा के क्षेत्र में भी चिन्तन का आरम्भ यूनान में ही

हुआ। कई शताब्दियों तक विद्या का केन्द्र यूनान रहने के पश्चात् इसका स्थानान्तरण रोम में हो गया। परन्तु इसके पूर्व कि विद्या का केन्द्र रोम होता और इस रूप में उसे मान्यता मिलती, यूनानी समीक्षा शास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी यद्यपि इस प्राचीन काल में यूनान में हुये समीक्षा शास्त्र के विकास का कोई क्रमबद्ध विवरण प्राप्त नहीं, परन्तु जो सामग्री उपलब्ध है, वह उसकी महत्ता, गहनता और विशदता की परिचायक है। यह सम्पूर्ण साहित्य विविध प्रकार की शैलियों में लिखा गया है और उसमें समस्त वाङ्मय को एक समग्र रूप में देखने की चेष्टा की गयी है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन यूनानी चिन्तक बौद्धिक कार्य कलाप को एक उच्चतर कोटि की वस्तु समझते थे और उनके विविध क्षेत्रों को समान रूप से महत्वपूर्ण समझते थे। यहाँ पर संक्षेप में उन भिन्न-भिन्न प्राचीन यूनानी विचारकों, उनके द्वारा प्रवर्तित विचारधाराओं और समीक्षा सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकास की परम्परा का आधार और स्रोत है।

प्राचीन ग्रीक विचारक और उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के अस्तित्व के प्राचीनतम संकेत यूनान में मिलते हैं। इसलिए पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकास की विभिन्न परम्पराओं को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन यूनानी साहित्य विचारक के समीक्षा सिद्धांतों का सम्यक् परिचय प्राप्त किया जाय। इन यूनानी चिन्तकों की वैचारिक उपलब्धियाँ पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के भावी युगों में विकास के लिए प्रेरणादायिनी बनीं।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इन यूनानी विचारकों ने स्वतंत्र रूप से तो समीक्षा शास्त्र के विविध अंगों पर अपने विचार प्रकट किये ही हैं, अन्य विषयों की विवेचना करते समय भी अप्रत्यक्ष और प्रासंगिक रूप से भी उनके अन्तर्गत इनकी चर्चा की है। उदाहरण के लिए दर्शन शास्त्र अथवा राजनीति शास्त्र पर विचार

करते समय इन शास्त्रज्ञों ने समीक्षा और साहित्य के भिन्न-भिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक समस्याओं पर संकेत रूप में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं।

दर्शन की ही भाँति भाषण शास्त्र के विषय में भी इन विचारकों ने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं के संदर्भ में आंशिक रूप से साहित्यिक प्रश्नों पर भी दृष्टि डाली है। प्लेटो तथा अरस्तू जैसे महान् विचारकों का मुख्य विषय क्षेत्र भी साहित्यिक नहीं रहा, और मुख्य रूप से उनकी देन का महत्व दूसरे क्षेत्रों में ही रहा है, यद्यपि साहित्य और समीक्षा के जिन विषयों पर भी उन्होंने कुछ कहा, वह असाधारण रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार से साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में लिखित कृतियों से राजनैतिक दर्शन और शास्त्र का भी निदर्शन हुआ। यह एक विचित्र सत्य है कि यूनान मे सर्वप्रथम राजनैतिक विचारकों का परिचय होमर के महाकाव्यों "इलियड" तथा "ओडेसी" में मिलता है।[१] परवर्ती कालों में विविध कोटि के राज्य संगठनो का नियमन इन्हीं को दृष्टि में रखकर किया गया। इस सबसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे प्राय: सैकड़ों वर्षों तक समीक्षा शास्त्र के विविध अंगों का उल्लेख और विश्लेषण प्राय. धर्म, दर्शन, राजनीति आदि शास्त्रों के अन्तर्गत ही मुख्यतः होता रहा। स्वतंत्र रूप से बहुत कम मनीषियों ने इन पर कुछ लिखा अथवा कहा। इस प्राचीन युग में ग्रीक समीक्षा शास्त्र का अपनी समृद्धि के बावजूद भी स्वतंत्र और पुष्ट भाव-भूमि पर विकास न हो सकने का प्रमुख कारण हमारे विचार से यही है।

उपर्युक्त विवरण से यह भ्रम हो सकता है कि चूंकि प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र स्वतंत्र रूप से विकास न पा सका था, अतः उसके अन्तर्गत प्रतिपादित अनेक सिद्धांतों और मान्यताओं का विशेष महत्व नहीं है, परन्तु यह समझना भूल होगी। वस्तुतः प्राचीन काल में जब तक यूनान कला, साहित्य, दर्शन, धर्म और राजनीति का केन्द्र रहा, तब तक वहाँ इन पूर्व प्रतिपादित सिद्धांतों को स्पष्ट और पूर्ण स्वरूप प्रदान करने के प्रयत्न निरन्तर होते रहे। बाद में, जब यूनान इनका केन्द्र नहीं भी रहा, तब भी अन्य देशों और साहित्यिक केन्द्रों में इस प्रकार के प्रयत्न किये जाते रहे। फलतः

१. दे. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास" श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १७।

प्राचीन यूनानी समीक्षा शास्त्र की इस महान् और गौरवशाली परम्परा का महत्व परवर्ती युगों में भी अनुकूल रहा। परन्तु बाद में, जब रोम ने यूनान का स्थान ले लिया, तब क्रमशः वैचारिक व्यापकता का ह्रास होने लगा।

होमर

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्रचीनतम महान् काव्य स्रष्टाओं में होमर अन्यतम था। इसके जन्म स्थान और जन्म काल के विषय में इतिहासज्ञों में यद्यपि पर्याप्त मत वैषम्य है, परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि इसका रचना काल ८५० तथा १०५० ई० पू० का रहा होगा।[1] इसके जन्म स्थान की चर्चा होने पर प्राय सिमराना, रोडस, कोलोफन, सैलामीस, चिओस, आरगोस तथा एथेंस नामक शहरों का नाम लिया जाता है।[2] अभी तक इसके जन्म स्थान के विषय में भी इसी कारण से कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। पाश्चात्य काव्य और साहित्य की परम्परा में सर्वप्रथम इसी का नामोल्लेख होता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी ग्रीक समीक्षा का सर्वप्रथम समीक्ष्य विषय होमर के महाकाव्य ही प्रमाणित होते हैं।

"इलियड" तथा "ओडेसी" :—

होमर की एक महानतम कवि के रूप में अपरिमित ख्याति का मुख्य कारण उसके महाकाव्य "इलियड" तथा "ओडेसी" हैं। इन में ईसा से १,२०० से लेकर १,००० वर्ष पूर्व तक के जीवन का सर्वक्षेत्रीय चित्रण मिलता है।[3] यद्यपि स्वतंत्र रूप से होमर के साहित्य सिद्धान्तों अथवा काव्य विषयक मान्यताओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उसके समय में भी किन्हीं निश्चित विचारों का प्रचलन रहा होगा। उसके युग में उसके स्वयं द्वारा रचित महाकाव्यों के

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sri Paul Harvey, pp. 380-81.
२. वही, पृ० ३८१।
३. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १७।

अतिरिक्त भी अन्य कई महाकाव्यों की रचना हुई। इसलिए यह कल्पना की जा सकती है कि साहित्य के इस सर्वाधिक सशक्त माध्यम तथा अन्य अंगों के विषय में भी किन्हीं सैद्धातिक आदर्शों का स्वरूप उस समय निश्चित हो। यों होमर के विचारानुसार काव्य का ध्येय आनन्द प्रदान करना होना चाहिए।[1] इसके इस सूत्र रूपी विचार को एक मौलिक मान्यता मान कर परवर्ती साहित्य चिन्तकों ने इस पर विस्तार से विचार विमर्श किया।

होमर ने अपने इन दोनों महाकाव्यों में राज्य की शासन व्यवस्था और उसके विभिन्न अंगों की संगठनात्मकता के सम्बन्ध में विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। समकालीन सभ्यता और संस्कृति के परिचय की दृष्टि से इन दोनों महाकाव्यों का असाधारण महत्व है। राजनैतिक दृष्टिकोण से इन महाकाव्यों का झुकाव सीमित राजतन्त्र की ओर था, जो क्रमशः आनुवंशीय होता जाता था।[2] इन महाकाव्यों में राजनीति शास्त्रीय महत्व के कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, उदाहरण के लिए "नगर राज्य" (पोलिस), "जनता" (पीपुल) "न्याय" (जस्टिस) आदि। इनमें से कुछ की उसकी धारणा आधुनिक धारणाओं के समान नहीं थी। उदाहरणार्थ होमर के विचार से हिन्सा का मार्ग न्याय का मार्ग नहीं हो सकता।[3]

होमर के महाकाव्यों में कुछ असंगतियाँ मिलने का कारण यह है कि "उसका उद्देश्य राजनैतिक महत्व के विचारों को प्रकट करना नहीं, वरन् यूनान के वीरों का गुणगान करना था। फिर भी उसका प्रभाव भावी विचारकों पर अत्यधिक पड़ा। यूनान के किसी ऐसे राजनीतिक विचारक का नाम लेना कठिन है, जिसने होमर के महाकाव्यों का अध्ययन न किया हो तथा उनसे प्रभावित न हुआ हो।"[4] इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्राचीन यूनान में विविध क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रों को एक प्रकार से अन्तर्सम्बद्ध करके उनका अध्ययन किया गया था।

१. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त" डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १२।
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १७
३. वही, पृ० १८।
४. वही, पृ० १८।

हेसियड

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन महाकाव्यों में होमर के पश्चात् द्वितीय महत्वपूर्ण नाम हेसियड का है। इसका काल आठवीं शताब्दी ई० पू० अनुमानित किया जाता है।[1] इसका जन्म आस्का में हुआ था। इसके जीवन के सम्बन्ध में भी विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। यूनान की वैचारिक परम्परा के इस प्राचीन युग में इसका योग भी विशिष्ट है। कहा जाता है कि हेसियड की हत्या कर दी गयी थी। इसकी कृतियों में "थ्योगनी" सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उसका काव्य संग्रह "वर्क्स एन्ड डेज़" भी बहुत प्रसिद्ध है। राजनीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से हेसियड शक्ति पर आधारित अधिनायकतंत्र का विरोधी था, यद्यपि उसके समय में इसका प्रचार बहुत अधिक था और अधिनायक द्वारा शान्ति और व्यवस्था की स्थापना सुगमता से हो जाती थी।[2]

काव्य का उद्देश्य :—

हेसियड के मत के अनुसार काव्य का उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए या किसी मार्मिक सन्देश के द्वारा जन कल्याण करना।[3] इसके पूर्व होमर काव्य का ध्येय आनन्द प्रदान करना बता चुका था, परन्तु हेसियड इतने मात्र में उसकी इति नहीं मानता था और उसके द्वारा मानवता के हित पर अधिक गौरव देता था। इस प्रकार से यूनानी समीक्षा शास्त्रीय विचारों के सर्वप्रथम संकेत होमर और हेसियड की कृतियों में मिलते हैं और काव्य के उद्देश्य के विषय में ही इन दोनों मनीषियों में मतैक्य नहीं है। आगे चल कर इन्हीं दोनों विचारकों के सिद्धान्तों को आधार बना कर ही इस क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। इनकी कृतियों में विविध विषयक सूत्र कथनों की परवर्ती युगों में विशद व्याख्या हुई तथा उन पर गम्भीर विचार विमर्श से उनकी नवीन सम्भावनाएँ भी स्पष्टतर हुईं।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sri Paul Harvey, p. 370.
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १९।
३. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १४।

पिण्डार

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन कालीन महानतम गीति-काव्यकार होने का श्रेय पिण्डार को प्राप्त है। इसका रचना काल ५२२ से ४४२ ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है।[1] इसका जन्म थ्रेबस या उसके समीपवर्ती किसी स्थान में हुआ था। इसे बहुत कम आयु में ही असाधारण ख्याति प्राप्त हो गयी थी। इसने सर्वप्रथम विविध पद्यात्मक शैलियों का प्रयोग किया था। "इपिनका" नामक प्रसिद्ध कृति का प्रणयन इसी महान् कवि की लेखनी से हुआ था। परवर्ती लैटिन कवियों पर इसका व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। होरेस पर तो इसकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।[2]

काव्य में कला तथा प्रेरणा :—

पिण्डार ने भी अपने पूर्ववर्ती मनीषियों की भाँति यद्यपि स्वतंत्र रूप से समीक्षा शास्त्र के किसी अंग पर कुछ नहीं लिखा है, परन्तु उसके विविध वक्तव्यों में समीक्षा के विषय में कुछ स्फुट नियमों का परिचय मिलता है। परवर्ती युगों में इन्हीं नियमों को विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई। पिण्डार ने कला के नियमों और स्तुति गीतों के नियमों की भी चर्चा की है। उसने काव्य रचना में कला तथा आन्तरिक प्रेरणा के महत्व पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसने यह प्रतिपादित किया है कि प्रेरणा द्वारा रचित काव्य ही अन्ततः श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि पिण्डार की रचनाओं में कलात्मकता का प्रयोग और समावेश ही अधिक है, प्रेरणा कम। परन्तु उसके विचारों में कलात्मकता का ही प्रयोग मिलता है। उसने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया है कि काव्य के निर्माण में प्रेरणा का अभाव नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके अभाव में काव्य निष्प्राण होगा।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sri Paul Harvey, p. 621.
२. वही, पृ० ६२१।

हेसियड

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन महाकाव्यों में होमर के पश्चात् द्वितीय महत्वपूर्ण नाम हेसियड का है। इसका काल आठवीं शताब्दी ई० पू० अनुमानित किया जाता है।[१] इसका जन्म आस्क्रा में हुआ था। इसके जीवन के सम्बन्ध में भी विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। यूनान की वैचारिक परम्परा के इस प्राचीन युग में इसका योग भी विशिष्ट है। कहा जाता है कि हेसियड की हत्या कर दी गयी थी। इसकी कृतियों में "थ्योगनी" सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उसका काव्य संग्रह "वर्क्स एन्ड डेज़" भी बहुत प्रसिद्ध है। राजनीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से हेसियड शक्ति पर आधारित अधिनायकतंत्र का विरोधी था, यद्यपि उसके समय में इसका प्रचार बहुत अधिक था और अधिनायक द्वारा शान्ति और व्यवस्था की स्थापना सुगमता से हो जाती थी।[२]

काव्य का उद्देश्य :—

हेसियड के मत के अनुसार काव्य का उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए या किसी मार्मिक सन्देश के द्वारा जन कल्याण करना।[३] इसके पूर्व होमर काव्य का ध्येय आनन्द प्रदान करना बता चुका था, परन्तु हेसियड इतने मात्र में उसकी इति नही मानता था और उसके द्वारा मानवता के हित पर अधिक गौरव देता था। इस प्रकार से यूनानी समीक्षा शास्त्रीय विचारों के सर्वप्रथम संकेत होमर और हेसियड की कृतियों मे मिलते हैं और काव्य के उद्देश्य के विषय में ही इन दोनों मनीषियों में मतैक्य नहीं है। आगे चल कर इन्हीं दोनों विचारकों के सिद्धान्तों को आधार बना कर ही इस क्षेत्र मे पर्याप्त विकास हुआ। इनकी कृतियों में विविध विषयक सूत्र कथनों की परवर्ती युगों में विशद व्याख्या हुई तथा उन पर गम्भीर विचार विमर्श से उनकी नवीन सम्भावनाएँ भी स्पष्टतर हुईं।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sri Paul Harvey, p. 370.
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १९।
३. "आलोचनाः इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १४।

पिण्डार

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन कालीन महानतम गीति-काव्यकार होने का श्रेय पिण्डार को प्राप्त है। इसका रचना काल ५२२ से ४४२ ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है।[1] इसका जन्म थ्रेबस या उसके समीपवर्ती किसी स्थान में हुआ था। इसे बहुत कम आयु में ही असाधारण ख्याति प्राप्त हो गयी थी। इसने सर्वप्रथम विविध पद्यात्मक शैलियों का प्रयोग किया था। "इपिनका" नामक प्रसिद्ध कृति का प्रणयन इसी महान् कवि की लेखनी से हुआ था। परवर्ती लैटिन कवियों पर इसका व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। होरेस पर तो इसकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।[2]

काव्य में कला तथा प्रेरणा :—

पिण्डार ने भी अपने पूर्ववर्ती मनीषियों की भाँति यद्यपि स्वतंत्र रूप से समीक्षा शास्त्र के किसी अंग पर कुछ नहीं लिखा है, परन्तु उसके विविध वक्तव्यों में समीक्षा के विषय में कुछ स्फुट नियमों का परिचय मिलता है। परवर्ती युगों में इन्हीं नियमों को विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई। पिण्डार ने कला के नियमों और स्तुति गीतों के नियमों की भी चर्चा की है। उसने काव्य रचना में कला तथा आन्तरिक प्रेरणा के महत्व पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसने यह प्रतिपादित किया है कि प्रेरणा द्वारा रचित काव्य ही अन्ततः श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि पिण्डार की रचनाओं में कलात्मकता का प्रयोग और समावेश ही अधिक है, प्रेरणा कम। परन्तु उसके विचारों में कलात्मकता का ही प्रयोग मिलता है। उसने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया है कि काव्य के निर्माण में प्रेरणा का अभाव नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके अभाव में काव्य निष्प्राण होगा।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sri Paul Harvey, p. 621.
२. वही, पृ० ६२१।

उसके मतानुसार "कलाकर में यदि नैसर्गिक प्रेरणा है तो वह उस कलाकार से कहीं ऊँचा है जिसे केवल कला के नियमों का ज्ञान है।"[१]

इसीलिए पिण्डार बार-बार कला के विषय में यही कहता है कि वह काव्य के निर्माण में योग अवश्य दे सकती है, परन्तु केवल उसी पर आधारित काव्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। अन्ततः वही कलाकार श्रेष्ठ और उच्च स्थान प्राप्त करेगा, जिसकी काव्य रचना के सृजन में आन्तरिक प्रेरणा का योग होगा। वह कवि जो कला के थोथे नियमों का सैद्धांतिक परिचय मात्र प्राप्त करके काव्य रचना में प्रवृत्त होगा, वह प्रथम की अपेक्षा निम्नतर कोटि का ही कवि कहा जायगा। इसी प्रकार से उसने काव्य में सांकेतिक और संक्षिप्त व्यञ्जना को ही सराहनीय माना है।[२]

महत्व का कारण :—

पिण्डार के महान् कवि होने का एक कारण आगे चल कर अंग्रेजी समीक्षा शास्त्री मैथ्यू आर्नल्ड ने यह बताया कि वह जिस समय में हुआ था, उस समय यूनान में "ऐसे भावों और विचारों का संचार था जो रचनात्मक शक्ति के लिए उच्चतम परिमाण में पोषक और जीवनप्रद होते हैं।"[३]

अन्य विचारक

इस प्रकार से यूनान में समीक्षा शास्त्रीय चिन्तन लगभग छठवीं शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ है। दार्शनिक चिन्तन के यूनान में उदय का भी लगभग यही समय है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक थेलीज ने भौतिक दर्शन के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण घोषणा की थी। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इस शताब्दी तक होमर के "इलियड" में निर्देशित वैचारिक स्थापनाएँ ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का मूल आधार रहीं। इसके पश्चात् आठवीं शताब्दी ई० पू० में हेसियड ने चिन्तन के इस

१. "आलोचनाः इतिहास तथा सिद्धान्त", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १८।
२. वही, पृ० १९।
३. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १०४।

विकास क्रम में एक नवीन दृष्टिकोण का आरोपण किया। भावी काल में इस परम्परा मे आर्फियस तथा पाइथागोरस के नाम भी उल्लेख्य हैं। थेलीज द्वारा प्रवर्तित इस दार्शनिक विचारधारा में उसके अतिरिक्त एनेक्जिमनीज, हेराक्लाइटस, एम्पीडाक्लीज, डेमोक्रीटस, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी विचारक भौतिकवाद के पोषक थे।

इसके साथ ही साथ एक और विचार परम्परा भी विकसित हुई है, जिसके प्रतिपादकों में पाइथागोरस, पारमेनाइडीज तथा एनेक्वागोरस आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी विचारधारा बुद्धिवादी कही जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ सोफिस्ट विचारक भी हैं, जिसमें प्रोटेगोरस तथा प्राडिक्स आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समीक्षा शास्त्रीय दृष्टिकोण और महत्व की दृष्टि से छठी शताब्दी ई० पू० के विचारकों में जेनोफनीस तथा हेराक्लाइटस महत्वपूर्ण हैं, जिनकी रचनाओ मे स्फुट रूप से समीक्षात्मक मान्यताओं के संकेत विद्यमान हैं।[1]

गोर्जियास

काव्य की परिभाषा और विवेचन :—

पिण्डार के समकालीन, इस शताब्दी के अन्य महत्वपूर्ण विचारकों में, गोर्जियास विशिष्ट महत्व रखता है। इसके वक्तव्यों में समीक्षा के स्फुट नियमों का परिचय मिलता है। उसने अपने कुछ भाषणों में काव्य की अन्तरात्मा और उसके प्रभाव पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उसने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य का शाब्दिक प्रभाव विशेष रूप से गौरव देने योग्य है। भय और दुख का निवारण करके आनन्द और आत्म विश्वास का प्रकाश करने का गुण गद्य और पद्य दोनों में विद्यमान रहता है। गोर्जियास ने काव्य की परिभाषा करते समय छन्द के महत्व पर भी प्रकाश डाला है। काव्य के द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उसने विस्तार से विश्लेषण किया है। उसने बताया है कि काव्य के श्रवण का विचित्र प्रभाव होता है। उसके द्वारा

१. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ११।

गम्भीरता, नैतिक भय और करुणा का संचार होता है।[१] उसकी इन मान्यताओं का प्रभाव आगे आने वाले अरस्तू जैसे मनीषियों तक ने ग्रहण किया।

गोर्जियास के परवर्ती अन्य विचारक

गोर्जियास के पश्चात् जिन महान साहित्य विचारकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, उनमें कोरेक्स, टिसिएस, थ्रेसीमेकस, डायोनिसियस, फोटियस तथा पेट्रिज्जी आदि हैं। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यूरोप में सर्वप्रथम भाषण शास्त्र के वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषय का आयोजन हुआ। कोरेक्स तथा टिसिएस ने भाषण शास्त्र पर सर्वप्रथम ग्रन्थ लिखा। उन्होने भाषण शास्त्र के विषय और उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया। परवर्ती युगों में इनसे प्रेरणा लेकर अन्य अनेक विद्वानों ने भाषण शास्त्र की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की। थ्रेसीमेकस ने भी भाषण शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसे सम्पूर्णता प्रदान की। उसने भाषा पर विशेष रूप से गौरव दिया और भाषा की शुद्धता का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित किया।

थ्रेसीमेकस के विषय में यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उसने ही विविध गद्य शैलियों का निदर्शन किया था।[२] इस दृष्टि से उसने यह निर्देशित किया कि भाषण में प्रयुक्त भाषा को सामान्य प्रयोग की भाषा से उच्चतर होना चाहिए। इसीलिए उसने भाषा के अलंकरण की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है।[३] इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि थ्रेसीमेकस के इन विचारों को उस युग में बहुत मान्यता मिली और अनेक अन्य विद्वानों ने उस पर वाद विवाद किया। आगे चलकर प्लेटो ने इन सिद्धान्तों का विरोध करते हुए अपने मत का स्थापन किया।[४]

१. "आलोचनाः इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १९।

२. वही पृ० २०।

३. वही, पृ० ३४।

४. वही, पृ० ३४।

एरिस्टॉफेनीज

परिचय तथा कृतियाँ :—

एरिस्टॉफेनीज एक एथीनियन महाकवि था। इसका रचना काल ४४८ से लेकर ३८० ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है।[1] इसकी हास्य कृतियाँ तथा सुखान्तक रचनाएँ ऐतिहासिक महत्व की हैं। इसकी मुख्य रचनाओं में "ऐकार्नियस", "नाइट्स", "क्लाउड्स", "पीस", "वेप्स", "बर्ड्स", "फ्राग्स", "प्लूटस", "लिसिस्ट्रटा", "एक्लेजिया लूसे" तथा "थस्पाफरेजियानूसे" आदि हैं।[2] इन कृतियों में सुखान्तकों की ही विशिष्टता के कारण विलियम हैजलिट ने उसे मुख्य हास्य सुखान्तक लेखक स्वीकार किया है।[3]

वैज्ञानिक समीक्षा का प्रवर्तन :—

कुछ विद्वानों के मतानुसार एरिस्टॉफेनीज प्राचीन काल का सर्वश्रेष्ठ आलोचक है।[4] इसे निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का प्रवर्तक भी माना जाता है। इसकी जिन रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें संकेत रूप से इसके समीक्षात्मक विचारों का परिचय मिलता है। वह रूढ़ि विरोधी और क्रान्तिकारी समीक्षक था। उसने अपने युग के महान् नाटककार यूरोपाइडीज की रचनाओं का विश्लेषण करते हुए उसकी शैली का विरोध किया।

सैद्धांतिक दृष्टिकोण से उसकी अनेक सुखान्तक कृतियों में वे विचार स्पष्टता से व्यक्त हुए हैं, जो उसकी समीक्षा का आधार हैं। उसने मुख्यतः काव्य और नाटक के ही विविध रूपों और प्रधान अंगों पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। इस दृष्टिकोण से उसे प्राचीन काल का सर्वप्रथम महान् समीक्षक कहते हैं, जिसने समीक्षा के वैज्ञानिक स्वरूप के स्पष्टीकरण की दिशा में प्रयत्न किया और इस प्रकार परवर्ती युगों में समीक्षात्मक सिद्धांतों के विकास की आधार भूमि तैयार की।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 38.
२. वही, पृ० ३८।
3. "A History of English Criticism", George Saintsbury, p. 362.
४. "आलोचनाः इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० २१।

समीक्षा का शास्त्रीय दृष्टिकोण :—

एरिस्टॉफेनीज का यह असाधारण महत्व इस कारण से भी है कि उसके पूर्व कालीन साहित्य चिन्तकों में से किसी ने काव्य अथवा नाटक के उन रूपों तथा अंगों पर इतने विस्तार से विचार नहीं किया था, जिस प्रकार से इसने किया। पूर्व युग में यद्यपि चिन्तन का स्तर नीचा नहीं था, परन्तु उस समय जो भी आलोचनात्मक विचार और सिद्धांत मिलते हैं, वे सब स्फुट रूप में विविध विषयक कृतियों में समाविष्ट हैं। यही कारण है कि समीक्षा शास्त्रीय सिद्धांतों का निरूपण सम्यक् रूप से सम्भव नहीं हो सका।

संकेतात्मक विधि से अभिव्यक्त विचारों का सैद्धांतिक अनुशीलन भी इसी कारण से न हो सका। प्रौढ़ता और विकास की दृष्टि से भी भावी युग का कृतित्व अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि इसके पूर्व के युग की जो कुछ भी समीक्षात्मक देन थी, उसका महत्व प्रधानतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही है, उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं। सर्वप्रथम एरिस्टॉफेनीज के द्वारा ही यूनान में शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन सिद्धांतों का अनुशीलन किया गया।

समीक्षा का मान निर्धारण :—

एरिस्टॉफेनीज के पूर्ववर्ती चिन्तकों ने मुख्यतः काव्य और साहित्य विषयक अपना दृष्टिकोण प्रकट करते समय उसके कलात्मक पक्षों पर अधिक बल दिया था। इसमें भी सौंदर्यानुभूति और आनन्दानुभूति के सिद्धांत उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का आधार थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम एरिस्टॉफेनीज ने इस दृष्टिकोण से अलग समीक्षात्मक मानों के निर्माण की दिशा में प्रयत्न किया। उसने साहित्य को युगीन जीवन में सामाजिकता तथा सांस्कृतिकता की दृष्टि से ह्रासात्मक तत्वों के लिए उत्तरदायी बताया। देश के राजनैतिक पतन के कारण भी उसने ह्रासोन्मुखी साहित्य में ही देखे। पाँचवी शताब्दी ई० पू० के महान् यूनानी नाटककार यूरीपाइडीज का सैद्धांतिक विरोध भी उसने इसी कारण से किया। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसने यूरीपाइडीज के नाटकों में प्रायः वे सभी तत्व पाये, जिन्हें वह युग जीवन के ह्रास का कारण समझता था। इस लिए उसने उसी की कृतियों को आधार बनाकर अपने सिद्धांतों का व्यावहारिक दृष्टि-कोण से परीक्षण करते हुए प्रवर्त्तन किया।

साहित्यांगों का विश्लेषण :—

अपने सुखान्तकों में एरिस्टॉफेनीज ने साहित्य रचना, भाषण शास्त्र, काव्य रचना, शिक्षण कला आदि के स्वरूप का विवेचन किया है। इनमें उसने विविध साहित्यांगों का

भी विश्लेषण किया है, जिनमें महाकाव्य, गीति काव्य, सुखान्तक नाटक तथा दुखान्तक नाटक आदि हैं। इनके अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से उसने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इन विविध साहित्यांगों के विकास के इतिहास को ध्यान में रखते हुए उनकी सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समस्याओं पर भी विचार किया है।

काव्य में वह काल्पनिकता के समावेश का समर्थक था, क्योंकि उसके विचार से कवियों की कल्पना हीनता काव्य के परिवेश को संकुचित करती है। इसी प्रकार से वैचारिक संकीर्णता, रूढ़िवादिता तथा अनावश्यक प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का भी उसने विरोध किया है। नवीनता का समर्थन करते हुए भी उसने चामत्कारिकता और विचित्रता को हेय बताया है। अपनी कलात्मक सीमाओं को शब्दाडम्बर, कलात्मकता, नियम, व्याकरण तथा छन्द शास्त्र के नियमों और सिद्धांतों के आवरण में छिपाने वाले साहित्यकारों का उसने घोर विरोध किया।

मुख्य देन:—

एरिस्टॉफेनीज एक ईमानदार विचारक था। यही कारण है कि उसने अपने समकालीन नाटककार यूरीपाइडीज का सिद्धांततः विरोध तो किया, परन्तु फिर भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार और घोषित किया कि समकालीन नाटककारों में उसका बहुत ऊँचा स्थान है और निर्विवाद रूप से उसके साहित्यिक आदर्श भावी युगों में सिद्धांत के क्षेत्र में साहित्यिक मर्यादाओं का नियमन कर सकते हैं। चूँकि एरिस्टॉफेनीज क्रियात्मक लेखन के क्षेत्र में स्वयं एक मान्य नाटककार था और उसने यूरीपाइडीज के नाटकों के आधार पर व्यावहारिक समीक्षा की थी, इसलिए उसकी मुख्य देन प्रायः नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों के क्षेत्र में ही है।

समीक्षा क्षेत्रीय महत्व :—

प्राचीन यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम एरिस्टॉफेनीज ने ही निर्णयात्मक समीक्षा का प्रवर्त्तन किया, जो मुख्यतः दो कलाकारों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप सम्भव थी। उसने बताया कि कलाकार की श्रेष्ठता का निर्णय ही प्राथमिक और मुख्य बात है और कला की उच्चता के निर्णायक तत्व मूलतः दो ही हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि उसमें कलात्मक कौशल कितना है और दूसरा यह कि यह कलात्मक कौशल युगीन बौद्धिकता का कितना परिष्कार कर सकने की क्षमता रखता है।

प्राचीन यूनानी समीक्षा सिद्धांतों के संदर्भ में यदि हम एरिस्टॉफेनीज़ की इन कसौटियों को देखें तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि परम्परानुगत मानदण्ड निर्धारण के क्षेत्र में उसकी यह देन अभूतपूर्व थी। और इसी का यह परिणाम हुआ कि उसके युग में तो इन रुद्ध धाराओं को नवीन गति मिली ही, भावी युगों ने भी उनके लिए एक प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में इसने कार्य किया। इसका एक मात्र श्रेय एरिस्टॉफेनीज को है और इसीलिए उसका महत्व असाधारण है।

नाट्य कला पर विचार :—

कलात्मक और साहित्यिक उच्चता के उपयुक्त दो मानदण्डों का निर्धारण करते हुए एरिस्टॉफेनीज ने नाट्य कला के विविध अंगों का सम्यक् विवेचन किया है। उसका यह विवेचन इसलिए भी पूर्ण है, क्योंकि सैद्धांतिक निरूपण करने के समानान्तर ही उसने व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनका परीक्षण करते हुए समकालीन नाट्य साहित्य पर उनका आरोपण भी किया। इस प्रकार से उसके द्वारा निर्धारित मानों की सार्थकता भी सिद्ध होती गयी।

इसके अतिरिक्त एक और लाभ इससे यह हुआ कि नाट्य रचना का उसके युग में सैद्धांतिक दृष्टिकोण से तो परिमार्जन हुआ ही, रंगमंचीय विधान की दृष्टि से भी उसका परिष्कार हुआ। नाटक प्रस्तुत करते समय आरम्भ में अनावश्यक और अनपेक्षित रूप से दर्शकों में अनिश्चयता जनित उत्कण्ठा का संचार करने का वह विरोधी था। इसे वह सर्वथा अस्वाभाविक और अवांछनीय समझता था। अतिशय भावुकता का प्रदर्शन भी वह उचित नहीं समझता था। कृत्रिम वाग्जाल और क्लिष्ट शब्दावली से भी वह प्रभाव की सृष्टि की प्रवृत्ति को त्याज्य बताता था।

नाटक के कथानक की समृद्धि का वह हामी था और स्वाभाविक वार्तालाप का समर्थन करता था। थोथे यथार्थवाद का प्रतिकार करते हुए उसने उदात्त आदर्श को ग्राह्य बताया और यह निर्देशित किया कि नाटकों में उन्हीं पात्रों की योजना की जानी चाहिए जो इस उदात्त आदर्श के प्रतीक और नियामक हों। वातावरण की दृष्टि से उसने सुखान्तक का वातावरण धार्मिक आदर्शों के अनुरूप तथा दुखान्तक का वातावरण यथा सम्भव यथार्थात्मक रखने पर गौरव दिया है। नाटक में किसी भी तत्व गत विकृतियों को उसने प्रत्येक स्थिति में त्याज्य बताया है।

महत्व :—

एरिस्टॉफेनीज ने प्राचीन यूनानी साहित्य चिन्तकों की परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान इस कारण भी बना लिया, क्योंकि उसने साहित्य का गौरव अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित किया है। साहित्य के बौद्धिक और ज्ञानात्मक महत्व का स्थापन करते हुए एरिस्टॉफेनीज ने यह कहा कि साहित्य युग जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में उपलब्धियों की सम्भावनाओं को जन्म देता है। अपरिपक्व और अर्ध विकसित बुद्धि वालों के लिए जिस प्रकार से शिक्षण और शिक्षक द्वारा मार्गदर्शन होता है, उसी प्रकार परिपक्व और पूर्ण विकसित बुद्धि वालों के विकास के लिए साहित्य और उसका पारायण।

मनुष्य के विकसित ज्ञान के विकास हेतु और कार्य कलाप के विविध परिवेशों में साहित्य एक अत्यधिक सशक्त माध्यम के रूप में कार्य करता है। यों एरिस्टॉफेनीज ने उसके गुरुत्व का प्रतिपादन करते हुए उसके सर्वांगीण और व्यापक महत्व की ओर सर्वप्रथम सशक्त संकेत किये। ऐसा करते समय कहीं उसने व्यंग्यात्मक शैली में अपने समकालीन साहित्यकारों और उनकी कृतियों की आलोचना की और कहीं अपने मन्तव्यों का गंभीर तात्विक विवेचन। इन दोनों रूपों के समन्वय का यह परिणाम दिखलाई देता है कि एरिस्टॉफेनीज का व्यक्तित्व इतना महान् और विशिष्ट बन सका।

प्राचीन यूनानी समीक्षात्मक विचारों द्वारा निर्देशित मानदण्डों का क्रमिक विकास देखने पर इस तथ्य की अवगति होती है कि एरिस्टॉफेनीज ने सर्वप्रथम समीक्षा शास्त्र के कुछ अंगों और उसके विविध रूपों के सैद्धांतिक विवेचन के अनुशीलन में अनुसन्धानात्मक वृत्ति और शास्त्रीयता को समाविष्ट किया, जो उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सुकरात

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन चिन्तकों में सुकरात का स्थान विशिष्ट है। उसका समय ४६९ से लेकर ३९९ ई०पू० तक माना जाता है।[१] अपने समय के महान् मनीषियों में उसका [illegible]

१. "यूनान का इतिहास", भाग ८, ग्रोटे, पृ० ५५२।

अग्रगण्य है। वाङ्‌मय के विविध अंगों और क्षेत्रों में सुकरात के मन्तव्य मूल आधार और चिन्तनात्मक तत्वों के रूप में मान्य हैं। तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र तथा धर्म शास्त्र आदि के विषय में उसके विचार भावी चिन्तन धाराओं के प्रवर्तक स्रोतों के रूप मे प्रख्यात हुये। सुकरात का जन्म यूनान की राजधानी एथेंस के निकट हुआ था। इसके विषय में जो ऐतिहासिक विवरण और प्रमाण मिलते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि इसका जन्म एक बहुत साधारण परिवार में हुआ था। इसकी माता एक सा‌विका (धात्री) और पिता एक मूर्तिकार था।[१] इसने प्रारम्भ मे अपना पैतृक कार्य सीखा। बाद में इसे अनेक प्रकार के कार्य करने पड़े। ७२ वर्ष की वृद्धावस्था में उसे प्राणदण्ड दिया गया और विष पान के द्वारा उसका प्राणान्त हुआ।[२]

अपने सारे जीवन वह त्याग, आदर्श और चिन्तन की ओर उन्मुख रहा। अपने दीर्घ जीवन में अद्वितीय उपलब्धियों के कारण इसे यूनान के प्राचीन दार्शनिकों मे बहुत उच्च स्थान प्राप्त हुआ। सुकरात की वैचारिक स्थापनाओं के संकेत उसके परवर्ती विचारकों के ग्रन्थों से मिलते हैं, क्योंकि स्वयं सुकरात ने किसी कृति की रचना नही की और न ही उसकी किसी रचना का उल्लेख कहीं मिलता है। इसके शिष्य प्लेटो की "एपॉलोजी", "क्रीटो", "यूथीफ्रोन", "लेचेज", "अयान", "प्रोटगोरस", "कारमिडीज", "लाइसीस" नामक सम्वाद रचनाओं तथा "रिपब्लिक" (प्रथम भाग) अरस्तू कृत "एथिकानिको" मेमिया", "एथिका यूडीमिया" तथा "मेग्ना मोरेलिया" एवं वेनोफोन कृत "मेमोरेबिलिया आफ सार्क्रेटीस" आदि कृतियों से उसके सिद्धान्तों का पर्याप्त परिचय उपलब्ध हो जाता है।[३]

प्रमुख विचार तथा महत्व :—

सुकरात के विषय में यह कहा जाता है कि समकालीन परिस्थितियाँ और वातावरण उसके अनुकूल न था। सुकरात के विविध विषयक विचार किसी क्रमबद्ध रूप में न होकर स्फुट रूप में मिलते हैं। आगे चल कर उसके शिष्यों तथा अन्य विद्वानो द्वारा ही उनका सम्पादन हुआ। उसकी शिक्षण पद्धति आदि के विषय में उसके शिष्य

१. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० २८।
2. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 735.
३. "यूनान का इतिहास", भाग ८, ग्रोटे, पृ० ५५२।

प्लेटो ने पर्याप्त विवरण उपस्थित किया। सुकरात की प्रमुख शिक्षाएँ प्रायः, नीति, ज्ञान, धर्म, दर्शन, तथा राजनीति आदि शास्त्रों से सम्बन्ध रखती हैं।

नैतिकता पर सुकरात ने बहुत अधिक गौरव दिया है, क्योंकि उसका यह विचार था कि मनुष्य के जीवन और कार्य व्यापार का दृष्टिकोण नैतिक ही होना चाहिए। उसने बताया है कि वस्तुतः सद्गुण ही ज्ञान है। यदि कोई मनुष्य दुर्गुणी है, तो यह उसके अज्ञान के कारण ही होता है। इसीलिए सुकरात ने "सुन्दर" को खोजने की चेष्टा की। इस प्रकार से नैतिक मनोवृत्ति की समस्या उसके लिए प्राथमिक नहीं रही।

ज्ञान और सद्गुण :—

सुकरात ने ज्ञान और सद्गुण में कोई भेद नहीं बताया है। उसका विचार था कि सद्गुण एक प्रकार की आत्मिक शक्ति होती है। यह शक्ति मनुष्य के क्रिया कलाप मे संतुलन लाती है। सद्गुण के उसने दो भेद किये हैं। एक तो साधारण सद्गुण और दूसरा दार्शनिक सद्गुण। इनमें से दूसरे का सम्बन्ध उसके मतानुसार आत्मिक ज्ञान से होता है। उसके विचार से "ज्ञान का प्रमाण, सिद्ध कार्यक्षमता में था।"[१]

अनुकरणात्मकता :—

नाटक में अनुकरणात्मकता के तत्व पर व्यक्त की गयी पूर्ववर्ती विचारकों की मान्यताओं की पुष्टि करते हुए सुकरात ने यह कहा कि मन की आन्तरिक अवस्था का अनुकरण भी चेहरे से इंगित द्वारा हो सकता है।[२] सुकरात के इस प्रकार के विचार उसके सम्वादों में स्फुट रूप से मिलते हैं। इसलिए इन विचारों का महत्व आगे चलकर इनकी ;विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा भावी विचारों के संदर्भ में ही अधिक है। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि अभी तक यूनान में नीति परक समीक्षात्मक मानदण्डों का निर्धारण नहीं हुआ था और यह सर्वप्रथम सुकरात के द्वारा ही किया गया। समीक्षा शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी यही उपलब्धि ऐतिहासिक महत्व की है।

१. **"पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० २९।**
२. **"पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० ४५।**

प्लेटो

परिचय तथा कृतियाँ :—

प्लेटो का समय ४२७ से ३४८ ई० पू० तक माना जाता है।[१] यूनान के प्राचीन दार्शनिकों और कला विचारकों में उसका सर्वोच्च स्थान है। उसका जन्म एथीनियन बंश में हुआ था। अपने गुरु सुकरात की मृत्यु के पश्चात वह "एकाडेमी" में अध्यापन कार्य करने लगा था। यों उसकी स्वयं की इच्छा यह थी कि वह राजनीति में भाग ले और उसने दो बार राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया था। उसके पूर्वज भी राजनीतिक क्षेत्रों से सम्बन्ध रख चुके थे। अपने गुरु सुकरात के साथ राजनीतिज्ञों के अनुचित व्यवहार को देखकर उसका चित्त राजनीति के व्यवहार पक्ष की ओर से खिन्न हो गया। इसके बाद ही उसके लिए दार्शनिक चिन्तन और अध्ययन ही सब कुछ रहा। एकाडेमी में अध्यापन कार्य करने के पहले उसे एक बार दास की भाँति बिक्रय भी कर दिया गया था। इसलिए भी उसने अपना जीवन चिन्तन की ओर पूर्ण रूप से लगा दिया। उसकी शिक्षा के प्रधानतः दो उद्देश्य थे। एक तो मनुष्य का नैतिक विकास और दूसरे मनुष्य जाति की सेवा।[२]

प्लेटो के जीवन का अन्तिम भाग अपने सम्वादों की रचना में व्यतीत हुआ। ये सम्वाद उसके गुरु सुकरात की शिक्षाओं को आधार बनाकर रचे गये हैं। इनसे प्लेटो की अपरिमित वैचारिक शक्ति का आभास मिलता है। प्लेटो की प्रमुख देनों में से एक उसकी "थ्योरी आफ आइडियाज" है। इसके अनुसार किसी वस्तु का विचार या रूप हमारी उस वस्तु विषयक अमूर्त धारणा के अनुसार होता है। यद्यपि उसका अस्तित्व स्पर्श जगत के बाहर भी विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में अपरिवर्तित सत्य ही प्रत्यक्ष परिवर्तित स्वरूप के पीछे कार्यशील रहता है। प्लेटो के प्रमुख सम्वादों मे "प्रोटेगोरस", "गार्गियस", "फायडो", "सिम्पोजियम", "रिपब्लिक", "फियाड्रस",

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 624.
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० ४० ।

"पारमेनीडेस", "थियाटिटस", "सोफिस्ट", "फिलेबस", "टिम्पोस", "लाज" तथा "एपालोजी" आदि हैं।[1]

प्रमुख सम्वाद :—

विषय विवेचन के अनुसार प्लेटो के सम्वाद ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध "रिपब्लिक" तथा "लाज" हैं। अन्य सम्वादों में आरम्भिक कालीन "एपालोजी", "क्रिटो", "कारमाइडीज", "यूथीडेमस", "लेक्स", "मीनो", "प्रोटेगोरस" तथा "जार्जियस" आदि हैं। इन सबमें प्रायः राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों और परिस्थितियों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। परन्तु इनमें अभिव्यक्त किये गये अधिकांश विचार अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व रूप से उसके परवर्ती सम्वादों में मिलते हैं। कहीं कहीं प्रासंगिक रूप से उसने ज्ञान तथा धर्म आदि के सम्बन्ध रखने वाले विषयों की भी स्फुट चर्चा की है।

प्लेटो के प्रौढ़ और प्रसिद्ध सम्वादों में सर्वप्रथम "रिपब्लिक" है। इस कृति का उपशीर्षक है "कन्सर्निंग जस्टिस" अर्थात् "न्याय के सम्बन्ध में।"[2] जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है इसका विषय राजनीति है। इसके साथ ही इसमें अन्य अनेक शास्त्रों का भी विषयानुसार विवेचन किया गया है। यों इस प्राचीन काल में यूनान में विविध शास्त्रों पर विचारक गण स्फुट रूप से ही विचार करते थे, सम्यक् रूप से अलग अलग स्वतन्त्र रूप में विषय विवेचन की परम्परा नहीं थी। इसलिए प्लेटो के इस ग्रन्थ में विविध विषयों और शास्त्रों का अपार भंडार है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन दर्शन के प्रस्तुतीकरण का इसमें सफल प्रयास किया गया है।

इससे पूर्व सुकरात सद्गुण तथा ज्ञान आदि पर महत्वपूर्ण विवेचना कर चुके थे। इन सूत्रात्मक कथनों की भी प्लेटो ने विस्तारयुक्त व्याख्या की तथा इनके साथ ही अन्य अनेक विषयों को भी इस ग्रन्थ में समावेशित किया, जिनमें न्याय तथा व्यवस्था आदि हैं। इस ग्रन्थ में न्याय का एक प्रतिपादक सिफैलस[3] भी है, जिसके मतानुसार

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 624.
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० ४६।
३. परिचय के लिये द्रष्टव्य—"A History of Greek Political Thought", Sinclair, p. 143.

"न्याय सत्य भाषण और ऋण भुगतान में निहित होता है।"[1] न्याय के विविध रूपो और प्रकारों के विषय में परवर्ती विचारकों ने भी अनुशीलन किया है।[2] उन्होंने इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक सन्दर्भ में भी निदर्शन प्रस्तुत किया,[3] यद्यपि इसका महत्व राजनीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही अधिक है।

"रिपब्लिक" के पश्चात् प्लेटो की दूसरी विश्व प्रसिद्ध कृति "स्टेट्समेन" है। इसकी रचना सम्वादात्मक शैली में की गयी है। इसमें उसने विद्या और कला का विवेचन करके इनका श्रेणीकरण किया है। इस ग्रन्थ में की गयी उसकी महत्वपूर्ण स्थापनाओं का सम्बन्ध भी प्रत्यक्षत: राजनीति शास्त्र से ही है। इसी प्रकार से "लाज़" में उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् हुआ था और यह उसने वृद्धावस्था में लिखा था। इस ग्रन्थ में भी यद्यपि विविध विषयों का विश्लेषण हुआ है, परन्तु जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है, इसका अधिकांश भाग कानून निर्धारण और उसकी प्रक्रिया के नियमन से संबंधित है।

शैली और विचार :—

प्लेटो की शैली सम्वाद शैली थी। उसमें मनोवैज्ञानिकता के उपयोग से प्लेटो ने कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण धारणायें अनुभूत की थीं। वैचारिक उद्गम की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उसका अनुभव यह था कि मनुष्य के मन में विविध प्रकार के विचारों का वास रहता है। ये विचार यदि एक दूसरे के विरोधी होते हैं, तो उसके अन्तर में इनका पारस्परिक संघर्ष होता हैं। इसके पश्चात् फिर किसी निश्चित विचार का सूत्र उपजता है और विकासशील होकर दृढ़ता प्राप्त करता है। वह यह भी अनुभव कर रहा था कि उसकी समकालीन वैचारिक पद्धतियों और उनके निर्देशित सिद्धान्तों में शुद्धता नहीं थी। इसका कारण यह था कि तथाकथित ज्ञान दूषित था और उनके मूल में पिष्टपेषण मात्र था।

शुद्ध और यथार्थ ज्ञान के लिए उसने सम्वाद के माध्यम को उपयुक्त बताया। इसलिए अपने सम्वादों में उसने सुकरात, सिकलस, पोलेमार्कस तथा थ्रेसीमेकस आदि

1. "The Republic", (Translators) Davies and Vauglin, p. 6.
२. **देखिये**—"Plato and his predecessors", Barker, pp. 176-77.
३. **देखिये**—"A History of Political Theory", Sabine, p. 54.

विचारकों के माध्यम से अपने विचारों का आपेक्षिक प्रतिपादन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि प्लेटो अपने समय का महानतम मौलिक चिन्तक था, परन्तु अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बावजूद उसने अपने पूर्वकालीन विचारकों के प्रभाव को ग्रहण किया। ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में उसने परिस्थितियों और वातावरण का अध्ययन किया तथा उनसे प्रभावित हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने पूर्वकालीन सभी विचारकों का उसने अनुमोदन ही किया है। अनेक सिद्धांतों और उनके प्रतिपादकों से उसने अपना सर्वथा विरोध भी प्रकट किया है।

प्लेटो के प्रमुख सिद्धान्त

इतिहास :—

प्लेटो के विचार से इतिहास एक कला है और इसके अन्तिम हेतु इसकी परिधि के बाहर है। संसार की अत्यन्त साधारण और अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाओं के पीछे दैवी प्रेरणा सक्रिय रहती है।[1] परन्तु प्लेटो न तो स्वयं इतिहासकार था और न उसे इतिहासकारों में विश्वास था। आवश्यकतानुसार वह अपने इतिहास का स्वयं निर्माण कर लेता था।[2]

आगे चलकर प्लेटो की इतिहास विषयक इस धारणा में बड़ा परिवर्तन हुआ। प्लेटो के शिष्य अरस्तू को इतिहास का पर्याप्त ज्ञान था। उसने अपने विचारों का प्रतिपादन उसके आधार पर किया भी था। उसके द्वारा प्रयुक्त राजनीति शास्त्र के अध्ययन की उद्गमन पद्धति का प्रयोग ही पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में असम्भव था। कहने का आशय यह है कि किसी भी ज्ञान की विधि के क्षेत्र में प्रारम्भ होने वाला संयोजन प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ही प्रधान मानकर होता है। इसके पश्चात् द्वितीय अवस्था में ही उसका वैज्ञानिक और शास्त्रीय रूप स्थिर होता है।

१. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १०।
२. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १४७।

अनुकरण का सिद्धान्त :—

प्राचीन यूनान में जिस अनुकरणात्मक सिद्धान्त का प्रवर्तन होमर द्वारा हुआ था, उसका सबसे प्रबल पुष्टीकरण प्लेटो ने किया। उसके विविध विषयक विचार और धारणायें इसी सिद्धांत को आधार बनाकर निर्मित हुये हैं। उसने यह सिद्ध किया कि उसके पूर्ववर्ती साहित्य में लौकिक या अलौकिक किसी भी प्रकार का सत्य नहीं है। उसे इसी कारण से वह एक असत्य कोटि की साहित्यिक सृष्टि कहता है। उसका विचार था कि एक कवि किन्हीं वस्तुओं का जो वर्णन करता है, वे पूर्णतः वैसी ही नहीं होतीं, जैसी कि वे यथार्थतः होती हैं। इसके विपरीत वह उनका वर्णन एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त स्वरूप की कल्पना के अनुसार करता है। इस दृष्टिकोण से काव्य में यथार्थात्मकता तब सम्भव होगी, जब कवि मूल आदर्शों के सूक्ष्म जगत का अनुकरण करेगा।

जब प्लेटो यह कहता है तो वह हमारे सामने एक आदर्शवादी विचारक के रूप में आता है। सामान्यतः वह एक मनुष्य का सुधार करके उसे एक आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। इसके लिए उसने उसके मुख्यतः दो धर्म बताये हैं। एक तो यह वह सत्य की खोज के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे और दूसरे यह कि वह सद्गुणी हो। ये दोनों गुण ज्ञान के अभाव में एक मनुष्य में कल्पित नहीं किये जा सकते और ज्ञान प्राप्त करने के दो उपाय हैं। एक तो जीवनानुभव और दूसरा साहित्य।

अपने पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य, जिनमें होमर जैसे महान् कवि की अमर कृतियाँ भी सम्मिलित हैं, का व्यापक रूप से विश्लेषण करके उसमे असत्य दोष की ओर इंगित करते हुए उसे त्याज्य घोषित किया। वह यह मानता था कि लौकिक सत्य अलौकिक सत्य का ही प्रतिरूप होता है। एक कलाकार चूँकि लौकिक सत्य का ही अनुकरण अपनी कृति में करता है, इसलिए उसमें उसी की प्रतिछवि होती है। और अन्ततः यह सत्य शुद्ध सत्य का प्रतिरूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार से प्लेटो ने अनुकरण को ही कला का प्रधान तत्व निर्देशित किया है। उसका यह दार्शनिक सिद्धांत था कि "जो कुछ भी हम इस पार्थिव संसार में देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, उन सबका मूल रूप स्वर्ग में स्थित है। मानव की आत्मा जब स्वर्ग में रहती है तो इन मूल रूपों को सहज ही पहचानती है और उन्हीं के सम्पर्क में रहती है, परन्तु जब हम इन मूल रूपों का अनुकरण इस पार्थिव जगत में करते हैं तो हमें उनकी छाया मात्र ही मिलेगी और जब साहित्यकार इनका अनुकरण अपनी

रचनाओं में करेगा तो वह सत्य (मूल रूपों) से और भी दूर जा पड़ेगा। काव्य इस दृष्टि से हमें बहुत दूर ले जाता है, उसके द्वारा सत्यानुभूति असम्भव होगी।"[१] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य या साहित्य एक आदर्श नागरिक को सत्य की शिक्षा नहीं देता है। इसीलिए उसने अपने आदर्श राज्य मे साहित्यकार अथवा कवि को कोई स्थान नहीं दिया।

कवि, काव्य और कला :—

अपनी "आयोन" नामक कृति में प्लेटो ने कवि का स्वरूप निर्धारण किया है। कवि का वर्णन करते हुए वह कहता है कि "कवि एक सूक्ष्म, पलायमान और पवित्र वस्तु है, और तब तक युक्ति हीन है जब तक कि उसे दैविक प्रेरणा नही मिलती और स्वयं इन्द्रियशून्य और बुद्धिविहीन नही हो जाता। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह शक्तिहीन है और अपनी गूढ़ोक्तियाँ कहने में असमर्थ है।"[२] इसी प्रकार से "फैडरस" में वह कहता है कि "कला से नहीं, वरन् दैविक प्रमत्ता से कवि चित्तोत्सेक तक अग्रसर होता है।"[३]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपने पूर्वकालीन तथा समकालीन वातावरण का अध्ययन करते हुए प्लेटो ने यह निष्कर्ष निकाला कि उच्च कोटि का काव्य ही समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होता है और हीन कोटि का काव्य सर्वथा अनुपयोगी। निम्न कोटि के कवियों के विषय में वह इस निश्चित निष्कर्ष पर आ गया था कि उनके द्वारा ज्ञान का प्रचार नहीं हो सकता। इस कोटि की काव्य रचना करने वाले कवि अपने गहन उत्तरदायित्व की ओर से उदासीन रहते और उसकी महत्ता को भूले रहते है। इस प्रकार से उनकी मनः स्थिति एक प्रकार की अनैतिकता से आक्रान्त रहती है और इसीलिए वे नैतिक आदर्श का समर्थन करने वाला काव्य नहीं रच पाते। इसके अतिरिक्त कवियों में यह विवेक भी नहीं होता कि काव्य में वे किन विषयों तथा प्रसंगों का समावेश करें और किनका नहीं। इसीलिये अनेक अवांछनीय प्रकार के विषयो की काव्य में

१. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ४२०।
२. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० ६८।
३. वही, पृ० ६९।

भरमार हो जाती है, जो अन्ततः समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। इस प्रकार के काव्य को वह ज्ञान, धर्म, नीति और ईश्वर विरोधी और इसलिए सर्वथा त्याज्य मानता था।

काव्य का वर्गीकरण :—

प्राचीन यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम प्लेटो ने ही काव्य का सैद्धान्तिक रूप से वर्गीकरण किया, अन्यथा उसके पूर्व काव्य के विविध रूपों और अंगों पर तो स्फुट रूप से विचार व्यक्त किये जा चुके थे, किन्तु इसके वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयत्न किसी ने नही किया था। सबसे पहले उसने काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके तीन भेद किये, पहला गीति काव्य, दूसरा नाटक तथा तीसरा महाकाव्य। इन तीनों को ही उसने वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत रखा। इनमें से पहले अर्थात् गीति काव्य का विश्लेषण करते हुये उसने कहा कि यह कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती है।

गीति तथा महाकाव्य की रचना के लिये उसने कुछ नियम भी बनाये, जो उसके सामंजस्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उसका विचार था कि सामंजस्य काव्य रचना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। उसके मतानुसार "सामंजस्यविहीन कविता निम्न कोटि की ही होगी और उसका प्रभाव भी स्थायी न रहेगा। कोई भी श्रेष्ठ कलाकार अपनी कथावस्तु का चयन अस्त व्यस्त रूप में नही करता, भावों का विचारपूर्ण समन्वय तथा कथावस्तु का सामंजस्य वह सतत् ध्यान में रखेगा। जिस प्रकार से सफल जीवन व्यतीत करने के लिये जीवनयापन के नियमों की जानकारी और उनका अभ्यास आवश्यक है उसी प्रकार सफल कलाकार के लिए काव्य रचना के नियमों की जानकारी और उनका उचित प्रयोग भी आवश्यक होगा। सामंजस्य के अन्तर्गत क्रम, नियन्त्रण, तथा समन्वय के नियमों की सुरक्षा काव्य रचना में होना चाहिये।"[1]

नाटक :—

प्लेटो के समय तक नाटक के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हो चुका था। अनेक शास्त्रीय महत्व के नाटककार ऐसे हो चुके थे, जिनकी रची हुई सुखान्तक अथवा दुखान्तक नाट्य कृतियाँ ऐतिहासिक महत्व की सिद्ध हो चुकी थीं। रंगमंचीय विकास की सम्भावनायें विद्यमान थीं और समाज में नाट्य रचना, नाट्य अभिनय तथा नाट्य प्रदर्शन की

१. "आलोचनाः इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ३२।

वृत्तियों का प्रचलन था। प्लेटो यह अनुभव कर रहा था कि उसके समय में जिस प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन होता था, उनका दर्शकगण पर अस्वस्थ प्रभाव पड़ता था और अनैतिकता बढ़ती थी। इसका फल यह हो रहा था कि उच्छृंखलता, वैचारिक रुग्णता, मानसिक अस्वस्थता तथा अनैतिकता का वातावरण निर्मित होता जा रहा था। यहाँ तक कि इस भ्रष्ट जन मनोवृत्ति के विरुद्ध कोई नाटककार न खड़ा होता था और स्वयं भी उसी प्रकार के नाटकों का सृजन करना आरम्भ कर देता था, जिनकी माँग थी।

इस विडम्बना को देखकर प्लेटो ने यह धारणा बना ली थी कि जनता का बहुमत साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी कदापि नहीं हो सकता। उसने सुखान्तक और दुखान्तक नाटकों का अलग-अलग स्वरूप निरूपण किया। इन दोनों का उसने महत्व और प्रभाव भी विश्लेषित किया। उसने सुखान्तक नाटक की आवश्यकता और मर्यादा निर्धारित करते हुए कहा है कि उसके माध्यम से हास्य सृष्टि तो होनी चाहिए, परन्तु उससे किसी की भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाना चाहिये।

भाषण शास्त्र :—

भाषण शास्त्र पर विचार करते हुये प्लेटो ने कहा कि भाषण में वक्ता सत्य की उपेक्षा करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भाषण में कृत्रिमता बहुत अधिक होती है। वक्तागण अपनी बात को शब्द जाल और अतिशय रूप से चतुराई के साथ कहते हैं। फल यह होता है कि उसमें श्रोताओं को अपनी उचित या अनुचित बात को ईमानदार सिद्ध करने की धुन हो जाती है। उच्च कोटि में गिने जाने वाले भाषण शास्त्र के लिये प्लेटो के विचार से उच्च कोटि की कला आवश्यक है। और यह कला है वक्ता को विषय का पूर्ण ज्ञान। उसने कहा है कि प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास यह भाषण कला का रहस्य है।

प्लेटो का यह अनुभव था कि उसके समकालीन भाषण शास्त्रज्ञों में इन गुणों का सर्वथा अभाव है और उन्हें भाषण कला का सम्यक ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसने उन लोगों की कटु आलोचना की। यही नहीं, उनका स्तर और अज्ञान देखकर वह स्वयं इस क्षेत्र से सर्वथा खिन्न हो गया और उसका यह विचार दृढ़ होता गया कि भाषण कला का कोई विशेष महत्व नहीं है।

समीक्षा :—

अपने समकालीन कवियों, नाटककारों तथा भाषण शास्त्रियों का प्लेटो ने जो प्रबल विरोध और खंडन किया है, उससे यह भ्रम हो सकता है कि वह काव्य, नाटक

अथवा भाषण शास्त्र का विरोधी था। वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसने इन विषयों की पूर्ण उपेक्षा की होती और अपने अनेक सम्वाद ग्रन्थों में इनके स्वरूप निर्धारण की भी कोई चेष्टा न की होती।

वास्तव में प्लेटो को सबसे अधिक क्लेश यह देख कर होता था कि उसके समकालीन बौद्धिक लोग इन विषयों का यथार्थ महत्व और दायित्व बिल्कुल नहीं समझ रहे थे और स्वयं के अज्ञानवश पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं को धोखा दे रहे थे। चूंकि उन्हें स्वयं भी इसके यथार्थ महत्व का किञ्चित मात्र भी ज्ञान नहीं था, इसलिए वे उनसे लाभान्वित होने के स्थान पर पतित ही होते जा रहे थे। यह स्थिति उसके जैसे ईमानदार विचारक के लिये असह्य थी। अपने समकालीनों की आलोचना उसने इतनी कटुता के साथ इसीलिये की है, क्योंकि वह उन्हें ही इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी समझता था।

प्लेटो मूलतः एक राजनीतिक चिन्तक था। जिस प्रकार से उसने आदर्श राज्य के के आदर्श नागरिकों की कल्पना की थी, उसी प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में भी उसकी सारी धारणायें आदर्शवादिता से आगृहीत थीं। वह उच्च और सात्विक तत्वों से पूरित साहित्य को ही समर्थित करता है। इसलिए जिस प्रकार से वह अपने समय की अव्यवस्थित राज्य व्यवस्था को देख कर असन्तुष्ट हुआ था और उसने एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए एक आदर्श राज्य का प्रतिपादन और समर्थन किया था ; उसी प्रकार से युगीन साहित्य की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से असन्तोष और विरोध व्यक्त करते हुए उसने आदर्श साहित्य के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया था।

इस प्रकार से उसने कला, नाटक, काव्य आदि का सीमा निर्धारण किया और इनकी निश्चित मर्यादा पर बल देते हुए इनके स्वरूप को स्पष्ट करने वाली विशिष्ट परिभाषाओं का प्रतिपादन किया। इसके साथ ही साथ उसने ललित और उपयोगी के रूप में कला का वर्गीकरण किया। उसने गीत, नाटक और महाकाव्य के रूप में काव्य को भी वर्गीकृत किया। जहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, उसने इस बात पर विशेष रूप से गौरव दिया है कि उसमें विशिष्ट और सुसंस्कृत जीवन की छाया होनी चाहिए।

अपने समीक्षा विषयक सिद्धान्तों में प्लेटो ने बताया है कि श्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो सुबुद्धि और साहस के गुणों से युक्त होगा। उसके विचार से समीक्षक का कार्य साहित्यकारों और पाठकों का पथ प्रदर्शन करना है। यह कार्य वही समीक्षक कर सकता है जो उपर्युक्त गुणों से अनिवार्यतः युक्त हो। समीक्षा के लिए उसने यह निर्देशित किया है कि उसे शब्द जाल से प्रभावित अथवा आतंकित नहीं होना चाहिए, वरन् सम्पूर्ण काव्य के स्वरूप, प्रभात्वामकता तथा उद्देश्य को देखते हुए उसका विस्तृत विश्लेषण और सम्यक् मूल्यांकन करना चाहिए। उसने प्राचीन यूनानी साहित्य का अनुशीलन करते हुए यह कहा कि अन्ततः उस साहित्य में अनैतिकता और अयथार्थता को भ्रामक और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है और इसी कारण से पाठकों के ऊपर वांछित प्रभाव नहीं पड़ा है।

महत्व :—

प्लेटो आदर्शवादी समीक्षक था। कला और साहित्य का आदर्शीकरण भी उसके समय से ही हुआ माना जाता है। उसने कहा कि सत्य, शिव और सुन्दर तीनों दैवी शक्ति के प्रकटन हैं और तीनों समान हैं। इस प्रकार से प्लेटो अपने समय का सर्व प्रमुख और प्राचीन यूनानी विचारकों में वह सर्वप्रथम मनीषी है, जिसने सिद्धान्त रचना की दिशा में ठोस कार्य किया था और इस प्रकार से इसकी सुदृढ़ नींव डाली थी। परवर्ती युगों में इस क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई उसका श्रेय प्लेटो को ही है। उसके विचार आगे सहस्रों वर्षों तक साहित्य चिन्तकों को प्रभावित करते रहे और अनेक परवर्ती पंडितों ने उनकी व्याख्या की तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार से भावी युगों में प्लेटो के सिद्धान्त अधिक ग्राह्य तथा व्यवहार योग्य हो सके। इसी कारण उसे चौथी शताब्दी ई० पू० का महानतम विचारक माना जाता है।

आइसॉक्रेटीज

परिचय और विचार :—

आइसॉक्रेटीज का समय ४३६ से लेकर ३३८ ई० पू० तक माना जाता है।[1]

1 "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 403.

वह प्लेटो का समकालीन था। प्राचीन यूनानी चिन्तकों में उसका नाम भी लिया जाता है, यद्यपि उसके विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है और न ही उसकी रचनाओं के विषय में ही कोई विशेष जानकारी मिलती है। इसका उल्लेख मिल्टन ने अपने एक सानेट में किया है।[1]

अपनी समकालीन शिक्षा व्यवस्था से उसे बड़ा असंतोष हुआ था। उसमें सुधार करने के उद्देश्य से उसने स्वयं एक अलग विद्यापीठ की स्थापना स्वतन्त्र रूप से की थी। इससे पूर्व प्लेटो यह कह चुका था कि संसार में जीवन के दो ही प्रकार हो सकते थे। एक तो दार्शनिकों का जीवन और दूसरा राजनीतिज्ञों का जीवन। आइसाक्रेटीज चाहता था कि जीवन के इन दोनों प्रकारों में किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सके। इसके लिये वह इन दोनों की अच्छाइयों का मिश्रण करना चाहता था, परन्तु अपने इस कार्य में उसको सफलता न मिल सकी। परन्तु फिर भी उसकी गणना यूनान के महान् शिक्षा शास्त्रियों में की जाती है, यद्यपि उसके विचारों में न प्लेटो सी गहनता थी और न सुकरात का गाम्भीर्य।

प्लेटो की ही भाँति उसने "आदर्श राज्य" के नमूने पर एक विलक्षण योजना प्रस्तुत की, जो "ग्रेट डिजाइन" के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वह प्लेटो के आदर्श राज्य भाँति पूर्ण रूप से कल्पनात्मकता पर ही नहीं आश्रित थी वरन् इसका आधार व्यावहारिक था। हाँ, उसमें प्लेटो की भाँति मौलिकता का अभाव है। इसकी महत्ता इसी बात से है कि उसने कभी भी संकुचित दृष्टिकोण से किसी समस्या पर चिन्तन नहीं किया। इसीलिये उसकी गणना चौथी शताब्दी के चार महान् विचारकों में की जाती है।

महत्व :—

आइसॉक्रेटीज के सिद्धान्तों का परिचय उसके स्फुट वक्तव्यों से ही मिलता है, क्योंकि उसकी रचित किसी भी कृति के विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसने कुछ सामयिक समस्याओं के निदान निदर्शनार्थ कुछ पत्र भी संकलित किये थे। इन पत्रों का असाधारण महत्व इस बात से भी द्योतित होता है कि परवर्ती काल

१. वही, पृ० ४०३।

2. "A History of Greek Political Thought", T. A. Sinclair, pp. 138-139.

मे रोमीय आलोचकों ने तो इनमे निदर्शित सिद्धान्तों को अपनाया ही, अनेक अंग्रजी लेखकों ने भी भावी युग में इनका अनुकरण किया।[1]

आइसॉक्रेटीज का प्रधान विचार क्षेत्र केवल भाषण शास्त्र ही है। उसने प्लेटो के मत के विपरीत भाषण शास्त्र की असाधारण महत्ता प्रतिपादित की और इसके विविध तत्वों, अनुकरण, शैली, विषय, भाषा, आदि का बहुत विस्तारयुक्त, वैज्ञानिक और सम्यक् विश्लेषण किया। आगे आने वाले समय में अरस्तू तथा अन्य विचारकों ने भाषण शास्त्र पर जो कुछ भी लिखा, आइसाक्रेटीज के सिद्धांत ही उनका आधार रहे।

ईस्किलस

परिचय और सिद्धांत :—

ईस्किलस का समय ५२५ से लेकर ४५६ ई०पू० तक माना जाता है।[2] यूनान के प्राचीन दार्शनिकों में उसका नाम भी उल्लेखनीय है। उसके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या ५० के लगभग बतायी जाती है। यों तो उसने विविध विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, परन्तु उसकी मुख्य देन नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में मानी जाती है। यूनान के प्राचीन समीक्षा शास्त्रीय इतिहास में उसने सर्वप्रथम सम्वादात्मक नाटकों का प्रवर्त्तन किया। उसके पहले जो नाटक अभिनीत होते थे, उनमें प्रायः आत्म-कथात्मकता के तत्वों की बहुलता होती थी। उसकी दुखान्तक नाटक की कला की देन ही विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

सोफ़ोक्लीज़

परिचय और सिद्धांत :—

सोफोक्लीज का समय ४९५ से लेकर ४०६ ई०पू० तक माना जाता है।[3] उसने

१. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ५९।
२. "नाटक की परख", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ११।
३. वही, पृ० १२।

अपनी सर्वप्रथम नाट्य कृति की रचना ४६८ ई०पू० में की थी। उसके लिखे हुये कुल नाटकों की संख्या एक सौ बीस बतायी जाती है, यद्यपि इनमें से केवल सात उपलब्ध हैं। जिस प्रकार से इसके पूर्व ईस्किलस नाम के नाटककार ने नाटक में एक से बढ़ाकर दो पात्र किये थे, उसी प्रकार से सोफोक्लीज ने उनकी संख्या दो से बढ़ाकर तीन कर दी।

इसके अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में उसने कुछ अन्य भी महत्वपूर्ण सैद्धांतिक परिवर्तन किये। उदाहरण के लिये उसने सहगायकों की संख्या १२ से बढ़ाकर १५ कर दी तथा उनकी वेषभूषा आदि में भी पर्याप्त परिवर्तन कर दिया। इसके अतिरिक्त नाटक के परस्पर अर्न्तसम्बद्ध चार खंडों को विषय वस्तु की दृष्टि से भी स्वतंत्र कर दिया।[१] यों उसने नाटक के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूपों के क्षेत्र में कुछ मौलिक परिवर्तन किये, और यही उसकी महत्ता का प्रमुख कारण है।

सोफोक्लीज के समय में नाटक के क्षेत्र मे रचनात्मकता की प्रधानता थी, आलोचनात्मकता की नहीं। इसका फल यह दिखायी दे रहा था कि जो भी परिवर्तन नाटक के क्षेत्र में हो रहे थे, उनका सम्बन्ध नाट्य रचना और उसके व्यावहारिक पक्षों से था, जिनका आधार रंगमंचीय था। इसीलिये यद्यपि सोफोक्लीज नाट्य शास्त्रीय सिद्धांतों के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नही प्राप्त कर पाया, परन्तु व्यावहारिक तथा रचनात्मक दृष्टि से उसने इस क्षेत्र में जो परिवर्तन किये, उनका महत्व न केवल उसके युग में वरन् उसके परवर्ती समय में भी असाधारण सिद्ध हुआ। यहाँ तक कि आगे चलकर अरस्तू ने दुखान्तक नाटक के क्षेत्र में जिन आदर्शो का निदर्शन किया, वह भी सोफोक्लीज के नाटकों में ही मूलतः विद्यमान थे।[२] इसके नाटकों की श्रेष्ठता इससे भी प्रकट होती है। इसीलिये यूनान के महान् क्रियात्मक नाट्य शास्त्रियों में सोफोक्लीज का स्थान है।

यूरीपाइडिज

परिचय तथा सिद्धांत :—

यूरिपाइडिज का समय ४८० से ४०६ ई० पू० तक माना जाता

१. "नाटक की परख", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १३।

२. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० ९३।

है ।[1] उसने सुकरात से शिक्षा ग्रहण की थी । यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में उसका प्रवेश १८ वर्ष की ही अवस्था में हो गया था, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में ही उसे प्रसिद्धि मिली । उसका कार्य क्षेत्र साहित्य में प्रायः नाट्य रचना तक ही सीमित रहा । कहा जाता है कि उसने लगभग सौ नाटकों की रचना की थी, यद्यपि उसके लिखे हुये केवल अठारह नाटक ही उपलब्ध हैं ।[2] नाट्य रचना में इसकी देन महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी मानी जाती है । इसने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों, विशेष रूप से ईस्किलस और सोफोक्लीज द्वारा किये गये नाट्य रचना के क्षेत्र में व्यावहारिक और क्रियात्मक परिवर्तनों को पूर्ण किया तथा इनके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय संशोधन भी किये । उदाहरण के लिये सोफोक्लीज के समान इसने भी नाटक में सहगायकों का महत्व घटा दिया । परन्तु इसने सबसे बड़ा काम यह किया कि नाटकों के कथानक तत्व में सर्वप्रथम सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओं को समावेशित किया और उन पर विचार किया । उसके इस प्रकार के मौलिक विचारों का यद्यपि उसके समकालीन कलाकारों द्वारा स्वागत नहीं हुआ, परन्तु वे नाटक से सम्बन्ध रखने वाले सैद्धांतिक विकास का आधार सिद्ध हुये ।

अरस्तू

परिचय तथा कृतियाँ :—

प्लेटो के सर्वाधिक क्षमता सम्पन्न शिष्य अरस्तू का समय ३८४ से ३२२ ई०पू० माना जाता है ।[3] उसका जन्म स्टेजीरिया (मेसिडोनिया) में हुआ था । उसके पिता मेसिडोनिया के शासक के चिकित्सक थे । अरस्तू ने आरम्भ में अपने पिता से ही चिकित्सा शास्त्र के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया । अपने पिता की मृत्यु के बाद वह एथेंस चला गया और वहीं उसने प्लेटो से उसके विद्यापीठ में शिक्षा ग्रहण की । इस समय प्लेटो की आयु साठ वर्ष और अरस्तू की आयु २० वर्ष थी ।

१. "नाटक की परख", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १४ ।
२. वही, पृ० १४ ।
3. "The Oxford Companion to English Litrature", Sir Paul Harvey, P. 34.

प्लेटो अरस्तू की असाधारण प्रतिभा से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। वह उसे अपने विद्यापीठ का सबसे बुद्धिमान विद्यार्थी मानता था। अरस्तू वहाँ लगभग २० वर्ष तक रहा। उसे यह आशा हो रही थी कि प्लेटो के पश्चात् वह स्वयं विद्यापीठ का प्रधानाचार्य बनाया जायगा, परन्तु जब ऐसा न हुआ, और प्यूसीपीप्स को वह पद दे दिया गया, तब यह हरमियास के राजदरबार में जाकर एक शिक्षक और चिकित्सक के रूप में रहने लगा। फिर ३४३ ई० पू० में जब हरमियास को क्रान्ति के फलस्वरूप शासनाधिकार से वंचित कर दिया गया, तब अरस्तू को मेसिडोनिया के राजा फिलिप ने बुला लिया और अपने पुत्र सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त कर दिया, जिसकी अवस्था उस समय १३ वर्ष की थी।

सिकन्दर के राज्याभिषेक के पश्चात् वह एथेंस लौट आया और उसने स्वयं अपने विद्यापीठ की स्थापना की तथा अध्यापन कार्य करने लगा।[१] यहाँ उसने अपने अनेक योग्य शिष्यों को शिक्षा दी तथा अपने भी अधिकांश महान् ग्रन्थों की रचना की। उसके जीवन का यही भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है। परन्तु सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसे सन्दिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा। फिर वह छाल्कीस (यूकोवा) में आकर रहने लगा और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी।

विषय क्षेत्र :—

अरस्तू के लिखे हुये समस्त ग्रन्थों की संख्या लगभग ४०० बतायी जाती है।[२] इनमें यंत्र शास्त्र, भौतिक शास्त्र, शरीर शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र, आचार शास्त्र, कला, काव्य शास्त्र, अर्थ शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र आदि विषयों का समावेश हुआ है। इन सभी शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में अरस्तू की देन अद्वितीय मानी जाती है। उसके बाद के कई सौ वर्ष तक यह बात कल्पना से परे समझी जाती थी कि किसी विषय में अरस्तू से किसी को मतभेद भी हो सकता है अथवा उसका मत अशुद्ध हो

१. **"पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० १४३।**

२. **वही पृ० १४४।**

सकता है। इससे इस बात का परिचय मिलता है कि अरस्तू की रचनाओं का उसके समय में तथा उसके परवर्ती समय में कितना अधिक मान था।

अरस्तू की ये सभी रचनायें प्रायः दो रूपों में उपलब्ध हैं। एक तो मुख्य टिप्पणियों के रूप में और दूसरे मौखिक भाषणों के रूप में। ज्ञान के विविध क्षेत्रों का आलोड़न करने वाली अरस्तू की ये रचनायें सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी विविध पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं तथा असाधारण रूप में मान्य हैं।[1]

कवि, काव्य और कला :—

अरस्तू ने कवि को सृष्टा कहा है, क्योंकि वह कथानक की सृष्टि करता है। और चूँकि वह अपना कथानक स्वयं निर्मित करता है, इसलिये इसी गुण के कारण उसने कवि के यूनानी अर्थ रचयिता (पोइट) का समर्थन किया है।[2] इसी कथा वस्तु को अरस्तू काव्य की आत्मा मानता था। सामान्यतः कवि अपनी कथावस्तु का चयन मनुष्य के जीवन से ही करता है। इस जीवन के अनेक पक्ष और क्षेत्र हैं, इसलिए काव्य में भी उतनी ही विशदता और विस्तार की सम्भावनाएँ रहती हैं। परन्तु कवि जीवन के जिस रूप को अपनी कविता में प्रस्तुत करता है, वह अनिवार्य रूप से सत्य नहीं होता। उसमें कल्पना के लिए बहुत स्थान रहता है। इसीलिये कभी-कभी वह पूर्ण रूप से कल्पित मालूम होती है, भले ही उसका चयन यथार्थ जीवन से किया गया हो।

अरस्तू दृढ़ता से यह निर्देश करता है कि कवि चूँकि अपने काव्य के लिए कथानक और उसे निर्मित करने वाले घटना जाल का चयन जीवन से करता हुआ भी उसे कल्पनात्मक आवरण में प्रस्तुत करता है, इसलिए वह उसके माध्यम से जिस सत्य का निदर्शन करता है, वह सम्भाव्य सत्य होता है, व्यावहारिक सत्य से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध अथवा आधार होना आवश्यक नहीं होता, इसलिए यह किसी भी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया जीवन और उसका प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र वास्तविक नहीं होते, और कवि को झूठा भी नहीं कहा जा सकता।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 39.
२. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १७६।

इसीलिये अरस्तू ने यह कहा था कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से अधिक गम्भीर होता है, क्योंकि मूलतः वह कवि द्वारा दर्शित और अनुभूत यथार्थ जीवन से गृहीत होता है। परन्तु अरस्तू का यह विचार था कि यदि काव्य में प्रस्तुत किया गया यह जीवन शैलागत नवीनता लिये हुये हो, तो वह अधिक आकर्षक हो सकता है। इसीलिये उसने यह निर्देश कवियों के लिये किया है कि "तुम्हें अपने वाक्यांश को पारदेशिक (फौरिन) रूप देना चाहिये, क्योंकि शैली के सम्बन्ध में मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं, जैसे वे दूसरे देश के नागरिकों से प्रभावित होते है।"[1]

काव्य के उच्च स्तरीय प्रश्नों के हल के लिये अरस्तू ने एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आश्रय लिया। उसने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य भी चित्र कला की भाँति एक कला ही है, क्योंकि उसमें अनुकृति का गुण विद्यमान है। अपने इस कथन की व्याख्या और पुष्टि अरस्तू ने कई प्रकार से की है। जैसे, वह कहता है कि चित्र कला के माध्यम से चित्रकार जीवन को प्रायः तीन दृष्टियों से प्रस्तुत करता है। एक तो, जैसा वह देखता है, उसी रूप में; दूसरे, उससे अच्छे रूप में; और तीसरे, उससे खराब रूप में। ठीक इसी प्रकार से एक कवि भी जीवन के चित्रण में इन्हीं तीन दृष्टियों का आश्रय लेता है। इस प्रकार से अरस्तू का यह विचार है कि काव्य भी प्रकृति का एक अनुकरण है, एक ऐसा अनुकरण, जिसका माध्यम भाषा है।

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त :—

इस प्रकार से अनुकरण को अरस्तू ने अनेक कलाओं की भाँति काव्य कला का भी मूल स्रोत माना है। इसलिये अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों और काव्य विषयक दृष्टिकोण को समझने के लिये उसके अनुकरण के सिद्धान्त पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अरस्तू ने समस्त कलाओं का मूल तत्व तो अनुकरण को माना ही है, साथ ही काव्य की तो आत्मा ही वह अनुकरण को बताता है। परन्तु उसके परवर्ती पाश्चात्य समीक्षकों ने उसके इस सिद्धान्त का अर्थ और व्याख्या विविध प्रकार से की है।[2]

१. **"पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री लीलाधर गुप्त, पृ० २३६।**

२. **विशेष विवरण के लिये देखिये :—**

1. "Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art" Bouchere, p. 11
2. "Aristotle on the Theory of Poetry", Murray, p.8.
3. "The Making of Literature", Scott James, p. 53.

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अरस्तू के पूर्व प्लेटो ने अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति पर बहुत विस्तार से विचार किया था और काव्य को इसी कारण हेय तथा अनुपयोगी बताया था, क्योंकि इसमें भौतिकता अनुस्यूत होती है। अरस्तू ने काव्य सहित समस्त कलाओं का मूल तत्व अनुकरण को ही मानते हुये कला के दो भेद किये हैं। प्रथम भेद के अन्तर्गत उसने ललित कलाओं को रखा है और द्वितीय के अन्तर्गत काव्य कला और उसके विविध रूपों को। अरस्तू के कला के वर्गीकरण विषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसने काव्य, नाटक तथा संगीत को अनुकरण के विविध प्रकार मान कर यह बताया है कि इनमें मुख्यतः विषयगत और अभिव्यक्तिगत पारस्परिक भिन्नताएँ विद्यमान हैं।

इस प्रकार से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अरस्तू के पूर्व प्लेटो आदि विचारकों ने भी अनुकरणात्मकता पर अपने विचार प्रकट किये थे, और अरस्तू के पूर्व इस शब्द का प्रयोग उनके द्वारा किया जा चुका था, परन्तु अरस्तू ने ही इस सिद्धान्त की सर्व प्रथम विस्तृत और सम्यक् व्याख्या की। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में उसकी यह भी विशेषता रही है कि उसने इस शब्द को एक नया अर्थ दिया, क्योंकि उसी ने इसका मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया। उसने यह निर्देशित किया कि काव्य यथार्थ का अथवा भौतिकता का अनुकरण मात्र नहीं है।

इस प्रकार से उसने अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति के विषय में अपने पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो से मत वैषम्य प्रकट किया, और बहुत वैज्ञानिक शैली में तर्क प्रस्तुत करते हुये अपने मत का मंडन किया। उसने काव्य की दर्शन तथा इतिहास आदि से तुलना करते हुये यह प्रतिपादित किया कि जहाँ तक दार्शनिकता का सम्बन्ध है, वह इतिहास की अपेक्षा काव्य में अधिक होती है तथा काव्य में दर्शन की अपेक्षा कुछ विशिष्ट तत्व विद्यमान रहते हैं, यद्यपि एक कवि और दार्शनिक की प्रेरणा समान होती है, और काव्य तथा दर्शन दोनों ही सत्य का निरूपण समान रूप से करते हैं।[१]

१. विशेष विवरण के लिये देखिये—
   1. "Western Political Thought", Bowle.
   2. "A History of Political Philosopy", Cook.

काव्य का उद्देश्य और स्वरूप :—

अरस्तू के मतानुसार काव्य का ध्येय उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति है। उसने काव्य के इन दोनों उद्देश्यों को यद्यपि पृथक्-पृथक् ही स्वीकृत किया है, परन्तु इसके साथ ही उसने यह भी स्पष्टतः निर्देश किया है कि इन दोनों में तत्वगत एकात्मकता होते हुये भी इनमें से द्वितीय को विशिष्ट माना जा सकता है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उपदेशात्मकता से अरस्तू का आशय नैतिक आदेश से है। उसने बताया है कि काव्य चूँकि सत्य का निरूपण करता है और उससे यह अपेक्षा भी की जाती है, इसलिये उसकी आवश्यकता का कारण भी यही है।

काव्य विषयक प्राचीन ग्रन्थ संसार की अनेक भाषाओं में मिलते हैं। यूनानी साहित्य की परम्परा में भी इस विषय पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। परन्तु पाश्चात्य भाषाओं में इस विषय पर लिखा गया प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अरस्तू का "पोयटिक्स" ही है। इसमें अरस्तू ने काव्य कला, काव्यांगों तथा काव्य रूपों आदि का शास्त्रीय विवेचन किया है। इसके प्रथम खण्ड में नाटक और महाकाव्य तथा द्वितीय खण्ड में प्रहसन आदि की व्याख्या है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि संसार में "पोयटिक्स" शब्द का प्रयोग भी अरस्तू के इस ग्रन्थ की रचना के साथ ही आरम्भ हुआ था।

"पोयटिक्स" के अतिरिक्त अरस्तू लिखित "रिटोरिक" नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी है, जो अलंकार शास्त्र पर एक स्वतंत्र रचना है। इसमें से "पोयटिक्स" में अरस्तू ने जिन विषयों की विवेचना की है, उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्य की परिभाषा और स्वरूप से है, यद्यपि अरस्तू ने कहीं भी स्पष्ट रूप से काव्य की कोई परिभाषा नहीं की, उसकी व्याख्या ही की है। "रिटोरिक" में प्रस्तुत किये गये अरस्तू के विचारों का सम्बन्ध गद्य और उसके स्वरूप से है। अरस्तू ने अपने इन ग्रन्थों की रचना ई० पू० चौथी शताब्दी में की थी, इसलिये उसे संसार का सर्वप्रथम काव्य शास्त्री कहा जाता है। उसने इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन करते हुये इस शास्त्र का सम्पूर्णता से विश्लेषण किया और काव्य शास्त्र के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की, जिनका प्रभाव सभी पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों पर पड़ा।

इस दृष्टि से भी अरस्तू का स्थान अपने विषय के प्रवर्तक आचार्यों में हैं। अरस्तू पर अपने गुरु प्लेटो का भी काफी प्रभाव था, यद्यपि प्लेटो के अनेक मन्तव्यों का उसने

दृढ़तापूर्वक खडन किया है। परन्तु कहीं कहीं अरस्तू के विचार उन्हीं विषयों से सम्बन्ध रखने वाले प्लेटो के विचारों के पूरक माने जाते हैं और ऐसा लगता है कि अरस्तू का उद्देश्य प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही विवेचना करना था। कुल मिलाकर, इन दोनों विचारकों का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण था।[१]

काव्य के भेद—

अरस्तू ने काव्य का वर्गीकरण करते हुये उसके तीन भेद किये हैं, दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक तथा महाकाव्य। अरस्तू ने इन विविध काव्य भेदों की पारस्परिक भिन्नता भी स्पष्ट की है। उदाहरण के लिये उसने बताया है भिन्न छन्द के कारण ही नाटक तथा महाकाव्य में वैभिन्न्य होता है। यों महाकाव्य एक विशिष्ट समाज के लिये अर्थ रखता है, जो सुसंस्कृत है और इस दृष्टि से उसे अभिनीत करने की आवश्यकता है। परन्तु नाटक निम्न कोटि के समाज के लिये भी हो सकता है। इसी कारण उसने महाकाव्य का स्थान नाटक की अपेक्षा उच्चतर प्रतिपादित किया है।

दुखान्तक नाटक—

यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम अरस्तू ने ही दुखान्तक नाटक के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन किया है। उसके विचार से दुखान्तक नाटक, "किसी गम्भीर, महत्वपूर्ण तथा विशाल कार्य का रंगस्थल पर अनुकरण है जो भाषा के माध्यम से सौन्दर्ययुक्त तथा आनन्ददायी बन कर भय और करुणा द्वारा हमारी मानवी भावनाओं की अति का परिमार्जन करता है। सम्पूर्ण कार्य से तात्पर्य ऐसे कार्य से है जिसका आदि, मध्य और अन्त पूर्ण रूप से सुगठित रहे और विशाल कार्य से तात्पर्य ऐसे ढाँचों से है जो न तो बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा।"[२]

स्वयं अरस्तू के शब्दों में दुखान्तक नाटक या "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयास से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के

१. **विशेष विवरण के लिये देखिये :—**

1. "Plato and Aristotle', Barker and
2. "Political Philosophies", Maxey.

२. **"नाटक की परख", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० २८।**

भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप मे होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविचारों का उचित विवेचन किया जाता है। "अलंकृत भाषा" से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो जाता है। विभिन्न "आभरण नाटक के अलग अलग भागों में" (पाये जाते हैं) इस उक्ति से मेरा तात्पर्य यह है कि कुछ भागों मे केवल पद्य के माध्यम का प्रयोग किया जाता है और कुछ मे गीत का भी समावेश रहता है।"[1]

दुखान्तक नाटक के तत्व:—

अरस्तू के विचार से दुखान्तक नाटक के ६ तत्व होते हैं (१) कथानक, (२) चरित्र चित्रण, (३) पद रचना, (४) विचार तत्व, (५) दृश्य विधान तथा (६) गीत।[2] इनमे से प्रथम तत्व अर्थात् कथानक को उसने दुखान्तक नाटक की आत्मा माना है।[3] क्योंकि इसी की उसमें मुख्यता रहती है। कथानक के उसने तीन प्रकार बताये हैं (१) दन्तकथा मूलक, (२) कल्पना मूलक, तथा (३) इतिहास मूलक।[4] इससे स्पष्ट है कि वह दुखान्तक नाटक के कथानक की रचना के तीन मूल स्रोत बताता है और कथानक से उसका आशय इन्हीं आधार क्षेत्रों से निःसृत उस वस्तु से होता है, जो दर्शकों पर प्रकट होती है। इसी प्रकार से चरित्र चित्रण के विषय में अरस्तू ने बताया है कि पात्रों में चार गुण होने चाहिये (१) श्रेष्ठता, (२) भाषा प्रयोग की स्वाभाविकता, (३) साधारण मानवता तथा (४) समरूपता।[5]

दुखान्तक नाटक की रचना के विषय में अरस्तू ने बताया है कि उसमें आदि, मध्य और अन्त होने चाहिये। इन तीनों के विषय में उसने स्पष्टीकरण करते हुये बताया है कि आदि वह होता है, जिसके पूर्व कुछ न हो, परन्तु जिसके पश्चात् कुछ हो,

१. "पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा," सं० डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० २९।
२. "अरस्तू का काव्यशास्त्र," अनु० डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० २०।
३. वही, पृ० १९।
४. वही, पृ० ५८-५९।
५. "नाटक की परख", डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० २८।

तथा अन्त वह होता है, जिसके पूर्व तो कुछ हो, परन्तु जिसके पश्चात् कुछ न हो।[1] उसके विचार से दुखान्तक नाटक के स्थायी भाव शोक और भय ही हैं, प्रशंसा नहीं।[2] उसने दुखान्तक नाटक की "परीक्षा भावोत्तेजना के आधार पर की। उसका यह निर्णय था कि करुण (दुखान्तक नाटक) शोक और भय इन दोनों स्थायी भावों को उत्तेजित करके इनका शोध करता है और इस शोध से प्राप्त हुआ आनन्द ही करुण का विशिष्ट रस है।"[3]

इससे भी स्पष्ट है कि वह इन दोनों रसों को बहुत महत्व देता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि अरस्तू ने "अपनी पोइटिक्स" में शोक और भय दो ही भावों का उल्लेख किया है।[4] अरस्तू ने दुखान्तक नाटक को महाकाव्य से अधिक श्रेष्ठ बताया है, "क्योंकि वह संगीत और अभिनय के अवयवों के कारण ज्यादा पेचीदा है, क्योंकि वह रंगमंच पर खेले जाने के कारण ज्यादा स्पष्ट होता है और उसके पढ़ने में भी स्पष्टता की अधिक अनुभूति होती है, क्योंकि करुण में महाकाव्य के देखते हुये अधिक ऐक्य होता है।"[5]

सुखान्तक नाटक :—

अरस्तू के विचार से सुखान्तक नाटक या "कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मान का हीन तर चित्रण, और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।"[6] इसलिये उसके विचार से सुखान्तक नाटक समाज के हेय व्यक्तियों के जीवन का अनुकरण प्रस्तुत करता है। उसने सुखान्तक नाटक का मूल भाव हास्य बताया है, हर्ष नहीं। इसका कारण यह है कि इसका विषय ही हेय जीवन का चित्रण करना होता है। और उसके पात्र भी इसी वर्ग से चुने जाते हैं। अरस्तू के शब्दों में "कामदी" (या प्रहसन) मे, निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। यहाँ "निम्न" शब्द का अर्थ बिल्कुल

१. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १०१।
२. वही, पृ० १९०।
३. वही पृ० ७१।
४. वही, पृ० ७२।
५. वही, पृ० १७४।
६. "अरस्तू का काव्य शास्त्र", डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० ११।

वही नहीं है जो "दुष्ट" का होता है क्योंकि अभिहस्य तो "कुरूप" का एक उपभाग मात्र है उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये—प्रहसन में प्रयुक्त छद्‌ममुख विरूप और भद्दा तो होता है पर क्लेश का कारण नहीं।"[1]

इस प्रकार से अरस्तू ने यह स्पष्ट रूप से निर्देशित किया है कि सुखान्तक नाटक में हास्य या व्यंग्य तो समाविष्ट होना ही चाहिये, परन्तु इसका आधार कोई क्लेशजनक उपकरण नहीं होना चाहिये। वह कहता है सुखान्तक नाटक में मनुष्य की उन दुर्बलताओं और सीमाओं का चित्रण होना चाहिये, जो मूर्खतापूर्ण हों और जिनके प्रत्यक्ष प्रदर्शन से दर्शकों के मन में हास्य की उद्‌भावना हो। किसी भी प्रकार से किसी को पीड़ा पहुँचाना सुखान्तक नाटक का उद्देश्य नहीं होना चाहिये।

दुखान्तक एवं सुखान्तक की तुलना :—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करते हुये अरस्तू ने सुखान्तक तथा दुखान्तक नाटकों के विषय में लिखा है—"त्रासदी को किन क्रमिक परिवर्तनों से गुजरना पड़ा और उनके प्रवर्तक कौन हैं यह विज्ञात है, पर कामदी का कोई इतिहास नहीं है, क्योंकि आरंभ में किसी ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। बाद में अरखौन ने किसी कवि को हास्य-मय सहगान की अनुज्ञा दे दी थी। तब तक अभिनेता स्वेच्छा से उसका निष्पादन करते थे। जब से कामदी कवियों का, इस विशिष्ट नाम से, उल्लेख मिलता है उससे बहुत पहले ही कामदी का एक निश्चित स्वरूप बन चुका था। उसमें छद्‌ममुख या प्रस्तावना का समावेश किसने किया या पात्रों की संख्या किसने बढ़ायी, यह या इस प्रकार का अन्य विवरण अज्ञात है। जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है वह मूलतः सिसिली से आया था किन्तु एथेंस के लेखकों में सबसे पहले क्रतेस ने ही द्विमात्रिक या अवगीति रूप को त्याग कर अपने विषय और कथानक का साधारणीकरण किया।"[2]

महाकाव्य :—

महाकाव्य के विषय में अरस्तू ने लिखा है—"जहाँ तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रश्न है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो और जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो,

१. "अरस्तू का काव्यशास्त्र", डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० १७-१८।
२. वही, पृ० १७।

यह स्पष्ट है कि उसके कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाट्य सिद्धांतों के अनुसार ही होना चाहिये। उसका आधार आदि मध्य अवसानयुक्त एक समग्र एवं पूर्ण कार्य होना चाहिये इस तरह अपनी अन्विति में यह काव्य रूप एक जीवन्त प्राणी सा प्रतीत होगा और अपना विशिष्ट आनन्द प्रदान करेगा। संगठन में वह ऐतिहासिक रचनाओं से भिन्न होगा क्योंकि वह एक कार्य को नहीं वरन् एक काल खंड को और उस काल खंड में एक या अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित सभी घटनाओं को, हमारे सम्मुख उपस्थित करता है, चाहे ये घटनायें परस्पर असम्बद्ध ही क्यों न हों।"[१]

महाकाव्य के प्रकार :—

इस प्रकार से महाकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुये अरस्तू ने उसकी व्याख्या की है। उसने बताया है कि यह कई अर्थों में दुखान्तक नाटक से साम्य रखता है। उसने इसका विषय क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तारयुक्त स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि दुखान्तक नाटक की तरह महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार हैं, अर्थात सरल, जटिल, नैतिक और करुण। "गीत एवं दृश्य विधान के अतिरिक्त दोनों के अंग भी समान ही हैं क्योंकि इसमें भी स्थिति विपर्यय, अभिज्ञान, एवं यातना के दृश्य आवश्यक होते हैं। साथ ही विचार तत्व एवं पदावली भी कलात्मक होनी चाहिये।"[२]

महाकाव्य के मूल तत्व :—

अरस्तू के विचार से दुखान्तक नाटक तथा महाकाव्य में पर्याप्त साम्य होते हुये भी कई विषयों में असाम्य है। उदाहरण के लिये इन दोनो में कथा के आकार और छन्द का अन्तर है। परन्तु महाकाव्य में छन्दगत एकात्मकता होनी आवश्यक है। उसने महाकाव्य के चार मूल तत्व माने हैं, जो कथानक, पात्र, विचार और भाषा हैं। महाकाव्य के विषय और क्षेत्र विस्तार के सम्बन्ध में उसने लिखा है "महाकाव्य में एक बड़ी विशिष्ट क्षमता होती है अपनी सीमाओं का विस्तार करने की और इसका कारण भी समझ में आता है। त्रासदी में हम एक ही समय में प्रभावित कार्य की अनेक धाराओं का अनुकरण नहीं कर सकते, हमें मंच पर निष्पादित कार्य और अभिनेताओं के कार्य

१. "अरस्तू का काव्य शास्त्र", डा० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी पृ० ६१।
२. वही पृ० ६२, ६३।

कलाप तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है, किन्तु महाकाव्य में, उसके समाख्यात्मक रूप के कारण, एक ही समय में घटित होने वाली घटनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं और यदि ये विषय संगत हों तो इनसे काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है। महाकाव्य को यह बड़ा लाभ है जिससे उसकी प्रभाव गरिमा की वृद्धि होती है, श्रोता का मनोरंजन होता है और विविध उपाख्यानों के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है। घटनायें यदि एकरस हों तो सामाजिक बड़ी जल्दी ऊब जाता है और रंगमंच पर त्रासदी विफल हो जाती है।"[1]

भाषण कला :—

भाषण कला पर भी अरस्तू के विचार बहुत मौलिक और विश्लेषण पूर्ण हैं, यद्यपि उसके पूर्व भी इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था। उसके पूर्ववर्ती विचारकों में प्लेटो तथा आइसॉक्रेटीज ने इस विषय पर अपने विचार स्पष्टता और विस्तार से प्रस्तुत किये थे। प्लेटो ने तो भाषण शास्त्र का इसलिये विरोध किया था, क्योंकि वह समझता था कि यह श्रोताओं को झुठलाने का साधन मात्र है, जिसमें वक्ताशब्द जाल से आवृत कर किसी सत्य को श्रोताओं के सामने इस प्रकार से प्रस्तुत करता है, जिससे उन्हें उसका किंचित भी आभास न मिल सके और भूलाने में आ जायें। आइसॉक्रेटीज ने अवश्य इसका महत्व समझा था और विश्लेषण भी किया था। परन्तु अरस्तू का भाषण शास्त्रीय विवेचन उसकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और पुष्ट है।

परिभाषा और विवेचन :—

भाषण कला की परिभाषा के विषय में अरस्तू ने लिखा है—"भाषण कला की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते है कि वह अवस्था विशेष में प्रत्यय के उपलब्ध साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। यह कार्य किसी अन्य कला का नहीं। कोई भी अन्य कला केवल अपनी विशिष्ट विषय वस्तु के सम्बन्ध में शिक्षा दे सकती है या प्रत्यय उत्पन्न कर सकती है, उदाहरणार्थ चिकित्सा शास्त्र इस सम्बन्ध में कि स्वस्थ और अवस्थ क्या है, ज्यामिति आयामों के गुणों के सम्बन्ध में, गणित अंकों के सम्बन्ध में। यही बात अन्य कलाओं और विज्ञानों के बारे में सत्य है। परन्तु भाषण कला हम अपने सामने, प्रस्तुत किसी विषय में प्रत्यय के साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति को मानते हैं। इसीलिये हम

१. "अरस्तू का काव्यशास्त्र", डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० ६३-६४

यह कह सकते हैं कि अपने प्राविधिक स्वरूप में, वह विषयों के किसी विशेष या निश्चित वर्ग से सम्बद्ध नहीं।"[1]

अरस्तू ने इस प्रकार से भाषण कला की परिभाषा बताते हुये यह प्रतिपादित किया है कि भाषण कला तर्क कला की अनुपूरक है। उसने इसके विविध अंगों, विषय वस्तु शैली, भाषा, अलंकार, प्रयोग, तथा उसके गुणों की ओर संकेत करते हुये उनका विस्तार से विवेचन किया। उसने यह भी बताया कि भाषण कला का विशेष रूप से व्यापक महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रायः जन साधारण से होता है और सभी व्यक्ति इसका थोड़ा बहुत प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार से तर्क कला भी है। इन दोनों में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध है। भाषण करते समय तर्क की आवश्यकता होती है और तर्क करते समय तर्ककर्ता को अच्छा वक्ता भी होना चाहिए।

इसलिये भाषण कला के ज्ञान की आवश्यकता सभी को होती है और सभी के द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। परन्तु प्रत्येक के द्वारा इसका प्रयोग सुचारु रूप में नहीं हो पाता। क्योंकि या तो वे इसका प्रयोग अनायास ही करने लगते हैं और या स्वाभाविक अभ्यास के कारण। उनके लिये यही दो उपाय सम्भाव्य भी होते हैं। इसीलिए उसने भाषण कला को पर्यवेक्षण की शक्ति माना है।

अरस्तू की देन और महत्व :—

अरस्तू के विचारों पर समग्रता से एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसने भी प्लेटो की ही भाँति काव्य के विविध रूपों की आदर्शात्मकता की सम्भावना पर विशेष रूप से चिन्तन किया। पूर्ववर्ती साहित्य चूँकि उसे सन्तोषजनक तथा अपनी मान्यताओं के अनुसार स्तरीय प्रतीत न होता था, अतः उसने कभी भी किसी पूर्ववर्ती कृति या कृतिकार पर पूर्णता से विचार विमर्श नहीं किया। व्यावहारिक समीक्षा के नाम पर भी उसने किसी यूनानी शास्त्रीय कवि या काव्य की समग्रता से आलोचना नहीं की और इस प्रकार से उसने समीक्षा के मूल प्रयोजन की भी उपेक्षा की। काव्य के वाह्य रूपों,

१. "पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा", सं० डॉ (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, पृ० ४३।

उनके प्रकारों विविध अंगों तथा रचना के विषय में विचार करते समय उसने अवश्य जागरूकता का परिचय दिया है।

अनेक विषयों में अरस्तू के मन्तव्य बहुत महत्व के हैं। उसने तर्क शास्त्र को विवेक के विज्ञान का रूप प्रदान किया। वह नीति शास्त्र के दैनिक जीवन में अनुगमन पर बहुत अधिक बल देता है। यद्यपि उसने प्लेटो का शिष्यत्व ग्रहण किया था, परन्तु वह उसकी भाँति साहित्य, काव्य अथवा नाटक का विरोधी नहीं था, वरन् इसके विपरीत उसने इन्हें एक प्रकार की आदर की भावना से देखा, क्योंकि वह इसके व्यापक महत्व से परिचित था। उसने काव्य शास्त्र पर अपने महान् ग्रन्थ "पोयटिक्स" की रचना की, जो अपने विषय और प्रकार का संसार का सर्वप्रथम मौलिक ग्रन्थ है। उसने काव्य में दार्शनिक तत्वों के महत्व को भी स्वीकार किया है।

अरस्तू ने "मारल फिलासफी" नाम की एक अन्य स्वतन्त्र रचना भी लिखी है, जिसमें नीति दर्शन का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। उसने बताया है कि यों तो काव्य और इतिहास दोनों में ही दार्शनिक तत्वों का समावेश होता है, परन्तु दार्शनिक काव्य अधिक मर्यादित स्वीकार किया जा सकता है। अरस्तू का यह निश्चित विचार था कि काव्य का प्रयोजन प्रकृति का अनुकरण करना और इस प्रकार से मनुष्य को आनन्द प्रदान करना है। इसी प्रकार से वह दुखान्तक के विषय में यह कहता है कि उसे किसी गम्भीर जीवन चित्र से सम्बद्ध कार्य का अनुकरण करना चाहिये। उसमें उदात्तता का गुण भी अनिवार्य रूप से समाविष्ट होना चाहिये। काव्य तथा नाटक, दोनों में ही अरस्तू ने ग्राह्य भाषा के प्रयोग को ही औचित्यपूर्ण ठहराया है।

अरस्तू ने नाटक को काव्य का एक प्रमुख रूप माना है। उसने नाटक के सुखान्तक और दुखान्तक दो भेद किये हैं। दुखान्तक का उसने महत्व अधिक बताया है और उसके विषय में यह कहा है कि यह कार्य की अनुकृति है, जो कार्य व्यापार के रूप में होती है तथा जो करुणा आदि अनुभूतियों का विरेचन करती है। उसने दुखान्तक नाटक के छः अंग माने हैं, जो कथानक, पात्र, पद रचना, विचार, दृश्य योजना तथा गीत हैं। इन सबका उसने पृथक् पृथक् विश्लेषण किया है। इसी प्रकार से उसने सुखान्तक नाटक की आवश्यकता तथा महत्व का विवेचन करते हुये यह स्पष्ट निर्देश किया है कि उसका उद्देश्य हास्य की अवतारणा होना चाहिये, किसी के भावों को क्लेश पहुँचाना किसी भी स्थिति में नहीं।

भाषण शास्त्र पर विचार करते हुए अरस्तू ने बताया है कि इसका उद्देश्य श्रोताओं को वक्ता के मत से प्रभावित करना है। श्रेष्ठ शैली के विषय में विचार करते हुये उसने दो विशेष गुणों का निर्देश किया है। ये गुण स्पष्टता और औचित्य हैं। उसने यह प्रतिपादित करते हुये कहा कि सैद्धांतिक दृष्टि से बोलने का उद्देश्य यही होता है कि बोलने वाले के मतलब को सुनने वाले साफ-साफ समझ लें और यह तभी होगा जब वह अस्पष्ट और नौचित्यपूर्ण न हो। स्पष्टता से शब्दों और वाक्यांशों का सम्बन्ध है। अतः इनकी ओर से भाषणकर्ता को विशेष रूप से सचेष्ट रहना चाहिये। यों इस उद्देश्य के लिये बोलचाल की भाषा अच्छी रहेगी, परन्तु विषयानुसार अप्रचलित शब्दों और अलंकारों के प्रयोग की छूट हो सकती है। संक्षेप मे, गद्य की शैली का अरस्तू ने दो वर्गों में विभाजन किया है। एक, अस्थिर शैली और दूसरी सुस्थिर शैली। इनमें से प्रथम में वाक्य अव्यय द्वारा सम्बद्ध होते हैं और द्वितीय में स्वयं में पूर्णता लिये हुये।

परवर्ती साहित्य समीक्षकों ने जहाँ एक ओर अरस्तू के महत्व को स्वीकार किया है, वहाँ उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि अरस्तू के विचारों में कुछ दोष भी हैं। उदाहरण के लिये अनेक विषयों पर अरस्तू ने जो विचार अपने प्रकट किये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि अरस्तू के समय जो भी क्रियात्मक साहित्य उसके सामने था, उसका क्षेत्र सीमित था। अरस्तू ने यूनानी सृजनात्मक साहित्य के अपने परिचय के आधार पर ही अपने साहित्य सिद्धांतों का निदर्शन किया है। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अरस्तू के सैद्धांतिक विचारों में एक प्रकार की प्रतिक्रियात्मकता लक्षित होती है। उसके युग में दुखान्तक नाटकों से सम्बन्ध रखने वाले नियम अपेक्षाकृत शिथिल थे।

पूर्ववर्ती युगों में लिखे गये अनेक महाकाव्य, दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक तथा इतिहास ग्रन्थ अरस्तू के सामने थे। इनका स्वरूप अध्ययन करने के पश्चात् उसने इनके सम्भाव्य और कलात्मक स्वरूप की रूपरेखा का स्पष्टीकरण किया। ऐसा करते समय उसने इन पूर्व रचित ग्रन्थों का अनेक स्थलों पर विरोध भी किया। उसने यह भी अनुमान किया कि उसके पूर्ववर्ती महाकवियों तथा नाटककारों ने कथात्मक तत्व की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था और उनकी कृतियों में इस तत्व का अभाव भी था। अरस्तू ने इस तत्व पर बहुत अधिक गौरव दिया। उसने इसे दुखान्तक नाटक की आत्मा बताया और काव्य में कथात्मकता के समावेश को अनिवार्य बताया। एक सम्भावना यह हो सकती है कि यदि अरस्तू के सामने कथात्मक तत्व से सम्यक् रूप से युक्त कुछ आदर्श

कृतियाँ होतीं, तो उसके इस विषय पर विचार ठीक वैसे न होते, जैसे कि हैं तथा हो सकता है कि इसके कारण उसके काव्य शास्त्र विषयक दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया होता।

अरस्तू ने व्यापक दृष्टिकोण से अनुकरण सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुये यह कहा कि महाकाव्य, दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक, गीति काव्य, मुरली वादन तथा वीणा वादन ये सब अनुकरण की विविध प्रणालियाँ हैं। परन्तु इन सबमें पारस्परिक भिन्नता यह है कि इन सबकी शैलियाँ पृथक्-पृथक् रूप से स्वतंत्र हैं।

उसके विचार से काव्य में नैतिकता का भी विशेष स्थान है। नीति पर उसने इसलिये भी बल दिया है क्योंकि वह यह समझता था कि शिव वही है, जो नीतिपरायण मनुष्यों के लिए शिव हो। अरस्तू काव्य को नैतिकता के प्रचार का माध्यम मानता था। परन्तु यह कार्य अव्यक्त और अप्रत्यक्ष रूप में ही होता है। अपने समकालीन आलोचको की इस प्रवृत्ति का उसने विरोध किया था, जो अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन महाकवियों तथा नाटककारों की कृतियों में अनैतिक स्थलों को अलग निकाल कर उन पर अवांछित रूप से टीका टिप्पणी करते थे। अरस्तू ने बताया कि काव्य में अनैतिक तत्वों का समावेश भी उस स्थिति में मर्यादित कहा जा सकता है, जब वे किसी उपयोगी सन्दर्भ में लिखे गये हों। सिद्धांततः वह महाकाव्य के लिए नैतिक वस्तु को ही अधिक उपयुक्त समझता था।

इस प्रकार से अरस्तू के विविध विषयक विचारों के परिचय के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती सभी विचारकों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय और वैज्ञानिक था। उसने जिस विषय पर जो कुछ भी कहा, उसकी तर्क के द्वारा सैद्धांतिक रूप से तो पुष्टि की ही, व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी उसका पूर्ण रूप से मंडन किया और उसकी उपयोगिता सिद्ध की।

आधारतः अरस्तू के सामने प्लेटो जैसे महान् विचारक के विचार उपलब्ध थे और उसके लिये इतना ही अभीष्ट और पर्याप्त था कि वह उनकी मीमांसा कर दे। सामान्यतः अरस्तू ने यही किया भी है। उसने जो कुछ भी कहा है, एक दृष्टिकोण से वह सब का सब प्लेटो के उन्हीं विषयों पर आधारित वक्तव्यों के सन्दर्भ में है। उसने प्लेटो के वक्तव्यों का परीक्षण किया, उनसे अनेक स्थलों पर अपनी असहमति प्रकट की और इसके पश्चात् स्वयं अपना मत प्रकट करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इससे यह

सिद्ध होता है कि अरस्तू के विचार प्रत्येक क्षत्र मे व्यावहारिक हैं . यहाँ तक कि प्लेटो के आदर्श राज्य विषयक विचारों और धारणाओं को भी अरस्तू ने पूरित करके पूर्ण और व्यावहारिक रूप प्रदान किया ।[1]

अरस्तू के इन विचारों और सिद्धांतों ने पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी ला दी । उसके पश्चात् जो भी पाश्चात्य विचारक हुये, उन सब के लिए अरस्तू के मन्तव्यों ने एक प्रबल प्रेरणा का कार्य किया । सूत्र रूप में उन्हें प्रत्येक विषय का निर्देशन अरस्तू के साहित्य में मिला और उन पर कार्य करने के लिए एक विस्तृत क्षेत्र दिखाई दिया । यही कारण है कि आगे आने वाली शताब्दियों तक यूरोप के अनेक देशों मे अरस्तू के विचार अकाट्य और सर्वमान्य रूप से व्याप्त रहे और यह कल्पना भी किसी ने नहीं की कि किसी भी ऐसे क्षेत्र में कुछ और मौलिक या नवीन कह सकने की सम्भावना रह गयी है, जिसमें अरस्तू कुछ कह चुका हो । यह उसके असाधारण महत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है ।

थियोफ्रैस्टस

परिचय और कृतियाँ :—

थियोफ्रैस्टस का समय तीसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है ।[2] यह अरस्तू के प्रधान शिष्यों में प्रमुख था । मुख्यतः वह दार्शनिक और साहित्य शास्त्री था । उसके विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है । मनुष्य की विफलताओं और उनके कारणों का विश्लेषण करने वाली उसकी रचनाएँ असाधारण महत्व की सिद्ध हुईं । अरस्तू की मृत्यु के बाद वह उसके विचारों का मुख्य प्रतिपादक हुआ तथा उसी ने उसके विचारों का प्रतिनिधत्व किया । परवर्ती युग में अँग्रेजी निबन्ध के विकास पर उसके विचारों का पर्याप्त प्रभाव दिखायी पड़ता है । उसकी सर्व प्रसिद्ध कृति "डी इण्टर प्रिटेशन" है । इस कृति का विषयगत सम्बन्ध प्रायः साहित्य शास्त्र से ही अधिक है । जहाँ तक व्यावहारिक समीक्षा का सम्बन्ध है, यह उससे किसी प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नहीं हैं ।

१. विशेष विवरण के लिए देखिये—"Plato and Artistotle," Barker.
2. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey p. 780.

उसने शैली का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है (१) अलंकृत, (२) सामान्य तथा (३) मध्यम। उसके विचारों का परिचय उसके समकालीन लेखकों की कृतियों तथा वक्तव्यों से ही अधिकतर उपलब्ध होता है। कुल मिलाकर, उसका सबसे बडा महत्व अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने में ही है तथा उनसे सम्बद्ध कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों का विश्लेषण करने में भी। उसे प्रचीन युग के चार महान् विचारकों में एक माना जाता है।[१]

भाषण कला का विवेचन :—

थियोफ्रेस्टस ने अरस्तू के भाषण कला के विवेचन की परम्परा का प्रसार किया। लेखन शैली के विषय में उसकी मान्यतायें आगे चलकर अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुईं। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी के अनेक अँग्रेज गद्य लेखकों ने उसके बताये हुये सिद्धान्तों का अनुगमन किया।[१] थियोफ्रेस्टस ने भाषण कला तथा गद्य शैली के लिये शब्द चयन, उचित प्रयोग तथा अलंकार प्रयोग को आवश्यक बतलाया, परन्तु उन्होने जो सबसे मार्के का सिद्धान्त बनाया वह विषय के निरूपण से सम्बन्धित था। उनका निश्चित सिद्धान्त सा था कि श्रेष्ठ लेखक वही बन सकेगा जो संयमित रूप से विषय निरूपण करेगा। यदि लेखक अत्यन्त विस्तार पूर्वक विषय के सभी अंग स्पष्ट कर देता है और पाठक की कल्पना के लिये कुछ भी नहीं छोड़ता, तो उसकी रचना श्रेष्ठ न होगी। कला अपना अपूर्व आकर्षण तभी दिखलायेगी जब लेखक बात कहते-कहते अपनी लेखनी रोक लेगा और संकेत मात्र देगा, उसकी कला उतनी ही उन्नत रहेगी। इसका कारण यह है कि पाठक अथवा श्रोतावर्ग यह जानकर प्रसन्न हो जाता है कि लेखक ने उसको बुद्धिमाम जानकर उसकी कल्पना के लिए भी कुछ चीजें छोड़ दी। ऐसा विस्तृत वर्णन, जो संकेतहीन होगा, पाठकों को आनन्दित नहीं कर सकेगा, विस्तृत अथवा असंयत वर्णन शैली पाठकवर्ग को बुद्धिहीन समझ कर अपना विस्तार करेगी। संयत शैली वर्णन की प्राण स्वरूपा है। इस सिद्धान्त के निरूपण से समालोचक का मनोवैज्ञानिक ज्ञान, सुबुद्धि तथा कला के श्रेष्ठ स्तरों की पहचान विदित होती है।[२]

१. "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ एस० पी० खत्री, पृ० २५।

२. वही पृ० ७१।

लोंजाइनस

परिचय तथा कृतियाँ :—

साहित्य शास्त्रीय महत्व की दृष्टि से यह अरस्तू के बाद यूनान का दूसरा महान् विचारक था। इसका समय तीसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है।[१] अपने युग के महानतम समीक्षकों में इसका स्थान था। जार्ज सेंट्सबरी ने इसे अरस्तू के समकक्ष माना है।[२] यद्यपि इन दोनों में कुछ पारस्परिक भिन्नता भी थी। इसका लिखा हुआ ग्रन्थ "आन दी सब्लाइम" एक स्थायी महत्व की रचना है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समस्त प्राचीन यूनानी ग्रन्थों से दृष्टिकोणगत भिन्नता और इस दृष्टि से पर्याप्त नवीनता मिलती है। रचना काल के लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद सन् १५५४ ई० में इसका सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ।[३]

कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि यह ग्रन्थ लेखक की प्रामाणिक रचना नही है। यह भी विवाद है कि इस नाम के एकाधिक व्यक्ति थे।[४] कुछ भी हो, लोंजाइनस की स्थापनायें कुछ इस प्रकार की हैं, जिन्हें साहित्यालोचन के क्षेत्र में मूल रूप में ग्रहण किया जा सकता है और जिनका महत्व आज भी निर्विवाद है।

साहित्य में उदात्तता का विवेचन :—

लोंजाइनस के ग्रन्थ "आन दि सब्लाइम" में उदात्तता का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसने कला और साहित्य विषयक कुछ अन्य मूल सिद्धान्तों का भी विश्लेषण इसमें किया है। उसने उदात्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि उदात्तता "अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है।"[५] उसने केवल उसी साहित्य को श्रेष्ठ बताया है, जो सदैव सबके लिये समान रूप से सुखदायक हो।

1. "The Oxford Companion to English Litrature", Sir Paul Harvey, P. 469.
2. "A History of English Criticism", George Saintsbury, p. 10.
३. "काव्य में उदात्त तत्व", अनु० डॉ० नगेन्द्र तथा श्री नेमिचन्द्र जैन, पृ० ७।
४. वही, पृ० ७-८।
५. वही, पृ० ९।

उदात्तता के विषय में वह कहता है कि केवल अभिव्यक्ति या भाषा के गुण के फलस्वरूप ही संसार के अनेक महान् साहित्य स्रष्टा अमर हुए हैं। वह उदात्तता को ही साहित्य की परख की कसौटी बताता है, क्योंकि उसके विचार से "मनुष्य की श्रेष्ठता उस ऊंचाई से जानी जाती है, जिस तक वह चढ़ जाता है और उस नीचाई से नहीं जिस तक गिर जाता है।"[१] इसीलिये वह भाषा अथवा अभिव्यक्ति की विशिष्टता और श्रेष्ठता का सदैव समर्थन करता है और सुन्दर शब्दों को उत्कृष्ट भावों और विचारों का प्रकाश बताता है, जो मानसिक ज्योति द्वारा उपलब्ध होते हैं।

उदात्तता की सम्भावनाएं :—

उदात्तता को भाषा और अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता के रूप में फलीभूत होने का मन्तव्य देने के पश्चात लोंजाइनस इस समस्या पर विचार करता है कि साहित्य में इस उदात्तता के समावेश की सम्भावनाएँ किस प्रकार से दिखाई देती हैं। इस सम्बन्ध मे वह कहता है कि साहित्य में उदात्तता का आविर्भाव पाँच तत्वों से आता है। "पहला तत्व है महान् और ऊंचे विचारों को सोचने और ग्रहण करने की शक्ति जो नैसर्गिक प्रतिभा का फल होती है। अत्युदात्तत्व का स्वर महानात्मा से ही निकलता है। महान् शब्द अनिवार्यतः महान् प्रतिभा से ही उत्पन्न होते हैं। दूसरा तत्व है प्रबल और द्रुतक्रम मनोवेग जिसकी क्षमता भी प्रकृति देती है। तीसरा तत्व है शब्दालंकार और अर्थालंकार का उपयुक्त प्रयोग। चौथा तत्व है पदरचना अथवा शैली। पाँचवाँ तत्व है चमत्कार प्रणयन। इन सब गुणों से सम्पन्न अत्युदात्त्व पहचान यह है कि इसने सहृदय की आत्मा तत्व के उद्रेक से आनन्दमय हो उत्कृष्ट होती है। वही महान् साहित्य है जो नये मनन के लिए उत्तेजना देता है, जिसके प्रभाव को रोकना असम्भव हो जाता है, जिस की स्मृति शक्तिवान और अमिट होती है। यह सर्वथा सत्य है कि अत्युदात्त्व के वही सुन्दर और सच्चे प्रभाव हैं जो सब कालों में और सब देशों में सहृदयों को आनन्द देते हैं। अत्यानन्दमय प्रभावोत्पादकता ही लोंजायनस का साहित्यिक गुण जाँचने का मानदण्ड है।"[२]

१. "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १३४।
२. वही, पृ० १३२-१३३।

काव्य और कला :—

परम्परागत अर्थ के अनुसार कला का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना और उपदेशात्मकता की वृत्ति स्वीकार किया गया था। लोंजाइनस ने इसमें से प्रथम पर विशेष रूप से गौरव दिया, क्योंकि उसके विचार से आनन्दानुभूति को कला की एक शक्ति के रूप में मान्य किया जा सकता था। इस दृष्टिकोण से भी लोंजाइनस की समीक्षा का प्रयोजन श्रेष्ठता की खोज करना स्वीकार किया जा सकना है। यही कारण है कि उसने कला या काव्य में श्रेष्ठता पर बल दिया है।

सम्भवत: वह इसी कारण से ही काव्य में रूमानी तत्वों के अधिकता से समावेश का भी विरोधी था, क्योंकि उसे यह आशंका थी कि इससे उसकी उच्चता में अन्तर आ सकता है। परन्तु काव्य में कल्पना के योग का उसने विरोध नहीं किया है। उसका विचार है कि कल्पना कवि की प्रतिभा की निर्माणकर्त्री होती है। कल्पना का समावेश उसने काव्य में उन्हीं स्थलों पर औचित्यपूर्ण बताया है, जहाँ पर कवि अपने इच्छित दृश्य को इस प्रकार से चित्रित करे कि पाठकगण भी उसको देखने में समर्थ हो सकें। वास्तव में कल्पना ही वह वस्तु होती है, जिसके माध्यम से कवि के अनुभव का अनुभव पाठक करता है और कवि की अपनी मन: स्थिति में पाठक विचरण कर सकता है।

साहित्य सिद्धांत :—

लोंजाइनस ने स्पष्ट और दृढ़ रूप में यह प्रतिपादित किया गया है कि साहित्य की उत्कृष्टता की एकमात्र कसौटी सर्वयुगीन आनन्ददायी होना है। इसीलिये वह एक समीक्षक के लिये यह निर्देशित करता है कि उसका कार्य श्रेष्ठ साहित्य का रसास्वादन तथा परीक्षण करना है। काव्य में श्रेष्ठता की सम्भावनायें तभी अधिक होंगी, जब कवि के विचार उच्च हों, क्योंकि अन्तत: उच्च विचार ही श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं।

उसने लयगत अनुरूपता पर भी बहुत बल दिया है। उसने यह भी प्रतिपादित किया है कि एक कलाकार अथवा साहित्यकार के लिये परम्परानुगामी होना कई अर्थों में लाभप्रद सिद्ध होता है। इसीलिये उसे रूढ़िगत काव्य नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। लोंजाइनस के इन विचारों के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि उसके साहित्य सिद्धांत विविध विषयक विभिन्न ग्रन्थों के उसके अध्ययन पर आधारित हैं। उनमें परम्परागत तथा प्रचलित नियमों की उपेक्षा की गई है।

उदात्तता के तत्त्व :—

साहित्य और काव्य उदात्तता के तत्वों की चर्चा करते हुये लोंजाइनस कहता है कि इनका मान भाषा ही है। उसकी यह धारणा है कि किसी कृति की भाषा जितनी गरिमायुक्त होगी, वह कृति उतनी ही प्रभावशाली बन पड़ेगी। वह भाषा की शक्ति को अपरिमेय मानता है। वह कहता है कि साहित्य का पारायण करने पर पाठक को जो आनन्दानुभूति होती है, वह भाषा के गुणात्मक होने के कारण ही, इस प्रकार से लोंजाइनस अभिव्यक्ति की ही उत्कृष्टता का पर्याय उदात्तता को मानता है। इसीलिये उसने उदात्त शैली के प्रमुख तत्वों का विस्तार से विश्लेषण किया है। यद्यपि उसने इस उदात्तता के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उसके द्वारा किये विस्तृत विवेचन से वह स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

लोंजाइनस की उदात्तता विषयक धारणा को भली भाँति समझने के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसने सर्वप्रथम उदात्तता को महान् आत्मा की प्रतिध्वनि बताते हुये पाँच ऐसे तत्वों या सूत्रों की चर्चा की है, जो उसके उद्भव का आधार हैं और जिनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। इन्हें उदात्तता के अन्तर्गत तत्व कहा जा सकता है। फिर उसने तीन और तत्वों की ओर संकेत किया है। ये अलंकार योजना, श्रेष्ठ भाषा तथा रचना विधान हैं। इन्हें उदात्तता के बहिरंग तत्व कहा जा सकता है। संक्षेप में, इन्हीं से मिलकर लोंजाइनस की उदात्तता विषयक धारणा का स्वरूप निर्धारण हुआ है।

समीक्षक की योग्यतायें :—

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करते हुये लोंजाइनस ने एक समीक्षक के लिये कुछ योग्यतायें निर्धारित की हैं। वह कहता है कि एक समीक्षक को समीक्षा का कार्य करने के लिये कला, दर्शन, सौंदर्य शास्त्र तथा समालोचना का सम्पूर्ण अध्ययन, अनुभव और ज्ञान होना चाहिये। ऐसा होने पर उसमें आत्म विश्वास जगेगा और वह उन मानदंडों का अपने विवेक से निर्धारण कर सकेगा, जिनकी इस कार्य में अपेक्षा है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया है कि साहित्य की उत्कृष्ठता की कसौटी सर्वयुगीन रूप से आनन्ददायी होना है। प्रसंग रूप में उसने यह भी बताया है कि काव्य में कल्पना का योग कवि के समक्ष उसके इच्छित दृश्य का चित्रण करने के लिये होना चाहिये, ताकि वह उस दृश्य को पाठकों को भी दिखाने में समर्थ हो सके।

ऊपर यूनान के महान् साहित्य विचारकों की ऐतिहासिक परम्परा का विवरण उपस्थित किया गया है। कुछ नाम इसमें आने से इस कारण रह गये हैं, क्योंकि या तो उनका विशेष सम्बन्ध साहित्य, काव्य अथवा समीक्षा आदि से प्रत्यक्षतः था नहीं और या उनके विषय में किसी भी प्रकार के प्रामाणिक विवरण का पूर्ण अभाव है। कुछ भी हो, ऊपर जिस अन्तिम विचारक का उल्लेख किया गया है, वह लोंजाइनस है और उसका नाम इस सुदीर्घ परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

परन्तु उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि उसके बाद इस महान् परम्परा में योग देने वाले अन्य विचारक हुए ही नहीं। वास्तव में जिस प्रकार से आइसाक्रेटीज आदि विचारकों का ऊपर लोंजाइनस के पूर्ववर्ती विचारकों में संकेतित कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है, उसी प्रकार से लाइबेनियस, थिमिस्टेयस, जूलियेन, एपोस्टेट तथा फोटियस आदि विचारकों का उसके परवर्ती काल में भी उन्हीं कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि इन लोगों का अपना-अपना ऐतिहासिक महत्व है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि लोंजाइनस इस परम्परा का अन्तिम महान् विचारक है।

उसके पश्चात् यूनानी साहित्य चिन्तन का इस परम्परा का अन्त हो गया और योरप मे साहित्य चिन्तन का प्रमुख केन्द्र यूनान में न रहा। इसके पश्चात् उसका स्थानान्तरण हो गया और अन्य स्थानों में उसका समुचित विकास और उन्नति हुई। इस इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि लोंजाइनस के बाद यूनान कला और साहित्य के चिन्तन का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र न रहा और न ही यूनान ने सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और लोंजाइनस जैसे महान् तत्व-वेत्ताओं को ही जन्म दिया, परन्तु संसार की प्रत्येक समृद्ध भाषा ने इन महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित और मान्य सिद्धान्तों को ही प्रेरणा स्वरूप ग्रहण किया और उनसे ही वाङ्मय के इन अंगों ने प्रशस्ति भी पायी।

प्राचीन रोमीय विचारक और उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण

प्राचीन यूरोपीय समीक्षा शास्त्र की परम्पराओं के विकास को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानी वैचारिक परम्परा के ह्रास

उदात्तता के तत्व :—

साहित्य और काव्य उदात्तता के तत्वों की चर्चा करते हुये लोंजाइनस कहता है कि इनका मान भाषा ही है। उसकी यह धारणा है कि किसी कृति की भाषा जितनी गरिमायुक्त होगी, वह कृति उतनी ही प्रभावशाली बन पड़ेगी। वह भाषा की शक्ति को अपरिमेय मानता है। वह कहता है कि साहित्य का पारायण करने पर पाठक को जो आनन्दानुभूति होती है, वह भाषा के गुणात्मक होने के कारण ही, इस प्रकार से लोंजाइनस अभिव्यक्ति की ही उत्कृष्टता का पर्याय उदात्तता को मानता है। इसीलिये उसने उदात्त शैली के प्रमुख तत्वों का विस्तार से विश्लेषण किया है। यद्यपि उसने इस उदात्तता के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उसके द्वारा किये विस्तृत विवेचन से वह स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

लोंजाइनस की उदात्तता विषयक धारणा को भली भाँति समझने के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसने सर्वप्रथम उदात्तता को महान् आत्मा की प्रतिध्वनि बताते हुये पाँच ऐसे तत्वों या सूत्रों की चर्चा की है, जो उसके उद्भव का आधार हैं और जिनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। इन्हें उदात्तता के अन्तर्गत तत्व कहा जा सकता है। फिर उसने तीन और तत्वों की ओर संकेत किया है। ये अलंकार योजना, श्रेष्ठ भाषा तथा रचना विधान हैं। इन्हें उदात्तता के बहिरंग तत्व कहा जा सकता है। संक्षेप में, इन्हीं से मिलकर लोंजाइनस की उदात्तता विषयक धारणा का स्वरूप निर्धारण हुआ है।

समीक्षक की योग्यतायें :—

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करते हुये लोंजाइनस ने एक समीक्षक के लिये कुछ योग्यतायें निर्धारित की हैं। वह कहता है कि एक समीक्षक को समीक्षा का कार्य करने के लिये कला, दर्शन, सौंदर्य शास्त्र तथा समालोचना का सम्पूर्ण अध्ययन, अनुभव और ज्ञान होना चाहिये। ऐसा होने पर उसमें आत्म विश्वास जगेगा और वह उन मानदंडों का अपने विवेक से निर्धारण कर सकेगा, जिनकी इस कार्य मे अपेक्षा है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया है कि साहित्य की उत्कृष्ठता की कसौटी सर्वयुगीन रूप से आनन्ददायी होना है। प्रसंग रूप में उसने यह भी बताया है कि काव्य में कल्पना का योग कवि के समक्ष उसके इच्छित दृश्य का चित्रण करने के लिये होना चाहिये, ताकि वह उस दृश्य को पाठकों को भी दिखाने में समर्थ हो सके।

ऊपर यूनान के महान् साहित्य विचारकों की ऐतिहासिक परम्परा का विवरण उपस्थित किया गया है। कुछ नाम इसमें आने से इस कारण रह गये है, क्योंकि या तो उनका विशेष सम्बन्ध साहित्य, काव्य अथवा समीक्षा आदि से प्रत्यक्षत: था नहीं और या उनके विषय में किसी भी प्रकार के प्रामाणिक विवरण का पूर्ण अभाव है। कुछ भी हो, ऊपर जिस अन्तिम विचारक का उल्लेख किया गया है, वह लोंजाइनस है और उसका नाम इस सुदीर्घ परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

परन्तु उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि उसके बाद इस महान् परम्परा में योग देने वाले अन्य विचारक हुए ही नहीं। वास्तव में जिस प्रकार से आइसाक्रेटीज आदि विचारकों का ऊपर लोंजाइनस के पूर्ववर्ती विचारकों में संकेतित कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है, उसी प्रकार से लाइबेनियस, थिमिस्टेयस, जूलियेन, एपोस्टेट तथा फोटियस आदि विचारकों का उसके परवर्ती काल में भी उन्हीं कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि इन लोगों का अपना-अपना ऐतिहासिक महत्व है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि लोंजाइनस इस परम्परा का अन्तिम महान् विचारक है।

उसके पश्चात् यूनानी साहित्य चिन्तन का इस परम्परा का अन्त हो गया और योरप में साहित्य चिन्तन का प्रमुख केन्द्र यूनान मे न रहा। इसके पश्चात् उसका स्थानान्तरण हो गया और अन्य स्थानों में उसका समुचित विकास और उन्नति हुई। इस इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि लोंजाइनस के बाद यूनान कला और साहित्य के चिन्तन का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र न रहा और न ही यूनान ने सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और लोंजाइनस जैसे महान् तत्व-वेत्ताओं को ही जन्म दिया, परन्तु संसार की प्रत्येक समृद्ध भाषा ने इन महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित और मान्य सिद्धान्तों को ही प्रेरणा स्वरूप ग्रहण किया और उनसे ही वाङ्मय के इन अंगों ने प्रशस्ति भी पायी।

प्राचीन रोमीय विचारक और उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण

प्राचीन यूरोपीय समीक्षा शास्त्र की परम्पराओं के विकास को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानी वैचारिक परम्परा के ह्रास

के पश्चात् यूरोप में साहित्य और कला का चिन्तन केन्द्र यूनान से हट कर रोम पहुँच गया। रोम में ही लैटिन समीक्षा स्वतंत्र रूप में बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी अंशत: यूनानी परम्परा के अनुकरण पर ही विकसित हुई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका प्रारम्भ होने का समय लगभग दूसरी शताब्दी है।

प्रारम्भ में रोमीय साहित्य चिन्तन की इस परम्परा का विकास स्वतंत्र रूप में न हो सका, क्योंकि उस पर यूनानी जीवन और साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक रोमीय साहित्य शास्त्र प्राय: यूनानी साहित्य शास्त्र पर ही पूर्णत: आधारित था। यहाँ तक कि इस प्रारम्भिक काल में अनेक यूनानी भाषा के शब्दों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया और आगे भी होता रहा।

इस प्रकार के वातावरण में कला, दर्शन, साहित्य काव्य, नीति शास्त्र तथा विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो भी नवीन विचार धारा रोम में प्रवर्तित हुई, वह मूलत: यूनानी आदर्श का ही आधार लेकर पनपी। यही कारण है कि उसमें मौलिकता कम और अनुकरणात्मकता अधिक मिलती है। यों जहाँ तक लैटिन समीक्षा के स्वतंत्र रूप में विकास का सम्बन्ध है, उसके विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यूनानी प्रभाव के आगमन के पूर्व ही उसकी आधार भूमि तैयार हो चुकी थी। यूनानी प्रभाव के कारण उसके विकास की गति अवश्य तीव्रतर हो गयी।[1]

१. "रोम के आलोचकों को तुलना का लाभ था, क्योंकि उनके सामने यूनानी साहित्य उपस्थित था। इसी लाभ के परिणाम स्वरूप वे यूनान की आलोचना से अधिक संयुक्तिक आलोचना छोड़ सकते थे। परन्तु रोम की प्रतिमा व्यवहार कौशल में चाहे जितनी उत्कृष्ट हो, तत्वत: शौर्यहीन थी और यूनानी प्रतिभा की अपेक्षा अपने को तुच्छ समझती थी। रोम ग्रीस को साहित्यिक बातों में अपना शिक्षक और पथप्रदर्शक समझता रहा। और जिस उपयोगिता के दुराग्रह ने यूनानी आलोचना को पथभ्रष्ट किया उसी दुराग्रह ने रोम के आलोचकों को और भी पथभ्रष्ट किया।"
"पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १३३।

सिसरो

परिचय तथा कृतियाँ :—

रोम की साहित्य चिन्तन की परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर जो सर्वप्रथम नाम उल्लेखनीय प्रतीत होता है, वह सिसरो का है। उसका समय ई० पू० १०६ माना जाता है। उसने जूलियस सीजर का विरोध और रोम के गणराज्य का समर्थन किया था। सीजर ने उसे किसी प्रकार का कोई दंड नहीं दिया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद सिसरो ने जब अपने भाषणों में मार्क एन्टोनी का भी विरोध किया तो उसका वध ई० पू० ४३ में कर दिया गया।[1]

सिसरो पर पर प्लेटो का बहुत प्रभाव पड़ा था। यों भी समकालीन रोमीय विचारधारा पर यूनानी पूर्व चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव था। इसलिये सिसरो ने अपनी पुस्तकों का नाम भी प्लेटो के ग्रन्थों के आधार पर ही रखा। "डि रिपब्लिका" तथा "डि लेजिबस" उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, जिनमें उसने प्लेटो की ही भाँति सम्वाद शैली मे अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। उसका नाम रोम के प्रारम्भिक साहित्य विचारकों में इसलिये भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसने लैटिन भाषा में वैज्ञानिक शब्दावली तैयार की, जो समीक्षा से सम्बन्ध रखती थी। साहित्य तथा राजनीति के अतिरिक्त उसने भाषण कला आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। इस दृष्टिकोण से उसकी उल्लेखनीय कृतियों में "डि आरेटर" तथा "डि सैनिक्ट्यूट" आदि हैं।

भाषण शास्त्र :—

सिसरो का विचार क्षेत्र मुख्यतः भाषण शास्त्र से सम्बन्धित ही था। इस विषय पर वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उन विचारकों में से एक था, जिन्होंने भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता पर बल दिया। भाषण कला तथा साहित्य कला में वह भाषण कला को ही प्राथमिकता प्रदान करता था। उसके विचार से साहित्य या काव्य का महत्व वहीं तक है, जहाँ तक वे भाषण कला के लिये सहायक अथवा लाभप्रद हो,

१. "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल वर्मा, पृ० २१२, २१३।

स्वतंत्र रूप से वह उन्हें अधिक महत्व नहीं देता था। उसका विचार था कि युगीन परिस्थितियों को देखते हुये रोम में भाषण कला ही अधिक उपयोगी ठहरती थी।

उसके समय तक रोम में अरस्तू तथा आइसाक्रेटीज आदि यूनानी भाषा शास्त्रियों के द्वारा प्रवर्तित और प्रतिपादित भाषण कला विषयक सिद्धांतों का ही मुख्यतः प्रचार था। सिसरो ने सबसे पहले रोम में भाषण शास्त्र के इन परम्परागत यूनानी नियमों और सिद्धांतों में परिवर्तन करके उन्हें युग जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उसने भाषण शास्त्र के विकास को एक युगीन आवश्यकता बताया और इस प्रकार से उसकी तात्कालिक उपयोगिता का निदर्शन किया।

परिभाषा :—

सिसरो का विचार था कि भाषण शास्त्र एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता का परिचय देने में समर्थ होता है। साथ ही वह मानवीय श्रेष्ठता का द्योतक और मानवीय सभ्यता का प्रचारक भी होता है। इसलिये भाषणकर्ता को इस माध्यम का गुरुत्व समझकर उसका निर्वाह करना चाहिये। सर्वप्रथम भाषणकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि उसे अपने विषय का सम्यक् ज्ञान हो। यदि उसे प्रासंगिक रूप से अपने मूल विषय के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों की चर्चा भी करनी हो, तो उसके लिये उन विषयों का भी व्यावहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। प्रभावशाली शब्दावली से श्रोतागण को चकित अवश्य किया जा सकता है, किन्तु यदि भाषणकर्त्ता का यह उद्देश्य है कि श्रोतावर्ग उसकी बात से प्रभावित हो, तो उसे निर्धारित नियमों का अनिवार्यतः पालन करना होगा।

विषय विवेचन :—

सिसरो भाषण के विषय विवेचन के सन्दर्भ में यह कहता है कि भाषण कर्ता को यथासम्भव आदर्श विषयों का ही चयन करना चाहिये। यों उसने मूलतः भाषण कला के तीन आदर्श माने हैं—(१) मूल विषय तथा प्रासंगिक विषयों का आधिकारिक ज्ञान, (२) श्रोताओं को विषय विवेचन तथा भाषा शैली से प्रभावित करना तथा (३) श्रोताओं को निरन्तर प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना। इन तीनों को भाषणकर्ता को स्वयं को अनुशासित करके प्रस्तुत करना चाहिये।

इस अनुशासन की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए उसने बताया है कि भाषणकर्ता अपनी प्राकृतिक प्रतिभा का उपयोग, भाषण कला का सम्यक् सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक

अध्ययन तथा अभ्यास करना चाहिये । उसने आलंकारिक भाषा के प्रयोग का अनुमोदन किया, क्योंकि उसके द्वारा श्रोतावर्ग के प्रभावित होने की सम्भावनायें अधिक हैं । उसने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि अन्ततः श्रोतागण ही भाषणकर्ता की श्रेष्ठता के निर्णायक होंगे ।

काव्य के तत्व :—

सिसरो के विचार से उत्कृष्ट काव्य वही होगा, जिसमें युगीन आकर्षण के साथ ही साथ स्थायित्व भी हो । इस कोटि के काव्य की सम्भावनायें तभी हो सकती हैं, जब कवि अपने कार्य के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार हो । उसने काव्य को एक प्रकार की दैवी प्रेरणा का परिणाम माना है । उसमें चूँकि कल्पना और यथार्थ दोनों का योग रहता है, अतः उसमें मनुष्य को प्रभावित करने की पर्याप्त क्षमता विद्यमान रहती है । उसने भाषा के माध्यम की गुरुता की ओर संकेत करते हुये बताया है कि एक समर्थ कवि अपनी भाषा तथा उसके रचना तत्वों की ओर कभी भी उपेक्षा भाव नहीं दिखायेगा क्योंकि उसकी भावनायें इसी के माध्यम से अभिव्यक्ति पायेंगी । कुल मिलाकर, कवि को काव्य की शुद्धता के विषय में निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये । उच्च कोटि के काव्य के लिये उसने उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति दोनों तत्वों को आवश्यक बताया है, यद्यपि इन दोनों में वह प्रथम तत्व को अधिक उपादेय बताता है ।

समीक्षात्मक विचार :—

रोमीय साहित्य चिन्तन की परम्परा के प्रवर्तन के इस युग में व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में कुछ समीक्षक निर्णयात्मक समीक्षा शैली को स्वीकार कर चुके थे । इस युग में इस शैली के विकास का एक कारण इसीलिये यह भी रहा है । रोमीय समीक्षकों ने इससे पूर्व तुलनात्मक समीक्षा का व्यवहार भी किया था, जिसके उस समय तक कोई निर्धारित मानदंड न थे । सिसरो ने इस शैली को उसके स्वतंत्र रूप में स्वीकार नहीं किया । उसका यह विचार था कि तुलनात्मक शैली वस्तुतः निर्णायक शैली का ही एक अंग है । तुलनात्मक शैली के स्वतंत्र महत्व को उसने इस कारण से भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसका विचार था कि प्रत्येक युग में परिस्थितिगत वैषम्य के कारण साहित्यकार की प्रेरणा तथा लक्ष्य में भिन्नता होती है । इसलिये उन्हें तीसरे किसी युग में युगीन कसौटी पर कसना अधिक युक्तिसंगत नहीं लगता । इसलिये उसने निर्णयात्मक शैली को तो औचित्यपूर्ण ठहराया है, परन्तु उसमें तुलनात्मकता पर विशेष बल नहीं दिया है ।

होरेस

परिचय और कृतियाँ :—

होरेस का समय ई० पू० ६५ से ई० पू० ८ तक माना जाता है।[1] रोम के महान् कवियों और चिन्तकों में उसकी गणना की जाती है। होरेस ने पहले रोम में और फिर एथेंस में शिक्षा प्राप्त की। वहाँ पर वह यूनानी काव्य, दर्शन और संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। उसने ४२ ई० पू० में फिलिपी के युद्ध में भी भाग लिया। जीवन के अन्तिम वर्ष उसने अपनी जागीर में शान्तिपूर्वक व्यतीत किये। होरेस के पूर्व सिसरो ने रोमीय साहित्य धारा पर यूनानी प्रभाव का विरोध किया था। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा था कि न तो यूनानी अनुकरण पर ही साहित्य धाराओं में प्रगतिशीलता लक्षित हो रही थी और न स्वतंत्र रूप से ही उनका मार्ग निर्धारण हो रहा था।

इस गतिरोध की स्थिति का भी अनुभव सर्वप्रथम होरेस ने ही किया। उसने परिस्थितियों को देखते हुये यूनानी विचारधारा के अनुगमन को ही श्रेयस्कर समझा। उसने यह अनुभव किया कि युगीन साहित्य के रूपों में कृत्रिमता और दुरूहता का समावेश अधिक होता जा रहा है। इनका निराकरण करने के लिये उसने यह आवश्यक समझा कि यूनानी काव्यादर्शों को ग्रहण करने का आन्दोलन पुनः आरम्भ हो। होरेस ने यह कार्य किया। चूँकि समकालीन परिस्थितियों का उसका अध्ययन और निदान ठीक था, इसलिये वातावरण की अनुकूलता के कारण उसे अपने इस कार्य में सफलता भी प्राप्त हुई।

काव्य विवेचन :—

होरेस, सिसरो तथा क्विंटेलियन के विपरीत एक ऐसा समीक्षक था, जिसने साहित्य को भाषण कला की अपेक्षा मुख्यता प्रदान की। वह स्वयं भी एक कवि था और उसे काव्य रचना का अच्छा अभ्यास था। उसकी सीमा यही थी कि उसे साहित्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि उसने अपनी विचारधारा में जिन

१. "काव्य कला": (होरेस कृत) रूपान्तरकार—डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० १।

सिद्धांतों का भी निदर्शन किया है, उनमें मौलिकता बहुत अधिक नहीं है। वे पूर्ववर्ती यूनानी समीक्षकों के विचारों की छाया मात्र हैं।

होरेस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दि एपीसल टु द पीसोज" में काव्य में औचित्य पर सर्वाधिक बल दिया है। उसका विचार था कि कवि को अपनी व्यावहारिक बुद्धि से काम लेना चाहिये। आलंकारिकता, स्पष्टता, सरलता, विविधता, छन्दात्मकता तथा सजग शब्द प्रयोग को उसने काव्य में मर्यादित घोषित किया है। इस दृष्टिकोण से होरेस को एक परम्परावादी समीक्षक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि वह नवीनता या मौलिकता का विरोधी था।

वस्तुत: जैसा कि ऊपर कहा गया है, होरेस को साहित्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान नही था। उसने अपनी इस कमी को अपनी विवेकशीलता से दूर करने का प्रयत्न किया। इसीलिये व्यावहारिक सूझ-बूझ पर उसने अधिक बल दिया है। जहाँ तक नवीनता का सम्बन्ध है, उसका यह अनुमान था कि यदि उसकी सम्भावनायें न दिखायी दे रही हों तो उनकी माँग करना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नवीनता के नाम पर परम्पराओं को भी रुद्ध कर देने का वह विरोधी था। दूसरे शब्दों में, वह प्राचीन विषय को ही नवीन आवरण में प्रस्तुत करने का अनुमोदन करता था।

यूनानी साहित्य चिन्तको के साथ वह यह स्वीकार करता था कि कवि के लिये दर्शन सिद्धांतों का यथेष्ठ परिचय होना आवश्यक है। वह काव्य को केवल दो कोटियों का मानता था। एक तो श्रेष्ठ काव्य और दूसरा हीन काव्य। उसका निश्चित विचार था कि यदि कोई काव्य श्रेष्ठ काव्य नहीं है, तो वह अनिवार्यत: निम्न कोटि का होगा। काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में वह यूनानी चिन्तकों के मन्तव्यों से सहमत था। उसका विचार था कि काव्य का ध्येय उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति दोनों ही होनी चाहिये।

काव्य और अनुकरणात्मकता :—

होरेस ने काव्य में अनुकरणात्मकता का अनुमोदन किया। काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हुये उसने कवियों के लिये यह निर्देश किया कि वे यूनानी साहित्यिक आदर्शों को काव्यात्मक अनुकरण के सन्दर्भ में हमेशा ध्यान में रखें। वह यूनानियों की साहित्यिक उपलब्धियों से अत्यधिक प्रभावित था। उसने अपने समय में काव्य की रचना प्रक्रिया का निर्देश किया और उसे नियमबद्ध बनाया। काव्य कला पर उसने कुछ कवि-ताओं का भी सृजन किया।

होरेस ने काव्य का वर्गीकरण करते हुये व्यंग्य तथा प्रहसन का भेद स्पष्ट किया। उसके विचार से व्यंग्य काव्य का प्रयोजन व्यक्ति अथवा समाज के दोषों का निराकरण करना है। इस प्रकार से उसने व्यंग्य काव्य को इन दोषों को दूर करने का एक साधन बताया। व्यंग्य का महत्व इस कारण भी अधिक होता है, क्योंकि इसका फल तात्कालिक होता है। तर्क से जो काम नहीं हो सकता, वह सरल व्यंग्य से सम्भव है। उसने बताया है कि व्यंग्य में तीव्रता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि तीव्रता से कटुता की भावना जन्म लेती है। व्यंग्यात्मकता की प्रतिक्रिया दोनों रूपों में सम्भव है। वह मनुष्य को सद्वृत्ति की ओर भी प्रेरित कर सकती है और उसे क्रुद्ध भी कर सकती है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि होरेस ने व्यंग्य काव्य को प्रहसन के अर्थ में न प्रयुक्त करके उससे भिन्न माना है। व्यंग्य काव्य तथा प्रहसन के चरित्रों का भेद स्पष्ट करते हुये उसने लिखा है कि जहाँ व्यंग्य काव्य के पात्रों का हास्य सन्तुलित और विवेकपूर्ण होता है, वहाँ प्रहसन के पात्रों के हास्य मे इन दोनों गुणों का अभाव होता है। साथ ही, व्यंग्य काव्य में सदैव उद्देश्यपूर्णता रहती है, जब कि प्रहसन निरुद्देश्य भी हो सकता है।

नाट्य कला :—

नाट्यकला पर होरेस के जो विचार हैं, वे भी अधिकांशतः यूनानी विचारधारा, विशेष रूप से अरस्तू के विचारों से प्रभावित हैं। यूनानी सिद्धान्तों के अनुसार ही उसने नाटक के तत्वों में कथा, कथा निरूपण, पात्र, शैली आदि तत्वों का विश्लेषण किया है। प्रायः इन सभी तत्वों के विषय में होरेस ने प्राचीन यूनानी नाट्य शास्त्र द्वारा प्रवर्तित नियमों का अनुमोदन किया है। व्यावहारिकता का समर्थन करते हुये उसने विषय, पात्र तथा शैली आदि की पारस्परिक अनुरूपता पर सर्वाधिक गौरव दिया है। उसने निर्देश किया है कि नाटक में पाँच अंक होने चाहिये। एक दृश्य में पात्रों का प्रवेश ही बा[illegible] संतुलित रूप में होना चाहिये। उसके विचार से एक दृश्य में तीन पात्रों का प्रवेश ही होना चाहिये और उन्हीं का वार्तालाप प्रस्तुत किया जाना चाहिए। पात्रों के चरित्र चित्रण के विषय में भी उसने परम्परानुगामिता को औचित्यपूर्ण ठहराया है। उसने नाटक में क्रियाशीलता को आवश्यक बताया है। नाटक में गीतों का समावेश उसने समर्थित किया है। जहाँ तक नाटक के प्रयोजन और आदर्श का सम्बन्ध है, होरेस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि नाटक में नीति तथा धर्म विषयक चित्रण हास्य तथा करुणा की अपेक्षा अधिक सम्मत है।

शैली विचार :—

होरेस ने शैली के विषय विचार करते हुए मिश्रित शैली का विरोध किया है। उसके विचार से शैली का अपना स्वतंत्र रूप में तो महत्व होता ही है, भाषा में प्रभावात्मकता उत्पन्न करने की दृष्टि से भी है। उसने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि सामान्य शब्दावली भी उत्कृष्ट शैली में सजीव हो उठती है। यदि भाषा चामत्कारिक न होकर सामान्य है, तब भी उसमें स्पष्टता होनी आवश्यक है। अनावश्यक शब्दाडम्बर का उसके मत से बहिष्कार होना चाहिये। स्पष्ट और सरल भाषा से भावाभिव्यंजना की प्रक्रिया सरलतर हो जाती है। जो कवि भाषा को कम महत्व देगा, वह कभी भी पाठक वर्ग को प्रभावित न कर सकेगा। भाषा में उपर्युक्त गुणों के साथ ही साथ विषयानुकूलता भी होनी चाहिये, क्योंकि शब्दावली का चयन मुख्यतः विषय से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिये कवि को चाहिये कि वह विषय के अनुरूप ही भाषा को ही प्रयोग में लाये। जहाँ तक काव्य में छन्द प्रयोग का सम्बन्ध है, होरेस ने यह प्रतिपादित किया है कि छन्दों के प्रयोग में विविधता तो अवश्य होनी चाहिये, परन्तु यह विविधता विषय वैविध्य के अनुसार ही हो तो अच्छा है। साथ ही, विविध काव्य प्रकारों के लिये भिन्न छन्दों और भाषा का प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है।

समीक्षात्मक देन और महत्व :—

रोमीय साहित्य चिन्तन के इस विकास युग में होरेस को पर्याप्त मान्यता मिली। परवर्ती युगों में पोप, बोयलो तथा बेन जानसन जैसे विशिष्ट यूरोपीय समीक्षकों ने उससे प्रेरणा तथा प्रभाव ग्रहण किये। जहाँ तक उसके समकालीन समीक्षकों का सम्बन्ध है, होरेस ने उनका विरोध किया। वे कट्टर दृष्टिकोण वाले समीक्षक थे और उनमें जनरुचि तथा पाठक वर्ग की उपेक्षा करके अपना निर्णय दूसरों पर लादने की प्रवृत्ति थी। होरेस ने उनसे सहमत न होते हुए यूनानी आदर्शों को ही आधार स्वरूप मानने का समर्थन किया। वह पाठक की सम्मति पर विचार कर सकता था, परन्तु उसने श्रोता वर्ग के निर्णय को मानने से इनकार कर दिया। उसका विचार था कि काव्य की श्रेष्ठता का निर्णय श्रोताओं के द्वारा किया जाना उचित नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसने कविताओं के रूप में अपने इन समीक्षा विचारों को छन्दबद्ध करके प्रस्तुत किया। उसके इन विचारों ने युगीन समीक्षा दृष्टि का काफी सीमा तक परिष्कार किया। संक्षेप में, होरेस ने कुछ ऐसे आलोचनात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो यूनानी आदर्शों पर आधारित थे और जिनके

माध्यम से युगीन साहित्य के नव निर्माण की दिशा में प्रेरणा मिल सकती थी। होरेस ने अनुकरणात्मकता के सिद्धान्त के स्वरूप तथा मर्यादा निर्धारण की दिशा में भी प्रयत्न किया। उसने अनुकरण की नयी परिभाषा बनायी और उसकी मौलिक प्रयोगात्मकता पर बल दिया। अपनी इन्हीं उपलब्धियों के कारण उसे परवर्ती युगों में भी विस्तृत क्षेत्रीय वैचारिक मान्यता मिली।

क्विटीलियन

परिचय तथा कृतियाँ :—

क्विटीलियन के आविर्भाव का समय प्रथम शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थांश में माना जाता है। वह एक महान् रोमीय साहित्य शास्त्री था। वैचारिक दृष्टि से वह सिसरो से बहुत साम्य रखता था। सिसरो की ही भाँति उसने भी साहित्य और काव्य को भाषण कला की अपेक्षा हीन माना। उसने अपनी महान् कृति "डि इंस्टीट्यूशन ओरेटोरिया" में यूनानी और रोमीय साहित्यिक इतिहास प्रस्तुत किया।

उसके समय तक परिस्थितियों में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। एक नये वातावरण का निर्माण हो रहा था। पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों तथा मान्यताओं में पारस्परिक वैषम्य-विरोध की भावना इतनी अधिक थी कि उनके आधार पर किसी निर्णायक तत्व की निर्मिति असम्भव थी। साहित्य शास्त्र तथा भाषण शास्त्र विषयक प्राचीन मान्यताओं का विरोध हो रहा था और नये मूल्यों का निर्धारण हो रहा था। इसलिये क्विटीलियन विचारों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व उसके युग की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है।

समीक्षात्मक विचार और मान्यताएँ :—

क्विटीलियन का समीक्षा विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ स्पष्टता लिए हुये है तथा उसमें ऊँचे साहित्यिक स्तरों की ध्वनि प्रतीत होती है। वह रूढ़िवादी विचारधारा और शास्त्रीयता की कट्टर अनुगामिता का विरोध करता था। उसने इस तथ्य को समझा था कि साहित्य समकालीन सामाजिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके नहीं पनप सकता। इसीलिये उसने इस मत का समर्थन किया कि साहित्य, काव्य या भाषण में जन भाषा का पूर्णतः वहिष्कार करना उपयोगी नहीं है। भाषा और शैली के क्षेत्र में उसके विचार विशेष रूप से महत्व पूर्ण हैं।

उसने यह बात स्वीकार की है कि साहित्य के विविध रूपों का कलात्मक दृष्टि से स्तरीय होना एक अनिवार्य तत्व है। यद्यपि यह ठीक है कि वह काव्य मर्मज्ञ न था और उससे सम्बन्धित प्रश्नों का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण भी न कर सकता था, परन्तु जहाँ तक युगीन परिस्थितियों को उनके सही रूप में समझने तथा नवीन मान निर्धारण का सम्बन्ध है, उसमें असाधारण विवेक बल था। वह काव्य में दार्शनिक, नैतिक तथा धार्मिक तत्वों का बहुलता से समावेश करने का समर्थन नहीं करता था, क्योंकि उसके विचारानुसार अन्ततः इनसे काव्य में बोझिलता का दोष ही आता है।

महत्व :—

इस प्रकार से क्विंटीलियन ने अपनी समकालीन परिस्थितियों की माँग, स्वर और आवश्यकता को पहचाना और यह भी अनुभव किया कि न्यूनाधिक रूप में वह एक प्रकार के गतिरोध जैसी स्थिति ही है। इससे मुक्ति पाकर भावी प्रगति का मार्ग खोज निकालने के उद्देश्य से प्रयत्न रत होने वाला वह सर्वप्रथम समर्थ साहित्य शास्त्री था। उसने रोमीय समीक्षकों में कदाचित् सबसे पहले यूनानी अनुगमन के सन्तुलन पर बल दिया। उसने यूनानी आदर्शों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति को तो अवश्य प्रोत्साहित किया, परन्तु उसको वहीं अनुमोदित किया, जहाँ वह नितान्त रूप में आवश्यक हो तथा परम्परा के विकास में उसका योग अनिवार्य हो। उसने भी अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती समीक्षकों की भाँति अनुकरणात्मकता का समर्थन किया, परन्तु उसे अनुकरण न कह कर एक स्वतन्त्र रूप शैली में प्राचीन का नवीनीकरण कहा। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि इस नवीनीकरण से युगीन प्रतिभाओं का ह्रास न होकर विकास ही होता है।

संक्षेप में, लैटिन साहित्य और समीक्षा के चिन्तन की इस प्राचीन परम्परा के ऐतिहासिक और महान् केन्द्र रोम के उन क्षेत्रों की समृद्धि और विकास का उपर्युक्त ही इतिहास है। ये परम्परायें उनमें योग दान देने वाले महान् साहित्यकारों और चिन्तकों की उपलब्धियों और परम्परा निर्माण के साथ ही क्रमशः ह्रास की ओर बढ़ती जाती हैं। रोमीय साहित्य चिन्तन की परम्परा के विकास के इतिहास की यह गति प्रायः छठवीं शताब्दी तक रहती है। इसके पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ होता है।

परवर्ती काल में रोमीय साहित्य एवं समीक्षा क्षेत्र में यत्र तत्र क्रियाशीलता तो अवश्य लक्षित होती है, परन्तु यह समीक्षात्मक चिन्तन के मूल और आधार तत्वों से

हट कर उसके गौण तत्वों तक ही सीमित रहती है। साहित्य चिन्तन की परम्पराओं के इस ऐतिहासिक ह्रास के अनेक कारणों में से कुछ राजनैतिक तथा सामाजिक भी हैं। साहित्यिक कारण तो प्रायः रहे ही है। वस्तुतः प्राचीन और नवीन का संघर्ष, अनिश्चित विचार सिद्धांत, सद्वृत्तियों की उपेक्षा, कुरुचिपूर्ण साहित्य का प्रचार तथा साहित्य शास्त्रियों के वैचारिक संघर्ष आदि ने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि इन सबका अन्त इस परम्परा की समाप्ति के साथ ही हुआ।

पुनर्जागिरणकालीन पाश्चात्य समीक्षा के मानदंड

प्राचीन यूनानी साहित्य शास्त्र तथा रोमीय साहित्य शास्त्र की इन महान् परम्पराओं के अन्त के पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यूरोप में साहित्यिक पुनर्जागिरण लगभग चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इस पुनर्जागिरण काल से ही योरोपीय साहित्य शास्त्र की इस रुद्ध परम्परा के विकास की भावी सम्भावनायें हुईं तथा उसका आगे प्रसार हुआ। इस युग में एक बार पुनः लोगों का ध्यान प्राचीन यूनानी तथा रोमीय उपलब्धियों की ओर आकर्षित हुआ। परन्तु इस पुनर्जागिरण काल के पूर्व के साहित्यिक चिन्तन का कोई ऐतिहासिक विवरण क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है, यद्यपि इस काल के बीच भी योरोप में ऐसी विभूतियाँ जन्मीं, जिनकी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में देन अमर है।

पुनर्जागिरण काल के प्रारम्भिक अनेक वर्षों तक यूरोपियन साहित्य जगत की हलचल मुख्यतः खोज कार्य की ओर ही लगी रही और महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के शोध की दिशा में ही मुख्यतः प्रयत्न किये जाते रहे। इसका कारण यह था कि अब लोगों में यह चेतना जाग्रत हो रही थी कि समाज और देश के विकास में इन वैचारिक परम्पराओं का कितना अधिक महत्व है। इसके अतिरिक्त वह अपनी इन प्राचीन परम्पराओं की समृद्धि की भी अवगति पा रहे थे, जो उन्हें विरासत में मिली थीं। वे यह भी अनुभव कर रहे थे कि अब तक जो उन्होंने इस दिशा में उपेक्षा का भाव दिखाया है, वह इन परम्पराओं के ह्रास के लिए कितना बड़ा कारण है। इस कारण अब वे इन उपलब्धियों का संयोजन करना चाहते थे। क्योंकि उनमें विश्वास की यह भावना जन्म रही थी कि इन क्षेत्रों के भावी विकास की दिशाओं का संकेत इसी प्रकार से मिल सकता है। इसलिये इस युग में इस कार्य की ओर सबसे अधिक और प्राथमिक

रूप में ध्यान दिया गया कि जो प्राचीन ग्रन्थ इन उपलब्धियों के प्रतीक हैं, उनकी खोज हो और उनमें ही विकास के भावी सूत्रों को ढूंढ़ा जाय।

इसके साथ ही साथ शोधित ग्रन्थों का अनुवाद कार्य भी प्रारम्भ हुआ, क्योंकि इन ग्रन्थों में एक बड़ी संख्या उनकी थी, जो विविध यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में लिखे गये थे तथा जिनका प्रयोग अब या तो पूर्ण रूप से समाप्त हो गया था और या अब क्रमशः समाप्त होता जा रहा था। इस प्रकार से, जब एक स्वस्थ, उपयुक्त और अनुकूल साहित्यिक वातावरण तैयार हो गया, तब भावी विकास के सूत्र उपजे, साहित्य विविध अंगों के विकास की भूमि नयी सम्भावनाओं के साथ बनने लगी।

इस प्रकार की अवस्था लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रही। सोलहवीं के प्रारम्भ से यूरोप में साहित्य के क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से कार्यारम्भ हो गया और इस प्रकार एक नवीन परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यह परम्परा अपने साथ पृष्ठभूमि के के रूप में पूर्ववर्ती परम्पराओं के अनेक प्रभावों को लिये हुये थी, जो इसके विकास का मुख्य आधार हैं। इसलिये पाश्चात्य समीक्षा के विकास की भावी ऐतिहासिक रूपरेखा को समझने के लिये इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि मूलतः यह पूर्ववर्ती वैचारिक परम्पराओं की एक नवीन कड़ी ही है, क्योंकि वे सिद्धान्त प्रायः अधिक भिन्न नहीं हैं, जो इन पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्पराओं के मूल प्रेरक रहे हैं। और यही कारण है कि इन विभिन्न परम्पराओं में काल गत भिन्नता और विपरीतता होते हुये भी सूत्र गत एकता के संकेत निहित हैं।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तथ्य भी है जिसे पाश्चात्य समीक्षा के भावी विकास के इतिहास के सन्दर्भ में ध्यान में रखना चाहिए। और वह यह है कि आगे चलकर जिन साहित्य सिद्धान्तों का निदर्शन किया गया, वे प्राथमिक रूप में या तो पूर्ववर्ती विचारों के पूरक हैं और या उनके विश्लेषक। कहने का आशय यह है कि पश्चिम की प्रायः समस्त वैचारिक परम्पराओं के मूल में कुछ एक ही महान् चिन्तकों के सिद्धान्त हैं, जिन्हें आगे आने वाले कालों में युगानुकूल बना कर मान्य किया गया। परन्तु इस कथन का अर्थ यह भी न समझना चाहिए कि परवर्ती यूरोपीय वैचारिक इतिहास के क्षेत्र में कभी कोई नवीनता न रही। वस्तुतः इन पूर्व विचारों ने सदैव एक प्रकार की दृढ़ आधार भूमि का कार्य किया है और इसीलिये भविष्य में उन पर नवीन निर्माण की सम्भावनायें भी अपेक्षाकृत अधिक रही हैं।

सोलहवीं शताब्दी तक अँग्रेजी समीक्षा

सोलहवीं शताब्दी में प्रारम्भ यह पाश्चात्य साहित्य चिन्तन की परम्परा मुख्यतः अँग्रेजी भाषा के माध्यम से ही विकसित हुई। यद्यपि यूरोप की अन्य भाषाओं मे भी बहुधा समय-समय पर महान् साहित्य चिन्तकों और क्रियात्मक साहित्यकारों का आविर्भाव होता रहा, परन्तु इतिहास क्रम को देखने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः सभी यूरोपीय चिन्तकों ने महाद्वीप की सभी भाषाओं के साहित्यों और विचारो को समान और समग्र रूप से प्रभावित किया। इसलिये अगले पृष्ठों में पाश्चात्य समीक्षा का जो विकास रूप-रेखात्मक शैली में प्रस्तुत किया जायगा, उसमें यह दृष्टिकोण होगा कि अँग्रेजी समीक्षा की सैद्धान्तिक प्रगति और उसके आधारभूत मानदण्डों के समानान्तर ही यूरोप की अन्य भाषाओं के महान् साहित्य चिन्तकों की वैचारिक देन का भी संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय।

प्रारम्भ में अंग्रेजी समीक्षा शास्त्र के विकास की यह नवोदित परम्परा किसी क्रान्तिकारी उपलब्धि का दावा न कर सकी। यह भी सत्य है कि प्रारम्भिक वर्षो मे कोई ऐसी प्रतिभा इस क्षेत्र में न आ सकी, जिसकी देन का ऐतिहासिक तथा सर्वयुगीन महत्व होता। यों अब तक चौसर तथा केक्सटन आदि विचारक स्फुट रूप में अपने समीक्षा विचारों को प्रस्तुत कर चुके थे, परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में कोई स्वतन्त्र कृति ऐसी नहीं लिखी गयी थी, जिसका इस क्षेत्र विशेष में विशिष्ट और ऐतिहासिक महत्व होता। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जाता है कि चूँकि अन्य साहित्यांगों के क्षेत्र मे भी इस काल में कोई विशेष क्रियाशीलता नहीं थी, इसलिए समीक्षा के क्षेत्र में भी लेखन और विकास की भी सम्भावना कम ही थी। इस प्रकार से यद्यपि इस युग में स्थायी महत्व की कृतियाँ प्रायः कम ही लिखी गयीं, परन्तु शास्त्रीय तथा क्लैसिकल साहित्य मे लोगों की रुचि थी, और इसके परिणाम स्वरूप समीक्षा को भावी विकास के सूत्र अवश्य मिले।

स्टीफेन हॉज

परिचय तथा कृतियाँ :—

इस प्रकार से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक अंग्रेजी समीक्षा का कोई रूप स्थिर न हुआ था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में उसकी आधार भूमि का निर्माण

अवश्य हो गया। चौसर के काव्य और जीवन के प्रेरणा ग्रहण करके अनेक प्रतभायें साहित्य के क्षेत्र में अपनी क्रियात्मकता का परिचय देने लगी थीं। इनमें स्टीफेन हॉज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका समय सोलहवीं शताब्दी ही माना जाता है।[१] यह चौसर के स्कूल का एक कवि था। इसकी पुस्तकों में "दि पास्टाइम आफ प्लेजर" विशेष प्रसिद्ध है, अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में एक समर्थ कवि के रूप में इसे मान्यता प्राप्त हुई थी। इसको एक बड़ी देन यह भी है कि इस परम्परा के विकास के प्रारम्भिक काल में इसने अंग्रेजी साहित्य के स्वरूप निर्धारण की दिशा में भी महत्वपूर्ण योग दिया।

सर टॉमस विल्सन

परिचय तथा कृतियाँ :—

साहित्यिक क्षेत्रों में यह गतिशीलता हॉज के समय से विकसित होने लगी। हाॅज और उसके समकालीन साहित्यकारों का इसमें महत्वपूर्ण हाथ रहा था। इस समय समृद्धि की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा बहुत उन्नत नहीं समझी जाती थी। इस युग के अनेक लेखकों ने इस युग में साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के लिये प्रयत्न किया था। हॉज के बाद इस दिशा में दूसरा उल्लेखनीय नाम सर टॉमस विल्सन का है। इसका समय सन् १५२५ से लेकर १५८१ तक अनुमानित किया जाता है।[२] इसकी शिक्षा केम्ब्रिज के किंग्स कालेज में हुई थी। यह प्रिवी कौंसिल का सदस्य तथा सेक्रेटरी आफ स्टेट भी रहा था। इसने विविध साहित्यांगों के स्वरूप निर्धारण तथा व्याख्या विश्लेषण के क्षेत्रों में प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन की चेष्टा की। स्फुट रूप में उसने साहित्य के भिन्न भिन्न रूपों और तत्वों पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि उसके समय में सर्वप्रथम पात्रों की चारित्रिक यथार्थता और विश्वसनीयता का महत्व प्रतिपादित किया गया।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir paul Harvey p. 358.
२. वही, पृ० ८५३।

विल्सन ने सन् १५५१ में "रूल आफ रिलीजन" १९५३ में "आर्ट आफ रिटारिक" नामक पुस्तकें प्रकाशित कीं।[1] इन में से द्वितीय का अंग्रेजी साहित्य के विकास के इतिहास में विशिष्ट महत्व है, यद्यपि यह अपने विषय की सर्वप्रथम रचना नहीं कही जा सकती। इस पुस्तक में भी विल्सन ने भाषा सम्बन्धी अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। विल्सन के महत्व का एक कारण यह भी है कि उसने साहित्य और कला विषयक प्राचीन सिद्धान्तों का मण्डन करते हुए समय की आवश्यकता के अनुसार एक नवीन दृष्टिकोण से साहित्य शास्त्र के पुनर्निर्धारण का प्रयत्न किया था।

भाषा पर विचार :—

विल्सन ने अपने युग की साहित्यिक गतिविधि को समझा और उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं के हल ढूँढने की दिशा में कार्य किया। इसी क्रम में उसने भाषा के विषय में भी चिन्तन किया और अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। भाषा के सुधार और विकास की ओर विल्सन ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण परम्परावादी था। भाषा को समृद्ध बनाने के लिये वह विदेशी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने के पक्ष में नहीं था। परन्तु फिर भी भाषा की कुछ कमियों और अभावों को दूर करके उसे उपयुक्त बनाने के विचार से उसने इस बात का समर्थन किया था कि यूनानी तथा लेटिन भाषाओं के कुछ शब्दों को अपना लिया जाय। यों भी इन दोनों भाषाओं के साहित्य इस समय मूल प्रेरक स्रोत हो रहे थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुये विल्सन ने परम्परानुगामिता और शास्त्रीयता का समर्थन किया और नवीनता को प्रश्रय देने का विरोध किया।

महत्व :—

विल्सन के विचारों का महत्व भाषण शास्त्र के विकास में भी विशिष्ट है। उसने भाषण शास्त्र के प्राचीन तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन की दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। यद्यपि इस प्रयत्न की प्रतिक्रिया के रूप में कोई तात्कालिक क्रियात्मकता इस क्षेत्र में न लक्षित की जा सकी। परन्तु उसके इस कार्य का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि कई अन्य विचारक भी इस दिशा में क्रियात्मकता का परिचय

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 853.

देने लगे। इस सम्बन्ध में यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस युग में भाषण शास्त्र के किन्हीं नवीन तत्वों की स्थापना करने के प्रयत्न बहुत कम हुए। अधिकांशतः प्राचीन साहित्य शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का समर्थन और अनुगमन ही अधिकांशतः किया गया। युगीन परिस्थितियों के सर्वक्षेत्रीय ज्ञान को इस काल में भाषण कर्ता के लिये एक अतिरिक्त नियम के रूप में मान्य किया गया। भाषण शास्त्रीय सिद्धांत के परिचय की महत्ता प्रतिपादित करने के साथ ही साथ व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव के सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का निर्धारण हुआ।

संक्षेप में विषय का सम्यक् ज्ञान, विषय के कलापूर्ण प्रयोग, विषय के अनुरूप शैली में अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण भाषण के तत्व बताये गये। अलंकृत, चामत्कारिक परन्तु स्पष्ट शैली पर विशेष गौरव दिया गया। शैली की सफलता चूंकि भाषा पर ही मुख्यतः निर्भर करती है, अतः विषयानुकूल भाषा रचना के लिये उनके अनुरूप शब्दावली का चयन अनुमोदित किया गया। विदेशी भाषाओं के उन्हीं शब्दों का प्रयोग वांछनीय बताया गया, जो आवश्यक हों। आलंकारिकता तथा सौन्दर्यात्मकता के तत्वों को भी समर्थित किया गया।

सर जॉन चीक

परिचय तथा कृतियाँ :—

सर टॉमस विल्सन के सहयोगी और समकालीन सर जॉन चीक का समय सन् १५१४ से लेकर १५५७ तक माना जाता है।[1] यह एडवर्ड अष्टम का ट्यूटर था। इसने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ग्रीक के प्राध्यापक के रूप में शिक्षण कार्य भी किया था। इसने ग्रीक भाषा से लेटिन में अनेक अनुवाद भी किये थे। यद्यपि इसने मौलिक रचनायें बहुत कम लिखी थीं, परन्तु इसकी सरल और प्रभावशाली भाषा शैली इसकी श्रेष्ठ प्रतिभा का परिचय देने में समर्थ है। यह किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हालाँकि न कर सका,

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 153.

परन्तु इसका महत्व उच्च साहित्य के अध्येता और अध्यापक के रूप में बहुत अधिक है। चीक के समय अंग्रेजी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में कुछ ऐसी समस्या उपस्थित थी, जिनका हल निकाले बिना उनके विकास की सम्भावनायें बहुत कम थीं। अपने समकालीन अन्य साहित्यकारों के साथ चीक ने भी इस बात का समर्थन किया कि विदेशी भाषाओं विशेषतः ग्रीक तथा लेटिन से आवश्यक शब्दों को ग्रहण कर लिया जाय। यों वह भाषा का विकास उसकी स्वाभाविक गति के अनुनार होने देने का पक्षपाती था। साहित्य के क्षेत्र में वह नवीनता के तत्वों का विरोधी और शास्त्रीयता का समर्थक था।

राजर अशॉम

परिचय तथा कृतियाँ :—

राजर अशॉम का समय सन् १५१५ से लेकर १५६८ तक स्वीकार किया जाता है।[1] इसकी शिक्षा दीक्षा कैम्ब्रिज के सेंट जोंस कालेज में हुई थी। वहाँ इसने क्लैसिकल साहित्य में विशेष योग्यता दिखायी और सन् १५२८ में ग्रीक का रीडर हो गया। सन् १५४५ में इसने अपना "टाक्सो फिलस" नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जो सम्वाद शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में इसने शिक्षा में "फिजिकल ट्रेनिंग" के महत्व को भी स्पष्ट किया है। सन् १५४८ में अशॉम प्रिंसेस एलिजाबेथ का ट्यूटर हो गया और सन् १९५०-५३ में इसने सर टामस मोरीसन के सचिव के रूप में सारे महाद्वीप का भ्रमण किया। फिर यह महारानी मेरी का लैटिन सचिव बन गया। इसका "स्कूल मास्टर" नामक ग्रन्थ इसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में इसने लड़कों की शिक्षा के स्वरूप और अनुशासन आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इसने सरल अँग्रेजी शैली के विकास पर बल दिया।

भाषा और साहित्य पर विचार :—

ऊपर अशॉम की जिन पुस्तकों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अशाम के लिखे हुए ऐसे अनेक पत्र हैं, जिनमें उसने प्रासंगिक रूप से साहित्य शास्त्र के विविध

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 43,

पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। ये विचार उनके सिद्धान्तों का परिचय देने मे समर्थ हैं। अशॉम का यह मत था कि अँग्रेजी भाषा को अपने विकास के लिये मार्ग की खोज अपने आप करनी चाहिये। भाषा की समृद्धि के लिये ही यदि आवश्यक हो, तो वह कुछ विदेशी भाषाओं के उपयुक्त शब्द ग्रहण कर लेने के पक्ष में था। उसका साहित्य विषयक दृष्टिकोण परम्परावादी था और वह भी नवीनता के तत्वों को अधिक प्रोत्साहन देने का विरोधी था।

उसका यह भी विचार था कि अनुवाद कार्य शिक्षा के माध्यम के रूप में तो मान्य हो सकता है, परन्तु उससे कोई साहित्य प्रगति नहीं कर सकता। युगीन साहित्यिक वातावरण के संदर्भ में अशॉम का यह विचार बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इस युग में प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा था। इससे एक लाभ यह तो अवश्य हो रहा था कि विविध विषयों पर क्लैसिकल महत्व की पुस्तकें साहित्य में उपलब्ध हुई जा रही थीं और लोगों को उनकी उपलब्धियों का परिचय मिल रहा था, परन्तु उसके साथ ही साथ इससे जो सबसे बड़ी हानि हो रही थी, वह यह थी कि कुछ लोग इस अनुवाद कार्य को ही अपने साहित्य के गम्भीर दायित्व और कर्तव्यों की इति समझ बैठे थे। इसलिये अशॉम ने इस तथ्य की ओर साहित्यकारों का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित कराया।

अशॉम साहित्य में नाटकीयता के तत्वों के समावेश का भी बहुत अधिक समर्थन नहीं करता था, क्योंकि वह यह समझता था कि इनके समावेश से साहित्य की उच्चता का हनन होता है। अशॉम का यह भी विचार था कि स्वदेशी भाषा को किसी भी स्थिति में विदेशी भाषाओं के इतने अधिक शब्द नहीं ग्रहण करने चाहिये जिनके कारण उसकी स्वतन्त्र विशेषतायें समाप्त हो जायें और वह एक प्रकार की मिश्रित भाषा बन जाय। चीक तथा लैटिमर आदि से वह सैद्धांतिक मतभेद रखता था। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसके समय तक अँग्रेजी गद्य की विकास गति मन्द थी। इस कारण गद्य रूपों से सैद्धांतिक विवेचन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया।

ऊपर जिन तीन समीक्षकों का उल्लेख किया गया है, वे तीनों "प्रथम ट्यूटर समीक्षक" कहे जाते हैं।[1] ये तीनों ही समकालीन, मित्र तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के

1. "A History of English Criticism", George Saintsbury, p. 30.

सदस्य थे। इन तीनों में चीक ज्येष्ठतम था और उसका व्यक्तित्व इन सबमें सबसे अधिक प्रखर था। परन्तु जहाँ तक साहित्यिक महत्व का सम्बन्ध है, उसकी देन की अपेक्षा अशॉम और विलसन की देन का महत्व ही अधिक माना जाता है। यों इस "ट्यूटर स्कूल" का मुख्य प्रतिनिधि अशॉम को ही माना जाता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में उसकी उपलब्धियाँ अधिक मान्य हैं। एक साहित्य शास्त्री के रूप में भी उसके विचार अपेक्षाकृत अधिक सुलझे, स्पष्ट तथा निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण हैं।

पुनर्जागरणकालीन साहित्य परम्परायें और समस्यायें

इस काल तक अँग्रेजी भाषा में काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय शब्दों को ही स्वीकृति मिलती थी। लयात्मकता को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। इस काल में क्लैसिकल कृतियों का ही प्रचार अधिक था। शास्त्रीय छन्दों के प्रचार की दृष्टि से सबसे अधिक प्रारम्भिक प्रयोग इटली में हुये; यद्यपि इन्हें फ्रांस में भी प्रचलित किया जा चुका था। यों जहाँ तक फ्रांस का सम्बन्ध है, वहाँ इससे पूर्व काल से ही छन्द शास्त्र के ठोस, शास्त्रीय नियम निर्मित हो चुके थे और वहाँ इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। इटली में भी वहाँ के अनुकरण पर इसका आरम्भ किया गया और प्रयोगात्मक रूप से इंग्लैंड में भी इसका प्रारम्भ हुआ।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उस समय मुख्यतः तीन छन्द शैलियों का ही प्रचलन था, जो एक दूसरे के विपरीत थीं। चौसर ने जो मिश्रित छन्द प्रचारित किये थे, उनको अधिक प्रयोग में लाया जाता था। विविध समासीय यथा विविध क्षेत्रीय छन्द शैलियों के मिश्रण पर नवीन छन्द शैलियों के रूप निर्माण की दिशा में भी इस काल में पर्याप्त सक्रियता रही। कुछ साहित्यकारों ने इटैलियन आदर्शों के अनुकरण पर भी अँग्रेजी काव्य की गठनात्मकता की दृष्टि से सुदृढ़ रूप प्रदान करने की चेष्टा की। ये प्रयोगवाद में अँग्रेजी साहित्य में "ब्लैंक वर्स" के नाम से मान्य हुये। इस क्षेत्र में चौसर, लैंगलैंड तथा स्केलटन आदि की देन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार से इस परम्परा को कुछ समय के पश्चात् वायट, सरे तथा स्पैंसर के द्वारा विकास मिला। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि छन्द शास्त्र के निर्माण के क्षेत्र में इतनी सक्रियता के होते हुये भी किन्हीं शास्त्रीय नियमों की रचना न

की जा सकी। कुछ प्रयोगों में यदि कुछ साहित्यकारों को सफलता प्राप्त हुई, तो अनेक ने उनके प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य और माधुर्य आदि गुणों को समाप्त कर दिया। परन्तु प्रयोग काल के पश्चात् अन्त में कुछ विवेकशील साहित्यकारों ने इसी मत का प्रतिपादन किया कि अन्ततः शास्त्रीय छन्द ही उपयुक्त होंगे, क्योंकि वे देख रहे थे कि नये नये प्रयोगों से कोई उपलब्धि नहीं हो रही थी। पुनर्जागरण काल में पूर्ववर्ती आलोचना परम्पराओं के अनुसार तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया गया। अब भी साहित्यिक आदर्श ग्रीक और लैटिन साहित्यों द्वारा ही निर्धारित होते रहे। इस युग की अँग्रेजी समीक्षा की महत्वपूर्ण उपलब्धि स्वतन्त्र और व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धांतों का सम्मिश्रण है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस समय, लगभग सौ वर्षों तक अंग्रेजी समीक्षा और साहित्य के विविध क्षेत्रों में जिन प्रतिभाओं का प्रभाव व्याप्त रहा, उसमें टॉमस वाट्सन, टामस ड्रांट, एडमन्ड स्पेंसर, हार्वे, जार्ज गैस्कवाइन तथा स्टीफेन गॉसेन आदि के नाम विशेष रूप के उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने साहित्य और समीक्षा के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रश्नों को उठाया और उनका सम्यक् विश्लेषण किया। इस सारे समय के बीच साहित्यिक वातावरण जागरूकता से परिपूर्ण रहा। भिन्न-भिन्न धार्मिक और राजनैतिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध प्रभावशाली व्यक्तियों ने भी साहित्यिक गतिविधि को रुचि के साथ अवलोका और उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। इनमें से कुछ ने यदि साहित्य या कला के किसी विशिष्ट समर्थक दल से सहयोग किया, तो बहुतों ने उससे घोर विरोध भी प्रकट किया। उदाहरणार्थ इस समय वहाँ प्यूरिटन दल वाले अधिक प्रभावशाली हो रहे थे। उन्होंने साहित्य और काव्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण करने वाले इन आन्दोलनों का तो विरोध किया ही, मूलतः काव्य कला से भी उनका विरोध किया।

इसी प्रकार से अन्य लोगों और दलों ने केवल इस कारण से ही इस सारे साहित्यिक वाद-विवाद में भाग लिया और विविध साहित्यिक आन्दोलनों का समर्थन किया, क्योंकि उन्हें उक्त दल विशेष का विरोध करना था, भले ही वह साहित्य या किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो। कुछ भी हो, इस सबका कम से कम इतना परिणाम अवश्य हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में क्रियाशीलता की निरन्तर वृद्धि होती रही। फिर क्रमशः साहित्य विरोधी आन्दोलन भी क्षीण होने लगे। साहित्य की सीमाओं, मूल्यों और क्षेत्र आदि

से सम्बन्ध रखने वाले मत वादों का पुनर्परीक्षण हुआ और इस प्रकार से उसे भावी विकास की गति मिली।

इससे एक लाभ यह भी हुआ कि प्राचीन साहित्यिक विचारधाराओं में जितनी रूढ़िवादिता या अन्धविश्वास था, धीरे-धीरे वह घुलने लगा। अब साहित्यकार जन-चेतना का प्रतिनिधि तो स्वीकार किया जाने लगा, परन्तु ईश्वरीय प्रतिनिधि नहीं। इसी प्रकार से साहित्य, काव्य और कला के क्षेत्र में कार्य करने वालों ने अपने गुरुतर दायित्व को समझा और उसके निर्वाह की दिशा में प्रयत्नशील हुये। इस प्रकार से समीक्षा के विकास की परम्परा की यह कड़ी अब अगली शताब्दी से बद्ध हुई।

पिछली शताब्दी में टामस ड्रेंट आदि की देन छन्द शास्त्र के स्वरूप निर्माण की दृष्टि से महत्व की है। उसने लैटिन छन्द शास्त्र के आधार पर अंग्रेजी छन्दों के नियम निर्धारित किये। अंग्रेजी साहित्य के मान्य समीक्षकों के इन नियमों को स्वीकृत और अनुमोदित किया गया। परन्तु यह एक विचित्र बात रही कि इनके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन होने पर, काव्य सौन्दर्य क्रमशः समाप्त होने लगा, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि से लैटिन तथा अंग्रेजी भाषाओं में भारी विषमता थी और एक के आदर्श दूसरे के लिये अनुकरणीय नहीं थे। गैस्कोगान और डैनियल आदि समीक्षकों ने सैद्धांतिक के स्थान पर अब व्यावहारिक आलोचना के विकास पर अधिक बल दिया। इन लोगों ने स्वयं भी काव्य समीक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया।

यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि गैस्कोगान ने स्वयं अपने समय में प्रचलित काव्य सिद्धांतों से मत वैषम्य प्रकट किया है। उसने भाषा और काव्य की अन्य विशेषताओं और मर्यादाओं की ओर संकेत करते हुये प्रचलित छन्द नियमावली का विरोध किया। उसने काव्य में नियमितता तथा अरूपता पर अधिक गौरव दिया। उसने काव्य सिद्धांतों के प्रतिपादन के कुछ निश्चित आदर्शों पर बल दिया और उनकी रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयास किया। उसने यह स्पष्ट रूप से निर्देशित किया कि काव्य रचना में भाषा तत्व उपेक्षणीय नहीं ठहराया जा सकता और बहुत कुछ काव्य सौन्दर्य भाषा पर ही निर्भर करता है। अन्त में उसने अंग्रेजी छन्द शास्त्र के पूर्ण रूप से संशोधन पर बल दिया और चौसर आदि के सिद्धांतों का अनुगमन करने को हितप्रद बताया।

अंग्रेजी साहित्य में इस समय अब शब्दाभाव की जो व्यापक समस्या उपस्थित थी, उसका निराकरण करने के लिये स्पेंसर ने यह अनुमोदित किया कि अंग्रेजी

शब्द भंडार को समृद्ध बनाने के लिये ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं मे वृहद् संख्या मे शब्द ग्रहण कर लेने चाहिये। साहित्य या काव्य विषयक मान्यताओं के सम्बन्ध में वह प्लेटो का अनुगमन करने का पक्षपाती था। वह अंग्रेजी काव्य के कलात्मक रूप विकास मे विशेष अभिरुचि रखता था।

स्पेंसर के प्रशंसक गैबरियल हारवे ने काव्य सिद्धांतों के निर्धारण में बहुत योग दिया। वह प्रचलित छन्दों में से प्रत्येक को मान्य करने के पक्ष में नहीं था। यह ड्राँट के द्वारा प्रतिपादित निर्धारित छन्द शास्त्रीय सिद्धांतों से सहमति रखता था। यह सदैव इस बात पर बल देता था कि किसी भी भाषा के साहित्यिक विकास के लिये वैज्ञानिक व्याकरणिक तथा सैद्धांतिक तैयारी नितान्त आवश्यक है। इसने व्यावहारिक अंग्रेजी समीक्षा की प्रगति को भी आवश्यक बताया।

लॉज

प्रमुख विचार :—

लॉज ने काव्य सिद्धांतों के शास्त्रीय रूपों पर बहुत बल दिया है। वह यद्यपि अपनी युक्तिसंगत बातों का भी पुष्ट रूप से समर्थन नहीं कर पाया, परन्तु उसने अपने उन विरोधियों को सदैव कठोर उत्तर दिये, जो उसके विचारों से अकारण ही साहित्य पर आक्षेप करते रहे थे। अपने समकालीन आक्षेपकों, विशेष रूप से गैसपन आदि के तर्कों का उसने बहुत ही युक्तिसंगत उत्तर दिया। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इस युग में अनेक राजनैतिक क्षेत्रीय व्यक्तियों ने साहित्य के क्षेत्र में अनाधिकृत रूप से प्रवेश पा लिया था। वे साहित्य को अनैतिक बताते थे और उसे प्रचारित होने देने के विरोधी थे। लॉज ने ऐसे मत वालों का यथाशक्ति विरोध किया और विविध साहित्यांगों के गुणों से उन्हें परिचित कराने की चेष्टा की।

सर फिलिप सिडनी

परिचय तथा कृतियाँ :—

सर फिलिप सिडनी का समय सन् १५५४ से लेकर १५८६ तक माना जाता

है ।[1] यह आयरलैंड के तृतीय लार्ड डिप्टी सर हेनरी सिडनी का पुत्र था । इसकी शिक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी । सन् १५७२ से १५७५ के बीच इसने फ्रांस, आस्ट्रिया, वेनिस, जिनेवा, पेडुवा आदि स्थानों का भ्रमण किया । यह "ऐरोपेगस" नामक क्लब का सदस्य भी बना, जो एक साहित्यिक संघ था और जिसके प्रमुख सदस्यों में स्पेंसर, फरक ग्रेवील, हारवे तथा डायर आदि थे । अपने युग के तथा परवर्ती कवियों पर इसका असाधारण प्रभाव था । इसकी कोई भी कृति इसके जीवन काल में नहीं प्रकाशित हुई इसके ग्रंथो में "आर्केडिया" का प्रकाशन सन् १५९० में हुआ ।[2] इनके अन्य ग्रन्थों में "एपालोजी फार पोयट्री" (डिफेंस आफ पोयजी) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका स्थान इस युग की महत्वपूर्ण कृतियों में है ।

सिडनी की काव्य विषयक मान्यतायें :—

सिडनी ने काव्य, विशेषतः रोमांस का समर्थन किया है । अंग्रेजी समीक्षा क्षेत्र में सिडनी की काव्य विषयक मान्यताओं का महत्व इसलिये भी विशिष्ट है, क्योंकि उसने काव्य कला को उसका पूर्व गौरव प्राप्त कराने मे महत्वपूर्ण योग दिया । जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस समय तक काव्य विषयक सामान्य धारणाओं मे परिवर्तन हो चुका था, इस कारण काव्य को उसका गौरव पुनः प्राप्त कराने के लिये यह आवश्यक था कि काव्य विषयक सामयिक धारणाओं को परिवर्तित किया जाय और काव्य विरोधियों के तर्कों का युक्तिसंगत उत्तर दिया जाय । सिडनी ने इस कार्य को सफलतापूर्वक किया । उसने काव्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुये इतिहास युगों मे उसकी मान्यता का विवरण प्रस्तुत किया ।

कवि का महत्व :—

सिडनी ने इस मत का अनुमोदन किया कि कवि सर्जक होता है । इस कारण से उसका स्थान अन्य क्षेत्रीय विचारकों की अपेक्षा उच्च होता है । कवि का महत्व इस कारण भी है क्योंकि संसार में जितनी भी कलाएँ हैं, उन सबका प्रयोजन सद्-आचरण है और इस दृष्टि से उनमें और काव्य में कोई उद्देश्यगत भिन्नता नहीं है । उसने

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 723.
२. वही, पृ० ७२३ ।

बताया कि काव्य से नैतिक शिक्षा और सद्-आचरण की प्रेरणा मिलती है। साथ ही साथ काव्य इनके जन्म की संभावनाओं की भी सृष्टि करता और इस प्रकार के असद् आचरण के लिये अधिक गुंजायश नहीं रह जाती है। सिडनी ने सद् इच्छा को ही मूल और उचित प्रेरक शक्ति माना है, क्योंकि असद् इच्छा के माध्यम से कवि को पूर्णत्व का बोध नहीं हो सकता।

काव्य और अनुकरणात्मकता :—

सिडनी काव्य को अरस्तू की ही भाँति अनुकरण का माध्यम मानता था। आलंकारिक भाषा में उसने काव्य को सजीव चित्र माना, जिसका उद्देश्य यूनानी आदर्शों के अनुसार आनन्दानुभूति और उपदेशात्मकता है। उसके मत के अनुसार काव्य कला अनुकरणात्मक होती है और इसीलिये काव्य एक बोलते हुये चित्र के समान होता है, जिसका प्रयोजन उपदेशात्मकता तथा आनन्द की सृष्टि है। इस प्रकार से उसने काव्य के इन्हीं दो उद्देश्यों पर बल दिया है, क्योंकि वह उसी काव्य को श्रेष्ठ स्वीकार करता था, जो इन गुणों से युक्त हो। ये गुण एक प्रकार की अन्तर्निर्भरता के सम्बन्ध से बद्ध है, क्योंकि जो काव्य आनन्दमय नहीं है, उससे यह आशा करना निरर्थक है कि उसमें उपदेशात्मकता का गुण विद्यमान होगा।

इस प्रकार से सिडनी ने न केवल काव्य के उच्च प्रयोजन और गुणों की महत्ता प्रतिपादित की है, वरन् उसके आधार पर उसने काव्य पर लगाये जाने वाले अपने समकालीन समीक्षकों के आक्षेपों के भी उत्तर दिये हैं। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि सिडनी ने काव्य के इन गुणों को उसके अन्य रूपों के सम्बन्ध मे भी सामान्यतः मान्य ही ठहराया है।

काव्य के अंग :—

काव्य के अंगों के विषय में विचार करते हुये सिडनी ने बताया है कि छन्द तत्व काव्य के अलंकरण का एक साधन है। उसके विचार से छन्द का महत्व कविता के लिए इस कारण भी है कि क्योंकि वह उसके लिये आवश्यक है। छन्द शास्त्र के निर्माण की समस्या के सम्बन्ध में उसने टामस ड्रेंट के बताये हुये नियमों का समर्थन किया, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वे उपयोगी न प्रमाणित हुये। सैद्धांतिक क्षेत्र में वह शास्त्रीयता का समर्थक था और कला को प्लेटो की भाँति मनुष्य के अनुभव के अभिव्यक्तीकरण का माध्यम मानता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वह काव्य का लक्ष्य इसलिये भी उच्चतर मानता था, क्योंकि उसके विचार में वह जीवन के स्तरीकरण का माध्यम तो है ही, स्तरीकरण की सम्भावनायें भी उत्पन्न करता है। इसीलिये उसने काव्य को अन्य ज्ञानों से श्रेष्ठतर तथा कवि को अन्य शास्त्रज्ञों से उच्चतर पद का अधिकारी माना है। इस दृष्टिकोण का एक कारण यह भी है, क्योंकि उसने जीवन के स्तरीकरण के अन्य माध्यमों तथा साधनों की अपेक्षा काव्य को अधिक व्यवहार्य भी प्रतिपादित किया है।

सिडनी की देन :—

ऊपर सिडनी की जिस पुस्तक "एपॉलोजी फार पोयट्री" का उल्लेख किया गया है, वह अपनी अनेक सीमाओं के होते हुए भी इस युग में लिखी गयी कृतियों में असाधारण महत्व की सिद्ध हुई। सिडनी के अधिकांश साहित्य सिद्धांत उसकी इसी पुस्तक में उपलब्ध हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वह रोमांस का समर्थक था। उसने काव्य या साहित्य में रूप तत्व को सदैव ग्राह्य और मर्यादित माना है। लाज की ही भाँति इसने भी गॅसपन के विचारों का खंडन किया है। उसने काव्य को अनुकरण का माध्यम तो माना ही, अनुकरण के प्रकारों की भी व्याख्या की। उसने इन प्रकारों का विषयों के अनुसार विभाजन भी किया। साहित्य में उसने पद्य की महत्ता गद्य से अधिक प्रतिपादित की है।

सिडनी ने अपने युग में सर्व प्रथम अँग्रेजी काव्य से विकास का अध्ययन करते हुये उसकी उपलब्धियों को आँका। अँग्रेजी काव्य की अपरिपक्वता के कारणों की ओर संकेत करते हुये उसने बताया कि अँग्रेजी कवियों ने कभी भी शास्त्रज्ञों के द्वारा निर्धारित और अनुमोदित सिद्धान्तों के पूर्णरूपेण पालन की आवश्यकता नहीं समझी। सिडनी साहित्यांगों के मिश्रित रूपों का सदैव विरोधी रहा।

काव्य विभाजन :—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सिडनी ने काव्य का विभाजन दो कोटियों में किया—(१) प्राचीन युगीन काव्य तथा (२) आधुनिक युगीन काव्य। इनमें से प्रथम वर्ग का काव्य अधिकांशतः मात्रा पर निर्भर करता था तथा द्वितीय वर्ग का काव्य संख्या, उच्चारण तथा लय पर। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि अपनी पुस्तक "एपॉलोजी फार पोयट्री" में उसने काव्य विषयक जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें अपने युग में

तो पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई ही, परवर्ती काल में भी उनका बहुत व्यापक प्रभाव रहा। दूसरे शब्दों में यह कृति एक युग प्रवर्तक रचना सिद्ध हुई।

इसकी इस असाधारण महत्ता का एक कारण यह भी है कि इस पुस्तक में युगीन चेतना के स्वर बोलते हैं। परन्तु इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि सिडनी का अपने समकालीन सभी चिन्तकों से मतैक्य था अथवा यह भी कि उसकी यह कृति सर्वथा निर्दोष है। वास्तव में सिडनी अपने समकालीन अनेक विचारकों से मतैक्य न रखता था। बहुत सी मान्यताओं का भी वह विरोधी था और बहुत से विषयों में दूसरों से मतभेद के बावजूद भी दृढ़ था। उदाहरण के लिये वह काव्य में लयात्मकता के तत्व का विरोधी न था। उसने काव्य के पद्यीकरण पर स्फुट रूप से कुछ विचार प्रकट किये हैं। दुर्भाग्यवश उसके इन विचारों ने समीक्षकों का ध्यान अधिक नहीं आकर्षित किया।

सिडनी के प्रमुख विचार :—

संक्षेप में, सिडनी के प्रमुख विचार दो हैं। प्रथम यह कि काव्य में पद्य तत्व अनिवार्य है। पद्यात्मकता का तत्व काव्य में कुछ इस प्रकार से अनिवार्य रूप में समाविष्ट रहता है कि उसे उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। और द्वितीय यह कि विविध साहित्य रूपों में आपेक्षिक दृष्टि से ट्रेजेडी या कामेडी बहुत सम्मानित या स्तरीय नहीं हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिडनी का यह दृढ़ विश्वास था कि पद्य गद्य से श्रेष्ठतर होता है। वह साहित्य में मिश्रित रूपान्तक या प्रसादान्तक रचना का भी सैद्धान्तिक विरोध करता था। वह काव्य को शरीर और आत्मा से युक्त मानता था। उसका विचार था कि चूंकि काव्य में शरीर और आत्मा दोनों ही होते हैं, इसलिये जहाँ तक उसके अलंकरण का सम्बन्ध है, उसके शरीर को तो अलंकरण से सुन्दर बनाया जा सकता था, परन्तु आत्मा को सौंदर्य युक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका विषय चयन बहुत ध्यानपूर्वक किया जाय। दूसरे शब्दों में, वह काव्य के बाह्य स्वरूप को सुन्दर बनाना आन्तरिक रूप को सुन्दर बनाने की अपेक्षा सरल समझता था।

सिडनी का महत्व :—

सिडनी अपने युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक विभूति था। अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में उसका स्थान आज भी विशिष्ट माना जाता है। सिडनी के विषय में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसमें प्रकांड पांडित्य के साथ ही साथ उच्च कोटि की

कुछ लोग शास्त्रीयता के अनुगमन के समर्थक थे और कुछ उसके विरोधी। यह उस का कट्टर समर्थक था। इसको "अंग्रेजी षट्पदी कविता का पिता" भी कहा जाता है।

विलियम वेब

प्रमुख विचार :—

हारवे के साथ ही विलियम वेब का नाम भी लिया जा सकता है। यह भी केम्ब्रिज में रहता था। यह "टैंग्रेड एण्ड गीसमंड" के रचयिता राबर्ट विल्मोट का मित्र था। अंग्रेजी पद्य में इसकी गहरी रुचि थी। स्पेंसर के विषय में वेब की धारणा अच्छी थी और यह उसे एक नवीन, प्रभावशाली और सशक्त कवि मानता था। यही नहीं, इसकी दृष्टि में वह अंग्रेजी साहित्य का महानतम कवि था। अपने समकालीन साहित्यिक वाद विवादों में इसने क्रियात्मक रूप से भाग लिया।

युगीन पद्य में जो नयी प्रणाली आरम्भ की जा रही थी, वेब ने उसका घोर विरोध किया। कुछ लोग उसकी इस मनोवृत्ति का कारण यह बताते हैं कि वह अंग्रेजी के श्रेष्ठ काव्यों से सुपरिचित न था और अपने अध्ययन की इसी अपूर्णता के कारण इतना मत वैशिष्ट्य रखता था। कहा जाता है कि इसको अंग्रेजी काव्य की उपलब्धियों का सम्यक् ज्ञान नहीं था। परन्तु इसको साहित्याध्ययन में गहरी अभिरुचि थी। यदि उसमें काव्य प्रतिभा का अभाव न होता तो वह निश्चित रूप से एक सफल पथ प्रदर्शक होता, क्योंकि उसने काव्य की परिभाषा, स्वरूप प्रकार तथा विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं, वे पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

पुटनहाम

परिचय तथा कृतियाँ :—

पुटनहाम वेब का समकालीन था। उसमें यद्यपि साहित्य के प्रति उतनी अभिरुचि नहीं थी, परन्तु अपनी संयमशीलता के कारण इसे एक सफल समीक्षक के रूप में वेब से अधिक मान्यता मिली। अपने "आर्ट आफ इंगलिश पोयजी" नामक ग्रन्थ में इसने बहुत विवेकपूर्ण और स्पष्ट शैली में सुसंगठित और क्रमबद्ध रूप में साहित्य सम्बन्धी अपनी

मान्यताओं और निष्कर्षों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसे लैटिन काव्य परम्परा का अच्छा ज्ञान था और यह उसकी उपलब्धियों से भी अपरिचित नहीं था। काव्य के विषय पर विचार करते हुये पुटनहाम ने उसमें दार्शनिक तत्वों के समावेश को औचित्यपूर्ण ठहराया है। काव्य के विविध रूपों और तत्वों पर इसने जितने विस्तार से अपने विश्लेषणात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं, उतने सम्भवतः इसके समकालीन किसी भी विचारक ने नहीं। इसने भाषा, शैली, शब्द चयन, छन्द रूप, लय तत्व आदि का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्हीं कारणों से अपने समकालीन विचारकों में इसे बहुत मान्य स्थान प्राप्त है।

सेमुएल डेनियल

परिचय तथा कृतियाँ :—

सेमुएल डेनियल का जन्म सन् १९६२ में हुआ था।[1] यह एक संगीत शिक्षक का पुत्र था। सन् १९६२ में इसने अपनी चतुष्पदियों का एक संग्रह "डेलिया" के नाम से प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् "कम्प्लायंट आफ रोजामंड" नामक रचना भी इसी वर्ष प्रकाशित हुई। फिर सन् १५९४ में "क्लियोपैट्रा", सन् १५९९ में "मुसोफिलस" या ' 'डिफेंस आफ लर्निंग", सन् १९०२ में "डिफेंस आफ राइम" सन् १६०५ में "फिलोटास" तथा इसके पश्चात् अन्य कृतियाँ प्रकाशित हुईं।

इसने काव्य में लय तत्व पर विशेष रूप से बल देते हुये इस मत का प्रतिपादन किया कि काव्य में लयात्मकता की उपेक्षा करना उचित नहीं है। इसके समकालीन अन्य कई विचारक भी इससे पूर्व इसी प्रकार का मत अभिव्यक्त कर चुके थे। इसने भी काव्य में लयात्मकता तथा लयात्मकता की समस्या पर हुये वाद विवाद से भाग लिया और अपने उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया। अपने मत के समर्थन में इसने यह भी कहा कि लयात्मकता से काव्य के सौन्दर्य में तो वृद्धि होती ही है, वह उत्कृष्ट काव्य

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 206.

पुटनहाम, हैरिंगटन, मियर्स, वेब्सटर तथा बोल्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से किंग जेम्स के विचार काव्य में छन्द तत्व पर ही विशेषतः विशिष्ट हैं। इसके पूर्व सर फिलिप सिडनी ने यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में लय तत्व अनिवार्य है। परन्तु किंग जेम्स उसके इस मन्तव्य से पूर्ण सहमति नहीं रखता था। इसका यह विचार था कि काव्य में लय तत्व का समावेश किया जा सकता है, परन्तु लय की आवश्यकता केवल विशिष्ट स्थलों पर ही होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वह सब प्रकार के छन्दों को भी मान्यता देने के लिये तैयार नहीं था। उसने लयात्मकता का विशेष रूप से वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। स्पेंसर की भाँति वह अंग्रेजी काव्य के हित में उसका सीमा निर्धारण कर देना आवश्यक समझता था।

एडमंड स्पेंसर

परिचय तथा कृतियाँ :—

यह जान स्पेंसर का ज्येष्ठ पुत्र था। इसका जन्म सन् १५५२ में ईस्ट, स्मिथ-फील्ड लन्दन में अनुमानित किया जाता है।[1] इसकी शिक्षा केम्ब्रिज के मर्चेंट टेलर्स स्कूल तथा पेम्ब्रोक हाल में हुई थी। इसने "एरियोपेगस" नाम की एक साहित्यिक संस्था की स्थापना की थी, जिसमें इसे सिडनी, डायर तथा अपने अन्य साहित्यिक मित्रों सहायता और सहयोग मिला था। यह हारवे का भी मित्र था। सन् १५८० में यह लार्ड ग्रे डी विल्टन का सचिव नियुक्त हुआ और उनके सहायक के रूप में आयरलैंड गया। इसके अगले वर्ष से इसने साहित्य रचना में अपना अधिक समय देना आरम्भ किया। सर फिलिप सिडनी पर इसने अपना "एस्ट्रोपेल" नामक शोक गीत इसी वर्ष लिखा।

कुछ समय पश्चात् इसने "दि रुइन्स आफ टाइम" के नाम से सिडनी पर ही एक और शोक गीत की रचना की। सन् १५९१ में इसने "डाफनायडा" शीर्षक से लार्ड बायंडन की पुत्री डगलस हावर्ड पर एक शोक गीत की रचना की। सन् १५९४ में स्पेंसर ने एलिजाबेथ बायल से विवाह किया। सन् १५९७ में यह किलकोमेन लौट

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 742.

आया। इसका स्वास्थ्य खराब हो गया था और मानसिक असन्तोष भी था। सन् १५९८ में इसकी गढी जला दी गयी थी। सन् १५९९ में लन्दन में मानसिक क्लेश की स्थिति में इसकी मृत्यु हो गयी। इसकी विशिष्ट रचनाओं में "दि फेयरी क्वीन", "शिपर्ड्स केलेन्डर", "एमोरेट्टी", "एपियलेमियन", "फोर हाइम्स", "व्यू आफ दि प्रेजेन्ट स्टेट आफ आयरलैंड" आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

गेब्रियल हारवे

परिचय तथा कृतियाँ :—

हारवे का जन्म सन् १५५४ में हुआ अनुमानित किया जाता है।[2] यह एक रस्सी बनाने वाले का लड़का था। उसकी शिक्षा दीक्षा केम्ब्रिज के क्राइस्ट्स कालेज में हुई थी। वहीं उसका परिचय स्पेंसर से हुआ था। इसी सम्पर्क के कारण उस पर उसका वैचारिक और साहित्यिक प्रभाव पडा। सन् १५७९ में उसने अपनी कुछ व्यंग्यात्मक कविताओं का प्रकाशन किया। सन् १५९२ में इसका "फाउरे लेटर्स" प्रकाशित हुआ। फिर "पायर्स सुपरइरोगेशन" सन् १५९३ में और "ट्रिमिंग आफ टामस नाशे" सन् १५९७ में प्रकाशित हुई। इसने लैटिन भाषा में साहित्य शास्त्र पर भी लिखा है।

इसने अपने समकालीन अन्य साहित्यकारों के साथ यह आवाज उठायी कि अंग्रेजी में शास्त्रीय छन्द रचना प्रारम्भ होनी चाहिये। जैसा कि पिछले कुछ साहित्यकारों के सन्दर्भ में लिखा जा चुका है, इस युग में साहित्य का स्वरूप धीरे धीरे निश्चित सा हो रहा था। इस कार्य में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं और प्रायः साहित्य चिन्तकों में जो पारस्परिक मतभेद था, वह इन्हीं कठिनाइयों को लेकर था। इसलिये इस युग में प्रायः सभी विचारशील साहित्यकारों ने इन प्रश्नों पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है। इस प्रकार के प्रश्नों में एक मुख्य प्रश्न काव्य में छन्द का था। छन्द प्रयोग के विषय में

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 743.
२. वही, पृ० ३५६।

सृजनात्मक प्रतिभा भी विद्यमान थी। इसीलिये उसका साहित्यिक क्षेत्र केवल साहित्य सिद्धान्तों तक ही सीमित न रहा वरन् क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसने विविध साहित्यांगों के माध्यम से अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को कलात्मक रूप से अभिव्यक्ति प्रदान की।

युगीन वातावरण के सन्दर्भ में यदि हम सिडनी के विचारों का अध्ययन करें, तो हमें इस तथ्य का परिचय मिलेगा कि सिडनी अपने समय में काव्य या साहित्य के प्रति दिखाये जाने वाले उपेक्षा भाव से बहुत अधिक असन्तुष्ट था। उसकी दृष्टि में यह एक विचित्र स्थिति थी कि काव्य या साहित्य का महत्व उच्च कोटि की चेतना से सम्पन्न विचारकों की दृष्टि में घट जाय, यद्यपि वह इसे प्रत्यक्षतः देख व अनुभव कर रहा था। एक प्रकार से उसके लिये ऐसी स्थिति अकल्पनीय और सर्वथा असह्य थी। अतः उसने तुरन्त इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह जहाँ तक हो सकेगा, तत्काल इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले भ्रामक विचारों और मतों का निर्मूलन करेगा। उसने इस दिशा में कार्य करना आरम्भ कर दिया और उसे अपने इस कार्य में सफलता भी मिली।

सिडनी की कृति "एपालोजी आफ पोयट्री" को देखने पर यह प्रतीत होता है कि सिडनी की काव्य विषयक धारणायें और विचार एक प्रकार के पुनीतता के भाव से परिपूर्ण हैं। इसीलिए वह स्थान स्थान पर कविता के माध्यम के लिये कविता की देवी जैसे शब्दों का प्रयोग करता रहा है, जो इस साहित्य माध्यम के प्रति उसकी अगाधता के परिचायक हैं।

सिडनी ने जो कवि को एक प्रकार का स्रष्टा कहा है। वह भी उसके इस माध्यम के प्रति उच्च भाव का सूचक है। ऐतिहासिक पर्यवेक्षण और युगीन अध्ययन के आधार पर सिडनी ने कवि को अन्य कलाकारों और दार्शनिकों से उच्चतर स्थान का अधिकारी बताते हुये यह कहा है कि एक स्रष्टा के रूप में कवि द्वारा की गयी सृष्टि मूल रूप से उसकी प्रतिभा द्वारा ही प्रेरित और उसी पर आधारित होती है। उसने इस कथन का विरोध किया है कि कवि द्वारा की गयी यह सृष्टि पूर्णतः काल्पनिक ही होती है, क्योंकि उसका यह विचार है कि कवि जो कुछ भी रचा है, वह अपनी प्रतिभा से और उसकी उस योजना से जो पहले उसके मस्तिष्क में विचारों के रूप में तैयार हो चुकती है। इसीलिए कवि की रचना प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती

है। यह सम्भावना इसलिये होती है, क्योंकि कवि यह सृष्टि ईश्वर की प्रेरणा से करता है।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त का मंडन करते हुये सिडनी ने कहा है कि काव्य अनुकरण की ही एक कला है। काव्य का उपदेश प्राचीन धारणा के अनुसार ही उसने भी उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति बताते हुये कहा है कि इनमें से किसी के भी अभाव में काव्य अपनी उच्च मर्यादा और महत्ता से हीन हो जाता है, अतः इनकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।

काव्यात्मक अनुकरण की महता और उपयोगिता सिडनी ने अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित और सिद्ध की है। वह कहता है कि काव्यात्मक अनुकरण बहुत से ऐसे विषयों को भी सर्वग्राह्य और सर्वसुलभ रूप में जन साधारण के सामने प्रस्तुत करता है, कि उसके अनुसरण की प्रेरणा स्वतः उत्पन्न होती है। इसलिये काव्यात्मक अनुकरण भी प्रधानतः और मूलतः सत्य का ही अनुकरण होता है, यद्यपि यह दूसरे माध्यमों की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें कवि की प्रतिभा और कल्पना का योग रहता है। इसीलिये वह दूसरे अनुकरणात्मक माध्यमों-ट्रेजेडी अथवा कामेडी को काव्यात्मक अनुकरण से हीनतर प्रतिपादित करता है।

कुल मिलाकर, सिडनी ने दृढ़तापर्वक अपने काव्य विषयक सिद्धान्तों और धारणाओं का प्रतिपादन और प्रतिष्ठापन करते हुये यह बताया है कि काव्य अनुकरण का एक माध्यम है और अन्य सभी माध्यमों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। इसके अतिरिक्त काव्य की प्रेरणा ईश्वरीय होती है। इसलिये कवि भी अन्य सभी विचारकों की अपेक्षा उच्चतर स्थान का अधिकारी होता है। कवि द्वारा की गयी रचना प्रकृति की रचनाओं से भी मोहक और आकर्षक हो सकती है, क्योंकि उसमें कवि की प्रतिभा द्वारा अभिभूत कल्पना का योग रहता है। इसलिये सिडनी स्पष्ट रूप से यह निर्दशित करता है कि प्रतिभा के अभाव में किसी व्यक्ति में काव्य शक्ति का उद्‌भव सर्वथा असम्भव है। केवल परिश्रम, अभ्यास अथवा अध्ययन से कोई व्यक्ति कवि नहीं बन सकता। अतः सिडनी ने यह निर्दशित किया है कि कवि बनने के लिये प्रतिभा प्राथमिक और अनिवार्य है।

किंग जेम्स

प्रमुख विचार :—

सिडनी ने परवर्ती समीक्षकों में किंग जेम्स, एडमंड स्पेंसर, विलियम वेब,

का एक लक्षण भी है। उसने यह भी बताया कि वह कवि के लिये एक प्रेरणा शक्ति का भी कार्य करती है।

फ्रांसिस बेकन

परिचय तथा कृतियाँ :—

फ्रांसिस बेकन का जन्म सन १५६१ में हुआ था।[1] यह सर निकोलस बेकन का छोटा पुत्र था। इसका जन्म स्ट्रैंड, लन्दन में यार्क हाउस में हुआ था। इसकी शिक्षा दीक्षा केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में हुई थी। इसने कानून का अध्ययन किया था और इसका सम्बन्ध पार्लियामेण्ट से भी था। सन् १६०६ में इसने एलिस बर्नेहम से विवाह किया था। सन् १६०७ में यह सालिसिटर जनरल, सन् १६१३ में एटार्नी जनरल तथा सन् १६१८ में लार्ड चांसलर बना। सन् १६२१ में इस पर घूसखोरी का अपराध लगाकर लांछित किया गया। इसलिये इसने अपने जीवन का अन्तिम भाग साहित्य और दर्शन के कार्य में ही लगाया। बेकन की लिखी हुई अनेक दार्शनिक और साहित्यिक कृतियों में "एसेज"[1] सन् १५९७, "डी सेपाइण्टिया वेटिरम" सन् १६०९, "एपाथेम्स न्यू एंड ओल्ड" सन् १६२४ तथा "दि न्यू इटलेण्टिस" सन् १६२६ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

काव्य में कल्पना तत्व :—

बेकन ने काव्य में कल्पना तत्व को वैशिष्ट्य प्रदान किया है। कल्पना का काव्य में महत्व बताते हुये उसने इस साहित्य माध्यम के विषय में कुछ मौलिक धारणायें बनाई हैं। वह कहता है कि काव्य एक प्रकार की असन्तोषजनित प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया कवि को इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह अपनी कल्पना को कोई भी इच्छित रूप दे। इसीलिये बेकन ने कल्पना को एक प्रकार की मानसिक शक्ति के रूप में मान्यता दी है।

काव्य विभाजन :—

बेकन ने विविध काव्य रूपों का परीक्षण करके उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया—(१) कथात्मक काव्य, (२) प्रतिनिध्यात्मक काव्य और (३) लाक्षणिक काव्य।

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 54.

काव्य तत्व :—

वेकन ने साहित्य और काव्य के तत्वों का भी विश्लेषण किया है। शैली के संबध मे वह यह कहता है कि शैली के मुख्य गुण सशक्तता तथा सहजता है। जिस साहित्यकार अथवा कवि की शैली इन गुणों से युक्त होगी, उसकी सफलता की सम्भावनायें बढ जायँगी। लेकिन शैली में इन गुणों का स्वतः अथवा स्वतन्त्र रूप से समावेश होने की सम्भावना नहीं होती। यह तभी हो सकता है, जब साहित्यकार द्वारा शब्द चयन मे निरन्तर सावधानी से काम लिया जाय।

इस प्रकार से वह काव्य के विविध तत्वों को परस्पर अन्तर्सम्बद्ध प्रतिपादित करके तब उनका आपेक्षिक महत्व निर्धारित करता है। इसीलिये उसने भाषा और शैली की सफलता और गुणात्मकता को भी एक दूसरे पर निर्भर बताया है। वस्तु तत्व को भी उसने महत्वपूर्ण माना है, परन्तु उसने कहा है कि किसी साहित्य रूप मे वस्तु तत्व तो ठोस होना आवश्यक है ही, साथ ही शब्दावली भी उपेक्षणीय नहीं है। इसी कथन के आधार पर वह यह भी कहता है कि प्राचीन कवियों को उनके वास्तविक रूप में समझना तब तक सम्भव नही, जब तक उनकी भाषा को भली भाँति न समझा जाय। इस प्रकार से उसने इन तत्वों का स्वतन्त्र महत्व स्वीकार करते हुये भी उनकी संयुक्तता की उपयोगिता बतायी है।

अन्य विचार और स्थापनायें :—

वेकन के समीक्षात्मक विचारों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उसके द्वारा किये गये साहित्य के मान निर्धारण के गम्भीर प्रयत्नों के बीच कहीं-कहीं अत्यन्त रोचक निष्कर्ष भी मिलते है। उदाहरण के लिये वह कहता है कि काव्य की निर्देशक शक्ति कल्पना होती है, उसी प्रकार से जैसे इतिहास की निर्देशक शक्ति मेधा अथवा दर्शन की ज्ञान। काव्य की परिभाषा करते हुये उसने उसे कल्पना मय ज्ञान कहा है। नाटक को उसने सारंगी बजाने वाली "बो" कहा है, जिसकी धुन से प्रतिभावान प्राणी भी चमत्कृत हो उठते हैं।

नाटक की प्रभावात्मकता के गुण का कारण उसने नाट्य गृह में बैठे हुये दर्शक गण की सामूहिक मनोवृत्ति को माना है। इसका एक और कारण उसने यह भी बताया है कि नाट्य गृह में चूंकि भारी संख्या में दर्शक गण एकत्र होते हैं, इसलिये उनमें रस सचार अधिकता से होता है। वेकन ने सर्वप्रथम विज्ञान और साहित्य के भेद का भी

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किया। यों उसके जो निबन्ध मिलते हैं, उनमें समीक्षात्मक विचारों का अभाव है। सिद्धांततः बेकन तर्कात्मकता तथा निष्कर्षात्मकता को उपेक्षणीय मानता था।

अन्य समीक्षक

इस युग की अन्य उल्लेखनीय प्रतिभाओं में सर जान हेरिंगटन, फ्रांसिस मियर्स, जान वेब्सटर, विलियम वाथन, बोल्टन, पीथम तथा टामस कैम्पियन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से जान हेरिंगटन का यह मत था कि साहित्य में लाक्षणिक व्याख्या को अधिक महत्व देना युक्तिसंगत नहीं है। पियर्स और वेब्सटर ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में ही अधिक क्रियाशीलता का परिचय दिया है। उपर्युक्त समीक्षकों में से अन्य ने प्रायः साहित्य और काव्य के रूपों पर स्फुट रूप से ही अधिकांशतः अपने विचार प्रकट किये हैं परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि इन विचारों में मौलिकता कम है, पूर्वकालीन समीक्षकों के मतों का प्रभाव अधिक।

उपर्युक्त लेखकों की कृतियों में टामस कैम्पियन की कृति "आब्जर्वेशंस इन दि आर्ट आफ इंगलिश पोयज" ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई। कैम्पियन ने लयात्मकता को काव्य में बहुत आवश्यक नहीं बताया है। यहाँ तक कि उसने काव्य में यथासम्भव लय तत्व के बहिष्कार पर भी बल दिया है। अपने कथन के पक्ष में उसने उन ग्रीक और लैटिन कवियों के उदाहरण दिये हैं, जो लय की उपेक्षा करते थे। कैम्पियन ने उन छन्दों का भी काव्य में प्रयोग की दृष्टि से विरोध किया है, जो भाषा के अनुरूप न हों।

बेन जॉनसन

परिचय तथा कृतियाँ :—

बेन जॉनसन का जन्म सन् १५७२ में वेस्ट मिनिस्टर में हुआ था।[1] उसने वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में ही प्राइमरी शिक्षा ग्रहण की थी। उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय

2. "The Oxford Companion to World Literature," Sir Paul Harvey, p. 419.

में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। सन् १५९७ में उसने हेंसलोज कम्पनी में अभिनय और नाट्य रचना का कार्य आरम्भ किया। उसके नाटकों में "एवरी मैन इन हिज ह्यूमर" का प्रदर्शन सन् १५९४ में कर्टेन में लार्ड चेम्बरलेंस कम्पनी द्वारा हुआ। इसका एक अभिनेता शैक्सपीयर भी था। "एवरी मैन आउट आफ हिज ह्यूमर" का प्रदर्शन ग्लोब में सन् १५९९ में हुआ। उसके "सिंथियाज रिवेल्स" तथा "दि पोयटास्टर" शीर्षक नाटक क्रमशः सन् १६०० तथा १६०१ में "क्वींस चैपल" में बाल अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किये गये।

सन् १६०३ में उसके "सिजेनस" नामक दुखान्तक नाटक का प्रदर्शन "ग्लोब" में शैक्सपीयर्स कम्पनी द्वारा हुआ। उसके अन्य सफलतापूर्वक प्रदर्शित नाटकों में "वोल्पोन" (सन् १६०६), "एपीसीन" या "दि साइलेंट वूमन" (सन् १६०९), "दि पाल कैमिस्ट" (सन् १६१०), "वार्थोलोम्यू फेयर" (सन् १६१६) आदि हैं। सन् १६१६ में जेम्स प्रथम ने पेंशन प्रदान की और उसका सम्मान किया। सन् १६१८ में वह स्काटलैंड गया। उसने अपने अन्तिम महान् नाटक "दि स्टैपल आन्यूब" की रचना सन् १६२५ में की। सन् १६२८ में वह लन्दन में क्रानोलाजर निर्वाचित हुआ। सन् १६२६ में "दि न्यूज इन" नामक उसके सुखान्तक नाटक का प्रदर्शन हुआ, जो सफलता न प्राप्त कर सका। उसके साहित्यिक मित्रों में बेकन, सेल्डेन, चेपमैन, ब्यूमोंट, प्लेचर, डोन तथा शैक्सपीयर आदि के अतिरिक्त हेरिक, सक्लिंग, सर कैनेम डिग्बी तथा लार्ड पैम्लैंड आदि भी थे। सन् १६३७ में उसकी मृत्यु हुई।[1]

काव्य का स्वरूप तथा प्रयोजन :—

बेन जानसन एलिजाबेथियन युग का महानतम समीक्षक और साहित्यकार माना जाता है। उसका समय पुनर्जागरण काल के अन्तर्गत ही यहाँ रखा गया है, यद्यपि उसने अपने परवर्ती साहित्य विचारकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। साहित्य शास्त्र के एक महान् अध्येता के रूप में उसने साहित्य तथा उसके विविध रूपों पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं तथा उनके विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन किया। वह काव्य के महत्व का समर्थक था। किन्हीं कारणों से उसकी धारणा अंग्रेजी कवियों

1. "The Oxford Companion to English Literatnre," Sir Paul Harvey, p. 49.

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किया। यों उसके जो निबन्ध मिलते है, उनमें समीक्षात्मक विचारों का अभाव है। सिद्धांततः बेकन तर्कात्मकता तथा निष्कर्षात्मकता को उपेक्षणीय मानता था।

अन्य समीक्षक

इस युग की अन्य उल्लेखनीय प्रतिभाओं में सर जान हेरिंगटन, फ्रांसिस मियर्स, जान वेब्सटर, विलियम वाथन, बोल्टन, पीयम तथा टामस कैम्पियन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से जान हेरिंगटन का यह मत था कि साहित्य में लाक्षणिक व्याख्या को अधिक महत्व देना युक्तिसंगत नहीं है। मियर्स और वेब्सटर ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में ही अधिक क्रियाशीलता का परिचय दिया है। उपर्युक्त समीक्षकों में से अन्य ने प्रायः साहित्य और काव्य के रूपों पर स्फुट रूप से ही अधिकांशतः अपने विचार प्रकट किये हैं परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि इन विचारों में मौलिकता कम है, पूर्वकालीन समीक्षकों के मतों का प्रभाव अधिक।

उपर्युक्त लेखकों की कृतियों में टामस कैम्पियन की कृति "आब्जर्वेशंस इन दि आर्ट आफ इंगलिश पोयज" ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई। कैम्पियन ने लयात्मकता को काव्य में बहुत आवश्यक नहीं बताया है। यहाँ तक कि उसने काव्य में यथासम्भव लय तत्व के बहिष्कार पर भी बल दिया है। अपने कथन के पक्ष में उसने उन ग्रीक और लैटिन कवियों के उदाहरण दिये हैं, जो लय की उपेक्षा करते थे। कैम्पियन ने उन छन्दों का भी काव्य में प्रयोग की दृष्टि से विरोध किया है, जो भाषा के अनुरूप न हों।

बेन जॉनसन

परिचय तथा कृतियाँ :—

बेन जॉनसन का जन्म सन् १५७२ में वेस्ट मिनिस्टर में हुआ था।[2] उसने वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में ही प्राइमरी शिक्षा ग्रहण की थी। उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय

2. "The Oxford Companion to World Literature," Sir Paul Harvey, p. 419.

मे विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। सन् १५९७ में उसने हेंसलोज कम्पनी में अभिनय और नाट्य रचना का कार्य आरम्भ किया। उसके नाटकों में "एवरी मैन इन हिज ह्यूमर" का प्रदर्शन सन् १५९४ में कर्टेन में लार्ड चेम्बरलेंस कम्पनी द्वारा हुआ। इसका एक अभिनेता शैक्सपीयर भी था। "एवरी मैन आउट आफ हिज ह्यूमर" का प्रदर्शन ग्लोब में सन् १५९९ में हुआ। उसने "सिंथियाज रिवेल्स" तथा "दि पोयटास्टर" शीर्षक नाटक क्रमश: सन् १६०० तथा १६०१ में "क्वींस चेपल" में बाल अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किये गये।

सन् १६०३ में उसके "सिजेनस" नामक दुखान्तक नाटक का प्रदर्शन "ग्लोब" मे शैक्सपीयर्स कम्पनी द्वारा हुआ। उसके अन्य सफलतापूर्वक प्रदर्शित नाटकों मे "वोल्पोन" (सन् १६०६), "एपीसीन" या "दि साइलेंट" वूमन" (सन् १६०९), "दि पाल कैमिस्ट" (सन् १६१०), "बार्थोलोम्पू फेयर" (सन् १६१६) आदि है। सन् १६१६ मे जेम्स प्रथम ने पेंशन प्रदान की और उसका सम्मान किया। सन् १६१८ में वह स्काटलैंड गया। उसने अपने अन्तिम महान् नाटक "दि स्टैप्स आन्यूब" की रचना सन् १६२५ में की। सन् १६२८ में वह लन्दन में क्रानोलाजर निर्वाचित हुआ। सन् १६२६ में "दि न्यूज इन" नामक उसके सुखान्तक नाटक का प्रदर्शन हुआ, जो सफलता न प्राप्त कर सका। उसके साहित्यिक मित्रों में बेकन, सेल्डेन, चेपमैन, ब्यूमोंट, प्लेचर, डोन तथा शैक्सपीयर आदि के अतिरिक्त हेरिक, सक्लिग, सर कैनेम डिग्बी तथा लार्ड पैम्लैंड आदि भी थे। सन् १६३७ में उसकी मृत्यु हुई।[1]

काव्य का स्वरूप तथा प्रयोजन :—

बेन जानसन एलिजाबथियन युग का महानतम समीक्षक और साहित्यकार माना जाता है। उसका समय पुनर्जागरण काल के अन्तर्गत ही यहाँ रखा गया है, यद्यपि उसने अपने परवर्ती साहित्य विचारकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। साहित्य शास्त्र के एक महान् अध्येता के रूप में उसने साहित्य तथा उसके विविध रूपों पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं तथा उनके विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन किया। वह काव्य के महत्व का समर्थक था। किन्हीं कारणों से उसकी धारणा अंग्रेजी कवियो

1. "The Oxford Companion to English Literatnre," Sir Paul Harvey, p. 49.

तथा नाटककारों के विषय में बहुत अच्छी नहीं थी। वह बहुधा उनका विरोध भी करता था। उसका अपना विचार यह था कि साहित्य के क्षेत्र में अधिक सन्तोषजनक प्रगति न हो पाने का एक मुख्य कारण भाषा की निर्धनता भी थी। उसकी प्रसिद्ध समीक्षा कृतियाँ "दि पोयटास्टर", "कनवर्सेशंस" तथा "डिस्कवरीज" आदि में अभिव्यक्त विचारों और प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य विषयक उसका ज्ञान और विवेक बहुत ठोस और यथार्थ था। इससे यह भी पता चलता है कि उसकी साहित्यिक विचारधारा कितनी अधिक सुनियोजित है।

बेन जॉनसन साहित्य के क्षेत्र में शास्त्रीयता का पक्षपाती था। उस पर होरेस, सेनेका, क्विटीलियन, लौटेस तथा टेरेन्स आदि का भी प्रभाव न्यूनाधिक रूप में पड़ा था। उसने बहुत दृढ़तापूर्वक अपने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया है कि काव्य रचना का मूल स्रोत शास्त्रीय अनुकरण ही है। उसके विचार से काव्य का मुख्य प्रयोजन जीवन की श्रेष्ठ विधि का संकेत है। इसलिये श्रेष्ठ कवि बनने के लिये श्रेष्ठ जीवन की स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, कोई तब तक अच्छा कवि नहीं बन सकता, जब तक कि वह अच्छा मनुष्य न बन चुका हो। उसने साहित्य के माननिर्धारण की दिशा में अपनी इन्हीं धारणाओं के आधार पर प्रयत्न किया। वह काव्य में व्यवस्था तथा समानता पर बहुत अधिक गौरव देता था। उसके इस प्रकार के मन्तव्य उसके अगाध पांडित्य और प्रतिभा के द्योतक हैं।

कवि की योग्यतायें :—

काव्य कला और शास्त्र पर गम्भीर चिन्तन करने के पश्चात बेन जॉन्सन ने अपनी "डिस्कवरीज" में एक कवि के लिये कुछ आवश्यक योग्यताओं का निर्देशन किया है। इनमें से प्रथम यह है कि एक कवि में स्वाभाविक बुद्धि होनी चाहिये। इसकी आवश्यकता इस कारण से है कि केवल नियमित अभ्यास से और विविध सिद्धांतों का अनुगमन करने से ही काव्य कला को आत्मसात् करना सम्भव नहीं है और न कवि बन सकना ही। अतः कवि में नैसर्गिक प्रतिभा का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार से कवि में काव्य कला के प्रति जन्मजात् प्रेरणा होना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि वह प्रौढ़ अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य प्रकार के आकर्षण से इस क्षेत्र में आयेगा, तब तो यह सम्भव होगा कि वह शीघ्रता से काव्य रचना कर सके, परन्तु श्रेष्ठ काव्य लेखन इससे न हो सकेगा।

बन जॉनसन ने कवि के लिये अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति भी आवश्यक बतायी है, परन्तु अनुकरण कोरा नहीं होना चाहिये। इस प्रकार के अनुकरण का यह भाव स्वतन्त्र होना चाहिये अन्यथा काव्य में मौलिकता की सम्भावनायें समाप्त हो जायँगी। कवि के लिये सूक्ष्म, गहन और व्यापक अध्ययन भी बहुत आवश्यक है। वस्तुतः यही अध्ययन कवि के जीवन की पूँजी होती है और इसी पर उसकी प्रतिष्ठा का भवन खड़ा होता है। जॉनसन चूंकि स्वयं भी शास्त्रीयता का भारी समर्थक था और पूर्ववर्ती महत्वपूर्ण परम्पराओं की उपलब्धियों की भी अवगति रखता था इसलिये उसने कवि के लिये शास्त्रीय नियमों और सिद्धांतों का ज्ञान भी आवश्यक बताया है। उसके मतानुसार कोई कवि इनसे जितना अधिक परिचित होगा, अपनी प्रतिभा के योग से उतना ही काव्य विवेक अपने आप में जगा सकेगा और काव्य को परख भी सकेगा।

काव्य के तत्व :—

बेन जॉनसन काव्य में नैतिकता के तत्व के समावेश का बड़ा हामी था। वह कहता है कि इसके समावेश के बिना काव्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता। इसी के साथ वह यह भी बताता है कि कवि के अपने जीवन में भी नैतिकता का बहुत महत्व है। जो कवि स्वयं नीतिवान नहीं है, वह श्रेष्ठ काव्य का प्रणयन नही कर सकता। काव्य मे छन्द तत्व पर विचार करते हुये उसने लयात्मकता का विश्लेषण भी किया है। उसके विचार से काव्य में प्रयुक्त छन्द प्रकारों में दोहे में जो लयात्मकता होती है, वह श्रेष्ठतम है। इन विषयों में वह स्पैंसर, जॉन डन, शैक्सपीयर, एब्राहम, फ्रांसिस, डेनियल तथा पेट्रार्क आदि का विरोधी था; यद्यपि होरेस, सेनेका तथा क्विंटीलयन की विचारधाराओं का उसके ऊपर भारी प्रभाव पड़ा था।

लैटिन साहित्य की परम्परा से भी बेन जॉनसन बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। नैतिकता तथा अन्य तत्वों के काव्य में समावेश पर उसने इस कारण भी गौरव दिया है, क्योंकि वह यह समझता था कि काव्य की श्रेष्ठता के लिये वह अनिवार्य है। उसके विचारों को देखते पर यह प्रतीत होता है कि उसने सर्वाधिक बल सर्वश्रेष्ठता पर दिया है। उदाहरण के लिये वह यह निर्देशित करता है कि केवल सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों की कृतियों का ही पारायण करना चाहिये। इसी प्रकार से, केवल सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं के भाषणों का ही श्रवण करना चाहिये। उसने यह भी निर्देश दिया है कि शैली के क्षेत्र मे निजता और मौलिकता पर ही ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये, क्योंकि मुख्यतः साहित्यकार

अपनी निजी शैली का ही परिष्कार कर सकता है। शैली की संक्षिप्तता पर भी उसने जोर दिया है। उसने शैली के विषय में लिखा है कि शैली केवल वस्त्र ही नहीं है, वरन् विचारों का शरीर भी है।

नाटक और उसके रूपों का विवेचन :—

क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में बेन जॉनसन एक सफल नाटककार के रूप में मान्य है। उसके लिखे हुये विविध नाटक बहुत ठोस माने गये हैं। इसका एक कारण यह भी है कि उसके नाटकों में उन नाटकीय तत्वों और भावनामय पात्रों का अभाव है, जो नाटक में हल्कापन ला देते हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि शास्त्रीयता और नियमानुगामिता का कट्टर समर्थक होते हुये भी उसने अपने नाटकों में युगीन प्रचलित सभी नाट्य नियमों का पालन नहीं किया है, यद्यपि वे भी उसी प्रकार के थे। यों वह स्वभाव से ही व्यवस्था का पक्षपाती था।

ट्रेजेडी :—

नाटक के रूपो मे सर्वप्रथम ट्रेजेडी के विषय में उसने लिखा है उसमें शास्त्रीय नियमों का अनुगमन तो होना ही चाहिये, साथ ही साथ उसकी कथावस्तु का आधार यथार्थात्मकता होनी चाहिये। उसके पात्रों में गम्भीरता होनी आवश्यक है। ट्रेजेडी की भाषा की ओर भी लेखक को पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। विशेष रूप से इस बात का विचार करना आवश्यक है कि उसके पात्र जो भाषा बोलें, वह सोद्देश्य और तत्वपूर्ण हो।

कॉमेडी :—

बेन जॉनसन ने ट्रेजेडी की अपेक्षा कॉमेडी की व्याख्या अधिक विस्तार से की है। उसने यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनों में कोई उपकरणगत भेद नहीं है। उसके मतानुसार इनमें लक्ष्यगत वैभिन्न्य भी नही है, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य आनन्दानुभूति और उपदेशात्मकता है। ट्रेजेडी अपने करुण दृश्यों की योजना द्वारा नैतिकता की शिक्षा देती है, परन्तु कामेडी मूर्खता को उपेक्षणीय कह कर नैतिक होने की प्रेरणा देती हैं। कॉमेडी में लेखक मानवीय चरित्र की कमियों की विवृति करता है, जिससे लोगों का ध्यान उनकी ओर जाय और वे उनसे मुक्त होने की चेष्टा करें। इस प्रकार से इन दोनों का उद्देश्य समान है। यों ट्रेजेडी का सम्बन्ध उच्चता एवं असाधारणता से होता है, परन्तु कॉमेडी सामान्य अनुभवों पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडी का

बाह्य आधार भी होता है, परन्तु कॉमेडी का नहीं। उसने कॉमेडी में हास्य तत्व को समाज सुधारक माना है।

बेन जॉनसन के नाटक और उसके विविध रूपों सम्बन्धी इन विचारों के विषय मे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसके समकालीन नाटककारों द्वारा लिखी गयी कॉमेडी कृतियाँ उसकी मान्यताओं पर खरी नहीं उतरती थीं, इसीलिये उसने उन्हें ग्राह्य नही ठहराया।

बेन जॉनसन की देन :—

पुनर्जागरणकालीन महान् समीक्षकों की कड़ी में ही बेन जॉनसन का भी उल्लेख किया जाता है;. यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से आगामी काल में ही उसका महत्व सिद्ध हुआ। वह शास्त्रीयता का अनुगामी और व्यवस्था का हामी था। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण से कुछ कमियाँ स्पष्ट हैं, परन्तु उसने दृढ़ता-पूर्वक उनका नियमन किया है। वह साहित्य में अपूर्णता और विधिहीनता का विरोधी था। इन्हें वह साहित्यिक दोष मानता था और इस प्रकार की कमियों से बचने के लिये उसने शास्त्रीय ज्ञानार्जन का अनुमोदन किया है।

जहाँ एक ओर अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन अनेक समीक्षकों का वह कट्टर विरोधी था, वहाँ दूसरी ओर कुछ चिन्तकों से पूर्ण सहमति भी रखता था, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह संक्षिप्तता, क्रमबद्धता, शास्त्रीयता तथा समरूपता पर बल देता था। उसके मन्तव्यों के विषय में प्राय: यह भी कहा जाता है कि वे अपूर्ण और एकांगी हैं। इसका कारण किसी सीमा तक उसके दृष्टिकोण का पूर्वाग्रह युक्त होना भी है। परन्तु उसकी समीक्षा पद्धति में युगीन विशेषताओं और प्रवृत्तियों का भी प्रतिनिधित्व हुआ है। अंग्रेजी के उन समीक्षकों में बेन जॉनसन अग्रगण्य है, जो समीक्षक के रूप में मान्यता प्राप्त होने के साथ ही साथ एक क्रियात्मक साहित्य सर्जक के रूप मे भी सम्मान्य हैं।

सोलहवीं शताब्दी तक फ्रांसीसी समीक्षा

विषय क्षेत्र :—

सोलहवीं शताब्दी तक फ्रांस में जो समीक्षात्मक चिन्तन हुआ, उसका आधार प्राय: ग्रीस और रोम की साहित्य शास्त्रीय परम्पराएँ ही थीं। इन्हीं परम्पराओं के आधार

पर वहाँ भी शास्त्रीय विषयों पर शास्त्रीय शैली में विचार विमर्श होता रहा। भाषण कला, काव्य, नीति, दर्शन और धर्म के स्वरूप और मर्यादा के सम्बन्ध में इस समय वहाँ भिन्न-भिन्न सिद्धांत प्रचलित थे। सोलहवीं शताब्दी में जब पुनः एक नवीन युग का आरंभ हुआ, तब फ्रांस में बोकेशियो और शेविये आदि के विचारों का पर्याप्त प्रभाव था।

काव्य का स्वरूप :—

इस समय तक काव्य के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले जिन सिद्धांतों का फ्रांस मे प्रचार था, उनमें भी बोकेशियो, शेविये तथा ग्रेवे आदि के ही नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उपर्युक्त तथा कुछ अन्य विचारकों ने काव्य के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं तथा साहित्य के विविध रूपों का विवेचन करते समय जिस दृष्टिकोण का परिचय दिया है, उसको देखने पर यह मालूम होता है कि ये विचारक काव्य, नीति, धर्म तथा दर्शन आदि विषयों को स्वतन्त्र रूप से मान्य और विवेचित नही करते थे। वे इन विषयों में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध समझते थे।

उपर्युक्त से जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, उनका विचार था कि उसमें एक प्रकार की अलौकिकता है। इसके अतिरिक्त उनके समय तक धार्मिक काव्य और उसकी प्राचीनता भी निर्विवाद रूप से सत्य सिद्ध हो चुकी थी। जनता ने भी धार्मिक काव्य को स्वीकार किया था और उसका उससे कल्याण भी हुआ था। इसलिये ये विचारक समझते थे कि काव्य में वह शक्ति है कि वह सभी मनुष्यों को नीति और धर्म की शिक्षा दे सके। काव्य के अतिरिक्त विविध नाट्य रूपो के विषय में भी इसी प्रकार के ऊँचे आदर्शों और महान् लक्ष्यों की कल्पना इन विचारकों ने की।

भाषण शास्त्र :—

फ्रांस में सोलहवीं शताब्दी तक भाषण शास्त्र का भी पर्याप्त वैचारिक चिन्तन हुआ। इस सम्बन्ध में एक नवीन धारणा यह प्रचलित रही कि काव्य भी भाषण कला का ही एक प्रकार है। इस सम्बन्ध में ज्यू वेले और गोसा आदि विचारकों में परस्पर वाद विवाद भी हुआ और अन्त में प्लेटो और अरस्तू आदि के द्वारा निर्धारित रेखाओं पर अनुकरण के सिद्धान्त का पुनर्परीक्षण हुआ तथा उसकी नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की गई। अन्तर्देशीय सम्बद्ध विचारों की भी उपेक्षा न हुई और इन व्यवस्थाओं को यथासम्भव एक पूर्ण रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी।

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, इस शताब्दी तक शैविये ने समकालीन साहित्य चिन्तन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। उसने साहित्य के विविध रूपों और तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया और महाकाव्य, दुखान्तक नाटक, प्रहसन और छन्द के रूपों की व्याख्या की। इन सबका निर्णय करते समय दृष्टिकोण में तो मौलिकता रही, परन्तु उनका आधार यूनानी व रोमीय सिद्धांत ही रहे।

सोलहवीं शताब्दी तक इटैलियन समीक्षा

नव युग का प्रवर्तन : दान्ते :—

इटली की समीक्षा में सोलहवीं शताब्दी तक जो प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहीं, उनको देखने से यह प्रतीत होता है कि इस समय तक वहाँ एक नये युग का प्रवर्तन हो चुका था। इस युग की पृष्ठभूमि का नियोजन करने वालों में दान्ते तथा पेट्रार्क आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दान्ते का महत्व समीक्षात्मक मूल्यों के परिचय की दृष्टि से असाधारण है। यह तुलनात्मकता पर अपेक्षाकृत अधिक गौरव देता था। इसने रूप और भाषा पर भी विशेष बल देने का समर्थन किया।

इटली के मध्य युगीन रचनात्मक साहित्यकारों में भी दान्ते का स्थान सर्वोच्च है। इस दृष्टिकोण से इसकी रचना "डिवाइन कॉमिडी" इटैलियन रचनात्मक साहित्यों की असाधारण उपलब्धि है। "डिवाइन कॉमिडी" के अतिरिक्त उसने कई अन्य कृतिय की भी रचना की थी, जिनमें वैचारिक निदर्शन की दृष्टि से "कनवाइवियरो" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस रचना में दान्ते ने अरस्तू के कुछ दार्शनिक सिद्धांतों का अनुमोदन किया है।

महाकाव्य का स्वरूप :—

दान्ते लिखित "डिवाइन कॉमिडी" इटली के महान् रचनात्मक साहित्य में गिनी जाती है। इस महाकाव्य में उसने जो कथा प्रस्तुत की है, उसका विभाजन तीन खंडों में किया है। दान्ते ने अपनी इस रचना को महाकाव्य मानते हुए उसके लिए "कॉमिडी" शब्द का प्रयोग किया था, जिसका आशय ग्राम्य भाषा और शैली में लिखी गयी काव्य रचना से है। दान्ते की इस कृति की रचना के बाद से ही इस नाम का प्रचार बढ़ा।

नैतिकआदर्श की प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी दान्ते की यह कृति विशिष्ट है। इसने अपने इस महाकाव्य में धर्म के व्यावहारिक अनुगमन की सम्भावनाओं का निदर्शन किया है।

पेट्रार्क

प्रमुख विचार :—

दान्ते की भाँति ही पेट्रार्क की गणना भी इटली के अत्यन्त विवेकपूर्ण चिन्तकों में की जाती है। इसने अपने सामने दान्ते के ही विचारों को आदर्श रूप में रखा। इसने नवीनतावादी विचारों को बिल्कुल प्रश्रय नहीं दिया। स्वयं भी उसने किसी नवीन वैचारिक आन्दोलन का सूत्रपात नहीं किया। यही नहीं, उसने नवीन कवियों का मूल्यांकन करते समय जिस प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाया, वह भी शुद्ध और व्यापक नहीं था। इसका मुख्य कारण यही है कि उसका आग्रह नवीनता की अपेक्षा प्राचीनता की ओर अधिक है। पेट्रार्क के कुछ विचार धार्मिकता से भी आगृहीत प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए वह काव्य का धार्मिक महत्व और उपयोगिता भी स्वीकार करता था। यह भी उसके परम्परावादी दृष्टिकोण का ही सूचक है।

अन्य विचारक

इस शताब्दी तक की अन्य प्रतिभाओं में वीडा, डैनीलियो, केस्टेलवेट्रो, पेट्रिजी, पोलिटियन तथा मिनटर्नो आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी साहित्य विचारक शास्त्रीयता के अनुमोदक थे। परन्तु इन लोगों के विचारों का परवर्ती साहित्यकारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी कारण इन लोगों का महत्व इन परम्पराओं के विकास में योग देने के कारण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही अधिक है। पोलीटियन, स्कालीगर और वीडा ने प्रायः साहित्य के विविध रूपों और उनकी शास्वतता से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर विचार किया। वीडा ने प्राचीन शास्त्रीय साहित्य का अध्ययन किया और अन्त में सभी साहित्यिक माध्यमों की तुलना में महाकाव्य के असाधारण महत्व पर गम्भीर वाद विवाद हुआ। महाकाव्य के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न उठाये गये। अनेक विद्वानों ने इसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। इस विषय में जो दृष्टिकोणगत

भेद पाया गया वह यह था कि कुछ लोगों के मत में रोमांटिक तत्वों के समावेश का महाकाव्य में अधिक महत्व था तथा कुछ के विचार से उदारता के तत्वों का।

युगीन मान्यताएँ :—

इटली में सोलहवीं शताब्दी तक साहित्य चिन्तन के क्षेत्रों में बहुत गतिशीलता रही। विविध साहित्य रूपों और उनके तत्वों का सैद्धांतिक विवेचन हुआ और प्राचीन यूरोपीय काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी विचार हुआ। अरस्तू के काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक आधार के पक्ष विपक्ष में विवाद हुआ और उसकी प्रामाणिकता का परीक्षण किया गया। साहित्य के विविध रूपों के सम्बन्ध में नवीन सैद्धांतिक रचना की गयी, यद्यपि इसका आधार प्राचीन नियम ही रहे।

इस शताब्दी के अन्त तक प्रायः यही स्थिति रही। यद्यपि अब तक साहित्य चिन्तन का स्वरूप कुछ स्थिरता प्राप्त करने लगा था। नवीनता अथवा प्राचीनता के प्रति विचारकों में कोई विशेष आग्रह या दुराग्रह नहीं रह गया था और उनके वैज्ञानिक परीक्षण के पश्चात् जो निष्कर्ष सामने आये थे उनके आधार पर भावी प्रगति का मार्ग निर्धारित हो रहा था। विविध साहित्य ·सिद्धांतों के प्रति उदासीनता दूर हो रही थी और वैचारिक आन्दोलनों में लोगों ने रुचि लेना आरम्भ कर दिया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस पुनर्जागरण काल में साहित्य के विविध रूपों के प्राचीन स्वरूप और मान्यताओं के विषय में अनेक क्रान्तिकारी सिद्धांतों की रचना की गयी थी और इस मत का समर्थन हुआ था कि साहित्य या कला के क्षेत्र में अन्य विषयों के तात्विक समावेश की मर्यादा निर्धारित हो जानी चाहिये, जिससे किसी प्रकार का अतिक्रमण न होने पाये। विशेष रूप से काव्य, इतिहास, नीतिशास्त्र, कला और दर्शन शास्त्र आदि की पृथक्-पृथक् सीमा और मर्यादा का निर्धारण किया गया।

सोलहवीं शताब्दी तक स्पेनी समीक्षा

इसिडोर का आविर्भाव :—

स्पेन में समीक्षा के विकास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि वहाँ पर समीक्षात्मक चिन्तन का आरम्भ छठी शताब्दी के लगभग से आरम्भ हुआ। इस समय वहाँ पर धर्म भावना के विशेष आग्रह के कारण सेंट इसिडोर आदि विचारकों

ने साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध में जो विचार विमर्श किया उसमें भी धार्मिकता की प्रधानता रही। इसिडोर काव्य में कला और सौंदर्य के सम्बन्ध को ही आदर्श मानता था। उसका विचार था कि काव्य के विविध तत्वों का औचित्यपूर्ण सन्तुलन ही काव्य की कला है। उसने क्विंटीलियन आदि रोमीय समीक्षकों के कुछ विचारों का समर्थन किया है। वह धर्म या नीति का साहित्य के विकास में भारी योग मानता था। इसीलिये उसका यह निश्चित विचार था कि साहित्य में धर्म तत्व और नीति तत्व का अधिकता से समावेश होना चाहिये।

काव्य पर विचार :—

इसिडोर ने उपर्युक्त कारण से ही ऐसे समस्त काव्य रूपों का विरोध किया है जिनमें धर्म और नीति के तत्वों का अभाव हो। उसका यह भी विचार था कि उपर्युक्त तत्वों से रहित साहित्य या काव्य असात्विक वृत्तियों के प्रोत्साहन का कारण होता है। वह यह भी मानता था कि काव्य रचना के प्रेरणा स्रोत मूलतः धर्म और ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये वही कवि यथार्थ रूप में श्रेष्ठ काव्य रचना कर सकता है, जो एकेश्वरवादी हो; क्योंकि जो व्यक्ति एकेश्वरवादी होगा उसकी भावना में अनन्यता होगी। इसके विपरीत जो कवि बहु ईश्वरवादी होगा वह काव्य सौन्दर्य के स्थायी तत्वों से हीन और केवल वाह्य खोखले आकर्षण से युक्त काव्य रचना कर सकेगा। उसका काव्य आन्तरिक गहराई से पूर्ण नहीं होगा। उसमें गुण तत्व का पूर्ण अभाव होगा तथा उसका दृष्टिकोण भी विवेकहीन होगा।

अन्य समीक्षक

इसिडोर के पश्चात् जो समीक्षा विकसित हुई, उसमें भी उसके प्रभावस्वरूप धार्मिक वृत्ति की प्रधानता रही। लगभग चार सौ वर्षों तक साहित्य और समीक्षा विषयक धार्मिक दृष्टिकोण ही वहाँ पर मान्य और प्रचलित रहा। इसके पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग से इस दृष्टिकोण में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा और फिर लोग साहित्य समीक्षा के सन्दर्भ में धर्म तत्व की अपेक्षा दर्शन तत्व को अधिक महत्व देने लगे। इसके अतिरिक्त जहाँ तक कलात्मकता का प्रश्न है, उसकी दृष्टि से भी पूर्ववर्ती दृष्टिकोण की अपेक्षा यह अधिक संयत और पूर्ण था।

बारहवीं शताब्दी में जब स्पेनी समीक्षा के क्षेत्र में आवेम्पेस का आविर्भाव हुआ तब उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि काव्य कला अन्य कलाओं की अपेक्षा उच्चतर कोटि की है। उसका विचार है कि इसी कारण से काव्य का सम्बन्ध बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूतियों और भावनाओ से अधिक होता है और इसीलिये हृदय की उच्चतर भाव भूमि पर ही इसका आनन्द लिया जा सकता है। क्योंकि वहीं पर इसका उदात्त स्वरूप उद्घाटित होता है। आवेम्पेस के पश्चात् उसके इन विचारों का अनुमोदन मैमोनीडेस आदि ने भी किया। उन्होंने भी यही कहा कि काव्य का यथार्थ सौन्दर्य एक आन्तरिक वस्तु है, जिसका बाह्य आकर्षण मिथ्या होता है।

इस प्रकार से बारहवीं शताब्दी तक आते-आते स्पेन में समीक्षात्मक चिन्तन का न केवल उदय हो चुका था, वरन् उसका विकास भी समुचित रूप से होने लगा था। साहित्य और काव्य के विविध रूपों, तत्वों एवं भाषण कला आदि के विषय में परम्परा-गत अध्ययन करते हुए विचारक यथासम्भव मौलिक योगदान की भी चेष्टा करने लगे थे। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चिन्तन का दृष्टिकोण धार्मिकता और दार्श-कता से निविशेष रूप से आगृहीत था।

विचारक लल

लल के विचार :—

विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्य समीक्षा पर विचार करने वालों में लल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वही सबसे पहला चिन्तक था, जिसने साहित्य के विविध रूपों और तत्वों पर गम्भीरतापूर्वक अपने विचार प्रस्तुत किये। रचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त उसने समीक्षात्मक साहित्य के विषय में भी अपने विचार प्रस्तुत किये। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि समीक्षा शास्त्र विषयक उसके विचार भी बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उसका दृष्टिकोण संयत और विवेकयुक्त है। उसने साहित्य कला की भाँति ही समीक्षा को भी शास्त्र न मानकर कला ही माना। समीक्षा को कला मानते हुये उसने इसका सीधा सम्बन्ध व्याकरण शास्त्र से माना। इसी प्रकार से उसने भाषण कला की भी विवेकपूर्ण व्याख्या की। उसने भाषण

कला के उद्देश्य और क्षेत्र का विस्तार किया तथा उसके उद्देश्य भी नवीनतर दृष्टिकोण से निर्देशित किये ।

लुई विवे

प्रमुख विचार :—

सोलहवीं शताब्दी में लुई विवे ने यूरोपीय आधुनिकतावादी आन्दोलन से प्रभावित होकर स्पेन में भी नवजागरण का प्रयत्न किया । उसने इस प्रवृत्ति का विरोध किया कि सदैव प्राचीन साहित्यकारों का भी अनुकरण किया जाय । उसका विचार यह था कि इससे नवीन प्रयोगों के लिये कोई सम्भावना नहीं रह जाती और इसलिये सदैव रूढ़वादिता ही व्याप्त रहती है । उसने व्यंग्यात्मक शैली में प्राचीन व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाई और यह कहा कि उनका ऐतिहासिक महत्व जो भी हो परन्तु उनके मत शाश्वत रूप से ग्राह्य नहीं हो सकते ।

क्विंटीलियन जैसे महान् विचारकों तक के महत्व को अस्वीकृत करते हुये लुई विवे ने उनके दोषों की ओर संकेत किया और इस प्रकार भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि प्राचीन चिन्तकों का पूर्ण अनुकरण नहीं किया जा सकता । वह यह कहता था कि यदि हमारे सामने प्राचीनता के आदर्श सदैव लक्ष्य के रूप में रहेंगे तब हम कभी भी उतनी उन्नति भी न कर सकेंगे जितनी प्राचीन साहित्यकारों ने की है । इसलिये हमें चाहिये कि हम प्राचीन सिद्धांतों, प्राचीन साहित्य और प्राचीन उपलब्धियों की उपेक्षा करके कोई उससे भी ऊंचा आदर्श अपने सामने रखें तब हम अवश्य प्राचीन की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकेंगे ।

इसी प्रकार से उसने साहित्य के रूपों पर भी महत्वपूर्ण चिन्तन किया । उसका अनुमान था कि साहित्य के गद्य और पद्य नामक प्रचलित रूप कुछ अपूर्ण से मालूम होते हैं । इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसा रूप विभाजत हो जिसमें संपूर्णता हो । लुई विवे के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उसमें मौलिक प्रतिभा विद्यमान थी । उसके हृदय में प्राचीनता के प्रति एक प्रकार के विरोध की भावना विद्यमान थी । इसका कारण सम्भवतः यह था कि वह प्रत्यक्ष रूप से वह देख और अनुभव कर रहा

था कि साहित्य के विकास में निरन्तर ह्रासात्मक प्रवृत्तियों कास मावेश होता चल रहा है। उसके विचार से यह सब इसलिये था क्योंकि लोग प्राचीनता का पूर्ण अनुग करते थे और अपनी प्रतिभा की सम्भावनाओं को इस प्रकार से रुद्ध कर देते थे। विवे के मत से सहमति या असहमति हो या न हो परन्तु इतना निश्चित है कि उस.. तर्क बहुत पुष्ट हैं और उसका चिन्तन बहुत गम्भीर।

वैचारिक निष्कर्ष :—

इस युग में साहित्य शास्त्र का सम्यक् विकास इस अर्थ में भी हुआ कि उसके विविध अंगों की ओर साहित्य चिन्तकों ने पृथक्-पृथक् रूप से भी ध्यान दिया। उन्होंने विविध साहित्यिांगों के तत्वों का अलग-अलग विश्लेषण किया और उनके सम्बन्ध में सूक्ष्मतर निर्देश दिये। उदाहरण के लिये उन्होंने भाषणशास्त्र के विषय में विचार करते हुये इसके भिन्न-भिन्न तत्वों का विश्लेषण किया। साहित्य, काव्य, नाटक और भाषण कला के सन्दर्भ में भाषा के स्वरूप पर विचार किया और इस तथ्य का निदर्शन किया कि किस माध्यम के लिये किस प्रकार की भाषा का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार से स्वतन्त्र रूप से भी भाषा के स्वरूप पर भी विचार किया गया।

इसके अतिरिक्त नाट्य कला के विषय में सिद्धांतों का निदर्शन भी हुवा। नाटक के विविध रूपों के स्वरूप की पृथक्-पृथक् रूप से आलोचना हुई और नाट्य रचना और नाट्य अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्मतर निर्देशों की भी उपेक्षा नहीं की गई और उन पर विस्तार से विचार किया गया। यह भी बताया गया कि कौन से नाट्य या साहित्य रूप कितने ग्राह्य हैं। इसके साथ ही साथ साहित्य रचना की मूल प्रेरक शक्तियों या प्रतिभा पर भी विस्तार से विचार किया गया। प्रतिभा का विश्लेषण करते हुये यह निर्देशित किया गया कि साहित्यकार की प्रतिभा जन्मजात होती है। जो कवि प्रतिभा से युक्त होकर नहीं जन्म लेता उसके लिये सफलता की बहुत कम सम्भावना रहती है परन्तु जन्मजात प्रतिभा का उत्कर्ष निरन्तर अभ्यास और श्रेष्ठतम कोटि के साहित्य के निरन्तर अध्ययन से हो सकता है। इसलिये इस सम्बन्ध में यदि और कोई नियम नहीं हो सकता तो कम से कम यह नियम तो मान्य ही किया जा सकता है कि अच्छे साहित्य के अधिकतम सम्पर्क में रहा जाय। अभ्यास और प्रतिभा के विकास के लिये इससे अच्छा और कोई उपाय नहा हो सकता।

कला के उद्देश्य और क्षेत्र का विस्तार किया तथा उसके उद्देश्य भी नवीनतर दृष्टिकोण से निर्देशित किये।

लुई विवे

प्रमुख विचार :—

सोलहवीं शताब्दी में लुई विवे ने यूरोपीय आधुनिकतावादी आन्दोलन से प्रभावित होकर स्पेन में भी नवजागरण का प्रयत्न किया। उसने इस प्रवृत्ति का विरोध किया कि सदैव प्राचीन साहित्यकारों का भी अनुकरण किया जाय। उसका विचार यह था कि इससे नवीन प्रयोगों के लिये कोई सम्भावना नही रह जाती और इसलिये सदैव रूढ़वादिता ही व्याप्त रहती है। उसने व्यंग्यात्मक शैली में प्राचीन व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाई और यह कहा कि उनका ऐतिहासिक महत्व जो भी हो परन्तु उनके मत शाश्वत रूप से ग्राह्य नहीं हो सकते।

क्विंटीलियन जैसे महान् विचारकों तक के महत्व को अस्वीकृत करते हुये लुई विवे ने उनके दोषों की ओर संकेत किया और इस प्रकार भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि प्राचीन चिन्तकों का पूर्ण अनुकरण नहीं किया जा सकता। वह यह कहता था कि यदि हमारे सामने प्राचीनता के आदर्श सदैव लक्ष्य के रूप में रहेंगे तब हम कभी भी उतनी उन्नति भी न कर सकेंगे जितनी प्राचीन साहित्यकारों ने की है। इसलिये हमें चाहिये कि हम प्राचीन सिद्धांतों, प्राचीन साहित्य और प्राचीन उपलब्धियों की उपेक्षा करके कोई उससे भी ऊंचा आदर्श अपने सामने रखें तब हम अवश्य प्राचीन की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकेंगे।

इसी प्रकार से उसने साहित्य के रूपों पर भी महत्वपूर्ण चिन्तन किया। उसका अनुमान था कि साहित्य के गद्य और पद्य नामक प्रचलित रूप कुछ अपूर्ण से मालूम होते हैं। इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसा रूप विभाजत हो जिसमें संपूर्णता हो। लुई विवे के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उसमें मौलिक प्रतिभा विद्यमान थी। उसके हृदय में प्राचीनता के प्रति एक प्रकार के विरोध की भावना विद्यमान थी। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वह प्रत्यक्ष रूप से वह देख और अनुभव कर रहा

था कि साहित्य के विकास में निरन्तर ह्रासात्मक प्रवृत्तियों कास मावेश होता चल रहा है। उसके विचार से यह सब इसलिये था क्योंकि लोग प्राचीनता का पूर्ण अनुगमन करते थे और अपनी प्रतिभा की सम्भावनाओं को इस प्रकार से रुद्ध कर देते थे। लुई विवे के मत से सहमति या असहमति हो या न हो परन्तु इतना निश्चित है कि उसके तर्क बहुत पुष्ट हैं और उसका चिन्तन बहुत गम्भीर।

वैचारिक निष्कर्ष :—

इस युग में साहित्य शास्त्र का सम्यक् विकास इस अर्थ में भी हुआ कि उसके विविध अंगों की ओर साहित्य चिन्तकों ने पृथक्-पृथक् रूप से भी ध्यान दिया। उन्होंने विविध साहित्यांगों के तत्वों का अलग-अलग विश्लेषण किया और उनके सम्बन्ध में सूक्ष्मतर निर्देश दिये। उदाहरण के लिये उन्होंने भाषणशास्त्र के विषय में विचार करते हुये इसके भिन्न-भिन्न तत्वों का विश्लेषण किया। साहित्य, काव्य, नाटक और भाषण कला के सन्दर्भ में भाषा के स्वरूप पर विचार किया और इस तथ्य का निदर्शन किया कि किस माध्यम के लिये किस प्रकार की भाषा का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार से स्वतन्त्र रूप से भी भाषा के स्वरूप पर भी विचार किया गया।

इसके अतिरिक्त नाट्य कला के विषय में सिद्धांतों का निदर्शन भी हुआ। नाटक के विविध रूपों के स्वरूप की पृथक्-पृथक् रूप से आलोचना हुई और नाट्य रचना और नाट्य अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्मतर निर्देशों की भी उपेक्षा नहीं की गई और उन पर विस्तार से विचार किया गया। यह भी बताया गया कि कौन से नाट्य या साहित्य रूप कितने ग्राह्य हैं। इसके साथ ही साथ साहित्य रचना की मूल प्रेरक शक्तियों या प्रतिभा पर भी विस्तार से विचार किया गया। प्रतिभा का विश्लेषण करते हुये यह निर्देशित किया गया कि साहित्यकार की प्रतिभा जन्मजात होती है। जो कवि प्रतिभा से युक्त होकर नहीं जन्म लेता उसके लिये सफलता की बहुत कम सम्भावना रहती है परन्तु जन्मजात प्रतिभा का उत्कर्ष निरन्तर अभ्यास और श्रेष्ठतम कोटि के साहित्य के निरन्तर अध्ययन से हो सकता है। इसलिये इस सम्बन्ध में यदि और कोई नियम नहीं हो सकता तो कम से कम यह नियम तो मान्य ही किया जा सकता है कि अच्छे साहित्य के अधिकतम सम्पर्क में रहा जाय। अभ्यास और प्रतिभा के विकास के लिये इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं हो सकता।

परवर्ती समय में स्पेनी विचारकों ने साहित्य चिन्तन के क्षेत्र का और भी अधिक विस्तार किया। मेनडोजा ने काव्य की भाषा की समस्या पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। उसने यह प्रतिपादित किया कि काव्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में ही हो सकती है, क्योंकि गद्य या पद्य के प्रयोग से इस माध्यम की सम्भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ तक काव्य के क्षेत्र का सम्बन्ध है उसने यह बताया कि उसमें किन्हीं भी धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों का समावेश हो सकता है और ये सभी विषय इस माध्यम से काव्यात्मक हो सकते हैं। उसने इसी सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात कही है। उसने बताया कि वस्तुतः भाषा के विपरीत वह तत्व शैली होता है जो विषयगत वैभिन्न्य का सूचक होता है। इस प्रकार से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य के विषय के सम्बन्ध में किसी प्रकार की संकुचितता या सीमा को नहीं मानना चाहिए।

इस समय तक स्पेन में अन्य भी दर्जनों ऐसे साहित्य चिन्तक हो चुके थे जिन्होंने साहित्य, काव्य, भाषण कला और इनके विविध तत्वों तथा रूपों पर विस्तार से विचार किया था। यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि यूनानी और रोमीय महान् चिन्तकों के प्रमुख सिद्धांतों का स्पेनी चिन्तकों की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिये बहुत से स्पेनी साहित्य शास्त्रियों ने एक स्वर से इस मन्तव्य का समर्थन किया कि जहाँ तक अनुगमन का सम्बन्ध है, उस प्रत्येक भाषा के साहित्य या काव्य का अनुगमन किया जा सकता है, जो शाश्वता के गुणों से युक्त हो और इसी कारण से उन्होंने यूनान, रोम, इटली और फ्रांस के चिन्तकों और साहित्यकारों के वैचारिक अनुगमन का समर्थन किया। इसका कारण यह था कि वे यह मानते थे कि उत्कृष्ट साहित्य का निरन्तर अध्ययन अभ्यास, प्रेरणा और प्रतिभा की वृद्धि में सहायक होता है।

सोलहवीं शताब्दी तक समीक्षा क्षत्रीय उपलब्धियाँ

इस प्रकार से पुनर्जागरणकालीन समीक्षकों की उपलब्धियों पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि इस सोलहवीं शताब्दी में साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र मे यूरोप के विविध देशों में जो विचारधाराएँ गतिशील रहीं, उनका आधार भी अधिकांशतः पर्ववर्ती मान्यताएँ ही थीं। पिछली शताब्दी में जो प्रमुख विचारधाराएँ इन क्षेत्रों में थी,

प्रायः उन्हीं को इस शताब्दी में भी प्रसार मिला। उनसे अलग कोई मौलिक विचारधारा प्रवर्तित न हो सकी। इसका एक कारण युगीन परिस्थितियाँ भी कही जा सकती हैं। इतिहास के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि यह वह युग था, जब कि धर्म जीवन का आधा अंग समझा जाता था। दूसरे शब्दों में जन जीवन की अधिकांश गति-विधियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धर्मगत मान्यताओं से अवश्य सम्बन्ध होता था। इसके फलस्वरूप यह मनोवृत्ति सामान्य सी हो गयी थी कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः रूढ़िवादी मान्यताओं को ही प्रशस्ति प्राप्त होती थी। नवीनता का आविर्भाव नहीं होने पाता था, क्योंकि उसे तुरन्त विरोधी मतों से संघर्ष करना पड़ता था।

इस युग में कला, साहित्य और काव्य के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले जिन सैद्धांतिक नियमों की रचना हुई, उनके विषय में भी उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध है। इस शताब्दी में जो प्रमुख समीक्षक हुये, उन्होंने भाषण शास्त्र, सुखान्तक नाटक, दुखान्तक नाटक, मिश्रितान्तक नाटक, काव्य, काव्यांग आदि पर विचार किया। इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि अरस्तू ने काव्य के जिस अनुकरणात्मक सिद्धांत का प्रवर्तन किया था, परवर्ती समीक्षकों में से अधिकांश ने उसकासमर्थन किया। इस शताब्दी में भी जो विशिष्ट समीक्षक हुये, उनमें से प्रायः सभी ने इस सिद्धांत को मान्यता दी। उन्होंने इस मन्तव्य में सहमति प्रकट की कि अनुकरण कल्पनात्मक होता है। इसलिये कलाकार को चाहिए कि वह अपनी कृति में कल्पना के योग से सफलता लाने की चेष्टा करे। अनुकरण का महत्व इसलिए भी अधिक होता है कि इसके माध्यम से साहित्यकार अपनी क्रियात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्ति देता है।

काव्य का विवेचन करते समय उपर्युक्त सिद्धांत को साहित्य विचारकों ने विशेष रूप से ग्रहण किया। इस युग के समीक्षकों ने यह भी स्वीकार किया कि काव्य का प्रयोजन उपदेशात्मकता तथा आनन्द की सृष्टि ही है। इस युग में यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया गया कि इन दोनों उद्देश्यों में द्वितीय का ही महत्व अधिक है। काव्य को मनुष्य समाज की एक आवश्यकता माना गया। यह भी प्रतिपादित किया गया कि अन्ततः काव्य सृष्टि मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम होता है और वही उसका मूल आधार है। इसलिए प्रतिभा द्वारा रचित काव्य ही उत्कृष्ट होगा। शब्द योजना, अलंकार निरूपण और छन्द रचना वस्तुतः प्रतिभा पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार से परवर्ती साहित्य समीक्षा की धरोहर के रूप में, इस युग की समीक्षात्मक उपलब्धियों के रूप में, भावी विकास की एक पुष्टि आधार भूमि प्राप्त हुई।

परवर्ती समय में स्पेनी विचारकों ने साहित्य चिन्तन के क्षेत्र का और भी अधिक विस्तार किया। मेनडोजा ने काव्य की भाषा की समस्या पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। उसने यह प्रतिपादित किया कि काव्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में ही हो सकती है, क्योंकि गद्य या पद्य के प्रयोग से इस माध्यम की सम्भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ तक काव्य के क्षेत्र का सम्बन्ध है उसने यह बताया कि उसमें किन्हीं भी धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों का समावेश हो सकता है और ये सभी विषय इस माध्यम से काव्यात्मक हो सकते हैं। उसने इसी सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात कही है। उसने बताया कि वस्तुतः भाषा के विपरीत वह तत्व शैली होता है जो विषयगत वैभिन्न्य का सूचक होता है। इस प्रकार से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य के विषय के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की संकुचितता या सीमा को नहीं मानना चाहिए।

इस समय तक स्पेन में अन्य भी दर्जनों ऐसे साहित्य चिन्तक हो चुके थे जिन्होंने साहित्य, काव्य, भाषण कला और इनके विविध तत्वों तथा रूपों पर विस्तार से विचार किया था। यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि यूनानी और रोमीय महान् चिन्तकों के प्रमुख सिद्धांतों का स्पेनी चिन्तकों की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिये बहुत से स्पेनी साहित्य शास्त्रियों ने एक स्वर से इस मन्तव्य का समर्थन किया कि जहाँ तक अनुगमन का सम्बन्ध है, उस प्रत्येक भाषा के साहित्य या काव्य का अनुगमन किया जा सकता है, जो शाश्वता के गुणों से युक्त हो और इसी कारण से उन्होंने यूनान, रोम, इटली और फ्रांस के चिन्तकों और साहित्यकारों के वैचारिक अनुगमन का समर्थन किया। इसका कारण यह था कि वे यह मानते थे कि उत्कृष्ट साहित्य का निरन्तर अध्ययन अभ्यास, प्रेरणा और प्रतिभा की वृद्धि में सहायक होता है।

सोलहवीं शताब्दी तक समीक्षा क्षत्रीय उपलब्धियाँ

इस प्रकार से पुनर्जागरणकालीन समीक्षकों की उपलब्धियों पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि इस सोलहवीं शताब्दी में साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में यूरोप के विविध देशों में जो विचारधाराएँ गतिशील रहीं, उनका आधार भी अधिकांशतः पर्ववर्ती मान्यताएँ ही थीं। पिछली शताब्दी में जो प्रमुख विचारधाराएँ इन क्षेत्रों में थीं,

प्रायः उन्हीं को इस शताब्दी में भी प्रसार मिला। उनसे अलग कोई मौलिक विचारधारा प्रवर्तित न हो सकी। इसका एक कारण युगीन परिस्थितियाँ भी कही जा सकती हैं। इतिहास के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि यह वह युग था, जब कि धर्म जीवन का आधा अंग समझा जाता था। दूसरे शब्दों में जन जीवन की अधिकांश गति-विधियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धर्मगत मान्यताओं से अवश्य सम्बन्ध होता था। इसके फलस्वरूप यह मनोवृत्ति सामान्य सी हो गयी थी कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः रूढ़िवादी मान्यताओं को ही प्रशस्ति प्राप्त होती थी। नवीनता का आविर्भाव नहीं होने पाता था, क्योंकि उसे तुरन्त विरोधी मतों से संघर्ष करना पड़ता था।

इस युग में कला, साहित्य और काव्य के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले जिन सैद्धांतिक नियमों की रचना हुई, उनके विषय में भी उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध है। इस शताब्दी में जो प्रमुख समीक्षक हुये, उन्होंने भाषण शास्त्र, सुखान्तक नाटक, दुखान्तक नाटक, मिश्रितान्तक नाटक, काव्य, काव्यांग आदि पर विचार किया। इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि अरस्तू ने काव्य के जिस अनुकरणात्मक सिद्धांत का प्रवर्तन किया था, परवर्ती समीक्षकों में से अधिकांश ने उसकासमर्थन किया। इस शताब्दी में भी जो विशिष्ट समीक्षक हुये, उनमें से प्रायः सभी ने इस सिद्धांत को मान्यता दी। उन्होंने इस मन्तव्य में सहमति प्रकट की कि अनुकरण कल्पनात्मक होता है। इसलिये कलाकार को चाहिए कि वह अपनी कृति में कल्पना के योग से सफलता लाने की चेष्टा करे। अनुकरण का महत्व इसलिए भी अधिक होता है कि इसके माध्यम से साहित्यकार अपनी क्रियात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्ति देता है।

काव्य का विवेचन करते समय उपर्युक्त सिद्धांत को साहित्य विचारकों ने विशेष रूप से ग्रहण किया। इस युग के समीक्षकों ने यह भी स्वीकार किया कि काव्य का प्रयोजन उपदेशात्मकता तथा आनन्द की सृष्टि ही है। इस युग में यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया गया कि इन दोनों उद्देश्यों में द्वितीय का ही महत्व अधिक है। काव्य को मनुष्य समाज की एक आवश्यकता माना गया। यह भी प्रतिपादित किया गया कि अन्ततः काव्य सृष्टि मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम होता है और वही उसका मूल आधार है। इसलिए प्रतिभा द्वारा रचित काव्य ही उत्कृष्ट होगा। शब्द योजना, अलं-कार निरूपण और छन्द रचना वस्तुतः प्रतिभा पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार से परवर्ती साहित्य समीक्षा की धरोहर के रूप में, इस युग की समीक्षात्मक उपलब्धियों के रूप में, भावी विकास की एक पुष्टि आधार भूमि प्राप्त हुई।

सत्रहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात होता है कि क्लैसिकल युगीन पाश्चात्य समीक्षा का आरम्भ इटली में हुआ था। परन्तु परवर्ती युगों में वह इसकी प्रगति का केन्द्र न बना रह सका। इसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ उसे इस सीमा तक नियमबद्ध कर दिया गया कि स्वच्छन्द रूप से इसके विकास की सम्भावनायें ही समाप्त हो गयीं। इटली के समीक्षकों ने आधुनिक समीक्षा साहित्य के विकास के प्रारम्भिक युग में अपने सम्मुख आदर्श के रूप में जिन साहित्यकारों को रखा, उनमे मुख्यतः प्लेटो, अरस्तू तथा होरेस आदि ही थे। दूसरे शब्दों में, इन्हीं चिन्तकों के समीक्षात्मक सिद्धांतों ने इटली के समीक्षकों का मार्ग दर्शन किया। इटली में व्यावहारिक समीक्षा का आरम्भ भी इन्हीं दिग्गजों की कृतियों पर टीका-टिप्पणी के साथ हुआ। कुछ समय तक इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वहाँ पर ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रियाशीलता रही।

इटली में समीक्षा के विकास के प्रथम युग की जो मुख्य प्रवृत्तियाँ थी, उनमे से प्रायः सभी का आधार एक ही मान्यता या दृष्टिकोण था। काव्य के विकास में वहाँ अरस्तू के विचार सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और यह मान लिया गया था कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है, ऐसा अनुकरण जो प्रकृति और विधि के नियमानुकूल है तथा यह भी कि काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही उपदेश देना भी है। इस युग के विविध काव्य प्रकारो और रूपों की परिभाषायें उन्हीं के विषयों के अनुसार निर्मित की गयीं तथा उन्हीं के अनुकूल उनके नियम और सिद्धांत भी बना दिये गये। उदाहरण के लिये यह प्रतिपादित किया गया कि एक दुखान्तक नाटक में समय, स्थान और कार्य की एकता होनी चाहिए। यह भी कहा गया कि दुखान्तक नाटक की रचना पद्य में होनी आवश्यक है। इसी प्रकार से महाकाव्य के सिद्धांतों की भी रचना हुई। रोमांस को इसमें अधिक स्थान नहीं दिया गया। उसके लिये भी "एकतायें" निर्धारित की गयीं, परन्तु नाटक की "एकतायें" इनसे भिन्न थीं।

इस युग में यह विचार बहुत सामान्य रूप से प्रचलित था कि पूर्वयुगीन साहित्यकारों ने लगभग सभी प्रकार का साहित्य रच दिया है। यह साहित्य अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये यह बहुत औचित्यपूर्ण कार्य होगा, यदि मात्र उसका अनुकरण किया जाय। इस प्रकार की प्रचलित धारणाओं के समर्थक जानसन जैसे समीक्षक थे, यद्यपि यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि अनेक विद्वानों द्वारा अनुमोदित

इन शास्त्रीय नियमों का कट्टर अनुसरण किसी ने भी नहीं किया। कुछ भी हो, इटैलियन समीक्षा ने अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास में जो योग दिया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है।

इस समय तक सामान्यत: समीक्षा को एक विज्ञान के रूप में ही मान्यता मिली थी, उसका कलात्मक और शास्त्रीय महत्व नहीं समझा गया था। परन्तु अब अलंकार शास्त्रियों ने इसे अपने विषय के लिये बहुत उपयोगी समझ कर ग्राह्य किया। परन्तु इस सारी प्रगति के मूल में प्राचीन क्लैसिकल साहित्य के अनुगमन की ही भावना कार्यशील थी। यहाँ तक कि इटली के पुनरुत्थान युग के प्रसिद्ध समीक्षक वीडा ने भी क्रियात्मक साहित्यकारों के लिये यह निर्देश किया कि वे प्रकृति का अनुकरण करें, क्योंकि यही प्राचीन विचारक कह गये हैं तथा उसके कथनानुसार प्राचीन कवियों ने भी ऐसा ही किया था।

सत्रहवीं शताब्दी में इटली से जो समीक्षा लिखी गई उसकी प्रगति कोई विशेष सनोपजनक नहीं कही जा सकती। पुनर्जागरण युग में इटालियन भाषा में जो ठोस साहित्य चिन्तन हुआ था उसकी उपलब्धियों को देखते हुए यह आशा की जा सकती थी कि आगामी शताब्दी में उसका विकास सम्यक् रूप से हो सकेगा। परन्तु इस शताब्दी में विविध नवीन वैचारिक आन्दोलनों का इतना व्यापक प्रभाव इटालियन साहित्य समीक्षा पर पड़ा कि उस प्रभाव से हटकर किसी ने भी प्राचीन परम्पराओं का अनुगमन करना आवश्यक न समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नए युग का आरम्भ हुआ जिसका प्राचीनता से कोई सम्बन्ध न रहा। पूर्ण नवीन रूप में सैद्धांतिक रचना हुई और समीक्षा की नवीन शैलियों का प्रवर्तन हुआ। "त्रैयानो बौकालनी" (१९१२) और "गैलीलियो गैलीलाई" आदि महत्वपूर्ण साहित्यकार इस शताब्दी में हुए, जिनको इस नवीन धारा के आरम्भ करने का श्रेय प्राप्त है।

इस शताब्दी की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना आर्केडियन एकाडेमी (सन् १९९०) की स्थापना है। जीविग्राविना को इसकी स्थापना का श्रेय है और इसका उद्देश्य साहित्यिक क्षेत्रों में व्याप्त मरणासन्नता को दूर करके नई चेतना जगाना था। इस शताब्दी में जो सिद्धांत लेखन हुआ उसको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी में भी मौलिक चिन्तन का अभाव न था यद्यपि पुरानता और नवीनता के विवाद में इस युग में भी कुछ वैचारिक संकुलता के लक्षण दिखाई दिए परन्तु अन्ततः भावी विकास का मार्ग स्पष्ट होने लगा।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा

सत्रहवीं शताब्दी में भी समीक्षा तीव्रतर गति से विकसित हुई। वहाँ शीघ्र ही समीक्षा का स्थान महत्वपूर्ण हो गया, यद्यपि प्रारम्भ में इसकी सम्भावनायें बहुत कम थीं और लोगों का इसके प्रति उपेक्षा भाव भी था। इस युग में दीबिले तथा रोन्साई की समीक्षाय विशिष्ट महत्व रखती हैं। परन्तु इनके विषय मे यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि ये समीक्षायें बहुत सीमित क्षेत्रीय थीं। फ्रांस में अपनी भाषा की प्रगति पर विशेष रूप से बल दिया जा रहा था। परन्तु फ्रांसीसी समीक्षा की आरम्भिक युगीन मुख्य प्रवृत्तियाँ सैद्धांतिक ही रहीं। विविध साहित्यांगों के क्षेत्र में नियम और सिद्धान्त रचना का कार्य ही विशेष रूप से होता रहा। आंशिक रूप से उसमें व्यावहारिक समीक्षा के तत्व भी समाविष्ट हुये प्रतीत होते हैं।

बोयलो

परिचय तथा कृतियाँ :—

बोयलो का समय सन् १६३६ से लेकर १७११ तक माना जाता है। वह इस शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ यूरोपीय समीक्षकों में माना जाता है। फ्रांस के विचारकों में तो उसे अपने युग में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सन् १६६० में उसकी व्यंग्य रचनाओं की प्रथम पुस्तक "एक कवि का पैरिस नगर से अलविदा" प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् सन् १६६४ में "रोमी नायकों के सम्वाद" और १६७४ में "काव्य कला" नामक कृतियाँ प्रकाशित हुईं।

प्रमुख विचार तथा महत्व :—

बोयलो ड्रायडन का समकालीन था। उसे इस शताब्दी का फ्रांस का एक युग प्रवर्तक विचारक कहा जा सकता है। उसने साहित्य को कुछ सीमाओं में बाँधने की तो चेष्टा की ही, साहित्य के मूल्यांकन में भी कुछ पूर्वाग्रह रखे। इसी कारण उस पर यह दोष लगाया जाता है कि व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में वह पक्षपात रहित न हो सका था। परन्तु उसकी महत्ता का एक निश्चित कारण यह भी है कि उसने दूसरे साहित्य विचारकों से जो कुछ भी ग्रहण किया, वह उनके विचारों और सिद्धांतों में सर्वोत्तम था। उसने एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रवृत्तियों के इतिहास का अध्ययन किया और विविध युगीन उपलब्धियों से स्वयं को अवगत कराया।

अनुकरणात्मकता तथा यथार्थता :—

बोयलो ने प्राचीन यूनानी तथा अन्य कृतियों के अनुकरण की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। वह यथार्थता पर अत्यधिक बल देता था। उसका विचार था कि वही वस्तु सुन्दर हो सकती है, जो यथार्थ हो। इसी प्रकार से वह यह भी मानता था कि प्रत्येक यथार्थ वस्तु प्रकृति में मिलती है। इसलिए साहित्य या काव्य के सुन्दर होने के लिये यह आवश्यक है कि वह यथार्थ या प्रकृति पर आधारित हो। उसने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन साहित्य इसी कारण से सौन्दर्ययुक्त है, क्योंकि उसके ये ही दोनों आधार हैं। अतः उसने आधुनिक साहित्यकारों के लिये प्राचीन साहित्यकारों का अनुकरण उचित बताया।

काव्य कला :—

सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांस की इस सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रतिभा ने अपनी कृति "एल आर्ट पोयटीक" में काव्य कला पर बहुत गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने बताया है कि काव्य चाहे किसी भी प्रकार या श्रेणी का हो, उसमें विवेक का होना आवश्यक है। उसने काव्य में विवेक को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। उसका कहना है कि वह वस्तु वस्तुतः विवेक ही है, जिससे काव्य का महत्व आँका जाता है। काव्य इसलिये महत्वपूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह काव्य है, बल्कि वह इसलिये महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि उसमें विवेक समाविष्ट होता है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि यदि काव्य मे विवेक नहीं होगा, तो वह किसी भी स्थायी महत्व का नहीं सिद्ध हो सकेगा, भले ही कवि उसमें कितनी अधिक मौलिकता का दावा करे। इस प्रकार से काव्य में विवेक का महत्व प्रतिपादित करने के बाद उसने काव्य के विवेक युक्त होने का एक उपाय यह बताया है कि वह प्रकृति पर आधारित होना चाहिये।

शास्त्रीय दृष्टिकोण :—

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में "क्लासिकलता" का अधिक प्रचार हुआ। इस समय चिन्तन का स्तर ऊँचा उठ चुका था। इस सम्बन्ध में प्रमुख उल्लेखनीय तथ्य यह है कि साहित्यिक अनुकरण की पूर्ण और विश्वसनीय व्याख्या की गई। मालेअब और बोयलो आदि विचारकों ने महत्वपूर्ण समीक्षात्मक संप्रदायों का प्रवर्तन किया और प्रायः समन्वयवादी दृष्टिकोण से व्यावहारिक समीक्षा करने पर बल दिया।

इन समीक्षकों के अतिरिक्त मैंगनिए और तेवफिल दे वियो आदि भी थे जिनका बहुत से विषयों में वैचारिक मतभेद था। अनेक व्यावहरिक समीक्षाओं में इन लोगों ने वाद विवाद के सूत्र ढूंढ़ निकाले और उन पर पक्ष और विपक्ष में टीका टिप्पणी करते रहे। मालेअब की व्यावहारिक समीक्षा का जहाँ इस शताब्दी में व्यापकता से प्रचार हुआ वहाँ दूसरी ओर कुछ लोगों ने इससे गम्भीर मतभेद भी प्रकट किया। परन्तु इससे उसकी ख्याति, प्रतिष्ठा और मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं आया और वह व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धतियों के इतिहास में सर्वप्रथम विचारक के रूप में मान्य हुआ।

नाट्य-सिद्धान्त :—

नाटक के क्षेत्र में दुखान्तक, सुखान्तक, मिश्रितान्तक और द्वयान्तक आदि पर बहुत विस्तार से विचार हुआ। इन नाट्य रूपों की नवीन व्याख्याएँ हुईं और इनसे सम्बन्ध रखने वाली सूक्ष्म निर्देशन प्रणालियाँ प्रवर्तित की गईं। ग्राम्य नाटक और प्रहसन की उपेक्षा नहीं हुई। जहाँ तक साहित्य के गद्य माध्यम का सम्बन्ध है, उपन्यास को विशेष रूप से मान्यता मिली। महाकाव्य से उसकी तुलना की गई और उसे गम्भीर माध्यम स्वीकार किया गया। मौलिए और कारनेई आदि समीक्षक इस सिद्धान्त निर्धारण के क्षेत्र में विशेष रूप से क्रियाशील रहे और व्यावहारिक समीक्षा में छोटी छोटी बातों पर ये लोग विवाद करते रहे। इस सबका परिणाम इस अर्थ में अच्छा हुआ कि क्रियात्मक साहित्य के साथ ही साथ समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में भी गतिशीलता बढ़ी, जो सदैव नई सम्भावनाओं का द्योतन करती है।

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन में जिन समीक्षात्मक विचारों का प्रचार रहा, उनका सम्बन्ध मूल रूप से साहित्य और कला के कुछ मूल प्रश्नों से है। उदाहरण के लिए नीति शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र जैसे विषयों पर भी इस समय में विस्तार के साथ विचार किया गया। इसे सम्बन्ध में इस तथ्य का उल्लेख करना असंगत न होगा कि इस समय से पूर्व साहित्य, कला, नीति में शास्त्र तथा सौन्दर्य विज्ञान के विषय में जिस प्रकार के मतों का प्रचार था, उनको देखने से यह पता चला है कि वे प्रायः इन विषयों

के पारस्परिक भेद की ओर संकेत नहीं कर पाते थे। वे इनके स्थूल स्वरूप का ही स्पर्श करते थे और कभी कभी तो ऐसी सामान्य बातें इंगित करते थे जिनका सम्बन्ध सामूहिक रूप से इन सभी विषयों से होता था।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से इस युग में कलात्मक चिन्तन का पर्याप्त विकास हुआ, क्योंकि इस समय प्रत्येक कला, शास्त्र और विज्ञान का पृथकीकरण कर दिया गया और ऐसा करते समय बहुधा इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में प्रचारित प्राचीन मन्तव्यों का विरोध भी किया गया। पाजुबा डी सान्टो टीमास पीएन्सात् ने उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट और दृढ़ विचार अभिव्यक्त किये। इसलिए इस क्षेत्र की उपलब्धियों का सबसे अधिक श्रेय उसी को है।

नीतिशास्त्र और सौन्दर्य विज्ञान के क्षेत्रों में सैद्धान्तिक चिन्तन का जहाँ तक सम्बन्ध है, आगे चल कर क्रमशः उसमें कई दृष्टियों को समाविशित कर दिया गया। अनेक विचारक ऐसे हुए, जिन्होंने इन क्षेत्रों में नवीन उद्भावनाएँ करते हुए प्राचीन यूनानी और रोमीय चिन्तकों से असहमति और विरोध प्रकट किया। बहुत से ऐसे प्रश्न उठाये गए, जिनमें अनुकरण के स्वरूप, कला के विविध पक्षों और सौन्दर्य के प्रेरक सूत्रो का विस्तार से विवेचन किया गया। लियो हेड्रियो तथा लूई डी ग्रानडा आदि विचारकों ने इस सम्बन्ध में रहस्यवादी दृष्टिकोण को अपनाया। कुछ लोगों ने इससे भिन्न दृष्टिकोण भी स्वीकार किया। इन लोगों में फान्सिको शान्केज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस प्रकार से इस समय में जो मुख्य विवाद रहा, उसका स्वरूप चाहे जैसा भी हो, परन्तु उसके मूल मे प्राचीनता के समर्थन अथवा विरोध का ही द्वन्द्व है। प्राचीन विचारकों में जिनका सबसे अधिक प्रभाव स्पेनी चिन्तकों पर था वे अरस्तू और क्विटीलियन हैं। कुछ लोगों ने प्राचीनता का समर्थन करते हुए इन विद्वानों के सिद्धान्तो का भी समर्थन किया है और कुछ ने प्राचीनता का विरोध करते हुए इनके महत्व को भी अस्वीकृत कर दिया है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि स्पेन में जो साहित्यिक चिन्तन होता था, उसकी होड़ प्रायः इटली वालों से प्रत्यक्षतः रहती थी। इटली के चिन्तन क्षेत्रों में होने वाली उपलब्धियों के सन्दर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से स्पेनी चिन्तक बहुत सजग और सतर्क रहते थे। इस युग के अन्त तक साहित्य क्षेत्रीय मौलिक चिन्तन की दृष्टि से बालतासार डी केस्पिडेस तथा प्राचीन अनुगमन की दृष्टि से मिगुवेल डी सर्वेन्टी के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्पेनी समीक्षात्मक चिन्तन के इतिहास में जी सूई वादी लुई एल्फोन्जों डी कार्वालीने का नाम इस शताब्दी के चिन्तकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने नाटक के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सिद्धांतों का नियमन किया जो सैद्धांतिक दृष्टिकोण से प्राचीनता के विरोधी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक ग्राह्य और उपादेय थे। दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक मिश्रितान्तक नाटक और द्वयान्तक नाटक के स्वरूप भेद के सम्बन्ध में बहुत विवाद इस समय में हुआ। अनेक साहित्यकारों ने जहाँ एक ओर अरस्तू द्वारा निर्देशित सिद्धांतों का समर्थन और अंगीकरण किया, वहाँ दूसरी ओर बहुतों ने उनका घोर विरोध किया और नवीनतम तत्वों को मान्य करने के लिए आन्दोलन किया। इस विषय में पक्ष या विपक्ष में जो कुछ भी कहा गया, वह प्रायः अरस्तू के विरोध या समर्थन में ही था।

काव्य के तत्वों के विषय में भी पर्याप्त विचार विमर्श हुआ। इस सम्बन्ध मे सबसे अधिक सुलझे हुए विचार जूवा मार्टिनेज डी जौरेगुई के हैं। उसने ऊपरी तौर से सैद्धांतिक वाद विवाद में पड़कर कुछ महत्वपूर्ण तत्वों के विषय में स्पष्ट विचार प्रकट किए। अपने पूर्ववर्ती पीड्रो डी वेलेन्शिया का सैद्धांतिक समर्थन करते हुए और काव्य की आत्मा के विषय में उससे सहमति प्रकट करते हुए उसने कहा कि अलंकार तत्व किसी भी प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में नहीं मान्य किया जा सकता, वरन् जो मूल विचार तत्व उसमें निहित रहता है, वही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।

सत्रहवीं शताब्दी में जर्मन समीक्षा

जर्मनी में समीक्षात्मक चिन्तन के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि आधुनिक रूप में समीक्षा के क्षेत्र में कार्य लगभग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। इसके पूर्व क्रियात्मक साहित्यांगों के क्षेत्रों में तो कुछ उपलब्धियाँ हो चुकी थीं, परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में क्रियाशीलता का अभाव था। इतना अवश्य था कि समीक्षा क्षेत्रीय सम्भावनाएँ इससे पहले भी विद्यमान थीं और कभी-कभी इसका आभास भी मिलता था।

सोलहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते इस क्षेत्र में जागरूकता बढ़ी। फिर १७वी शताब्दी में इसका और भी विकास हुआ तथा शास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा। समकालीन यूरोपीय वैचारिक आन्दोलनों की लहरें यहाँ भी आईं और उन

पर भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाये भी देखी गई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि यहाँ पर जो भी साहित्य और समीक्षात्मक विकास हुआ उसकी मूल प्रेरणा विदेशी रही।

सत्रहवीं शताब्दी में मार्टिन ओपित्स (१५९७ से १६३९ तक) का जब आविर्भाव हुआ, तब सामान्य रूप से उपर्युक्त स्थिति ही थी। मार्टिन ओपित्स ने इस स्थिति को भली प्रकार से समझा। उसने यह अनुभव किया कि यदि देश में साहित्य और कला के क्षेत्र में उच्च कोटि के मौलिक चिन्तन की सम्भावना नहीं है, तो फिर समकालीन संकुचित दृष्टिकोण का प्रचार करनेवाले आन्दोलनों और विचारधाराओं का अनुगमन करने की अपेक्षा प्राचीनता का अनुगमन करना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। इसलिए उसने प्राचीनता का अनुगमन श्रेयस्कर बताते हुए फ्रांसीसी शास्त्रीय सिद्धांतों का अनुमोदन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष तक यहाँ के साहित्य और समीक्षा पर उन्हीं तत्वों का मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता रहा, जिनका निदर्शन फ्रांसीसी साहित्य शास्त्र और विचारधारा द्वारा किया था। अन्य अनेक कारणों के साथ यह भी एक बड़ा कारण था कि जर्मनी में मौलिक रूप से साहित्यिक विकास की सम्भावनएँ कम हो गईं।

सत्रहवीं शताब्दी में अँग्रेजी समीक्षा

अंग्रेजी समीक्षा ने यद्यपि यूरोप की अन्य भाषाओं से भी बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया, परन्तु इसके साथ ही उसका विकास स्वतंत्र रूप से भी होता रहा। इरास्मस तथा गैस्किमोन जैसी प्रतिभाओं ने अंग्रेजी समीक्षा को समृद्ध बनाने में योग दिया। अन्य देशों की विचारधाराओं ने अंग्रेजी समीक्षा के विकास में प्रेरणा का कार्य अवश्य किया, परन्तु स्वयं अंग्रेजी समीक्षा की परम्परा भी बहुत प्राचीन और समृद्ध होने के कारण उसके स्वतंत्र रूप में विकास की सम्भावनायें भी सदैव विद्यमान रहीं। इसलिये यह सम्भव है कि किसी युग की अंग्रेजी समीक्षा में पूर्णतः मौलिकता न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि वह स्वयं प्रेरित एवं आत्म निर्भर सदैव से ही रही है। उसके साहित्य शास्त्रियों ने भी विविध साहित्यांगों से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धांतों का निर्धारण करने का प्रयत्न किया। परन्तु शास्त्रीय द्वन्द्वों के विरोध और समर्थन के कारण उनमें एकमतता नहीं रही। भाषा के विकास की ओर अंग्रेजी के समीक्षकों का बराबर ध्यान रहा। अशॉम आदि तो अंग्रेजी भाषा की समृद्धि के लिये निरन्तर चेष्टाशील रहे।

इस नवीन युग के अंग्रेजी समीक्षकों में से अधिकांश ऐसे थे, जो समीक्षा शास्त्र के विषय में पर्याप्त सैद्धांतिक ज्ञान रखते थे, परन्तु इन लोगों ने अपने इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग उचित प्रकार से नहीं किया। अपनी भावी प्रगति के विषय में ये इतने चिन्तित रहते थे कि इन्होंने प्राचीन साहित्यिक और समीक्षात्मक उपलब्धियों की ओर बहुत उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया। उन्होंने कभी भी इस तथ्य का अनुभव गम्भीरता पूर्वक नहीं किया कि सहस्रों वर्षों तक प्रसारित साहित्यिक इतिहास के प्रति इस प्रकार की भावना अहितकर सिद्ध होगी।

इसके अतिरिक्त इन समीक्षकों ने ग्रीक और लैटिन आदर्शों का अनुसरण भी अंग्रेजी समीक्षा के विकास में सम्यक् रूप से नहीं किया। गैस्किमोन, वेव, पुटनहाम तथा सिडनी आदि समीक्षक दूसरे वर्ग के समीक्षक थे, जिनमें इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। परन्तु उनकी उपलब्धियाँ भी इतनी महती नहीं थीं कि उन्हें सर्वश्रेष्ठ कोटि के समीक्षकों में स्थान दिया जाता। उपर्युक्त विचारकों में से सिडनी के विषय में हम संकेत कर चुके हैं कि उसने अपने युग की मीक्षा धारा को एक नयी दिशा दी थी। उसकी प्रख्यात कृति "एपालोजी आफ पोयट्री" थी जो बाद में "डिफैंस आफ पोयर्जी" के नाम से प्रसिद्ध हुई थी।[1] वह काव्य के दैवी स्वरूप और उसकी अलौकिक प्रेरणा का समर्थक था। इसी-लिए वह कवि को स्रष्टा मानता था। उसके विचार से काव्य सत् का उन्मेष और असत् का नाश करने के लिए एक सशक्त माध्यम सिद्ध होता है।

अंग्रेजी समीक्षा के विकास में अंग्रेजी गद्य का भी पर्याप्त योग है। गैस्किमोन के समय से अंग्रेजी भाषा की समृद्धि की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा था। भाषा शास्त्रीय नियमों की रचना होने लगी थी तथा साहित्यिकों एवं साहित्यिक उपलब्धियों का मूल्यांकन होने लगा था। आर्कविशप पार्कर की घोषणा तथा प्रभाव से चौसर और उसके पूर्व युग का अध्ययन किया गया। इटेलियन साहित्यिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप अंग्रेजी साहित्यकारों ने भी प्लेटो द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार साहित्य रचना करना आरम्भ कर दिया। इस प्रवृत्ति के विकास में प्युरिटन तत्व ने भी बहुत योग दिया। कुल मिला कर, ऐसा विचार किया जाता है कि शास्त्रीय अनुगामिता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई।

1. "Dictionary of English Literature," John W. Consin, p. 344.

जहाँ तक भाषा और उसके रूपों का सम्बन्ध है, स्पेंसर ने अपने केलंडर मे जिस अनागरिक भाषा का प्रयोग किया है, उसकी बहुत आलोचना की गयी। किसी सीमा तक यह उचित भी था। सिडनी ने भी इस विषय में यह देखने की चेष्टा की थी कि वर्जिल, सानाजार या थियोक्रेटस ने भी ऐसा ही किया था अथवा नहीं। यदि किया था, तब तो सब को उसका अनुसरण करना चाहिये और यदि नहीं किया था, तो यह प्रवृत्ति निश्चय ही त्याज्य थी। इस रूढ़िवादी भावना के अनुसार यह मान्यता प्रचलित थी कि प्राचीन कवियों ने जो कुछ लिखा, उसका अनुसरण आवश्यक है और उन्होंने जो नही लिखा, उसे निषिद्ध समझना चाहिये।

यूरोपीय साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में नवीनता के आविर्भाव न होने का सब से बड़ा कारण उपर्युक्त धारणा ही थी। इसीलिये विविध विकास युगों में लेखकगण प्रायः पुनरावृत्ति के रूप में उन्हीं बातों और विषयो को दोहराते रहे, जिन पर उनके पूर्ववर्ती विचारक विचार कर चुके थे। नवीन विषयों, सम्भावनाओं और सिद्धांतों की ओर लोगों का ध्यान कम जाता था और यदि कभी कोई उनके प्रवर्तन की चेष्टा भी करता था, तो प्रायः उसका बड़ा विरोध किया जाता था।

सिडनी के समान ही जानसन भी विवेक पर बहुत अधिक बल देता था। वह अपने विशद ज्ञान और समीक्षा क्षेत्रीय बहुमुखी सतर्कता के लिए अंग्रेजी साहित्य में विख्यात है।[1] इन लोगों के प्रभाव के फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी में इस विषय की ओर बहुत लोगों का ध्यान गया तथा उन्हें और उनकी वैचारिक मान्यताओं को समर्थन भी मिला। विशेष रूप से इन दोनों समीक्षकों के विचारों और शास्त्रीयता के अनुगमन से ड्राइडन भी प्रभावित हुआ। उसके अतिरिक्त पोप और बोलियो ने भी इन्हें मान्यता दी। वेब, पुटनहाम, केम्पियन, डेनियल, पियर्स तथा बोल्टन आदि का समर्थन और योग इस दिशा में नगण्य नहीं है।

इस युग के विशिष्ट समीक्षकों में बेन जॉनसन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसने वास्तव में अंग्रेजी समीक्षा के विकास को नयी दिशाएं दीं। उसकी समीक्षा दृष्टि अपेक्षाकृत विस्तारयुक्त थी और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह युग जीवन

1. 'A History or English Criticism'. George Saintgbury, P. 80

की संकुचितताओं से मुक्त थी। उसने सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्रों में यद्यपि अपनी रूढ़िवादिता और पूर्वाग्रहों का भी परिचय दिया है, परन्तु इनके फलस्वरूप उसकी समीक्षा दृष्टि में संकुचितता नहीं आने पायी है। उस जैसी विवेक शक्ति और सूक्ष्म निर्णय शक्ति से सम्पन्न समीक्षक सम्पूर्ण यूरोप में इने गिने ही हुये होंगे। यह एक विडम्बना है कि उसकी गणना ड्राइडन जैसे प्रथम श्रेणी के समीक्षकों में नहीं की जाती। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वह अपने आपको युगीन साहित्यिक हीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से पूर्णयः मुक्त नहीं कर पाया और इसीलिये उसका आपेक्षिक महत्व भी अधिक रहा।

आधुनिक तथा प्राचीन साहित्य की मान्यताओं और प्रवृत्तियों के पारस्परिक विरोध और संघर्ष की भावना का आरम्भ सबसे पहले इटली में हुआ था, क्योंकि आधुनिक यूरोपीय समीक्षा के प्रारम्भिक विकास का सर्वप्रथम केन्द्र वहाँ था। इटली से जब समीक्षा का केन्द्र फ्रांस बन गया, तब यह विवाद की प्रवृत्ति भी वहीं स्थानान्तरित हो गयी। परन्तु मुख्य अन्तर तब यह पड़ा कि इसे वहाँ बहुत व्यापकता प्राप्त हुई, फ्रांस के उच्च कोटि के साहित्य विचारकों ने इसमें भाग लिया जिनमें बोयलो जैसे व्यक्तित्व भी सम्मिलित थे। बोयलो का प्रभाव ड्राइडन आदि पर भी है, यद्यपि कुछ विषयों में ड्राइडन बोयलो से असहमति रखता था। बोयलो के अतिरिक्त जीन द शौलेन्द्र ने भी इस विवाद में विशेष रूप से रुचि ली। स्पेन में ऐल्फेंजो सैमेंज (सन् १६१८) तिसो द मालिना (सन् १६२४) तथा एल्फेंजो नॉजेल्स द सलाज (सन् १६३३) आदि विचारकों ने भी प्राचीनता और नवीनता के इस संघर्ष में भाग लिया, यद्यपि उनके विचारों को महाद्वीपीय मान्यता न प्राप्त हो सकी।

प्रारम्भिक समीक्षक: सर विलियम डेवनेंट

परिचय तथा कृतियाँ :—

क्लैसिकल युग में अंग्रेजी साहित्यिक क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम क्रियाशीलता लक्षित होती है। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि उन दिनों इंग्लैंड में सामाजिक धार्मिक संघर्षों की अधिकता थी और सामान्यतः लोगों का ध्यान इन्हीं क्षेत्रों की समस्याओं और गतिविधियों तक सीमित रहता था। इस सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक विचारकों में सर्वप्रथम सर विलियम डेवनेंट का नाम उल्लेखनीय है, जिसका समय

सन् १६०६ से लेकर सन् १६६८ तक है।[1] इसका जन्म आक्सफोर्ड में हुआ और वहीं इसकी शिक्षा दीक्षा भी हुई। उसकी नाट्य कृतियों की संख्या पच्चीस बतायी जाती है।[2] इनमें से सर्वप्रथम कृति एक नाट्य रचना थी जिसका शीर्षक "दि ट्रेजेडी आफ एल्बोवाइन" था और जो सन् १६२९ में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् सन् १६३० में "दि क्रुएल ब्रदर" सन् १६३६ में "दि प्लेटानिक लवर्स", सन् १६३६ में ही "दि विट्स", सन् १६४३ में "दि अनफार्चुनेट लवर्स" तथा सन् १६४९ में "लव एण्ड आनर" नामक नाट्य कृतियाँ प्रकाशित हुईं। इनमें से अनेक प्रकाशन के पूर्व ही अभिनीत हो चुकी थीं। सन् १६३८ में इसे "पोयट लॉरियट" घोषित किया गया। सन् १६५१ में इसका महाकाव्य "गाण्डीबर्ट" प्रकाशित हुआ। सन् १६२६ में अपनी कृति "सेज आफ रोड्स" द्वारा इसने व्यावहारिक रूप से अंग्रेजी आपेरा का प्रवर्तन किया। यह अपने साहित्यिक विचारों में प्लेटो के सिद्धान्तों का समर्थक था। इसने प्लेटो की कला विषयक मान्यता को विशेष रूप से स्वीकृति दी थी, जिसके अनुसार कला किसी वस्तु के आदर्श यथार्थ को वस्तु में देखने के अनुभव को किसी माध्यम से अभिव्यक्ति देना ही है।

प्रमुख विचार :—

डेवनेंट का समीक्षक दृष्टिकोण अपेक्षाकृत स्पष्ट है। वह समीक्षा के उचित स्वरूप का बोध कराने की क्षमता है। उसने होमर, वर्जिल, ल्यूकन, स्टेशियस आदि पर सफल समीक्षायें लिखी हैं। उसकी सूक्ष्म समीक्षा दृष्टि ने इन साहित्यकारों के गुण दोषों की सम्यक् विवेचना करके उनका यथार्थ मूल्यांकन किया है। डेवनेंट अनुकरण पर बहुत बल देता था और आधुनिक अर्थ में उसका प्रयोग करता था। वह भाषा के विषय में सजगता को बहुत आवश्यक बताता था जिससे अनावश्यक शब्दों का बहिष्कार हो सके। काव्य को वह संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में एक मानता था वह काव्य शास्त्र की विरोधी पिछली समीक्षा कृतियों का भी विरोध करता था। काव्य के विषय में न केवल उसकी धारणा बहुत उच्च थी, वह काव्य का भारी प्रशंसक और उसमें गहरी रुचि रखने वाला था।

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 209.
2. A Short Biographical Dictionary of English Literature, John W. Consin, p. 107.

टॉमस हाब्स

परिचय तथा कृतियाँ :—

टॉमस हाब्स का समय सन् १५८७ से लेकर सन् १६७९ तक है ।[1] इसका जन्म सैलमेसबरी में और शिक्षा दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई । अपने समय के फ्रांसिस बेकन, गेलीलियो गार्सेंडी, डिस्कैंटस, मार्सिने, हारवे, बेन जानसन, काउली तथा सिडनी गोडोल्फिय : आदि साहित्यकारों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के सम्पर्क में आया ।

एक दार्शनिक के रूप में हाब्स ने प्रकृति और मनुष्य के विषय में चिन्तन किया है । उसने ईश्वरीय सत्ता पर अधिक विश्वास नहीं किया । उसे "नामिनलिस्ट" कहा जाता है, अर्थात ऐसे सिद्धान्त का अनुयायी, जिसके अनुसार गुण केवल नाम में ही रहते हैं । "लेवियेथन" इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो सन् १६५१ में प्रकाशित हुआ था और जिसमें उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की है । उसके अन्य ग्रन्थों में "डेसिव" (सन् १६४२), "ह्यूमन नेचर" (सन् १६५०), "डि कारपोर पौलिम्को" (सन् १६५५), "ड होमाइन" (सन् १६५८) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उसकी अंग्रेजी गद्य लेखन शैली बहुत स्पष्ट, पूर्ण और प्रभावशाली मानी जाती है ।

डेवनेंट और हाब्स में बहुत ठोस साहित्यिक वाद-विवाद हुआ । तत्कालीन यूरोपीय साहित्यों में विविध भाषाओं के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न काव्य रूपों को लेकर बहुधा विवाद हुआ करता था । अरस्तू, होरेस, पेटोसियन आदि की इन काव्य रूपों विषयक धारणाओं को आधार बनाकर ही इस विवाद में लोगों ने तर्क वितर्क किया । हाब्स ने काव्य रूपों का विभाजन बहुत वैज्ञानिक रूप में किया तथा इस सामान्य मन्तव्य का बड़ा विरोध किया कि पद्य में लिखी गयी प्रत्येक रचना अनिवार्य रूप से काव्य है । उसने यह मानना भी अस्वीकार कर दिया कि काव्य का विषय केवल मानव चरित्र के विविध रूपों का अंकन ही होना चाहिये । हाब्स ने आधुनिक भाषाओं के भविष्य में स्थायित्व के विषय में आशंका प्रकट का थी ।

1. A "Short Biographical Dictionary ofEnglish Literature," John w. Consin. p. 191.

जॉन मिल्टन

परिचय तथा कृतियाँ—

मध्यम युग के दूसरे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व जॉन मिल्टन का समय सन् १६०८ से लेकर १६७४ तक माना जाता है।[1] इसने केम्ब्रिज के सेंट पाल्स स्कूल तथा क्राइस्ट्स कालेज में शिक्षा पायी थी। सन् १६२९ में बी० ए० तथा सन् १६३२ में उसने एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी। अपने जीवन के सत्रहवें वर्ष में उसने "आन दि डेथ आफ ए फेयर इनफेंट" नामक प्रसिद्ध कविता लिखी थी। इसी प्रकार से उन्नीस वर्ष की अवस्था में उसने "एट ए वैकेशन एक्सरसाइज" शीर्षक रचना की। इसने यों तो अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही अनेक कविताएं लिखी थीं, परन्तु वह रचना "आन दि मार्निंग आफ क्राइस्ट्स नैटिविटी" ही थी, जिसने सन् १६२९ में इसे ख्याति प्राप्त करायी। कैम्ब्रिज छोड़ने के पश्चात् मिल्टन ने कोई व्यवसाय आरम्भ नहीं किया और अपना अधिकांश समय प्राचीन साहित्य के अध्ययन और काव्य रचना में ही देता रहा। इस समय उसने अनेक चतुष्पदियाँ लिखीं, जिनमें से अधिकांश आगे चलकर महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं।

सन् १६३७ से लेकर सन् १६३९ तक मिल्टन ने विदेश भ्रमण किया, विशेष रूप से इटली घूमा। सन् १६६३ में उसने अपने अमर महाकाव्य "पैराडाइज लास्ट" की रचना सम्पूर्ण की। सन् १६६१ में उसकी दो महत्वपूर्ण रचनायें "पैराडाइज रीगेंड" तथा "सैमसन एगास्टनीज" प्रकाशित हुईं। उसने लैटिन में भी अपनी अनेक कवितायें लिखीं। जीवन के अन्तिम काल में उसके नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। मिल्टन ईसाई धर्म के प्रधान अध्यक्ष पोप तथा उसके समर्थकों का विरोधी था। क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में वह अपने युग की सर्वश्रेष्ठ विभूति के रूप में मान्य है।

काव्य के तत्व तथा गुण:—

मिल्टन के काव्य पर विचार करते हुये कहा है कि उसे भावात्मक तथा आनन्द दायी होना चाहिए। उसने काव्य में लय तत्व का कड़ा विरोध किया था, यद्यपि वह

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 209.

एक विचित्र तथ्य है कि उसके काव्य में उपदेशात्मकता अनेक स्थलों पर विशिष्ट रूप में मिलती है। उसने उपदेशात्मक काव्य के लिये दो गुण आवश्यक बताये हैं—(१) सरलता और (२) भावमयता। उसने यह भी निर्दिष्ट किया है कि जो काव्य उपदेशात्मक होगा, वह तर्कात्मक काव्य से हीन कोटि का होगा। उसने "स्मैक्टिम्नस" में कवि की योग्यताओं की ओर संकेत करते हुये लिखा है कि जो व्यक्ति कवि बनने की इच्छा रखता है और इस दिशा में प्रयत्न करता है, उसे पहले स्वयं ही सच्चा काव्य होना चाहिए। उसके हृदय में न्याय, विवेक और कल्याण की प्रतिमायें स्थापित होनी चाहिये।

समीक्षा का लक्ष्य और दायित्व :—

मिल्टन के विचार से समीक्षा का लक्ष्य विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से सत्य की विवृत्ति करना है। इसलिए समीक्षा का कार्य करने वाले व्यक्ति को अपने दायित्वों को भी भली भाँति समझ लेना चाहिए। समीक्षा के दायित्वों का वर्णन करते हुए मिल्टन ने लिखा है कि उसे पक्षपात रहित होना चाहिये। उसे गम्भीरतापूर्वक इस बात का अनुभव करना चाहिए कि वह जिस उत्तरदायित्व का वहन करने जा रहा है, उसका निर्वाह कितना कठिन है। मिल्टन के विचार से समीक्षक में अनावश्यक गर्व भावना नहीं होनी चाहिये कि वह महान् साहित्यकारों के विषय में निर्णय देने जैसे महत्वपूर्ण कार्य को कर रहा है। उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के किसी कृति को ठीक ढंग से समझने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे यह भी समझना चाहिये कि वह अपने समकालीन लेखकों अथवा परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप उसके विषय में उचित निर्णय देने में भूल भी कर सकता है। इसलिए उसे इस दिशा में विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए।

मिल्टन का महत्व :—

मिल्टन के काव्य की एडीसन ने विशदता से समीक्षा करते हुये उसके महत्व का निदर्शन किया है। "स्पेक्टेटर" में "पैराडाइज लॉस्ट" पर एडीसन के लेख नियमित रूप से प्रकाशित हुये थे। एडीसन के अनुसार मिल्टन एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने अपने महाकाव्य "पैराडाइज लॉस्ट" में जो पांडित्य प्रदर्शित किया है, उसका कारण मिल्टन की यही महत्वाकांक्षा है। उसमें ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा ज्योतिषिक विवादों के साथ ही साथ जो अन्य विषयक शास्त्रीय उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं, वे भी उपर्युक्त कारण से ही।

एडीसन ने मिल्टन के काव्य की समीक्षा बहुत सूक्ष्मता से वस्तु, पात्र, भाव तथा भाषा के आधार पर की है। उसने "पैराडाइज लॉस्ट" की आलोचना इस कारण भी कठोर की है क्योंकि यह महाकाव्य अरस्तू के बताये हुये महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार सुखान्तक न होकर दुखान्तक है। एडीसन का यह विचार है कि मिल्टन का प्रकृति निरीक्षण बहुत कुछ परम्परागत और अमौलिक है। यह भी कहा जाता है कि ईसाई धर्म में मानव के ह्रास के विषय में विवरण तथा टोलेमी की ज्योतिष विषयक व्यवस्था मिल्टन के इस महाकाव्य का आधार हैं। जहाँ तक मिल्टन की निजी भावना का सम्बन्ध है, उसने स्वयं यह बताया है कि जब तक राजनैतिक स्वतन्त्रता कवि गण को नहीं होगी, तब तक महान् साहित्य की रचना की सम्भावनायें नहीं हो सकेंगी।

एब्राहम काउली

परिचय तथा कृतियाँ :—

एब्राहम काउली का समय सन् १६१८ से लेकर सन् १६६७ तक है।[1] अपने बच-पन से ही उसने काव्य रचना आरम्भ कर दी थी और दस वर्ष की आयु में "पिरैमस एंड थिस्बी" नामक रचना लिखी थी। इसी प्रकार से ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसने "कांस्टेनिटा एंड फिलेटस" नामक रचना तैयार की थी। सन् १६३८ में उसने "लव्ज राइडिल" तथा सन् १६३८ में ही "नौ फ्रोजियम जो कुलेयर" आदि कृतियों की रचना की। इसकी प्रसिद्ध कृतियों में "दि मिस्ट्रेस" (सन् १६४७), "मिसेलेनीज" (सन् १६५६), "वर्सेज आन सेवरल अकेजेंस" (सन् १६६३), "दि एडवांसमेंट आफ एक्स-पेरीमेंटल पिलासफी" (सन् १६६१) तथा "ए डिस्कोर्स बाई वे आफ विजन कन्सर्निंग आलिवर क्रामवेल" (सन् १६६१) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

काउली इस युग की उन महान् विभूतियों में था जिनकी समीक्षा शैली सर्वोत्तम मानी जाती है।[2] वार्तालापात्मक और तर्कात्मक शैली के क्षेत्र में वह एक महान् प्रतिभा समझा जाता है। उसके समीक्षा दृष्टिकोण में निहित अतिशय वैज्ञानिकता के कारण ही

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, P. 151.

2. "A History of English Criticism", George Saintsbury, P. 106

उसकी समीक्षा को दोषपूर्ण समझा गया। एक कवि के रूप में काउली के दो प्रमुख रूप है। प्रथम आध्यात्मिक काव्य रचना के क्षेत्र में और द्वितीय शास्त्रीय काव्य रचना के क्षेत्र में। इनमें से प्रथम कोटि के काव्य में कल्पना तत्व का आधिक्य है तथा द्वितीय कोटि के काव्य में रोमांटिक तत्व का न्यूनता से समावेश।

जॉन ड्राइडन

परिचय तथा कृतियाँ:—

जॉन ड्राइडन का समय सन् १६३१ से लेकर १७०० तक माना जाता है।[1] उसका जन्म नार्थम्पटन शायर में हुआ था। उसने ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १६५८ में उसने अपने प्रसिद्ध "हीरोइक स्टेंजास" कामवेल की मृत्यु पर लिखे थे। उसके प्रारम्भिक नाटकों में "दि वाइल्ड गैलेंट" (सन् १६६३) तथा "दि राइवल लैडीज" (सन् १६६४) उल्लेखनीय हैं, यद्यपि ये अधिक प्रसिद्ध नहीं हुये। सन् १६६५ में उसका "दि इंडियन इम्पेरर" नामक नाटक विशेष रूप से विख्यात हुआ। उसकी प्रारम्भिक समीक्षा कृतियों में "एसे आफ ड्रामेटिक पोयजी" बहुत प्रसिद्ध है।

ड्रायडन की अन्य कृतियों में "अपान दि डेथ आफ लार्ड हैस्टिंग्ज" (सन् १६४९) "टु माई लार्ड चांसलर" (सन् १६६२), "वर्सेज टु हर रायल हाइनेस दि डचेज आफ यार्क" (सन् १६६५), "ब्रिटेनिया रेडिविवा", "ए पैनेजिरिकल पोयम टु दि मेमोरी आफ दि काउंटेस आफ एबिंग्डम" (सन् १६६२), "एन ओड आन दि डेथ आफ मि० हेनरी पसेले" (सन् १६९६), "दि सेक्यूलर मास्क" तथा "दि पिल्ग्रिम" आदि काव्य ग्रन्थ, "सीक्रेट लव" और "दि मैडेन क्वीन" (सन् १६६८), "सर मार्टिन मैर आल" आर "दि फैंड इनोसेन्स" (सन् १६६८), "दि एसाइनेशन" आर "लव इन ए मनरी" (सन् १६७२), "दि स्टेट आफ इनोसेन्स एंड फाल आफ मैन" (सन् १६७७), "दि काइंड कीपर" आर "मि० लैम्बरहैम" (सन् १६८०) आदि नाट्य कृतियाँ तथा "ए लाइफ आफ प्लूटार्क" (सन् १६८३), "लाइफ आफ लूसियन" (सन् १६८१) आदि गद्य रचनायें तथा अनेक अनुवादित और रूपान्तरित कृतियाँ हैं।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, P. 250.

काव्य सिद्धांत :—

ड्रायडन के काव्य सिद्धांत युगीन समीक्षात्मक मान्यताओं के सन्दर्भ में विशिष्ट महत्व के हैं। एक कवि के रूप में यद्यपि वह असाधारण काव्य शक्ति से युक्त न था, परन्तु अपने काव्य की गहनता और तीव्रता के गुणों के कारण उसे पर्याप्त मान्यता मिली। उसकी कविताओं मे पाठकों को मोहने की शक्ति है। उसमें एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि थी। उसने स्वयं भी अनेक कवियों की आलोचना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की है। एक साहित्यकार के व्यक्तित्व निर्माण का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाली उसकी शक्ति का पता उसकी लिखी हुई लूसियन और प्लूटार्क की जीवनियों से लगता है। वे उसकी समीक्षा दृष्टि के समन्वयात्मक पक्ष को आश्चर्यजनक रूप में प्रस्तुत करती हैं।

ड्राइडन का यह विचार था कि प्रत्येक जाति, युग, देश तथा मनुष्य की अपनी निजी प्रतिभा होती है, जिसका स्वरूप उसी के अनुसार वैभिन्नय या वैशिष्ट्य से निर्धारित होता है। काव्य में अनुकरणात्मकता के विषय में वह पूर्ववर्ती विचारकों से सहमति रखता था, परन्तु काव्य की प्रभावात्मकता के लिए वह मात्र अनुकरण को अपर्याप्त समझता था। वह कलात्मक अनुकरण का समर्थक था। काव्य के प्रयोजन वह आनन्दात्मकता और उपदेशात्मकता ही मानता था।

काव्य और समीक्षा :—

ड्राइडन का यह विचार था कि जब कोई साहित्यकार काव्य रचना के क्षेत्र में असफल हो जाता है, तब उसका नैतिक पतन होने लगता है और वह समीक्षक बन जाता है। उसके इस कथन का आधार वे कवि थे, जो काव्य रचना के क्षेत्र में असफल होने पर काव्य विरोधी हो गये थे। इसीलिये ड्राइडन ने समीक्षा के भी उपदेशात्मक होने का विरोध किया है। वह शास्त्रीय और ऐतिहासिक समीक्षा का समर्थक था। अपने ग्रीक तथा लैटिन साहित्य के पूर्ण ज्ञान के कारण उसने इन क्षेत्रों में अपनी क्षमता का भी परिचय दिया है।

वह काव्य में बहुत उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग का समर्थक था। कविता में उसने नवपदी का विरोध किया है। वह स्पेंसर के प्रति भी प्रशंसा भावना इस कारण से न रख पाया, क्योंकि स्पेंसर ने नव पदियां लिखी थी। वह "फेयरी क्वीन" के काव्य स्वरूप का प्रशंसक था। उसने मिल्टन के "पेराडाइज लॉस्ट" का नायक डेविल को

माना है, क्योंकि उसके द्वारा एडम को पराजित होना पड़ा। उसके इस प्रकार के विचारों का आधार मुख्यय: अरस्तू के ही सिद्धान्त है।

काव्य में कल्पना और लयात्मकता:—

ड्राइडन ने काव्य में कल्पना तत्व के समावेश पर भी विस्तार से विचार किया है। उसने कल्पना को एक ऐसी शक्ति माना है, जो मानव हृदय की अनुभूतियों को पूर्णता से अभिव्यक्ति कर सकती है। काल्पना तत्व के समावेश का उद्देश्य कवि के अभीष्ट को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना है। कल्पना की सहायता से कवि अपनी सामान्य अनुभूतियों को भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति देने में सफल होता है। परन्तु ड्राइडन ने कल्पना को सर्वोच्च मानसिक शक्ति नहीं माना है। उसने यह भी बताया है कि विरोध से कल्पना शक्ति विकसित होती है। इसलिये कवि जितनी हार्दिक तन्मयता से काव्य रचना करेगा, उसके लिये उतनी सरलता से अभिव्यक्ति सम्भव होगी। उसने काव्य में लयात्मकता का भी समर्थन किया है। उसका विचार है कि लय से काव्य अलंकृत होना है। लय तत्व श्रेष्ठ काव्य रचना की सम्भावनाओं को भी जन्म देता है।

काव्य और महाकाव्य:—

काव्य के विषय में ड्राइडन के विचार "डिफेंस आफ दि एसे" में मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उसके विचार प्राचीन मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं। वह काव्य के मुख्य प्रयोजन आनन्दानुभूति तथा उपदेशात्मकता ही मानता था। उसका विचार था कि काव्य में छन्द प्रयोग अनिवार्यतः होता है, केवल उसे आकर्षक बनाने के लिये नहीं। उसके विचार से वह काव्य का एक ऐसा अंग है, जिसको उससे पृथक् करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ड्राइडन ने महाकाव्य के विषय में विचार करते हुए बताया है कि महाकाव्य में मानवेतर गुणों से युक्त पात्र और उत्कृष्ट शैली होती है। उसके पात्रों के क्रिया कलाप में भी एक प्रकार की दिव्यता सी आभासित होती है।

ड्राइडन का विचार था कि आधुनिक युग में महाकाव्य तथा गीतिकाव्य के क्षेत्रो में विशेष रूप से प्रगति हुई है। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि पूर्ववर्ती युगीन साहित्यकारों ने इस सत्य का अनुभव नहीं किया था कि अंग्रेजी भाषा कितनी सौन्दर्य युक्त है। उसने दृढ़ता पूर्वक यह घोषित किया है कि अंग्रेजी भाषा का साहित्य किसी भी प्रकार से फ्रांसीसी भाषा के साहित्य से हीन नहीं है। इसके विपरीत उसने

इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि अंग्रेजी भाषा में जो सौन्दर्य है, वह स्वाभाविक है, परन्तु फ्रांसीसी भाषा के सौन्दर्य में एक प्रकार की कृत्रिमता सी लक्षित होती है।

नाटकः—

"राइवल लेडीज" की भूमिका में ड्राइडन ने नाटक के विषय में विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। उसके मत के अनुसार मनुष्य के जीवन का वह सजीव चित्र है। यही कारण है उसने सप्राण और स्वाभाविक नाटकों को सैद्धांतिक नाटकों से श्रेष्ठतर माना है। नाटक रचना के लिये उसने पद्यात्मक भाषा अनुमोदित की है। उसने उसका छन्द बद्ध होना भी आवश्यक बताया है। वह नाटक में मिश्रित रसों का विरोध नहीं करता था, क्योंकि उसके विचार से सुखान्तक और दुखान्तक परिस्थितियाँ मिलकर उसे विशेष रूप से प्रभावोत्पादक बना सकती हैं।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ड्राइडन के नाटक सम्बन्धी ये विचार बहुत शास्त्रीय नहीं हैं और कहीं-कहीं तो शास्त्र विरोधी भी हो गये हैं। इसका एक कारण यह भी है कि ड्राइडन का यह विचार था कि नाटक रचना के क्षेत्र में शास्त्रीय नियमों के पूर्णरूपेण पालन की आवश्यकता नहीं है।

हास्य रचना तथा प्रहसनः—

"प्रिफेस टु एन ईवनिंग्ज लव" में ड्राइडन ने हास्य रचना तथा प्रहसन में अन्तर स्पष्ट किया है। उसने मिश्रितान्तक को बहुत आनन्ददायक साहित्य रूप माना है। उसने बताया है कि प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने इस साहित्य रूप की उचित महत्ता का अनुभव नहीं किया था। तुलनात्मक दृष्टिकोण से उसने हास्य रचना तथा प्रहसन का महत्व निर्धारित करते हुए बताया है कि हास्य में निम्न वर्गीय पात्रों के जीवन का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण होता है। इसके विपरीत प्रहसन में इस यथार्थता और स्वाभाविकता का अभाव होता है। हास्य मनुष्य की दुर्बलताओं की ओर संकेत करता है। जब कि प्रहसन ऐसा नहीं करता। हास्य के पीछे एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण होता है, परन्तु प्रहसन निरुद्देश्य भी हो सकता है। उसमें यदि हास्य तत्व का समावेश हो भी, तब भी वह निरर्थक हो सकता है। कुल मिलाकर, हास्य सन्तोष और प्रहसन घृणा की अवतारणा करता है।

कला और चित्रकला आदि:—

ड्राइडन कला विषयक मान्यताओं के क्षेत्र में प्लेटो का समर्थक था। उसका विचार था कि साहित्यिक तथा कलात्मक श्रेष्ठता कई प्रकार की भी हो सकती है। "ए पेरलल आफ पोयट्री एंड पेंटिंग" में उसने चित्रकला पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसके मत के अनुसार चित्रकला में कलाकार प्रकृति की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। वही चित्रकार अपने क्षेत्र में सफलता भी प्राप्त करता है, जो सौन्दर्य को विराटता से साक्षात्कार करके उसे आत्मसात् भी कर चुका हो।

उसने कविता की तुलना भी चित्रकारी से की है। उसका विचार है कि ये दोनों कलाएँ पर्याप्त साम्य रखती हैं। परन्तु श्रेष्ठ चित्र उन्हीं दर्शकों का स्वागत करते हैं, जिन्हें कला की परख करने की शक्ति हो। काव्य कला के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक चित्र एक विशिष्ट पृष्ठभूमि में ही सुन्दर लगता है और चित्र कला की भाँति ही काव्य कला को भी विविध आधारों की आवश्यकता होती है, जो पूर्णतः उनके अनुरूप हों।

अनुवाद की कला:—

मौलिक साहित्य विषयक अपने दृष्टिकोण की विशदता से अभिव्यक्ति करने के साथ ही साथ ड्राइडन ने अनूदित साहित्य और अनुवाद कार्य के विषय में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने "प्रिफेस टु दि ट्रांस्लेशन आफ ओविड्स एपीसल्स" में अनुवाद के कार्य पर अपने विवेचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने अनुवाद के कई प्रकारो की ओर संकेत किया है। उसके विचार से प्रथम कोटि का अनुवाद वह होता है, जिसे शब्दानुवाद कहा जाता है।

इस प्रकार के अनुवाद में अनुवादक मौलिक भाषा की शब्दावली को हटाकर उसका स्थान अनूदित भाषा की शब्दावली को दे देता है। इसमें वह प्रायः कोई शब्द घटाता बढ़ाता नहीं, एक एक शब्द का अनुवाद करने की चेष्टा करता है। स्पष्ट है कि इसमें अनुवादक की प्रतिभा के लिये बहुत कम सम्भावना रहती है, क्योंकि वह मूल कृति के कलात्मक और भावात्मक पक्षों की उपेक्षा करके मात्र शब्दावली परिवर्तित कर देता है।

द्वितीय प्रकार का अनुवाद वह होता है जिसमें अनुवादक मूल लेखक के आशय को अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर देता है। इस कोटि के अनुवाद में वह शब्दावली पर

उतना ध्यान नहीं देता, क्योंकि वह शब्दानुवाद से भिन्न होता है। तृतीय प्रकार के अनुवाद में अनुवादक मूल लेखक के शब्दों और अभिप्राय का भी उतना ध्यान नहीं रखता। यह एक प्रकार का स्वतन्त्र अनुवाद होता है। उसमें वह मूल लेखक के उद्देश्य को ध्यान में रखता है, उसकी शब्दावली और अभिव्यंजनाओं का नहीं।

ड्राइडन ने बताया है कि उपर्युक्त तीनों में से द्वितीय कोटि का अनुवाद ही विशेष रूप से उपयुक्त होता है। परन्तु एक सफल अनुवादक को मूल और अनुवाद दोनों की ही भाषाओं का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। यदि वह दोनों भाषाओं से सुपरिचित न होगा, तो वह अपनी प्रतिभा को मूल लेखक की प्रतिभा के अनुकूल न ढाल सकेगा, जो अनुवाद की श्रेष्ठता के लिए अनिवार्य है।

समीक्षात्मक विचार :—

ड्राइडन ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में अनेक मौलिक सिद्धान्तों की रचना और स्थापना की। समीक्षा के क्षेत्र में वह किसी सीमा तक प्रभाववादी भी कहा जा सकता है। उसका विचार था कि किसी भी कृति का कलात्मक और साहित्यिक महत्व उसकी प्रभावात्मकता से ही निर्णीत होगा। केवल सिद्धान्तों की कसौटी पर सभी प्रकार की कृतियों को कसना औचित्यपूर्ण नहीं। पाठकों पर प्रभाव पड़ने के अनुपात से ही कृति की श्रेष्ठता का निर्धारण होगा।

ड्राइडन के ये विचार साहित्यिक कृतियों के साथ ही साथ साहित्यिक शैलियों के विषय में भी सत्य हैं। किसी शैली की श्रेष्ठता भी उसकी प्रभावात्मकता से ही निश्चित की जायगी। उसका विचार था कि शैली के विषय में भी सिद्धान्तों की कसौटी पूर्णतः उपयुक्त नहीं है। श्रेष्ठ शैली की पहचान प्रभावात्मकता के साथ आनन्दानुभूति भी है। इसी प्रकार से श्रेष्ठ साहित्य भी पाठकों को आनन्दमग्न पर देता है। इसलिये ये श्रेष्ठ साहित्य के लक्षण तो हैं ही, उसके मुख्य प्रयोजन भी हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से साहित्य में उपदेशात्मकता का पक्ष गौण सिद्ध होता है। उसने बताया है कि समीक्षा का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य तत्वों की खोज करना और सौन्दर्य निरूपण है। समीक्षा एक निर्णयात्मक मूल्य है। यह निर्णयात्मक मूल्य तर्क पूर्णता और तर्कात्मकता की भी कसौटी होगा। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस शताब्दी की साहित्यिक स्थापनाओं को देखते हुए ड्राइडन की यह धारणा पर्याप्त मौलिकता रखती है।

ड्राइडन के समीक्षा सिद्धान्तों का क्रमिक विकास देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसने क्रमशः अपने विचारों को समयानुसार परिवर्तित भी किया है। उसने इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि प्राचीन और नवीन विचारधाराओं में प्रायः सदैव से संघर्ष होता आया है। उसने इस संघर्ष के मूल कारणों की खोज की और यह प्रतिपादित किया कि प्राचीन सिद्धान्तों का अनुसरण करना किसी सीमा तक आवश्यक तो है, परन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं समझना चाहिये कि नवीनता की सदैव उपेक्षा की जाय। उसने इन दोनों के सीमा निर्धारण की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया और बताया कि अनेक साहित्य रूपों में प्राचीनता का अनुगमन आवश्यक नहीं भी है।

ड्राइडन का मूल्यांकन :—

ड्राइडन एक ऐसा समीक्षक था जिसे पूर्ववर्ती विशिष्ट साहित्य परम्पराओं, विशेष रूप से ग्रीक तथा लैटिन का विस्तृत ज्ञान था। वह अंग्रेजी भाषा के इतिहास से भी सुपरिचित था। वह एक कवि भी था और समीक्षक भी। उसके काव्य में रोमांटिक तत्वों की बहुलता है। उसकी काव्य क्षेत्रीय उपलब्धियों को देखते हुये प्रथम श्रेणी के कवियों में उसकी गणना की जा सकती है। परन्तु यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि एक समीक्षक के रूप में वह कवि या नाटककार की अपेक्षा अधिक महान् था। उसकी समीक्षा दृष्टि के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसकी तर्क शक्ति, विवेक शक्ति तथा निर्णय शक्ति भी कही जा सकती हैं।[1] उसका ज्ञान प्राचीन अंग्रेजी साहित्य में तो विशेष रूप से गहन था ही, नवीन साहित्य की विविध क्षेत्रीय गतिविधि से भी वह अपरिचित न था। यों भी आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के विकास में उसका योग असाधारण है।

ड्राइडन के साहित्यिक व्यक्तित्व की अपनी विशेषतायें थीं। उसके समय तक दान्ते और गेटे का साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत हो चुका था। ड्राइडन ने अन्य समीक्षकों के व्यावहारिक समीक्षा विषयक विचारों का भी परिचय प्राप्त किया, उसका अध्ययन किया और उन्हें स्वीकर लिया। परन्तु अपनी असाधारण विवेक शक्ति के कारण उसने अपने आप में साहित्यिक मूल्यांकन और निर्णय की असाधारण क्षमता उत्पन्न कर ली। उसके लिखे हुए विविध निबन्धों से भी उसकी इस क्षमता का परिचय मिलता है। ड्राइडन

1. "A History of English Criticism," George Saintsburry, p. 112.

ने अपने समय के फ्रांसीसी तथा इटैलियन सिद्धान्तों को अपनाया और स्पेन के आलोचकों के मतों का भी मनन किया। किसी भी कृति या कृतिकार के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते समय वह इन भाषाओं के विद्वानों की विचारधाराओं को तो ध्यान में रखता ही था, प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की भी उपेक्षा नहीं करता था।

ड्राइडन की गणना अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में की जाती है। उसे साहित्य से अगाध प्रेम था और वह साहित्य को कुछ संकुचित सीमाओं से बद्ध करने की प्रवृत्ति से युक्त था। उसने साहित्य के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अवलोकन में अधिक विवेक का परिचय नहीं दिया, यद्यपि उसकी समीक्षा दृष्टि बहुत तीक्ष्ण थी। वह अपने मत पर दृढ़ रहता था और समकालीन साहित्यिक मत-वादों से अधिक प्रभावित नहीं होता था।

उसकी एक विशेषता यह भी मानी जाती है कि अपनी समीक्षा दृष्टि की सीमाओं के होते हुये भी उसने कभी भी किसी साहित्यकार या कृति की आलोचना करते समय पक्षपात की प्रवृत्ति नहीं दर्शायी। कुछ साहित्यकारों का उसने पूर्णता से अध्ययन नहीं भी किया था, परन्तु उसका मूल्यांकन करते समय भी उसने पर्याप्त धैर्य और सहानुभूति से काम किया। इसके अतिरिक्त यद्यपि उसमें तीक्ष्ण विवेक शक्ति विद्यमान थी, परन्तु साहित्यिक उपलब्धियों के मूल्यांकन और उनसे तत्व ग्रहण करने की योग्यता का उसमें सर्वथा अभाव था।

ड्राइडन के महत्व का एक और कारण यह भी है कि उसने साहित्य को सम्पूर्णता से देखने की चेष्टा की। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वह किसी भी साहित्यकार या कृति की समीक्षा एक विशिष्ट दृष्टिकोण से करता था। उसने कभी भी इस क्षेत्र में किसी पूर्वाग्रह से कोई धारणा नहीं बनायी। साहित्य या काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में वह आनन्दानुभूति पर बराबर बल देता रहा, क्योंकि वह अन्ततः काव्य या साहित्य का यही प्रमुख उद्देश्य भी मानता था। उसने वैयक्तिकता तथा वैविध्य पर भी बहुत गौरव दिया है। इसी कारण वह साहित्यकारों और कृतियों को स्वतन्त्र रूप से परीक्षित करना उचित समझता था। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ड्राइडन के ये समीक्षा विचार सर्वयुगीन और स्तरीय समीक्षा के तत्वों के रूप में मान्य हैं।

ड्राइडन सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षा साहित्य की एक महान् विभूति है। उसने अंग्रेजी समीक्षा को समृद्ध बनाने के लिये जितना उल्लेखनीय योग प्रदान किया, उतना अन्य किसी साहित्यकार ने नहीं। यही नहीं, अंग्रेजी समीक्षा पद्धति को जो मान्यता प्राप्त हुई, उसका श्रेय भी ड्राइडन को ही है। चूंकि वह एक कवि भी था, इसलिए इस क्षेत्र में भी उसकी प्रतिभा क्रियाशील हुई थी। परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि एक कवि के रूप में उसकी उपलब्धियाँ महती नहीं हैं। यद्यपि उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि इस शताब्दी में ड्राइडन की देन के अतिरिक्त अंग्रेजी समीक्षा साहित्य नगण्य है। और यह बहुत सीमा तक सत्य भी है। क्योंकि यह ड्राइडन के ही प्रयत्नों का फल था कि अंग्रेजी समीक्षा अन्य भाषाओं के समीक्षा साहित्य के समकक्ष हो सकी। प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के अन्ध अनुकरण का ड्राइडन ने कभी भी समर्थन नहीं किया। इसके अतिरिक्त वह रूढ़िवादिता का भी विरोध करता था, परन्तु वह सिद्धान्तों के पालन करने का कभी विरोधी नहीं रहा।

इस सत्रहवीं शताब्दी में शैली के विषय में इस सामान्य धारणा का प्रचार रहा कि शैली तभी श्रेष्ठ होगी, जब वह विषय के अनुरूप होगी। साहित्य की परख के विषय में यह अनुभव किया गया कि पहले प्राचीन महान् कवि के गुणों की खोज करनी चाहिये। उनका ज्ञान हो जाने पर तब किसी आधुनिक आलोच्य कवि के साहित्य में भी उन्हीं गुणों को ढूंढ़ना चाहिये। इस प्रकार की अनेक धारणायें इस युग में बनीं और प्रचारित रहीं। इससे भी बड़ी विडम्बना यह थी कि इनका अनुगमन लोग करते रहे। सर्वप्रथम ड्राइडन ने ही इस स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और इससे भिन्न मार्ग की खोज कर सकने में सफल हो सका। यों जहाँ तक समकालीन अन्य साहित्यिक विवादों का सम्बन्ध है, ड्राइडन काव्य या साहित्य में रोमांटिक तत्वों के समावेश का का समर्थक था, परन्तु उसने साहित्य में रोमांस विरोधी आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले वाद-विवाद में विशेष भाग नहीं लिया और सामान्यतः क्लैसिकल साहित्य पर ही गौरव देता रहा।

टॉमस राइमर

प्रमुख विचार :—

इस शताब्दी के अन्य समीक्षकों में टॉमस राइमर एक विषम आलोचक के रूप में विख्यात है। यह एक विचित्र तथ्य है कि साहित्यिक सिद्धान्तों का राइमर को असाधारण ज्ञान

था, परन्तु अपने इस अगाध ज्ञान का व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उचित रूप में आरोपण उसने नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उसने समीक्षा को एक साहित्यिक अंकुश के समान माना है। उसका विचार है कि साहित्यकारों पर समीक्षक रूपी अंकुश रहना अनिवार्य भी है, अन्यथा वे अनुचित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने लगते हैं। परन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता था कि समीक्षक को अपने कार्य की गुरुता को भली प्रकार से समझ लेना चाहिये। उसने यूरोपीय काव्य के विकास का सम्यक् अध्ययन किया था। अरस्तू, चौसर, डेवनेंट, काउली, वर्जिल, एरियेस्टो, टासो, मेरियानो, चौपलीन, सी मेस्मेन, ड्राइडन, शैक्सपीयर, जानसन, फ्लेचर, वेमेंट आदि साहित्यकारों की उपलब्धियों पर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं।

अन्य समीक्षक

इस शताब्दी के अन्य समीक्षकों में टामस स्प्रैट का समय सन् १६३५ से लेकर सन् १७१३ तक माना जाता है।[1] इसकी शिक्षा दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। यह एक विषप था। इसके समकालीन सफल लेखकों में इसकी गणना की जाती है, यद्यपि इसकी साहित्यिक समीक्षा स्तरीय नहीं मानी जाती। इसी के साथ जिन अन्य समीक्षकों का उल्लेख आवश्यक है उनमें एडवर्ड फिलिप, विलियम विस्टेमली, लैंगवेन तथा कुछ अन्य के नाम हैं। फिलिप का समय सन् १६३० से लेकर १६७६ तक है।[2] यह एक निर्धन लेखक था। यह मिल्टन का भतीजा था और फिलिप हर्बर्ट आदि का ट्यूटर रहा था। इसने "न्यू वर्ल्ड आफ वर्ड्स" नामक भाषा वैज्ञानिक शब्द कोश का सम्पादन किया था, जो बहुत प्रचारित हुआ था। फिलिप को एक साहित्य समीक्षक के स्थान पर एक साहित्य इतिहासकार के रूप में अधिक मान्यता मिली।

इसी प्रकार से विलियम विस्टेमली ने अपनी पुस्तक "लाइव्स आफ दि मोस्ट फेमस इंग्लिश पोयट्स" में जिस दृष्टिकोण और स्तर का परिचय दिया है, उसके आधार पर उसे द्वितीय श्रेणी का साहित्यिक इतिहासकार माना जाता है। उसकी यह

1. "The Oxford Companion to English Literaure," Sir Paul Harvey, p. 759.
२. वही, पृ० ६१५।

ड्राइडन सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षा साहित्य की एक महान् विभूति है। उसने अंग्रेजी समीक्षा को समृद्ध बनाने के लिये जितना उल्लेखनीय योग प्रदान किया, उतना अन्य किसी साहित्यकार ने नहीं। यही नहीं, अंग्रेजी समीक्षा पद्धति को जो मान्यता प्राप्त हुई, उसका श्रेय भी ड्राइडन को ही है। चूंकि वह एक कवि भी था, इसलिए इस क्षेत्र में भी उसकी प्रतिभा क्रियाशील हुई थी। परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि एक कवि के रूप में उसकी उपलब्धियाँ महती नहीं हैं। यद्यपि उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि इस शताब्दी में ड्राइडन की देन के अतिरिक्त अंग्रेजी समीक्षा साहित्य नगण्य है। और यह बहुत सीमा तक सत्य भी है। क्योंकि यह ड्राइडन के ही प्रयत्नों का फल था कि अंग्रेजी समीक्षा अन्य भाषाओं के समीक्षा साहित्य के समकक्ष हो सकी। प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के अन्ध अनुकरण का ड्राइडन ने कभी भी समर्थन नहीं किया। इसके अतिरिक्त वह रूढ़िवादिता का भी विरोध करता था, परन्तु वह सिद्धान्तों के पालन करने का कभी विरोधी नहीं रहा।

इस सत्रहवीं शताब्दी में शैली के विषय में इस सामान्य धारणा का प्रचार रहा कि शैली तभी श्रेष्ठ होगी, जब वह विषय के अनुरूप होगी। साहित्य की परख के विषय में यह अनुभव किया गया कि पहले प्राचीन महान् कवि के गुणों की खोज करनी चाहिये। उनका ज्ञान हो जाने पर तब किसी आधुनिक आलोच्य कवि के साहित्य में भी उन्हीं गुणों को ढूंढ़ना चाहिये। इस प्रकार की अनेक धारणायें इस युग में बनीं और प्रचारित रहीं। इससे भी बड़ी विडम्बना यह थी कि इनका अनुगमन लोग करते रहे। सर्वप्रथम ड्राइडन ने ही इस स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और इससे भिन्न मार्ग की खोज कर सकने में सफल हो सका। यों जहाँ तक समकालीन अन्य साहित्यिक विवादों का सम्बन्ध है, ड्राइडन काव्य या साहित्य में रोमांटिक तत्वों के समावेश का का समर्थक था, परन्तु उसने साहित्य में रोमांस विरोधी आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले वाद-विवाद में विशेष भाग नहीं लिया और सामान्यतः क्लैसिकल साहित्य पर ही गौरव देता रहा।

टॉमस राइमर

प्रमुख विचार:—

इस शताब्दी के अन्य समीक्षकों में टॉमस राइमर एक विषम आलोचक के रूप में विख्यात है। यह एक विचित्र तथ्य है कि साहित्यिक सिद्धान्तों का राइमर को असाधारण ज्ञान

था, परन्तु अपने इन अगाध ज्ञान का व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उचित रूप में आरोपण उसने नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उसने समीक्षा को एक साहित्यिक अंकुश के समान माना है। उसका विचार है कि साहित्यकारों पर समीक्षक रूपी अंकुश रहना अनिवार्य भी है, अन्यथा वे अनुचित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने लगते हैं। परन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता था कि समीक्षक को अपने कार्य की गुरुता को भली प्रकार से समझ लेना चाहिये। उसने यूरोपीय काव्य के विकास का सम्यक् अध्ययन किया था। अरस्तू, चौसर, डेवनेंट, काउली, वर्जिल, एरिपेस्टो, टासो, मेरियानो, चौपलीन, सी मेस्मेन, ड्राइडन, शैक्सपीयर, जानसन, फ्लेचर, बेमेंट आदि साहित्यकारों की उपलब्धियों पर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं।

अन्य समीक्षक

इस शताब्दी के अन्य समीक्षकों में टामस स्प्रैट का समय सन् १६३५ से लेकर सन् १७१३ तक माना जाता है।[1] इसकी शिक्षा दीक्षा आक्सफोर्ड में हुई थी। यह एक विषप था। इसके समकालीन सफल लेखकों में इसकी गणना की जाती है, यद्यपि इसकी साहित्यिक समीक्षा स्तरीय नहीं मानी जाती। इसी के साथ जिन अन्य समीक्षकों का उल्लेख आवश्यक है उनमें एडवर्ड फिलिप, विलियम विंस्टेमली, लेंगवेन तथा कुछ अन्य के नाम हैं। फिलिप का समय सन् १६३० से लेकर १६७६ तक है।[2] यह एक निर्धन लेखक था। यह मिल्टन का भतीजा था और फिलिप हर्बर्ट आदि का ट्यूटर रहा था। इसने "न्यू वर्ल्ड आफ वर्ड्स" नामक भाषा वैज्ञानिक शब्द कोश का सम्पादन किया था, जो बहुत प्रचारित हुआ था। फिलिप को एक साहित्य समीक्षक के स्थान पर एक साहित्य इतिहासकार के रूप में अधिक मान्यता मिली।

इसी प्रकार से विलियम विंस्टेमली ने अपनी पुस्तक "लाइव्स आफ दि मोस्ट फेमस इंग्लिश पोयट्स" में जिस दृष्टिकोण और स्तर का परिचय दिया है, उसके आधार पर उसे द्वितीय श्रेणी का साहित्यिक इतिहासकार माना जाता है। उसकी यह

1. "The Oxford Companion to English Literaure," Sir Paul Harvey, p. 759.
२. वही, पृ० ६१५।

पुस्तक अंग्रेजी कवियों के इतिहासों में विशेष उल्लेखनीय है। लैंगवेन की "एकाउण्ट आफ दि इंग्लिश ड्रामेटिक पोयट्स" नामक पुस्तक भी इसी परम्परा में आती है। इस कृति में उसका समीक्षात्मक दृष्टिकोण बहुत ही अप्रौढ़ है, यद्यपि इस कृति से भावी साहित्यकारों को इस क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा मिली।

सर विलियम टेंपुल

परिचय और कृतियाँ :—

सर विलियम टेंपुल का समय सन् १६२८ से लेकर सन् १६९९ तक माना जाता है।[1] इसकी शिक्षा दीक्षा केम्ब्रिज के इमेनुअल कालेज में हुई थी। इसका राजनैतिक जीवन भी बहुत महत्वपूर्ण था। इसकी प्रमुख कृतियों में "ऐसे अपान दि प्रेजेण्ट स्टेट आफ आयरलैंण्ड" (सन् १६६८), "आब्जरवेशंस अपान दि नीदरलैंड्स" (सन् १६७२), "दि एडवांसमेंट आफ ट्रेड इन आयरलैण्ड" (सन् १६७३) तथा "मिसलीनिया" (तीन खंड सन् १६८०, १६९०, १७०१) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसकी राजनैतिक ख्याति इतनी अधिक थी कि इसे एक समीक्षक के रूप में अधिक प्रसिद्धि नहीं मिल सकी। अंग्रेजी समीक्षा को इसकी देन विशिष्ट प्रकार की मानी जाती है।

रिचर्ड बेंटली

परिचय तथा कृतियाँ :—

बेंटली का समय सन् १६६२ से लेकर १७४२ तक माना जाता है।[2] इसका जन्म याक्शायर में और शिक्षा दीक्षा सेंट जोंस कालेज केम्ब्रिज में हुई थी। "एपिस्टोला एंड मिलियम" नामक इसकी रचना सन् १६९१ में लैटिन में प्रकाशित हुई थी, जिससे इसे असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। सन् १६९९ में यह ट्रिनिटी कालेज केम्ब्रिज में अध्यापक नियुक्त हो गया था। इसकी लिखी हुई "पैलेरिस" नामक कृति युगीन समीक्षा

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 774.
२. वही, पृ० ७१।

प्रवृत्तियों की एक प्रतिनिधि रचना मानी जाती है, यद्यपि मूलतः साहित्यिक विषयों पर ही इसने कम लिखा है।

जैरेमी कौलियर

परिचय तथा कृतियाँ :—

कौलियर का समय सन् १६५० से लेकर सन् १७२६ तक माना जाता है।[1] इसने इप्सविच और कैम्स कालेज, केम्ब्रिज में शिक्षा पायी थी। इसकी ख्याति का प्रमुख कारण इसकी "शार्ट रिव्यू आफ दि इममार्टेलिटी एंड प्रोफेननेस आफ दि इंगलिश स्टेज" नामक रचना है, जो सन् १६९२ में प्रकाशित हुई थी। उसने "एक्लेसियेटिकल हिस्ट्री आफ ग्रेट ब्रिटेन" के नाम से भी एक पुस्तक सन् १७०८-१४ में प्रकाशित की थी। उपर्युक्त में से प्रथम रचना समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में एक ठोस कृति मानी जाती है। इस कृति के द्वारा अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी मोड़ों ने जन्म लिया था। इसे ग्रीक तथा अंग्रेजी समीक्षा परम्पराओं की उपलब्धियों की पूर्ण अवगति थी, परन्तु अपने निष्कर्षों का व्यावहारिक आरोप यह समीक्षा पर सफलतापूर्वक न कर सका। मूलतः साहित्य को ही केन्द्र में रख कर उसने विशेष चिन्तन किया। साहित्य विषयक इसके स्फुट विचार इसकी "एसेज अपान सेवरल सब्जेक्ट्स" नामक पुस्तक में मिलते हैं।

सर टामस पोप ब्लाउंट

प्रमुख विचार :—

इस सत्रहवीं शताब्दी में उपर्युक्त विचारकों की परम्परा में अन्तिम कड़ी के रूप में सर टामस पोप ब्लाउंट का नाम उल्लेखनीय है। इसकी कृतियों का भी इस शताब्दी की समीक्षात्मक रचनाओं में उल्लेखनीय स्थान है। इसमें समीक्षात्मक प्रतिभा का अभाव था, यद्यपि इसकी कृतियों में पर्याप्त प्रौढ़ता मिलती है। इसके आलोचनात्मक विचारों की प्रमुख विशेषता उनकी ईमानदारी है, यद्यपि उनमें मौलिकता और कलात्मकता का अभाव है।

1. "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 175.

सत्रहवीं शताब्दी में रचे गये यूरोपीय समीक्षा साहित्य पर एक दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि इस शताब्दी में यूरोप की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में जो उल्लेखनीय समीक्षक हुये हैं, उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में परम्परानुगत शास्त्रीय विचार-धाराओं का अनुगमन करने के साथ मौलिक सिद्धान्त रचना का भी प्रयास किया। सोलहवीं शताब्दी के समीक्षकों में नवीन नियम रचना की इस प्रवृत्ति का अभाव था। वे प्राचीनता और शास्त्रीयता का अनुगमन करना इसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर समझते थे। इस दृष्टि से उनमें रूढ़िवादिता व्याप्त थी। वे नवीनता को स्वीकारने की अपेक्षा प्राचीनता का अनुसरण करना प्रत्येक दृष्टि से हितकर समझते थे। इसके साथ ही साथ वे प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों और नियमों में अधिक गुण दोष ढूँढ़ने की चेष्टा भी नहीं करते थे और उसे आदर्श रूप में ग्रहण करते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ सोलहवीं शताब्दी में समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में क्रियात्मक क्रियाशीलता का अभाव था, वहाँ इस शताब्दी में उसका अभाव नहीं था।

इस सत्रहवीं शताब्दी में जो समीक्षक हुये, उन्होंने साहित्य सिद्धान्तों और नियमों के पुनर्निर्माण की दिशा में विशेष रुचि दिखायी और इस कारण ही इस क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रियता का भी परिचय दिया। इस युग में साहित्य के विविध रूपों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया और उनके गुण दोषों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ। इस शताब्दी में सामान्य रूप से इस विचार को मान्य किया गया कि काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना तथा उपदेश देना ही है, परन्तु कोरी आनन्दानुभूति या उपदेशात्मकता निरर्थक है। इसलिये इन गुणों के साथ ही साथ स्तर निर्वाह के लिये काव्य सिद्धान्तों का अनुगमन ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस सत्रहवीं शताब्दी में साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रमुख प्रवृत्ति प्राचीनता और नवीनता के संघर्ष की भी है। यह धारणा भ्रामक बतायी गयी कि आधुनिकता शास्त्रीयता का विरोध करती है। आधुनिकता के समर्थक भी प्राचीनता के समर्थकों की भाँति शास्त्रीयता पर गौरव देते थे। इसी प्रकार से वे सैद्धान्तिक अनुकरण तथा साधारणीकरण के भी समर्थक थे।

अठारहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा में उस मानवतावाद का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में विकास हुआ, जिसका सूत्रपात्र पूर्ववर्ती युग में हो चुका था

इस काल में राज्य की ओर से भी साहित्य को प्रश्रय दिया गया और उसका फल भी शीघ्र ही दिखाई दिया। मुरातोरी, बीचो और गइसेप्पे बारेक्षी के नाम इस शताब्दी के वैज्ञानिक दिशा निर्देशकों के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस युग में मानवतावाद और आदर्शवाद के स्वरूप विषयक दृष्टिकोण में विकास हुआ और अपेक्षाकृत नवीनतर दृष्टिकोण से प्राचीन क्लैसिकल कवियों की महान् कृतियों का पुनर्परीक्षण हुआ। नवीन सैद्धांतिक व्याख्या हुई और मूल्यांकन के नए आधार बने। इसलिए इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भी समीक्षात्मक निष्कर्ष निकाले गये वे गम्भीर वाद-विवाद के पश्चात् हुए। यूरोप के विविध देशों के साहित्यिक अन्तर्सम्बन्धों में दृढ़ता आई और उनका विकास हुआ। यूरोपीय वैचारिक आन्दोलनों का भी इस शताब्दी की इटैलियन समीक्षा पर प्रभाव पड़ा।

इस शताब्दी में भी इटली में प्राचीनता और नवीनता का विवाद होता रहा। प्राचीन साहित्य शास्त्र के अनुगमन को श्रेयस्कर अवश्य बताया गया, परन्तु उसकी नवीन व्याख्या पर बल देते हुए उसी को मान्य किया गया। जैसा कि उपर संकेत किया गया है। इस शताब्दी में मानववादी विचारधारा को पर्याप्त प्रश्रय दिया गया। यह वाद अब तक अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि का आधार लेकर विकसित होने लगा था। इसकी व्याख्या के प्रयत्न सर्वत्र हो रहे थे तथा उन पर स्थानीय चिन्तन का प्रभाव था।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्राचीन काल की वैज्ञानिक परम्पराओं मे भी मानववाद के तत्व समाविष्ट थे। आगे चलकर सुस्पष्ट रूप से इस विचारधारा का विकास हुआ जो मुख्यतः मानव जीवन के उच्च आदर्श तथा सुसंस्कृत रूप के उदात्तीकरण की समर्थक थी। आगे चलकर भी विविध दृष्टियों से इसकी व्याख्या तथा इसके रूपों के विकास के प्रयत्न हुए।

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में एक बार फिर से फ्रांस में नवीनता और प्राचीनता का विवाद शुरू हुआ। आरम्भ में होमर के "इलियड" के दो अनुवादों के संदर्भ में मन्तव्यों का संघर्ष हुआ। इसी के साथ ही साथ साहित्य के अन्य रूपों और तत्वों तथा वाङ्मय के विविध प्रभेदों की चर्चा हुई। श्रीमती दासिए, हाउदा दै ल मौते, वाल्तेयर, आवेज्यू

बी, लाचौसी, लिलो, दिदरो, ग्रीम, देअलेम्बर्त, मारमौतेल, रूसो आदि व्यक्तित्व इस शताब्दी में क्रियात्मक साहित्य और सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक समीक्षा के क्षेत्र मे क्रियाशील रहे। नगण्य तत्वों से लेकर महत्वपूर्ण विषयों तक सब पर साधिकार मन्तव्य प्रकाशन हुआ और काव्य के अन्य विषयों से अन्तंसम्बन्ध का विश्लेषण हुआ।

साहित्य के साथ कला विज्ञान और दर्शन के तत्व चिन्तन की ओर भी ध्यान दिया गया। समीक्षा की अनेक प्रणालियाँ विकासशील हुईं और उनकी व्यावहारिकता का परीक्षण भी हो गया। बहुधा ऐसा भी हुआ कि दो भिन्न सम्प्रदायवादियों में संधि भी हो गई। कभी-कभी एक विचार वाला दूसरे विचारवाले से सहमत होते हुए भी उसका इसलिए विरोध करता था कि वे दोनों दो भिन्न सम्प्रदायों के थे। विदेशी प्रभावों का आगमन भी अनेक रूपों में हुआ और उसका समर्थन तथा विरोध दोनों हुए।

क्लासिकल सिद्धान्तों की मान्यता विरोधी वाद विवाद के बावजूद भी अक्षुण्ण रही। रूसो आदि ने इस शताब्दी में साहित्य चिन्तन की परिधि को प्रशस्त किया। अनेक राजनैतिक मतवादों का भी व्यापक रूप से प्रचार हुआ और संकुचित दृष्टिकोण को त्यागने तथा उदार दृष्टिकोण को अपनाने के नारे लगाए गए। अन्त में इस शताब्दी की समाप्ति के समय भारी क्रियाशीलता के साथ आगामी सम्भावनाओं के जन्म की आशा बंधी।

अठारहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा

स्पेन के इस साहित्यिक नवयुग में सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम इग्नाशियो डी लुजान का है जो अठारहवीं शताब्दी का सर्वप्रथम विचारक माना जाता है और जिसका समय सन् १७०२ से १७५४ तक है। यह नवशासनवादी सिद्धान्त का प्रवर्तक समीक्षक माना जाता है। इसका प्रमुख रचना क्षेत्र काव्यशास्त्र विषयक ही था। इसके विचारों से यह आभास मिलता है कि मूलतः वह एक परस्परवादी विचारक ही था। अपनी रचनाओं मे उसका दृष्टिकोण पुरातनवादी है जिसमें उसने यूनानी और रोमीय साहित्यशास्त्र का अनुगमन किया है। उसके बहुत से मन्तव्यों का एक दूसरी विचारधारा राष्ट्रवादिता के समर्थकों द्वारा बहुत विरोध हुआ।

इस प्रकार से इस व्यक्तित्व का यदि पर्याप्त समर्थन हुआ तो दूसरी ओर उसे घोर विरोध का भी सामना करना पड़ा। मुख्यतः नवशास्त्रवादी समीक्षकों का विरोध

इस नवयुग के आरम्भ होने से कई सौ वर्ष पूर्व से चला आ रहा था और कई सौ वर्ष पश्चात् तक चलता रहा। इनमें से जो नवशास्त्रवादी थे उनमें इग्नाशियो डी लुआन के अतिरिक्ति सीनियर निकोलाल फर्नान्डेज डी मुरातिम भी था जिसका नाम इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका समय सन् १७३५ से १७८० तक माना जाता है।

मुरातिम के बाद इस प्रवृत्ति का प्रभाव और प्रचार बहुत घट गया परन्तु उसके पुत्र जनियर निकोलास फर्नान्डेज डी मुरातिम ने भी इस वाद का सशक्तता से अनुगमन किया। उसका समय सन् १७६० से १८२८ तक माना जाता है। कुछ ही समय बाद स्पेन के पराधीन हो जाने पर वैचारिक प्रगति रुद्ध हो गई और फिर से संकुचित मत और वाद प्रचलित हो गए। स्वैरवाद का प्रचार आरम्भ हुआ और फिर प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का प्रचलन होने लगा। स्वैरवाद का प्रवर्तक एन्टोनियो आतकाला गालियानो माना जाता है जिसका समय सन् १७८९ से लेकर १८६५ तक था और प्रतिक्रियावादी नेता अल्वर्टो लिस्टाई आरोगोन हुआ जिसका समय सन् १७१५ से १८३८ तक है। आगे चलकर स्वैरवाद की जोसे लारा ई सान्केज डी कास्ट्र का समर्थन प्राप्त हुआ जिसका समय सन् १८०९ से लेकर १८३७ तक है।

अठारहवीं शताब्दी तक स्पेन में मुख्य चिन्तन प्रवृतियाँ उपर्युक्त प्रकार की ही रहीं। महाकाव्य, मुक्तक काव्य, गद्य काव्य, दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक, मिश्रितान्तक नाटक, द्वयान्तक नाटक तथा प्रहसन आदि के विषय में सैद्धांतिक रूप से तो गम्भीरता पूर्वक और विस्तार के साथ विचार विमर्श हुआ ही, इन साहित्य रूपों के क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से भी पर्याप्त उन्नति हुई। उच्च कोटि का चिन्तन हुआ तथा साहित्य, कला, सौन्दर्य, दर्शन, नीतिशास्त्र और तर्क शास्त्र आदि के क्षेत्रों में क्रियात्मक चिन्तन हुआ। अनेक आध्यात्मिक विषयों पर भी गम्भीर विचार विमर्श हुआ। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जहाँ एक ओर निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से वैचारिक प्रगति हुई वहाँ दूसरी ओर वादानुगामिता का आग्रह भी कुछ क्षेत्रों में रहा, यद्यपि उसके फलस्वरूप भी भावी विकास की संभावनाएँ ही जन्मीं।

इस समय तक प्रायः रूढ़िवादिता और रूढ़ि विरोध का ही संघर्ष प्रधान रूप से रहा क्योंकि वाङ्मय की जिस विधा से भी सम्बन्ध रखने वाले विषय पर विचार विमर्श आरम्भ होता था अन्त में विवाद उसी सूत्र पर आकर ठहर जाता था। यह परिस्थिति प्रायः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रही जब तक कि स्पेन के शासन सूत्रों में कोई केन्द्रीय परिवर्तन

नहीं हुआ। अठारहवीं शताब्दी में जब स्पेन का राज्याधिकार एक राजवंश के हाथ से निकल कर दूसरे राजवंश के हाथ में गया तब एक प्रकार का नवयुग सा आरम्भ हुआ। इस नवयुग में सन् १७१४ में रायल एकेडमी आफ दि लैंगवेज की स्थापना की गई और इस प्रकार से साहित्य को राज्य की ओर से भी प्रश्रय दिय गया। इस प्रकार से साहित्य और कला के क्षेत्रों में नवीन विकास की सम्भावनाओं ने जन्म लिया।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मन समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में योहान क्रिस्टोफ गोट शेड (१७०० से १७६६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके विषय में यह कहा जाता है कि अपने समय में वह सारे देश के साहित्य क्षेत्रों में एक छत्र रूप से शासन करता रहा। अनेक पत्र पत्रिकाओं और शिक्षण संस्थाओं में प्रायः उसी के विचारों का बोलबाला रहता था। सन् १७३० में उसने एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी जिसमें उसने समीक्षात्मक सिद्धांतों का उल्लेख किया था। इस ग्रन्थ के माध्यम से उसने अपनी विचारधारा का पूरा पूरा निदर्शन किया और अपने मन्तव्यों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति दी। इस प्रकार से यह ग्रन्थ समीक्षा शास्त्र विषयक एक सम्पूर्ण कृति के रूप में मान्य हुआ।

गोट शेड ने इस ग्रन्थ में साहित्य के विविध रूपों और तत्वों पर विस्तार से विचार किया। काव्य और नाटक पर उसने विशेष रूप से चिन्तन किया और इनके उपकरणों की विस्तार और सूक्ष्मता से व्याख्या की। जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है वह यह कहता था कि उसका सबसे प्रमुख गुण उसकी सत्यता है। चूंकि काव्य का प्रेरणा स्रोत एक दूसरी वस्तु अर्थात् प्रकृति है, इसलिए प्रकृति के गुण काव्य में स्पष्ट होने चाहिए। प्रकृति एक यथार्थ वस्तु है और काव्य में प्रकृति सम्पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए काव्य में यह प्रतिबिम्ब अपने यथार्थ और वास्तविक स्वरूप में पड़ना चाहिए। इस प्रकार से यथार्थता पर अधिक गौरव देते हुए उसने अन्य तत्वों को अप्राथमिक और त्याज्य बताया। काव्य की भांति गोटशेड ने नाटक आदि के सन्दर्भ में भी कुछ महत्वपूर्ण निर्देश दिया। गोटशेड के विचारों में सबसे बड़ा गुण यह है कि उनमें अपूर्णता, अस्पष्टता और अस्थिरता नहीं है। वे पूर्णतः मौलिक चाहे न हों परन्तु उनमें एक प्रकार की निश्चयात्मकता अवश्य विद्यमान है।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी मे समीक्षा के क्षेत्र में जो प्रवृत्तियाँ रही हैं वे प्रमुख रूप से परस्पर विरोधी थीं। इनमें से एक यदि शास्त्रीयता का अनुमोदन करती थी तो दूसरी परम्परा विरोधी थी। इसके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी थीं जिनका विरोध या विवाद सैद्धान्तिक रूप से न होकर व्यावहारिक रूप में था। उदाहरण के लिए इस युग के कुछ महाकाव्यों की कुछ देशी विदेशी समीक्षाओं के ऊपर समीक्षकों में अनावश्यक वाद विवाद हुआ। इसी सन्दर्भ में सिद्धान्त तत्वों की भी परीक्षा हुई। काव्य के मूल तत्वों पर बहस हुई और अन्त में सारा विवाद परम्परानुगामिता और परम्परा विरोधता में सिमट गया। इसका प्रभाव समीक्षा के स्वरूप और स्तर पर भी पड़ा। परिणाम यह हुआ कि शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षा को लोगों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया।

इस प्रकार से जर्मनी में समीक्षात्मक इतिहास का एक युग एक प्रकार की अनिश्चयात्मकता की स्थिति में समाप्त होता है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि आगे चलकर साहित्य समीक्षा और कला के क्षेत्रों में जिन आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ उनमें उपर्युक्त विवाद और परिस्थितियों ने पृष्ठभूमि का कार्य किया। यदि जर्मनी के साहित्यिक क्षेत्रों में यह क्रियाशीलता न होती और उसका विकास भी संकुचित गति और क्षेत्र में ही होता तो आगे चलकर न तो वह विशिष्ट महत्व के चिन्तकों को जन्म दे पाता और न यूरोपीय वैचारिक भावी इतिहास में उसका कोई महत्वपूर्ण स्थान होता। इसलिए जहाँ एक ओर उपर्युक्त वाद विवाद से साहित्यिक विकास में रुद्धता आई वहाँ दूसरी ओर उपर्युक्त कारण से ही उसे प्रशस्ति भी मिली।

अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी समीक्षा : जॉन डेनिस

परिचय तथा कृतियाँ :—

अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षा शास्त्रियों में सर्वप्रथम जॉन डेनिस का नाम उल्लेखनीय है। इसका समय सन् १६५७ से लेकर १७३४ तक माना जाता है।[1] इसकी

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, P. 151.

शिक्षा दीक्षा हैरो तथा केयस कालेज, केम्ब्रिज में हुई थी। "रिनाल्डो एंड आर्मिडा" नामक इसका प्रसिद्ध दुखान्तक नाटक सन् १६९९ में प्रकाशित हुआ था। इसकी समीक्षा कृतियों को विशेष रूप से मान्यता प्राप्त हुई। इनमें "दि एडवांसमेट एंड रिफारमेशन आफ माडर्न पोयट्री" (सन् १७०१), "दि ग्राउण्ड्स आफ क्रिटिसिज्म इन पोयट्री" (सन् १७०४) तथा "एन एसे आन दि जीनियस एंड राइटिंग्स आफ शेक्सपीयर" (सन् १७१२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह ड्राइडन का विषय था और उसके द्वारा प्रवर्तित समीक्षा परम्परा का प्रसार करना चाहता था, परन्तु यह अपने इस कार्य में अधिक सफलता न प्राप्त कर सका। सैद्धान्तिक रूप से इसके विचारों और मन्तव्यों पर ड्राइडन का भारी प्रभाव लक्षित होता है।

समीक्षात्मक विचार :—

जॉन डेनिस का अध्ययन यद्यपि बहुत गहन न था और न ही इसने साहित्य समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया था, परन्तु उसे युगीन ख्याति बहुत अधिक प्राप्त हुई थी। जहाँ तक उसकी समीक्षात्मक क्षमता का सम्बन्ध है, उसके विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उसने ग्रीक तथा अंग्रेजी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कहा था कि जिन परिस्थितियों ने ग्रीक नाटक को जन्म दिया और जिनमें उसका विकास हुआ, उससे अंग्रेजी नाटक की जन्म और विकासकालीन परिस्थितियां सर्वथा भिन्न थी। इसलिए उसने उन लोगों का विरोध किया, जो ग्रीक आदर्शों के पूर्ण अनुकरण-पर ही बल देते थे। उसने यूरोपीय काव्य के विकास का समुचित अध्ययन नहीं किया था, इसलिए उस विषय पर उसके विचार अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। डेनिस अपने विचारों के प्रति बहुत आगृहीत था। वह तर्कात्मक शैली का प्रयोग तो करता था, परन्तु उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकालता, उन पर दृढ़ रहता था।

डेनिस के काव्य पर विचार :—

जॉन डेनिस का यह विचार था कि काव्य को प्रकृति का अनिवार्यतः अनुकरण करना चाहिये। उसमें यदि धार्मिक कथायें हों, तो उनका सम्बन्ध स्वदेशी धर्म तथा उनका आधार पौराणिक होना चाहिये। साथ ही, उसमें समाविष्ट तत्वों में पारस्परिक संतुलन भी होना चाहिये। डेनिस के काव्य विषयक ये विचार लोंजाइनस और मिल्टन के काव्य सिद्धान्तों से विशेष रूप से प्रभावित और उन्हीं पर मूलतः आधारित हैं। वह काव्य को एक सजीव वस्तु मानता था, जो ईश्वर के उसी प्रकार से अधीन है, जैसे

मनुष्य । यही कारण है कि उसने काव्य में धार्मिक, पौराणिक अथवा नैतिक विषयों के समावेश पर बल दिया है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जिन विषयों का उसने विशेष अध्ययन किय था, उन पर उसके विचार बहुत ठोस, तथा जिन विषयों का उसका विशेष अध्ययन नहीं था, उन पर उसके विचार बहुत उत्तरदायित्व रहित हैं।

एडवर्ड विशी

प्रमुख विचार :—

एडवर्ड विशी "आर्ट आफ इंग्लिश पोयट्री" नामक पुस्तक का लेखक था। इस पुस्तक में उसने उन काव्य विषयक सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है, जो अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप में प्रचलित थे। उसने अंग्रेजी कवियों की साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं का विवरण उपस्थित करते हुये अपने समीक्षात्मक मन्तव्यों का प्रकाशन किया है। उसने इस विचार का समर्थन किया है कि जहाँ तक अनुकरणात्मकता का प्रश्न है, सदैव महान् साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही पालन करना चाहिए। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि प्राचीन काल में जो साहित्यिक नियम और सिद्धान्त बनाये गये थे, वे परवर्ती युगों में निरर्थक घोषित कर दिये गये। उसने कहा कि यदि प्राचीन सिद्धान्तों को स्वीकारा जाय, तो पूर्ण रूप से ही स्वीकारा जाय, अन्यथा उनके आंशिक अनुगमन से कोई लाभ नहीं है।

प्रिरर

प्रिरर इस शताब्दी के अन्य अनेक समीक्षकों की भाँति शास्त्रीयता का अनुगामी था। उसके अतिरिक्त चार्ल्स गिडन ने काव्य के स्वरूप और कला पर अपनी कृति "कम्प्लीट आर्ट आफ पोयट्री" में विचार प्रकट किये हैं और काव्य की विस्तृत विवेचना की है, यद्यपि इस पुस्तक में अभिव्यक्त उसके विचारों में प्रौढ़ता का अभाव है। गिडन के साथ लियोनार्ड वेल्स्टेड का नाम भी उल्लेखनीय है।

जोसेफ एडीसन

परिचय तथा कृतियाँ :—

जोसेफ एडीसन का समय सन् १६७२ से लेकर १७१९ तक है।[1] उसने क्वींस

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey, p. 6.

कालेज आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। आरम्भ में उसने लैटिन भाषा में सफलता-पूर्वक कार्य रचना की। इसका राजनैतिक जीवन से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सन् १७०४ में उसकी "दि कैम्पेन" शीर्षक रचना प्रकाशित हुई। अपने समकालीन लेखकों में स्विफ्ट स्टील आदि से इसका अच्छा परिचय था। उसने "फ्री होल्डर" नामक राजनैतिक पत्र का सम्पादन भी किया था। अपनी प्रौढ़ावस्था में यह अंग्रेजी समीक्षकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाने लगा था, यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम भाग में इसे कटु आलोचना सहन करनी पड़ी थी, परन्तु इससे एडीसन की ख्याति मे कोई अन्तर नहीं आया। यह एक विडम्बना है कि इतना सब होते हुए भी अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास में एडीसन का महत्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही रह जाता है, यद्यपि कुछ लोगों का यह विचार भी है कि वह एक क्रान्तिकारी समीक्षक था और उसे अरस्तू तथा लोंजाइनस जैसे मनीषियों के समकक्ष तक माना जा सकता है।

काव्य पर विचार :—

एडीसन "स्पेक्टेटर" में विविध विषयों पर अपने विचार लेखों के रूप में अभिव्यक्त करता रहता था। काव्य तथा महाकाव्य आदि के अतिरिक्त समीक्षा आदि से सम्बन्ध रखने वाले एडीसन के विचार भी इसी में प्रकाशित होते थे। मिल्टन के "पैराडाइज लास्ट" पर उसने अपने विचार क्रमबद्ध रूप से इसी पत्र में अभिव्यक्त किये हैं। इस महाकाव्य की आलोचना करते समय उसने अरस्तू के सिद्धान्तों को आधार बनाया है उसके समय में यों भी उन लोगों की संख्या बढ़ रही थी, जो अरस्तू के सिद्धान्तों के समर्थक थे। उसने मिल्टन के इस महाकाव्य में एक दोष यह भी बताया है कि वह दुखान्तक है जब कि अरस्तू के अनुसार महाकाव्य को सुखान्तक होना चाहिये। उसने वर्जिल के काव्य को आदर्श माना है। उसने इस ओर भी संकेत किया है कि मिल्टन ने अपने महाकाव्य में जो अनावश्यक पांडित्य प्रदर्शन किया है, उसका कारण यह है कि वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने अपने महाकाव्य में धर्म, इतिहास, ज्योतिष, भूगोल तथा ईश्वर आदि से विषयों का आंशिक और सांकेतिक रूप से समावेश भी इसी कारण से किया है।

काव्य में कल्पना तत्व—

एडीसन का यह विचार था कि कल्पना का क्षेत्र यह प्रत्यक्ष संसार ही है। मनुष्य किसी ऐसी वस्तु या स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता, जिससे उसका साक्षात्कार पहले न हो चुका हो। कल्पना एक ऐसी शक्ति है, जो यथार्थ वस्तुओं का

एक दूसरे से संयोग या वियोग कर सकती है। कल्पना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों मे आनन्द प्रदान कर सकती है। कल्पना से मनुष्य दो संगत बातों और वस्तुओं में पार्थक्य देख सकता है और उसकी सहायता से वह दो असंगत वस्तुओं में भी सामंजस्य के दर्शन कर सकता है। देश, काल, समय और अन्य सीमायें भी कल्पना का मार्ग रुद्ध नहीं कर सकतीं।

वोर्सफोल्ड ने एडीसन को कल्पना को प्रेरणा देने की कसौटी से साहित्य और काव्य का परीक्षण करने वाला सर्वप्रथम समीक्षक माना है। कहा जाता है कि अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग भी सर्वप्रथम एडीसन ने ही किया। उसने साहित्य विषयक अनेक समस्याओं को उठा कर इन पर विचार किया और उनका हल खोजने का प्रयास किया।

अन्य समीक्षात्मक विचार—

समकालीन साहित्यिक समस्याओं के विषय में विचार करते हुये एडीसन ने अनेक महत्वपूर्ण मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। उसका विचार है किसी भी साहित्यांग की मनुष्य पर प्रतिक्रिया का परीक्षण करना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि उसका अपने रचयिता की प्रकृति से कितना साम्य है। इस दृष्टिकोण से एडीसन पर प्रसिद्ध दार्शनिक लाक का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार से एडीसन का यह भी विचार था कि एक समीक्षक को अपने समकालीन साहित्यकारों की कृतियों का पारायण और समीक्षा सहानुभूति पूर्वक करनी चाहिये और मात्र दोष कथन और अनर्गल तर्क प्रस्तुत करते रहने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। उसका विचार था कि साहित्यिक श्रेष्ठता का कोई एक प्रकार न होकर अनेक होते हैं, अतः समीक्षक को अपना दृष्टिकोण संकुचित नहीं रखना चाहिये।

एडीसन ने अपने "एकाउंट आफ दि ग्रेटेस्ट इंग्लिश पोयट्स" की रचना एक पद्य निबन्ध के रूप में की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे अंग्रेजी काव्य के विकास के इतिहास का विशद ज्ञान न था। उसने स्पेंसर, मिल्टन, काउली, ड्राइडन, कांग्रीव आदि के विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। एडीसन की रचनाओं में इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उसे अपनी समकालीन साहित्यिक गतिविधि की भी पूर्ण अवगति न थी। परन्तु उसने अपना दृष्टिकोण साहित्य तक ही सीमित न रख कर साहित्य और काव्य के अतिरिक्त नैतिक और व्यावहारिक विषयों पर भी टिप्पणियाँ तथा निबन्ध लिखे हैं।

नाट्य कला और रूप—

ऊपर एडीसन के "स्पेक्टेटर" नामक पत्र का उल्लेख किया गया है। उसमें एडीसन के विविध विषयों पर लिखित निबन्ध नियमित रूप से प्रकाशित होते रहते थे। इन लेखों में एडीसन ने साहित्य, कला और जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके इन निबन्धों को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई।

जहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, एडीसन का यह विचार था कि आधुनिक दुखान्त नाटक प्राचीन दुखान्त नाटकों की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं। इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक दुखान्त नाटकों में प्राचीन ग्रीक तथा लेटिन दुखान्त नाटकों की अपेक्षा कथा तत्व अधिक सुसंगठित रूप में मिलता है। परन्तु प्राचीन नाटकों की अपेक्षा आधुनिक नाटकों में एक दोष भी मिलता है। और वह यह कि उनमें नैतिकता के तत्व अपेक्षा-कृत कम हैं।

अंग्रेजी नाटक में उसने दुखान्त और सुखान्त के मिश्रित रूप का विरोध किया क्योंकि उसका विचार था कि दुखान्त नाटक में कभी भी दो कथाओं को समानान्तर नहीं विकसित होना चाहिये। वह नाटक में नाटकीय तत्वों तथा लयात्मकता का भी विरोधी था। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि शेक्सपीयर ने सर्वाधिक सफलता पूर्वक अपनी नाट्य कृतियों में नाटकीय तत्वों का समावेश किया है।

सर रिचर्ड स्टील

परिचय तथा कृतियाँ—

सर रिचर्ड स्टील का समय सन् १६७२ से लेकर १७२९ तक माना जाता है।[१] उसने आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १७०१ में उसने अपनी "दि क्रिश्चियन हीरो" नामक रचना प्रकाशित की थी। इसके पश्चात सन् १७०१ में ही "दि फ्यूनरल", सन् १७०३ में "द लाइंग लवर", सन् १७०५ में "दि टेंडर हस्बेंड" तथा सन् १७२२ में "दि कांशश लवर्स" नामक रचनायें प्रकाशित कीं। उसने राजनैतिक जीवन में भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। उसने अपने समीक्षात्मक विचारों को बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया है। उसमें साहित्यिक विकास की अवगति का

अभाव तथा अधैर्य की प्रबलता थी। वह स्पेंसर का प्रशंसक था और उसकी समीक्षा इसने बहुत प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत की है।

फ्रांसिस एटरबरी

परिचय तथा कृतियाँ :—

फ्रांसिस एटरबरी का समय सन् १६६२ से लेकर सन् १७६२ तक का माना जाता है।[2] उसकी शिक्षा दीक्षा वेस्ट मिनिस्टर तथा आक्सफोर्ड में हुई थी। वह राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों के कार्य कलाप में क्रियात्मक रूप से भाग लेता था। उसकी कृतियों में सन् १७४० में "सेरमोंस" सन् १७८९ में "मिसलीनियस वर्क्स" तथा सन् १६९९ मे "डिस्कोर्स अकेजंड वाई दि डैथ आफ लेडी कट्स" प्रकाशित हुई थी।

यह स्टील की अपेक्षा अधिक प्रतिभायुक्त समीक्षक था। यह एक बड़ा पंडित, सुपरिचित साहित्यिक तथा मंजा हुआ लेखक था। इसने मिल्टन आदि कवियों की समीक्षा बड़े पांडित्यपूर्ण ढंग से की है, यद्यपि इसकी समीक्षा दृष्टि में अधिक सूक्ष्मता, गहनता तथा विस्तार न था। यही कारण है कि इसकी गणना अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षकों में तो होती है, परन्तु महान् समीक्षकों में नहीं। इसने अपने समकालीन अन्य अनेक विचारकों की भांति काव्य में लयात्मकता का विरोध किया है।

जोनेदन स्विफ्ट

परिचय तथा कृतियाँ :—

जोनेदन स्विफ्ट का समय सन् १६६७ से लेकर १७४५ तक माना जाता है।[3] इसका जन्म डवलिन में हुआ था। उच्च शिक्षा डवलिन के ट्रिनिटी कालेज में हुई थी।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey. p. 748.
२. वही, पृ० ७५७।
३. वही, पृ० ७५९।

सन् १३९७ में "दि बेटल आफ दि बुक्स" नामक पुस्तक की रचना की, जिसका प्रकाशन सन् १७०४ में हुआ था। उसी वर्ष उसकी "ए टेल आफ ए टब" नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई। वह राजनैतिक क्षेत्र से भी सम्बन्धित था और उसकी अनेक कृतियों का सम्बन्ध राजनैतिक विषयों से है। अपनी लन्दन की समय समय पर की गयी यात्राओं में उसका परिचय एडीसन, स्टील, कांग्रीव, हैलीफैक्स आदि से हुआ था।

एडीसन के परवर्ती साहित्य समीक्षकों में स्विफ्ट का उल्लेखनीय स्थान है। ऊपर उसकी जिस "बटल आफ दि बुक्स" नामक पुस्तक का उल्लेख किया गया है, वह समीक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट महत्व की रचना मानी जाती है, यद्यपि इसमें अभिव्यक्त उसके विचारो में पर्याप्त असंगति भी बतायी जाती है। इसी कारण इस पुस्तक की अपेक्षा उसकी दूसरी पुस्तक "ए टेल आफ ए टब" अधिक सन्तुलित और ठोस मानी जाती है।

एलैक्जेंडर पोप

परिचय तथा कृतियाँ :—

एलेक्जेंडर पोप का समय सन् १६८८ से लेकर १७४४ तक माना जाता है। सन् १७११ में उसकी जगत प्रसिद्ध कृति "एसे आन क्रिटिसिज्म" प्रकाशित हुई थी। उसकी "रेप आफ दि लाक" (सन् १७१४) तथा "ओड फार म्यूजिक आन सेंट सेसीलियाज डे" (सन् १७१६) आदि काव्य कृतियाँ ऐतिहासिक महत्व की सिद्ध हुईं। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त उसकी अन्य भी अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई, जिनमें "विंडसर फारेस्ट", "इलियड" तथा "आडेसी" के अनुवाद, 'वर्सेज टु दि मेमोरी आफ एन अनफार्चुनेट लेडी", "एलोसिया टू एबेलार्ड", "थ्री आवर्स आफ्टर मैरिज" (सन् १७१७), "ए पेगमेंट आफ ए सेटायर" (सन् १७२७), "मार्टनिस स्क्विलर्स", "दि न्यू ड्यूसियेड" (सन् १७४२), "एन एसे आन मैन" (सन् १७३३-३४), "मारल एसेज" "आफ दि नालेज एंड करेक्टर्स आफ वूमैन" तथा "आफ दि यूज आफ रिचेज" (सन् १७३१-३५), "इमीटेशंस आफ होरेस", "एप्सल टु डा० अबथैनाट" (सन् १७३५), "बन थाउसैंड

2. "A Short Biographical Dictionary of English Literature", John W. Cousin, P. 304.

सेवेन हंड्रेड एंड थरटी एट" (सन् १७३८), "सेटायर्स आफ डा० डान वर्सीफाइड" तथा "न्यू डयून सियेड" (सन् १७३५) आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त पोप कृत "दि एपिसिल्ल टु ए यंग लेडी (मिस ब्लाउंट) विद दि वर्क्स व्यायचर" (सन् १७१२), "आन हर लीविंग दि टाउन आफ्टर दि कारोनेशन" (सन् १७१७), "टू मि० जर्वास विद ड्राइडेंस ट्रांसलेशन आफ फर्सन्वायेस, आर्ट आफ पेंटिंग" (सन् १७१६), "टु राबर्ट, अर्ल आफ आक्सफोर्ड एंड अर्ल मार्टिमर" (सन् १७१२), "वर्टम्नस पोमोना", "सेफो टु फायोन", "दि फेबुल आफ योग" (सन् १७१२), "जेनुअरी एंड मे", "दि वाइफ आफ बाथ, हर प्रोलोग", "दि नेरेम्वि आफ डा० राबर्ट नोरिस" (सन् १७१३), "ए फुल एंड टू एकाउन्ट आफ ए होरिड एंड बारबेरस रिवेंज बाई प्वाइजन आन मि० एडमंड कर्ल" (सन् १७१६) आदि गद्य रचनायें हैं।

पोप के प्रमुख विचार :—

पोप सामान्य विवेक ज्ञान में विश्वास रखता था। उसकी कविताओं को देखने से यह भ्रम हो सकता है कि वह बहुत बड़ा पंडित था, परन्तु एक विद्वान के रूप में उसे मान्यता नहीं दी गयी। इसका कारण यह है कि उसमें कवित्व शक्ति का अभाव नहीं था, परन्तु उसमें उच्च कोटि की समीक्षात्मक प्रतिभा भी नहीं थी। यही कारण है कि उसकी अनेक काव्य रचनायें बहुत उत्कृष्ट थीं, परन्तु यह उत्कृष्टता उसकी गद्य रचनाओं में नहीं मिलती। उसने शेक्सपीयर, जानसन, ड्राइडन तथा स्पेंसर आदि पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं।

"एसे आन क्रिटिसिज्म" पोप की सर्वोत्कृष्ट समीक्षात्मक कृति है। इसमें उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा का अधिकतम विकास देख पड़ता है। यह रचना यद्यपि विद्वत्तापूर्ण अवश्य है, परन्तु सजग और सतर्क समीक्षा दृष्टि के अभाव के कारण इसमें अनेक स्थलों पर अपूर्णता का आभास मिलता है। पोप की प्रकृति अनुकरण की विचारधारा के आधार पर उसे बहुधा उत्कृष्ट कोटि का समीक्षक भी ठहराया जाता है, परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसकी प्रकृति विषय धारणा तथा आधुनिक प्रकृति विषयक धारणा में बहुत अन्तर है। काव्य के गुण दोषों का जो विवेचन पोप ने अपनी इस रचना में किया है, वह बहुत ठोस है, यद्यपि काव्य सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से उसका अधिक महत्व नहीं है।

पोप अपने अध्ययन और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर आया था कि साहित्यिक श्रेष्ठता अनेक प्रकार की हो सकती है। अपने निष्कर्षों में उसने होरेस, वीडा तथा बोयलों आदि से सैद्धांतिक मतैक्य प्रकट किया है। वह तर्कात्मक शैली में विश्वास रखता था। उसका विचार था कि तर्क से जो निष्कर्ष निकले, वही सर्वमान्य होना चाहिये। पूर्व युग में होरेस भी तर्क वाद में विश्वास रखता था। इस दृष्टि से पोप के विचारों पर उसका पर्याप्त प्रभाव मिलता है। पोप शास्त्रीयता का समर्थक था। काव्य के क्षेत्र में वह नियमबद्धता और सैद्धांतिक अनुगमन का पक्षपाती था। उसने बताया है कि प्राचीन यूनानी काव्य के अत्यधिक समृद्ध होने का कारण यह है कि वह काव्य सिद्धांतों के अनुसार और नियमबद्ध था। इसीलिये आधुनिक कवियों को भी होमर तथा वर्जिल का अनुगमन करना चाहिये।

समीक्षक के गुण और दायित्व—

पोप का विचार था कि एक समीक्षक को सर्व प्रथम आलोच्य साहित्कार के भावना प्रवाह में स्वयं को बहने देना चाहिये। जब उसे वैसे ही अनुभूति होने लगेगी, तभी वह उसकी समीक्षा उचित प्रकार से कर सकेगा। इसी प्रकार से किसी कृति की समीक्षा करते समय समीक्षक को उस कृति का उसकी सम्पूर्णता में परीक्षण करना चाहिये। जो समीक्षक आलोच्य कृति का परीक्षण खंड रूप में करता है, वह उसके साथ कभी भी न्याय नहीं कर सकता। उसने बताया है कि एक समीक्षक को अपने उत्तर-दायित्व का अनुभव और निर्वाह भली प्रकार से करना चाहिये, क्योंकि साहित्य के विकास में एक अयोग्य क्रियात्मक साहित्यकार की अपेक्षा अनुत्तरदायी समीक्षक अधिक बड़ी बाधा होता है। पोप ने एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही है कि सच्ची प्रतिभा के समान ही परिष्कृत रुचि भी असाधारण वस्तु होती है, उसने बहुत गम्भीरता से इस मत का प्रतिपादन किया है कि साहित्य को प्रकृति द्वारा निर्देशित होना चाहिये। साहित्यिक सिद्धांतों और नियमों का जहाँ तक सम्बन्ध है, हमें प्राचीन साहित्यकारों का अध्ययन करके उन्हीं में उनकी खोज करनी चाहिये।

प्रतिभा और ज्ञान :—

पोप ने बताया है कि किसी साहित्यकार की सबसे बड़ी योग्यता का परिचय इस बात से मिलता है कि स्वयं की प्रतिभा तथा शैली का प्रयोग वह कितनी सफलता-पूर्वक कर सका है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि पोप में साहित्य निर्देशन की असाधारण क्षमता थी। उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसने स्वतंत्र

रूप से विविध समस्याओं को न उठा कर उन्हें मिश्रित करके भ्रमात्मक बना दिया है। स्वतंत्र रूप से वह काव्य, साहित्य या कला के विषय में उल्लेखनीय कथन करता है, परन्तु जहाँ जहाँ उसने इन्हें अन्तर्सम्बन्धित करके उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है, वहाँ अत्यन्त भ्रामक निष्कर्ष निकाले हैं।

पोप का मत है कि कम ज्ञान होने की अपेक्षा अज्ञान अधिक घातक सिद्ध होता है। उसने इस तथा अन्य बहुत से दोषों से बचने के लिये एक मात्र मार्ग प्राचीनता का अनुकरण करना बताया है। उसने स्वयं जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, उनका आधार भी प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के विचार ही हैं। पोप के परवर्ती समीक्षकों में लार्ड कैम्स, हैरिस, शैवट्सब्यूरी, ह्यूम, एडम स्मिथ, टैंप तथा कैम्पबैल आदि उल्लेखनीय हैं।

ब्लेयर

प्रमुख विचार :—

ब्लेयर की अंग्रेजी समीक्षा साहित्य को मुख्य देन उसके "लेक्चर्स आन रिटारिक" हैं। इस पुस्तक में उसने बहुत ही सरल शैली में अपने गम्भीर और ठोस विचारों को प्रस्तुत किया है। इनके सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि ये भाषण बहुत ही मौलिक विचारों से परिपूर्ण हैं, परन्तु इनमें प्रतिपादित सिद्धांत व्यावहारिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं हैं। यह कृति ब्लेयर की समीक्षात्मक क्षमता की परिचायक है। उसने इस रचना में इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि आधुनिक युग में "रिटारिक" का वास्तविक अर्थ समीक्षा ही है।

ब्लेयर अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षकों में से उनका कड़ा विरोधी था, जिनका साहित्य क्षेत्रीय ऐतिहासिक ज्ञान बहुत कम था तथा जो अनेक प्रकार के भ्रमात्मक विचारों का प्रचार कर रहे थे। उदाहरण के लिये उसने उन लोगों से मत वैभिन्न्य प्रकट किया है, जिनका यह विचार था कि होमर एक असाधारण कवि है, जिसका काव्य कला और सौन्दर्य विहीन है। ब्लेयर का यह मत था कि ऐसे विचार वे ही समीक्षक प्रकट कर सकते हैं, जिनमें रस ग्राहृयता की शक्ति का पूर्ण अभाव है।

ब्लेयर ने होमर, इथरेज, सर्कल्गि, शेक्सपीयर, ओसियन, अरस्तू, हेनरी होम, लार्ड कैम्स, डा० जानसन आदि पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। उपर्युक्त में से ओसियन पर "डिसर्टेशन आन ओसियन" नामक कृति भी उसने रची। सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में उसकी लिखी हुई "एलीमेंट्स आफ क्रिटिसिज्म" नामक कृति अपनी मौलिकता के कारण विशेष प्रशंसित हुई। अंग्रेजी समीक्षा साहित्य को एक प्रौढ़ स्तर तक ले जाने का श्रेय किसी सीमा तक ब्लेयर को भी है।

जेम्स हेरिस

प्रमुख कृतियाँ और विचार :—

जेम्स हेरिस की कृतियों में "हर्म्स", "फिलसाफिकल अरेंजमेंट्स", "डिस्कोर्स आन म्यूजिक" तथा "फिलसाफिकल इंक्वायरीज" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जिसमें उसने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक अंग्रेजी समीक्षा का विकास प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अधिकांश विवरण इतिहास सम्मत नहीं भी होने पर उसका अपना महत्व है। इसका कारण यह है कि इसमें अनेक स्थलों पर हेरिस ने बहुत सी महत्वपूर्ण बातें कही हैं। उदाहरण के लिये उसने बताया है कि किसी भी भाषा के साहित्य में कोई भी असाधारण महत्व की कृति अकस्मात् नहीं लिखी जा सकती, क्योंकि उसके लिए एक पुष्ट, दीर्घ और महान् परम्परा का होना अनिवार्य है। उसने प्रतिभाशाली साहित्यकारों के लिये सैद्धांतिक अनुगमन भी आवश्यक बताया है। मध्ययुगीन साहित्यकारों के विषय में लिखते समय उसने चौसर, पेट्रार्क, मेंडेविल, मारकोपोलो, समाजार आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। वह ब्लेयर, केम्स तथा कैम्पवेल आदि से वैचारिक सहमति नहीं रखता था।

जान ब्राउन

प्रमुख कृतियाँ और विचार :—

जान ब्राउन की उल्लेखनीय कृतियों में "एस्टीमेट आफ मेनर्स", "डिसरटेशन आन दी राइज आफ पोयट्री" तथा "हिस्ट्री आफ दि राइज एंड प्रोग्रेस आफ पोयट्री" आदि

हैं। वह बहुत ही स्पष्टवादी समीक्षकों में माना जाता है, यद्यपि उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा बहुत उच्च कोटि की नहीं थी। उसका महत्व अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में अपने युग का प्रतिनिधि समीक्षक होने के कारण ही प्रायः अधिक है। यों भी उसने समस्त अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास का इतिहास प्रमुख न करके अधिकतर अपने समकालीन साहित्य पर ही विस्तार से लिखा है। वह ब्लेयर से बिल्कुल प्रभावित नहीं हुआ था और उसकी "डिसरटेशन आन ओसियन" नामक प्रसिद्ध कृति के विषय में भी उसकी धारणा प्रशंसात्मक नहीं थी।

डा० सेमुयेल जानसन

परिचय और कृतियाँ:—

डा० सेमुयेल जानसन का जन्म सन् १७०८ में हुआ था। उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् कुछ समय तक आक्सफोर्ड में अध्ययन किया, यद्यपि वहाँ से उसने कोई उपाधि नहीं प्राप्त की। उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं हैं। जब वह बरमिंघम में काम करता था तो वह "बरमिंघम जर्नल" में बहुत लेखादि लिखता रहता था। सन् १७३७ में अपने कुछ शिष्यों के साथ वह लन्दन में आ गया, जहाँ उसने अपने जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग व्यतीत किया। "दि जैंटिलमेन्स मेगजीन" में भी उसने अपने अनेक निबन्ध विविध विषयों पर प्रकाशित किये। सन् १७३८ में उसने "लन्दन" शीर्षक कविता प्रकाशित की। सन् १७४४ में उसकी "लाइव्ज आफ दि पोयट्स" नामक कृति प्रकाशित हुई। सन् १७४७ में उसने अपने शब्द कोश की योजना लार्ड चेस्टरफील्ड के सामने प्रस्तुत की। सन् १७४९ में उसने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविता "वेनिटी आफ ह्यूमन विशेज" तथा "आइरेन" नामक दुखान्तक नाटक प्रकाशित किया, जिसमें अधिकतर नैतिक विषयों पर कथोपकथन हैं।

सन् १७५० में उसने "रेम्बलर" नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। सन् १७५५ में उसका शब्द कोश प्रकाशित हो गया, स्मार्ट के "यूनिवर्सल विजिटर" में अनेक निबन्ध प्रकाशित करने के पश्चात् उसने "लिटरेरी मैगजीन" का सम्पादन आरम्भ किया। १७५७ में उसने सर टामस ब्राउन की जीवनी लिखी। १७५९ में उसका उपन्यास "रेसलास" प्रकाशित हुआ। सन् १७६२ में उसे लार्ड ब्यूट ने पेंशन दी तथा अगले वर्ष उसकी मित्रता जेम्स बासवेल से हुई। १७६४ में "लिटरेरी क्लब" की

स्थापना हुई, जिसके सदस्यों में डा० जानसन, रोनोल्ड्स, बर्क, गोल्डस्मिथ, गैसरक, सी० जे० फाक्स तथा बासवेल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जानसन का समीक्षा व्यक्तित्व :—

जानसन के समीक्षा व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वैचारिक अटलता है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसने अपने समीक्षात्मक सिद्धांतों की रचना बहुत कम आयु में ही कर ली थी, परन्तु इनमें अन्त तक उसने किसी प्रकार के किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी। और उसके ये समीक्षा सिद्धांत किसी भी उच्च कोटि के समीक्षक के समान प्रौढ़ है। उसकी प्रमुख समीक्षात्मक कृतियों में उसके ये सिद्धात स्पष्टता से लक्षित किये जा सकते हैं। "दि रेम्बलर" में उसने मिल्टन का विवेचनात्मक अध्ययन किया है। वह अंग्रेजी छन्द शास्त्र को दोषपूर्ण समझता था। "सेमसन अगो-निस्टस" के प्रति उसके विचार बहुत सन्तुलित हैं। वह स्पेन्सर के प्रति प्रशंसात्मक विचार नहीं रखता था। स्पेन्सर के अनुकरणात्मकता के सिद्धांत का भी वह विरोधी था। उसने बताया है कि स्पेन्सर की बहुत सी हीनताएँ इसी कारण से हैं। उसने राबर्टसन, ह्यूम तथा गिबन आदि के विषय में भी अपने विचार लिखे हैं। उसने अंग्रेजी साहित्यकारों की जो समीक्षा की, वह उसके कृतित्व का बहुत महत्वपूर्ण अंश है।

नाटक विवेचन:—

जानसन ने दुखान्त मिश्रित का जो विवेचन किया है, वह कई दृष्टियों से महत्व का है। जानसन का विचार था कि नियमों तथा सिद्धांतों के क्षेत्र में कट्टर अनुगामिता त्याज्य होनी चाहिये। इसलिए नवीनता का इतना विरोधी नहीं होना चाहिये कि नवीन उपयोगी तथा ग्राह्य सिद्धांतों का भी विरोध हो। परन्तु इसके साथ ही साथ प्राचीनता का भी इतना कट्टर अनुगामी नहीं होना चाहिये कि साहित्य का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। वह सैद्धांतिक अनुगामिता के साथ ही कलात्मकता पर भी बहुत बल देता था। इसीलिये वह कहता था कि उच्च कोटि की साहित्यिक रचना के लिये प्राचीन तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों का अन्धानुकरण नहीं होना चाहिये।

जानसन ने हास्य की विवेचना "इडलर" में की है। परन्तु उसके ये विचार अन्यत्र अभिव्यक्त विचारों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। "रेसेलास" में उसने बताया है कि प्राचीन कवियों में कला और प्रकृति दोनों का ही मिश्रण था। परन्तु कला का अर्थ मात्र प्रकृति का अनुकरण नही है और न ही मात्र अनुकरण से कोई कृति महान् हो जाती है।

वह साहित्यकारों के लिये विविध विषयक ज्ञान को आवश्यक बताता था। उसका विचार था कि विविध क्षेत्रीय ज्ञान के अभाव में महान् साहित्यकार बनना सम्भव नहीं है।

"प्रिफेस टु दि शेक्सपीयर" में जानसन ने शेक्सपीयर का मूल्यांकन किया है। उसका विचार था कि शेक्सपीयर का अपने नाटकों में करुण और हास्य रसों का मिश्रण करना शास्त्रीय नियमों तथा सिद्धांतों के विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रीय नियमानुसार नाटक को या तो दुखान्तक होना चाहिये और या सुखान्तक, मिश्रितान्तक नहीं। परन्तु कभी कभी सैद्धांतिक नियमों के विरुद्ध साहित्य रचना में भी एक प्रकार का नैसर्गिक सौन्दर्य लक्षित होता है। यह सौन्दर्य यदि कलात्मक और वास्तविक हो, तो वह निश्चयतः मान्य होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जानसन के समय से ही एक नयी प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी। उसके अनुसार शास्त्रीयता के अतिरिक्त अपने निजी सौन्दर्य के आधार पर ही किसी कृति की स्वच्छन्द व्याख्या भी सम्भव है।

शेक्सपीयर ने शास्त्रीयता के विरुद्ध मिश्रितान्तक नाटकों की रचना करके उनमें हास्य तथा करुण रसों का अद्भुत रूप में सफलता से प्रयोग किया है। इसलिए उसके नाटक कलात्मकता की दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि के हैं और इसलिए उन्हें प्रशंसा मिलनी चाहिये। वह रूढ़िवादिता की अपेक्षा स्वाभाविकता का समर्थक था। उसका यह निश्चित विचार था कि साहित्यिक उत्कृष्टता अनेक प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार से "प्रिफेस टु शेक्सपीयर" जानसन की एक बहुत महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें उसने अपने युग की समीक्षा प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया है। जानसन ने स्पष्ट रूप से यह निर्देशित किया है कि प्राचीन सिद्धांतों का न तो पूर्ण अनुकरण ही करना चाहिये और न पूर्ण बहिष्कार, बल्कि उनका पुनर्परीक्षण करके युगीन आवश्यकताओं के अनुसार उनका परिष्कार करना चाहिये। तभी वे ग्राह्य हो सकते हैं।

काव्य विचारः—

काव्य के विषय में जानसन नियमबद्धता का विरोधी नहीं था। वह काव्य में रस, छन्द, अलंकार तथा भाषा तत्व आदि को मर्यादित मानता था। उसका ग्रीक साहित्य का अध्ययन बहुत अच्छा था, यद्यपि लैटिन भाषा और उसकी वैचारिक उपलब्धियों की उसे पूर्ण अवगति नहीं थी। वह अरस्तू, ड्राइडन तथा पोप से प्रभावित था। वह तर्कात्मकता में भी विश्वास रखता था। उसने अपनी महान् कृति "लाइव्ज आफ दि पोयट्स" में अनेक कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक

समीक्षा के अतिरिक्त उसके इस ग्रन्थ मे साहित्यांग सिद्धांतों का भी विश्लेषण मिलता है। जानसन की यह कृति जीवनी और समीक्षा का मिश्रित रूप है। उससे यह भी आभासित होता है कि जानसन का कवि जीवन के प्रति दृष्टिकोण कितना व्यापक एवं अध्ययन कितना गहन है। इसमें अनेक कवियों की समीक्षा किंचित कटु शैली में ही की गयी है, किन्तु वह कवियों के गुणों को भी प्रकाशित करने में कभी उपेक्षा भाव नहीं प्रदर्शित करता है। किन्हीं कवियों की जीवनी के साथ प्रासंगिक रूप से उसने काव्य प्रवृत्ति का भी विश्लेषणात्मक विवेचन किया है, जो उस कवि के काव्य में सामान्य रूप से पायी जाती है।

जानसन के अनुसार वह अंग्रेजी काव्य, जो एलिजाबेथियन युग में रचा गया था, भावों तथा अभिव्यक्तियों की दृष्टि से यथार्थ नहीं है। जानसन ने यह माना है कि एक कवि जिस प्रकार के वातावरण या परिस्थितियों में रहता है, उसके जीवन एवं काव्य पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसीलिये उसने विविध कवियों का मूल्यांकन करते समय राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी उनकी परख की है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि उसने ड्राइडन तथा पोप की जीवनियाँ लिखते समय पूर्वाग्रहों से काम लिया है और इन कवियों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे अनेक ऐसे मंतव्यों की स्थापना की है, जो भ्रामक हैं। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जानसन ने इस ग्रन्थ में काउली, मिल्टन, ड्राइडन, पोप कोलिन्स तथा ग्रे आदि कवियों की जीवनी तथा काव्य का अध्ययन एक ही दृष्टिकोण से न करके, प्रत्येक का भिन्न दृष्टिकोण से किया है। इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि जानसन का क्षेत्र तथा दृष्टिकोण कितना व्यापक था।

जानसन का महत्व :—

जानसन के कृतित्व पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसे विविध समीक्षात्मक सिद्धांतों का स्पष्ट आभास था। यद्यपि उसकी अपनी भी कुछ सीमायें थीं, परन्तु उसके गुण असाधारण हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि जानसन एक असफल समीक्षक था। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि उसका समीक्षा दृष्टिकोण सुनिश्चित न था। यह कहना उचित न होगा कि यह उसकी समीक्षा सिद्धांतों की अनभिज्ञता के कारण था। जानसन ने कभी कभी पूर्वाग्रहों से भी काम लिया, परन्तु वह कभी भी अपनी समीक्षा के उच्च स्तर से नहीं हटा और इसके साथ ही उसका दृष्टिकोण तर्क विरोधी भी नहीं होने पाया। यदि वह किसी साहित्यकार की कटु आलोचना करता था,

तो वह उसके लिये कुछ पुष्ट आधार भी रखता था। इस प्रकार से जानसन का स्थान केवल अपने युग के ही नहीं, वरन् अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में एक समर्थ साहित्यकार और साहित्य समीक्षक के रूप में मान्य है।

अठारहवीं शताब्दी में जानसन के समकालीन समीक्षकों में गोल्डस्मिथ का नाम अवश्य उल्लेखनीय है। उसके समीक्षात्मक सिद्धांतों का परिचय उसकी "इन्क्वायरी इन टू दि प्रेजेंट आफ स्टेट आफ पोलाइट लर्निंग इन यूरोप" तथा "एसेज: मारल एंड लिटरेरी" नामक पुस्तकों में मिलता है। स्काट आफ एमवेल का नाम भी गोल्डस्मिथ के साथ ही लिया जा सकता है, जिसकी कृतियों में "क्रिटिकल एसेज" तथा "ग्रांगर हिल" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार से अठारहवीं शताब्दी की अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि विविध पत्रों के माध्यम से स्फुट आलोचना की प्रवृत्ति का विशेष रूप से प्रसार हुआ। इस युग में अनेक महान् समीक्षक हुये, जिनके कारण समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में विशेष रूप से क्रियाशीलता रही, और समीक्षा साहित्य का विकास हुआ, इस शताब्दी से ही अंग्रेजी साहित्यकारों की गणना भी यूरोप के महान साहित्यकारों में की जानी आरम्भ हुई।

इस शताब्दी में यद्यपि अनेक समीक्षात्मक विचारों का प्रतिपादन हुआ और नवीनता को ग्रहण करने का आग्रह रहा, परन्तु अधिकांशतः इस शताब्दी में भी प्रायः प्राचीन सिद्धांतों का ही अनुगमन किया जाता रहा। अब स्वतन्त्र रूप से विविध अंग्रेजी साहित्यकारों का मूल्यांकन किया जाने लगा और आलोचना शास्त्र की सर्वांगीण उन्नति होने लगी। समीक्षा क्षेत्रीय व्यापक सक्रियता के होते हुये भी इस शताब्दी में प्राचीन साहित्य की उपलब्धियों के सम्यक् मूल्यांकन की चेष्टायें कम हुईं और अधिकतर गतिविधि समकालीन साहित्यिक विवादों तक ही सीमित रही। इस युग की समीक्षात्मक प्रगति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विविध साहित्यांगों विषयक स्वतन्त्र एवं नवीन सिद्धांतों की रचना के क्षेत्र में भी विशेष क्रियाशीलता रही।

आधुनिक युगीन इटैलियन समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी में इटली की समीक्षा में सैद्धांतिक मतभेद का स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया और विवाद के विषय क्षेत्र में भी विस्तार हुआ। मदाम दी स्तेल

अलेसान्द्रो मान्झोनी, ऊ० गी० फौस्कौले, फान्सेस्कोद सालिस, गियोसुए कार दुच्ची, क्रोचे और जी० ए० बोर्गीज़ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सक्रिय रूप से गंभीर वाद विवाद और सिद्धांत निदर्शन में भाग लिया। यथार्थवादी पद्धति का समर्थन और भावात्मकता का विरोध हुआ। प्रभाववादी समीक्षा पद्धति को मान्य किया गया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सार्थकता सिद्ध की गई और शास्त्रीय सिद्धांतों का नवीनीकरण हुआ, किन्तु इन सबसे अलग इस शताब्दी में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में की गई असाधारण उपलब्धियाँ थीं। इसलिए वेनदेत्तो क्रोचे का आविर्भाव इस शताब्दी की सबसे बड़ी घटना है जिसने दर्शन, नीति, साहित्य और कला के सन्दर्भ में विचार करते हुए सौन्दर्यशास्त्र आदि पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए।

क्रोचे का आविर्भाव

आधुनिक युगीन इटैलियन विचारकों में क्रोचे का महत्व सबसे अधिक है। उसका समय सन् १८६६ से लेकर १९५२ तक माना जाता है। आधुनिक अभिव्यंजनावादी आन्दोलन के विकास में उसका योगदान असाधारण है। उसने सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्य और कला की समस्याओं पर विचार किया। उसके विचारों को व्यापक क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई तथा उसने परवर्ती विचारकों को भी बहुत प्रभावित किया। इस दृष्टि से ई० एफ० कैरिट[1] तथा कौलिंगउड[2] आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अभिव्यंजनावाद के मूल सिद्धांत क्रोचे के विचारों पर ही आधारित हैं। इस दृष्टि से उसकी रचना "एस्थेटिक्स" एक युग प्रवर्तक कृति है। इसमें उसने अभिव्यंजनावाद के सन्दर्भ में अपने जो व्याख्यात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं आगे चलकर उन पर पर्याप्त विवाद हुआ। उदाहरण के लिए विल्डन कन ने उससे असहमत होते हुए लिखा है कि

१. **रचनाएं**—1. "The Theory of Beauty", 1940.
2. "Philosophies of Beauty", 1931.
3. "What is Beauty", 1932.

२. **कृति**—1. "Principles of Art", 1932.

सौन्दर्य को मौलिक सत्य के रूप में नहीं मान्य किया जा सकता क्योंकि वह एक मानसिक या आत्मिक सत्य है और प्रत्यक्षतः मनुष्य के सौन्दर्यबोधात्मक कार्य व्यापार से संबद्ध है।[१]

कल्पना और अभिव्यक्ति :—

क्रोचे का विचार है कि कवि के हृदय में कल्पना की स्थिति प्रतिभा के समान ही होती है। जिस प्रकार से कवि की प्रतिभा जन्मजात होती है उसी प्रकार से उसकी कल्पना कृति भी। चूंकि यही कल्पनात्मकता काव्य रचना में उसकी मूल प्रेरणा होती है अतः इसे कवि का मौलिक धर्म कहा जा सकता है। वह काव्य में जो कोई भी भाव अभिव्यजित करता है वह इसी कल्पना की अभिव्यक्ति होती है।

क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है, उसके मूल में भी उसकी यही धारणा है। इससे स्पष्ट है कि क्रोचे ने कल्पना का काव्य अथवा कला में बहुत अधिक महत्व प्रतिपादित किया है। वह कल्पना को कला का जीवन बताता है और उस मन्तव्य का विरोध करता है जिसके अनुसार उसे केवल बाह्य अभिव्यक्ति कह कर उसका महत्व घटाया जाता है। उसके विचार से मूल वस्तु यही कल्पना है जो अभिव्यक्तिगत कलात्मकता को प्राप्त होती है। इसीलिए वह कल्पना को आन्तरिक और अभिव्यक्ति को बाह्य तत्व मानता है।[२]

क्रोचे यह कहता है कि कला का क्षेत्र समग्र मानव जीवन है। इसलिये मनुष्य के जीवन का कोई भी पक्ष किसी कला किसी कृति के लिये उपयुक्त विषय हो सकता है। इस कथन से उसका आशय यह है कि विषय की दृष्टि से किसी कृति की श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं हो सकता। वास्तव में श्रेष्ठता का सूचन कलाकार की उस अर्न्तदृष्टि के द्वारा होता है जिसकी वह अपनी कला में अभिव्यंजना करता है। इस प्रकार से उसने एक सर्वथा

1. "The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity and this is a mental or spritual fact." ("The Philosophy of Croce").
2. "When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or a stature, when we have found a musical theme, expression is born and is complete, nothing more is needed." ("Aesthetics", Croce, p. 50)

नवीन मन्तव्य की स्थापना की है जिसका मुख्य निर्णय विषयगत एकरूपता है, क्योंकि कलात्मक श्रेष्ठता का निर्धारण वह विषय को मानता ही नहीं। परन्तु क्रोचे के इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वह विषय चयन को बिल्कुल महत्व ही नहीं देता। वास्तव में वह कल्पनात्मक अभिव्यंजना को ही उत्कृष्टता का मापक मानता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, क्रोचे ने अभिव्यंजना को एक आन्तरिक तत्व के रूप में मान्य किया है और कला से उसे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित करते हुए उसी को सौंदर्य तत्व भी कहा है। यही नहीं, वह सौंदर्य की परिभाषा के रूप में सफल अभिव्यंजना को रखता हुआ कहता है कि सौंदर्य केवल अभिव्यंजना है और सफल अभिव्यंजना ही सौंदर्य। असफल अभिव्यंजना अभिव्यंजना ही नहीं है।[1]

इस प्रकार से इटली की समीक्षा पद्धति विविध मोड़ों से बढ़ती हुई विकास की दिशा में अग्रसर हो रही है। नवीन युग में जी० ए० बोगीज ने एक बार पुनः इटालियन समीक्षा धारा को आदर्शवादी रूप देने की चेष्टा की और उसने समकालीन चिन्तन को भी प्रभावित किया परन्तु क्रोचे का प्रभाव अभी घटा नहीं है और एक बड़ी संख्या उन लोगों की है जो उससे प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त समय समय पर यूरोप में साहित्य और कला के क्षेत्रों में जो आन्दोलन होते रहते थे स्वभावतः उनका भी प्रभाव इस देश के साहित्य चिन्तन पर पड़ता रहा। इसी सबके बीच इटली की नवीनतम समीक्षा धारा अपना स्वरूप निर्धारण कर रही है।

आधुनिक युगीन फ्रांसीसी समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ से ही साहित्य चिन्तन के क्षेत्रों में चेतना आभासित हुई। बोलाल, आन्द्रेशेनिए सेन्त व्यूवे, रेना और तैन, श्रीमती स्तेल, चातुब्रिया, विक्टर ह्यूगो, ज्यूबी, सेअरर आदि के नाम इस शताब्दी के आरम्भिक मान्यता प्राप्त व्यक्तित्वों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस लोगों ने युग की आवश्यकता और गति

1. We may define beauty as successful expression, or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not express." ("Aesthetics", Croce.)

को पहचाना और उसके अनुकूल बात कहने का प्रयत्न किया। आरम्भिक वर्षों से सापेक्ष वाद का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इसके पक्ष और विपक्ष में गम्भीर विचार विमर्श हुआ। प्राचीनतावाद और नवीनतावाद का झगड़ा भी समाप्त न हुआ। स्वैरवाद का प्रभाव भी कुछ विचारकों पर रहा जिनमें सैंट ब्यूए का नाम विशेष रूप से प्रचारित है, यद्यपि स्वयं उसने अपेक्षाकृत तटस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

सेंट ब्यूए के विचारों से रैना बहुत अधिक प्रभावित था और उसके विचारपूर्ण चिन्तन के कारण उसे इस शताब्दी का सबसे अधिक विवेकशील समीक्षक कहा जाता है। इसी प्रकार से तैन भी सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में साहित्य का विश्लेषण करने वाला विचारक था यद्यपि उसकी शैली विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक है। क्रियात्मक और समीक्षा साहित्य के क्षेत्रों को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला इस युग का अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखक एमाइल जोला है। उसके अतिरिक्त फौमे, पी० बोरजे, अनातोले फ्रांस, यूले, लमेतरे, रेमीच गोरमो, चार्ल्स मौरास आदि इस युग के अन्य व्यक्तित्व हैं जिन्होंने समकालीन विचारधारा के साथ भावी चिन्तन की रूपरेखा भी निर्धारित की है। अनेक नए और पुराने मतों और संप्रदायों के विकास के अतिरिक्त इस युग में क्रियात्मक साहित्य की जो उन्नति फ्रांस में हुई उसने फ्रांसीसी साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कर दिया गया।

बीसवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा का जो विकास हुआ उसके लिए पुष्ट आधारभूमि का निर्माण पूर्व युग में ही हो चुका था। इसलिए उसके विकास की गति अपेक्षाकृत सहज रही। ब्रूनेतिए, सिगनोबों, गुस्तावांरूसन, जोसेफ देदिए, दानिए मोरने, विक्तो गिराउ, यूले मासा, आबेल लेफ्रांक और जीआ प्लौतार्द आदि ने स्वैरवाद, सापेक्ष-वाद, मानवतावाद तथा अन्य बहुत से वादों से सम्बन्ध रखनेवाले विचार विमर्श और वाद विवाद में भाग लिया। पिए लासे, चार्ल्स मौरा, आबे हेनरीडेया, पौल वालेई आदि ने प्राचीन और नवीन मतवादों में वैचारिक योग दिया और साहित्य के रूपगत भेदीकरण का कार्य किया।

क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र अतियथार्थवाद और प्रकृतिवाद आदि का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इस शताब्दी में बर्गसन, बारे, गेओगे सौरल, दुर्खीम, नीत्शे तथा प्राउस्त, चार्ल्स पेगू आन्द्रेजीत, यूलिए बेदां अल्बर्ट थिबौदे, हेनरी मासी, आदि क्रियात्मक तथा विचारक लेखकों ने युग के चिन्तन की दिशा को विविध मोड़ दिए। इस

प्रकार से फ्रांस में वर्तमान समय में उपर्युक्त कुछ वैचारिक संप्रदाय के क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के आधार पर ही समीक्षा का कार्य हो रहा है जिसकी संभावनाए आशाजनक हैं।

इस प्रकार से इस शताब्दी में फ्रांस में जितनी क्रियाशीलता रही उतनी सम्भवतः किसी भी प्राचीन युग में नहीं। आन्द्रे रूसियो, फ्रेदेई, मार्से थिबो, लफेके, आन्द्रेमरावा, रिचर्ड ब्लॉक, जेक्स कोपू, जेक्सरीमिए आदि ने साहित्य की गद्य और पद्य रूपात्मक प्रायः सभी विधाओं के क्षेत्र में योगदान दिया, परन्तु इस शताब्दी का सबसे अधिक प्रखर व्यक्तित्व ज्याँ पाल सार्त्र है जो अस्तित्ववादी विचारक कहा जाता है। अस्तित्ववाद की गई परिभाषा और सम्यक् विवेचन की दृष्टि से सार्त्र ने अपनी क्रियात्मक तथा दार्शनिक कृतियों के रूप में जो कार्य किया है वह असाधारण महत्व का है।

ज्याँ पाल सार्त्र

अस्तित्ववादी प्रमुख दार्शनिक के रूप में ज्याँ पाल सार्त्र का स्थान आधुनिक युग के विश्व के महान् चिन्तकों में है। आधुनिक विश्व साहित्य पर सार्त्र के विचारों का जितना व्यापक प्रभाव पड़ा है, उसे देखकर उसके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि सार्त्र के विचारों को यदि विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता मिली है तो उनके विषय में अनेक भ्रमों का भी प्रचार है। साहित्यिक विचारों की दृष्टि से सार्त्र की सर्वप्रमुख पुस्तक "व्हाट इज लिटरेचर" है। इस पुस्तक में उनके विचार मुख्यतः दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो उसकी तार्किक और विश्लेषणात्मक शैली का परिचय देते तथा उसकी साहित्य विषयक मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं तथा दूसरे वे जो विशेष रूप से यूरोपीय साहित्य के सन्दर्भ में अभिव्यक्त किये गये हैं, यद्यपि इस पुस्तक में अधिकता दूसरे प्रकार के विचारों की ही है।

लेखक और कवि :—

लेखक और कवि के कार्य साम्य पर विचार करता हुआ सार्त्र लिखता है कि यद्यपि "यह यथार्थ है कि गद्यकार और पद्यकार दोनों ही लेखन कार्य करते हैं किन्तु उनके लेखन कार्य में इसके अतिरिक्त और कोई अभिन्नता नहीं है कि दोनों के हाथ समान रूप से गतिशील रहते हैं और दोनों से ही अक्षर रचना होती है। अन्यथा इन दोनों के

संसार इतने भिन्न हैं कि इनमें कोई संयोग सम्भव नहीं है और एक के लिए जो उत्तम है वह दूसरे के लिए नहीं। गद्य स्वाभाविक रूप से उपयोगितावादी होता है। मैं सहर्ष पद्यकार का शब्दों को उपयोग करने वाले के रूप में परिभाषा करूँगा।"[1]

भाषा पर विचार :—

भाषा के विषय में विचार करता हुआ सार्त्र लिखता है कि "हमने भाषा के आन्तरिक रूप का बहुत विश्लेषण किया है और अब उसके शुद्ध रूप का बाह्य रूप से अवलोकन करने का समय आ गया है।" अपने इस कथन की पुष्टि में तर्क करता हुआ वह कहता है कि एक व्यक्ति केवल किसी साधारण वस्तु को माँगने के लिए गद्य रचना करता है, दूसरा किसी देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने में। लेखक एक वक्ता होता है। वह अभिदान देता है, प्रदर्शन करता है, आदेश देता है, अस्वीकृति करता है, क्षेपण करता है, निवेदन करता है, अवज्ञा, तर्क तथा व्यंग्य करता है। परन्तु उन्हें बिना फल के करने से ही वह कवि नहीं हो जाता है। वह लेखक है, जो बातें करता है, कुछ कहता नहीं।[2]

गद्य की कला :—

सार्त्र ने बताया है कि गद्य कला का प्रयोग सम्वाद में किया जाता है, अतः स्वभावतः ही उसका सारांश सार्थक होता है। अर्थात् शब्द वस्तुएँ नहीं हैं, उनके संकेत हैं। सर्वप्रथम यही कारण है कि किसी भाषा के विषय में यह ज्ञात करना आवश्यक नहीं है कि वह हर्ष की सृष्टि करती है या विषाद की, वरन् यह देखने की आवश्यकता है कि वह वस्तु या विचार का यथार्थ रूप में संकेत देने में समर्थ है या नहीं। बहुधा ऐसा होता है कि हमें शब्दों के द्वारा कोई विचार मिलता है और हम उसे ग्रहण कर लेते हैं। फिर वह विचार हममें सदैव वर्तमान रहता है, यद्यपि वे शब्द स्मरण नहीं रहते, जिनके द्वारा हमने उन्हें प्राप्त किया था।

सार्त्र का कथन है कि गद्य सबसे पहले मस्तिष्क की एक स्थिति ही है। जब कोई व्यक्ति किसी आपत्ति या कष्ट में होता है, तब वह किसी हथियार को उठा लेता है।

१. दे "युगचेतना" फरवरी १९५८, पृ० ४६।
२. वही, पृ० ४७।

विपत्ति दूर होने पर यह स्मरण नहीं आता कि जो हथियार उठाया गया था वह क्या था, एक हथौड़ा या छड़ी। उसे यह ध्यान भी नहीं था कि वह क्या उठा रहा है। उस समय उसे अतिरिक्त शरीर की आवश्यकता थी और वह कुछ चाहता था। वह एक प्रकार से छठी उँगली या तीसरा पैर कहा जा सकता है, जिसे उस समय अंगीकृत किया गया था।

उपर्युक्त रोचक उदाहरण के आधार पर सार्त्र यह समझाने का प्रयत्न करता है कि ठीक इसी प्रकार हमारा कवच और त्वचा रोम है, जिनके द्वारा हम अन्य लोगों से अपनी रक्षा करते हैं और हमें उनके विषय में सूचना मिलती है। वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों का ही विस्तृत रूप है, एक तीसरी आँख है, जिसकी सहायता से अपने पड़ोस वालों के हृदय को भाँपते हैं। हम भाषा के अन्तर्गत इसी प्रकार हैं, जिस प्रकार अपने शरीर के। हम अन्य सीमा क्षेत्रों का अतिक्रमण करने में उनका ठीक हाथ पैरों के समान ही अनुभव करते हैं। इसी रूप में हम तब भी अनुभव करते हैं जब कोई भाषा प्रयुक्त करता है। एक शब्द किसी क्रिया विशेष का विशिष्ट क्षण होता है जिससे अलग वह निरर्थक है।

निष्कर्ष में सार्त्र एक गद्यकार के विषय में यह कहता है कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसने द्वितीयक क्रिया को अंगीकृत किया है और उसे हम ऐसी क्रिया कह सकते हैं जो उद्घाटन द्वारा सम्पन्न हो।

अन्य विचार :—

साहित्य के स्वरूप के विषय में सार्त्र का विचार है कि कुछ अग्रिम करने की आवश्यकता नहीं है। वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना स्वरूप आविष्कृत करता है और फिर उसका निर्धारण। यह यथार्थ है कि शैली का सुझाव विषयों से ही मिलता है, यद्यपि वे कोई आज्ञा नहीं देते। सार्त्र ने साहित्य सम्बन्धी अपनी मान्यताओं का व्यक्तीकरण और स्पष्टीकरण करते समय प्रासंगिक रूप से अपने आलोचकों के विषय में भी जहाँ तहाँ अपने विचार प्रकट किये हैं। एक स्थान पर वह उनके विषय में कहता है कि उनके लिए सर्वाधिक युक्तिपूर्ण बात कला के लिए कला वाले सिद्धान्त का आधार ले लेने की होती, जो उनकी अप्रशंसा में योग देती, परन्तु वे इसे नहीं स्वीकार करते। यह भी एक विचित्र बात ही है।

सार्त्र के विचार से लेखक कई वर्गों के होते हैं। उसका कहना है कि जो व्यक्ति अपने विचारों को किसी विशिष्ट ढंग से कह सकता है, वही लेखक है, वह नहीं जो

केवल किसी बात को कहने का निश्चय कर लेता है। यही कारण है कि गद्य का महत्व इसकी शैली में ही है, परन्तु केवल शैली से ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता।

लेखन कार्य क्यों किया जाय? इस पर विचार करते हुए सार्त्रे कहता है कि इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने कारण होते हैं। किसी व्यक्ति के लिए लेखन कला पलायन है और किसी के लिए विजय का साधन। परन्तु कोई भाग कर आश्रम में भी पहुँच सकता है और पागलपन या मृत्यु के मुख में भी। कोई हथियारों की सहायता से विजय भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इससे लेखन कार्य से क्या सम्बन्ध हो सकता है? पलायन करने या विजय प्राप्त करने के लिए किसी को लेखन कार्य स्वीकारने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि, एक लेखक के विविध लक्ष्यों में गहन और अति तात्कालिक कुछ ऐसे निर्णय लेने होते हैं, जो हम सबके लिए समान हैं।

सार्त्रे का विचार है कि हमारी प्रत्येक प्रमेयता के साथ यह चेतना होती है कि मानवीय यथार्थ एक भेदक है, अर्थात् इसी के द्वारा अस्तित्व बोध होता है, या यों कहा जा सकता है कि मानव ही यह माध्यम है जिसके द्वारा वस्तुएँ प्रकाश में आती हैं। हमारी ही उपस्थिति से संसार में सम्बन्ध विस्तार होता है। वह हम ही हैं, जो इस पेड़ और इस नभ खंड में सम्बन्ध बनाते हैं। यदि हम यह जानते हैं कि हम ही अस्तित्व सचालित कर रहे हैं, तो हम यह भी जानते हैं कि हमने उन्हें उत्पन्न नहीं किया है। हम लोग नाश को प्राप्त होंगे ही और धरती तब तक उदासीन रहेगी जब तक कोई अन्य चेतना उसे जाग्रत नहीं करेगी। इससे स्पष्ट है कि अपनी आन्तरिक निश्चयता से हम भेदक हैं परन्तु भेदित वस्तु के लिए हमारी अनिवार्यता भी सम्बद्ध है।

कलात्मक रचना के विषय में सार्त्रे कहता है कि उसके मुख्य उद्देश्यों में यह भावना आवश्यक है कि हम सांसारिक सम्बन्धों में अनिवार्य हैं। वह स्वयं कहता है कि "मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपनी रचना के लिए अनिवार्य हूँ। मैं एक साथ रचना और भेदन नहीं कर सकता।" रचनात्मक कार्यों के लिए सृजन आवश्यक है। सार्त्रे का विचार है कि साहित्य का अस्तित्व केवल उसकी गतिशीलता में ही है।

लेखक की और पाठक की स्थिति तथा सम्बन्ध के विषय में सार्त्रे कहता है कि लेखक के अपनी कृति पढ़ने तथा पाठक के उसे पढ़ने के ढंग में अन्तर होता है। यह यथार्थ नहीं है कि एक लेखक अपने ही लिए लिखता है। अपने इस मन्तव्य को स्पष्टीकृत

करने के पश्चात् वह कहता है कि ऐसी कोई भी कला नहीं है जो दूसरों के हेतु अथवा उनके द्वारा नहीं है।

सार्त्र ने लेखकों की स्वतंत्रता पर बहुत बल दिया है। उसका विचार है कि एक लेखक, चाहे वह निबन्धकार हो, पुस्तिका लेखक, व्यंग्यकार, या उपन्यासकार, चाहे वह केवल वैयक्तिक भावनाओं का चित्रण करता हो या सामाजिक व्यवस्था पर आक्षेप करता हो, इसका एक ही लक्ष्य हो सकता है और वह है स्वतंत्रता। अन्त में, सार्त्र ने बताया है कि लेखक का कर्तव्य ईमानदार और यथार्थनुकारी होना है।[1]

आधुनिक युगीन स्पेनी समीक्षा

उन्नीसवी शताब्दी में स्पेन में जो समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी, उनको देखने से यह मालूम होता है कि इस समय तक साहित्य के क्षेत्र में स्थिरता के साथ ही साथ प्रौढ़ता भी आ चुकी थी। जोसे लास ई सान्केज डी कास्ट्रू, मैन्वल मिलाई फोन्ता नाल्स, मार्सेलिनो मेनेराडेज ई पेलायो, फ्रान्सिस्को फर्नान्डेज ई गोंजालेज, लिओपोल्डो अलास, रामन मेनेन्डेज पिडाल आदि विचारकों के नाम इस शताब्दी के साहित्यिक इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साहित्य के विभिन्न माध्यमों के क्षेत्रों में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से इस शताब्दी मे जो प्रगति हुई उसके फल-स्वरूप इनमें अनेक नवीनतर तत्वों और प्रवृत्तियों का समावेश हुआ।

अनेक राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप यद्यपि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कभी-कभी ऐसे समय भी आये जब साहित्य के क्षेत्र में गतिरोध जैसी स्थिति प्रतीत हुई परन्तु अन्ततः भावी प्रगति की सम्भावनाएँ जन्मी और साहित्यक माध्यमों का कलात्मक विकास हुआ। उपन्यास, नाटक, महाकाव्य और समीक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति-कारी उपलब्धियाँ हुईं और परम्परा से चले आते संकुचित दृष्टिकोण का यथा सम्भव परित्याग किया गया। इस प्रकार से स्पेन में यूरोपीय समीक्षा के विकास में योग देने के लिए यथाशक्ति कार्य किया गया और इसमें उत्तरदायित्व यथासम्भव निर्वाहा गया। आधुनिक युग में साहित्य और कला के क्षेत्रों में यूरोप में जो आन्दोलन हुए उनसे स्पेन

१. दे० "युगचेतना", फरवरी, १९५८, पृ० ४८।

भी अप्रभावित न रहा और यूरोप के अन्य देशों के समान वहाँ भी उसकी विविध प्रतिक्रियाएँ हुईं तथा साहित्यिक विकास पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा।

आधुनिक युगीन जर्मन समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी में और उसके बाद जर्मनी की समीक्षा का जो कुछ भी विकास हुआ उसमें फ्रीडरिख श्लेगेल, आउगुस्ट विल्हेल्म, हीनरिख और जूलियस हार्ट, एउगेनवोल्फ, एम०जी० कोराड, कोनराड आलबेर्टी, आर्नो होल्त्स, ओटो ब्राम और आल्फ्रेड फेर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने स्थूल रूप से प्रायः प्राचीन और नवीन समीक्षात्मक दृष्टिकोणों का समर्थन किया। निर्णयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्थान पर अब दृष्टिकोण में ऐतिहासिकता आई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जर्मनी की साहित्यिक परम्पराओं का विश्लेषण किया गया और दार्शनिक तत्वों को महत्वपूर्ण बताया गया। दार्शनिक तत्वों पर अधिक बल देने का फल यह हुआ है कि साहित्य और समीक्षा में भावात्मक और आध्यात्मिकता की वृद्धि होने लगी। कारलाइल और सेंट ब्यूवे आदि के विचारों में भी इसी कारण से दार्शनिकता का पक्ष प्रबल दिखाई देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक बार फिर से साहित्यिक चेतना जागी और उन लोगों ने जीवन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया। इनके मूल तत्वों की खोज की गई और यह माना गया कि चूँकि साहित्य जीवन का अनुकरण है इसलिए उसमें घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन हुआ और गेटे आदि के दृष्टिकोण को संकुचित बताया गया। लुडोल्फ वीनबार्ग और गेओर्ग गेर्विनस ने क्रमशः सैद्धान्तिक और शास्त्रीय समीक्षा का प्रतिनिधित्व किया। नीतिवादी और सौन्दर्यवादी कसौटियों को अधिक व्यापकता मिली। गद्य का युग आरम्भ हुआ और पद्य रूपों की उपेक्षा होने लगी। धीरे धीरे समीक्षा का विकास हुआ और बौद्धिक संकुलता के नये युग में नये-नये मानदण्ड प्रचारित हुए। जूलियन रिमट्ट हैयिलका और वैगनर आदि इस नए युग के विशिष्ट समीक्षा व्यक्तित्व हैं क्योंकि इन्होंने युगीन वैचारिक गति को व्यापक रूप से बढ़ाया। इस प्रकार से यूरोपीय आन्दोलनों से जर्मनी अप्रभावित न रहा।

लेसिंग के समय से जर्मनी की साहित्य समीक्षा में जो विकास हुआ उसको देखने से यह प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती समीक्षा की अपेक्षा वह बहुत परिवर्तित हो चुकी थी।

पूर्ववर्ती समीक्षा पद्धति अधिकांशतः रूढ़िवादी और परम्परानुगामी थी जब कि भावी समीक्षा पद्धति अधिक पूर्ण और प्रशस्त थी। आगे चलकर हीनरिख विलहैल्म फोन गर्स्टैनवर्ग योहान गेओर्ग हामान, योहान गौटफ्रीड हेर्डेर, गेटे आदि ने जर्मन समीक्षा को और भी प्रशस्त किया। यह लोग अपने अपने समय के महत्वपूर्ण व्यक्ति थे और इन्होंने अपने विचारों और सिद्धांतों को सशक्त और दृढ़ रूप में प्रतिपादित किया। लेसिंग के समय से ही चूँकि साहित्य और कला को प्रायः सम्बद्ध करके सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से इनका परीक्षण करने का प्रयत्न हो चुका था इसलिए इस आगे आने वाले समय में भी उसकी उपेक्षा न की जा सकी। नीति तत्वों का महत्व निर्विवाद रूप से मान्य किया गया और अनुकरण का सिद्धांत भी समान रूप से प्रचलित रहा। उपर्युक्त कुछ विचारकों मे गेटे आदि ऐसे भी थे जिनका स्थान विश्व साहित्य में है। उन्होंने अपेक्षाकृत ऊँची भाव-भूमि का परीक्षण करने का समर्थन किया।

बीसवीं शताब्दी मे महाद्वीपीय गति और वातावरण के अनुसार जर्मनी क साहित्यिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। समीक्षा के दृष्टिकोण में अधिक विवेकपर्णता और संयमता आई। विदेशी क्रियात्मक साहित्यकारों और साहित्य पण्डितो के विचार यहाँ भी आए और साहित्यिक क्षेत्रों में विविधता दिखाई देने लगी। प्राचीनता और नवीनता के पुराने झगड़े को छोड़कर लोगों में नई चेतना जाग्रत हुई। यथार्थवादिता और व्यक्तिवादिता के लिए लोगों में विशेष आग्रह और समर्थन दिखाई देने लगा। लेसिंग ने जिस एक्सप्रेशनिस्ट विचारधारा के बीज अब से पहले बो दिए थे उसका पुनर्नवीनीकरण हुआ। साहित्य समीक्षात्मक क्षेत्रों में जो चेतना सम्पन्नता इस समय दिखाई देने लगी थी, उसे देखते हुए कुछ लोग शास्त्रीय समीक्षा का स्वर्ण युग कहते है। नवशास्त्रवाद और एक्सप्रेशनिस्ट विचारधाराओं की भावी सम्भावनाएँ प्रशस्त हुई। एडोल्फ कार्टेल्स बिलहेल्म स्टाएल, विल वेस्पर और होहन्स क्रिम्डेमान आदि समीक्षक नवीनतम वैचारिक प्रवृत्तियों के पोषक थे। महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के साथ समीक्षा की यह विकसित परम्परा लगभग समाप्त हो गई।

आधुनिक युगीन रूसी समीक्षा

रूस में समीक्षा पद्धतियों का जो विकास हुआ उसका आरम्भकर्ता विशेष रूप से नवशास्त्रवादी समीक्षा के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में वासिली फिरिलोविच नेपाकीवस्को

माना जाता है। सैद्धान्तिक साहित्यशास्त्र के नियमन में उसी का योग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसने न केवल समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र में शास्त्रीय सिद्धान्तों का नियमन किया वरन् कुछ विशेष काव्य तत्वों के विषय में उदाहरण के लिए छन्द तत्व आदि के क्षेत्र में विस्तार से विवेचना की। उसके पश्चात् मिखाइल वासिल्येविच लोमोनोसोव ने साहित्यशास्त्र का पुनर्नवीनीकरण किया। उसने काव्य, व्याकरण, भाषा और शैली का विशेष रूप से वर्गीकरण और विश्लेषण किया।

इस शताब्दी के अन्य लेखकों पर भी लोमोनोसोव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, निकोलै मिखायलोविच करामज़िन और वासिली आन्द्रेयेविच झुकोवस्की आदि के नाम क्रियात्मक साहित्य और समीक्षात्मक आन्दोलनों का संचालन करने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह लोग इस बात के प्रयत्नशील थे कि महाद्वीपीय विचारधारा को समझते हुए यथासम्भव कोई मौलिक देन दे सकें। इसी लिए इस शताब्दी में जो कुछ भी कार्य हुआ उसे हम भावी समीक्षा की आधारभूमि के रूप में मान्य कर सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक यूरोपीय आन्दोलनों का प्रभाव आ चुका था। इस शताब्दी में अनेक महान् लेखक और विचारक हुए जिनमें से उकोवस्की, एलेक्सान्दर सर गेयेविच पुश्किन और वारोन आन्तोनोविच देलविग, विस्सारियन ग्रिगोर्येविच वेलिन्सकी, निकोलै गाव्रिलोविच चर्नीशेवस्की, अलेक्साइन्द्रोविच दोब्रोल्युबोव, दिमित्री आइवानोविच पिसारेव, निकोलै कौन्स्तान्तिनोविच मिखायलोव्स्की, पावेल वासिल्येविच आनेन्कोव, अपोलन अलेक्सान्द्रोविच ग्रिगोर्येव, व्लादीमीर सर्गेविच सोलोव्येव, काउन्ट लिओ निकोलायेविच टौलस्टोय, यूली, ऐखेन्वाल्द और कोर्नी आइवानोविच चुकोवस्की आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विचारकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम बेलिन्सकी का है। वह हीगल से विशेष प्रभावित था। उसका दृष्टिकोण सुधारवादी था। उसका विचार था कि समकालीन रूसी जीवन का अंकन करने के लिए उपन्यास से अच्छा माध्यम और कोई नहीं हो सकता है। चर्नीशेवस्की और दोब्रोल्युबोव तथा पिसारेव आदि ने प्रायः इस तथ्य की ओर संकेत किया कि समकालीन साहित्य में कलात्मक तत्वों का ह्रास होता जा रहा है। वे चाहते थे कि क्रियात्मक साहित्य में युग जीवन की उपेक्षा न की जाए। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और वे पुरातनपंथी दृष्टिकोण के बड़े विरोधी थे।

आनेन्कोव, ग्रिगोर्येव और सोलोप्येव आदि ने अपेक्षाकृत गम्भीर दृष्टिकोण से साहित्य के सिद्धान्त पर विचार किया और अपने निष्कर्षों के आधार पर क्रियात्मक सोवियत साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार से इस शताब्दी में सोवियत समीक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रवृत्तियाँ और विचारधाराओं का प्रचार रहा।

वेलिस्की ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के रूसी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। उसने पर्ववर्ती और समकालीन यूरोपीय वैचारिक परम्पराओ का गहन अध्ययन किया था। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं उसने आधुनिक रूसी समीक्षा का नवीन रूप में प्रवर्तन किया। उसने कला को एक ऐसे महान् भाव की अभिव्यक्ति कहा जो इस संसार में अपनी समीक्षा के साथ व्याप्त है। यथार्थवाद के विषय में वेलिस्की ने जो विचार प्रकट किये हैं, उन पर कहीं कहीं हीगल आदि विचारकों का भारी प्रभाव दिखाई पड़ता है, यद्यपि उनमें उसकी मान्यताओ का विरोध और खंडन भी अनेक स्थलों पर किया गया है।

वेलिस्की का विचार है कि दर्शन और काव्य परस्पर विरोधी रहे हैं। उसका विचार था कि "कवि केवल स्वप्नों के ही संसार में अधिक नहीं रह सकता, वह समकालीन वास्तविकता के साम्राज्य में एक सामाजिक प्राणी भी है। समाज उसे केवल लोकरंजक रूप में देखना नहीं चाहता, वरन् उसे आध्यात्मिक आदर्श जीवन के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहता है। एक ऐसे देवता के रूप में, जो जटिल से जटिल समस्याओं (प्रश्नों) का उत्तर दे सके............एक ऐसे मसीहा के रूप में, जो सर्वसाधारण के दुख एवं पीड़ा का भास उनमें करने से पूर्व अपने में कर सके और उनको कविता की रूपरेखा प्रदान करके उसका निवारण कर सके।"[१]

बीसवीं शताब्दी में रूसी समीक्षा के क्षेत्र में मिखायलोवस्की आदि ने प्रगति की वैज्ञानिक व्याख्या की। उसने उन प्रवृत्तियों का विरोध किया जो युग के स्वर से स्वर नहीं मिला पातीं। टाल्सटाय जैसा महान् साहित्यकार इस युग में हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की औपन्यासिक और वैचारिक परम्पराओं को प्रभावित करनेवाली रचनाएँ प्रस्तुत की। टाल्स्टाय ने काव्य और नैतिकता के अन्तर्सम्बन्ध

१. दे० "आलोचना", पृ० १९८।

का विश्लेषण करते हुए उसकी महत्ता प्रतिपादित की है कि उसके कला सम्बन्धी विचार धर्म प्रेरणा से अनुप्राणित हैं।

टाल्सटाय का विचार है कि यथार्थ का रूप बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। उसके विचार से कला मानवता के लिए अत्यन्त उपयोगी है। परन्तु उसकी यह उपयोगिता उसकी नवीनता से ही सिद्ध होगी। इसलिए उसका उद्घाटन करने की क्षमता उसके लिए आवश्यक है।[1] कलाकार को नैतिक रूप में उच्च होना चाहिए। कला मानवीय इतिहास के विविध युगों को अन्तर्सम्बद्ध करनेवाली एक कड़ी है। इसलिए वह उसकी उपयोगिता के विषय में दृढ़ विचार का स्थापन करता है।[2] इस प्रकार से टाल्सटाय के कला सम्बन्धी विचार चेरनिशेवस्की, दोब्रोल्युब्राव, माइखेलोवेस्की तथा सोवेव आदि के पूरक समझे जा सकते हैं।[3]

टाल्सटाय के परवर्ती विचारकों में यूली ऐखेन्वाल्द और कोर्नी आइवानोविच आदि ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रूसी साहित्य का पर्यवेक्षण किया और उसका इतिहास प्रस्तुत किया। इस शताब्दी में १९१७ की प्रसिद्ध क्रान्ति हुई। क्रान्ति से पहले रूस में रूपवाद का व्यापकता से प्रचार हुआ जिसके विषय में अन्यत्र लिखा जायगा।

आधुनिक युगीन अमेरिकी समीक्षा

अमेरिकी समीक्षा के इतिहास को देखने से यह मालूम पड़ता है कि वहाँ पर अठारहवीं शताब्दी में समीक्षा के क्षेत्र में स्पष्टता आभासित होती है। अमेरिकी साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य का पड़ा। इसलिए यहाँ की विचारधारा पर यह प्रभाव कुछ इस तरह से रहा कि आरम्भ में वहाँ पर अधिक मौलिकता नहीं रही। नवशास्त्रवाद का इस शताब्दी में अमेरिका में प्रचार होने के साथ ही साथ साहित्यिक क्षेत्र

1. "Vision & Design", Roger Frie, p. 194.
2. In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to what whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art. (—"What is Art ?", Tolstoy)
३. "आलोचना", २६, पृ० ९६।

में गतिशीलता बढ़ी। टियाथी ड्वाइट, जौन विदरस्पून तथा जौन क्विन्सी एडम्सकी, सी० बी० ब्राउन, जोसेफ हैनी आदि के नाम इस प्रकार के साहित्यिक आन्दोलनो के समर्थकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नवशास्त्रवाद का प्रचार अमेरिका में आरम्भ में बहुत व्यापक रूप से फैला रहा परन्तु धीरे-धीरे इसका विरोध होने लगा और उन्हे अंग्रेजी नवशास्त्रवादियों की नकल करने वाला बताया गया। नवशास्त्रवाद के विरोधियो ने सबसे प्रमुख नाम डब्लू० सी० ब्रायंट का है। इस प्रकार से अठारहवीं शताब्दी में साहित्यिक क्षेत्रों में जो गतिशीलता थी, वह प्राय: इसी आन्दोलन के समर्थन और विरोध से सम्बन्ध रखती थी।

बीसवीं शताब्दी में अमेरिका में एक और विचारधारा का प्रचलन था जिसमें आध्यात्मिक तत्वों की अधिकता थी। नोबापोर्टर और इमरसन आदि ने इसका विशेष रूप से समर्थन किया था। इस विचारधारा में दार्शनिकता के तत्व भी बहुलता से समाविष्ट होते हैं। चाईनिंग भी इसी विचारधारा को मानता था। यह लोग समीक्षा दृष्टि वह तत्व लाना चाहते थे। जो उच्चतर भूमि पर साहित्य परीक्षा कर सकें। इसलिए वे मानते थे कि कविता में आध्यात्मिकता के तत्वों का समावेश होना चाहिए क्योंकि यदि उसमें इस प्रकार के तत्व नहीं होंगे तो वह हमारे अन्तर पर प्रभाव नहीं डाल सकेगी। इसलिए इस समीक्षा पद्धति में दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता हो गई।

इससे यह स्पष्ट है कि विचारक साहित्य के वाह्य पक्ष और कला तत्व की अपेक्षा उसमें निहित मूल संदेश या उसके भाव पर अधिक गौरव देते थे। ये लोग किसी साहित्यकार या साहित्य कृति का मूल्यांकन करते समय भी उसकी भावनात्मकता पर ही विशेष रूप से दृष्टि रखते थे। इनका विचार था कि कलात्मकता की अपेक्षा भावनात्मकता से पाठक अधिक प्रभावित होता है। इस समीक्षा पद्धति की विशेषता यह भी थी कि इसमें उदारता और किसी सीमा तक धार्मिकता अधिक है। इमरसन आदि साहित्यकारों ने इन्हीं दृष्टियों से साहित्य परीक्षा करने का समर्थन किया। वह यह मानता है कि एक समीक्षक का कार्य सामान्य पाठक को उपदेश देना, शिक्षा देना, पथ प्रदर्शन करना और उसमें विवेक जाग्रत करना होना चाहिए। संक्षेप मे, आध्यात्मवादियों का यह विचार है कि वस्तुत: आध्यात्मिक शक्ति ही संसार में मुख्य मानवीय गुण है और इसलिए साहित्य में उसी का समावेश और समीक्षा में इसी दृष्टि-कोण की प्रधानता होना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका में जो समीक्षा लिखी गई, उसका आरम्भिक रूप नवशास्त्रवाद का विरोधी है। इसके विपरीत उसमें समाजवाद का स्वीकरण दिखाई देता है। इसलिए उसमे समाज शास्त्रीयता की प्रवृत्ति की ओर भी झुकाव है। आगे चल कर इसी से मिलती जुलती जो समीक्षाधारा विकसित हुई वह यथार्थवादी समीक्षा की प्रवृत्ति थी। वाल्ट व्हाइटमैन इस समीक्षाधारा का सबसे बड़ा समर्थक था। विलियम डीन हावेल्स, हैनरी जेम्स, हेमलिन गार्लेंड, एच० एच० बोयसन और एच० डब्लू० मैंवी आदि के नाम इस प्रवृत्ति के मुख्य विचारकों में उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने यथार्थवाद के विषय में उसकी परिभाषा, स्वरूप और मर्यादा का नवीन विवेचन किया तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्नों पर गम्भीर मन्तव्यों का निदर्शन किया। इस समीक्षा धारा के अनुसार यह निर्देशित किया गया कि एक लेखक की यथार्थता का त्याग नहीं करना चाहिए। साहित्य में सदैव जनता के जीवन को ही प्रतिबिम्बित होना चाहिए और उसका स्वर लोकतंत्रीय होना चाहिए। जहाँ इस प्रकार के साहित्य की कलात्मक महत्ता का सम्बन्ध है उसमें साधारणीकृत अभिव्यंजना से ही कलात्मकता का सूचन होता है। इस प्रवृत्ति के कुछ विचारकों ने नीति के सन्दर्भ में भी साहित्य और समीक्षा के प्रश्नों पर विचार किया। हावेल्स आदि का नाम इस सम्बन्ध में मुख्य विचारकों में लिया जा सकता है।

हैनरी जेम्स

आधुनिक विश्व साहित्य में हैनरी जेम्स का स्थान विशिष्ट है। हैनरी जेम्स ने रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में तो अपनी प्रतिभा की मौलिकता का परिचय दिया ही है, साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष पर भी अपने विचार पर प्रकट किये हैं परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि हैनरी जेम्स के ये सैद्धांतिक विचार विशेष रूप से कथा साहित्य के विविध पक्षों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास कला पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि एक उपन्यास एक उपन्यास है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक भोजन एक भोजन है और हमारा उसके प्रति अधिक से अधिक कर्त्तव्य उसे निगलना है। कला के विषय में हैनरी जेम्स की यह धारण है कि कला तर्क, प्रयोग, प्रयोगों की विविधता, विचारों के आदान प्रदान तथा आदर्श अथवा सिद्धांतों की तुलना पर निर्भर है। और यह एक कल्पना है कि ऐसे

समय जब किसी व्यक्ति को कला के सम्बन्ध में कोई विशेष बात न कहनी हो और किसी व्यक्ति के पास उनके प्रयोग का कोई कारण न हो, यद्यपि ऐसे समय सम्मान के हो सकते हैं, विकास के नहीं होते; यदि होते हैं तो सम्भवतः कुछ शुष्कता छोड़कर। किसी कला का सफल प्रयोग एक अच्छा कौतुक है, किन्तु सिद्धांत भी रुचिकर होते हैं। वाद विवाद, सुझाव, सूत्री करण ये सब उपज के कारण हैं, यदि वे सत्य और स्पष्ट हों।[1]

हैनरी जेम्स के अनुसार उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यही है कि यह जीवन का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करता है। जब वह इस प्रयत्न को त्याग देता है, उसी प्रयत्न को जिसे हम चित्रकार के टाट (पटुवे का बना हुआ एक मोटा कपड़ा) पर देखते हैं, तब वह एक विलक्षण स्थिति पर आ जाता है। (चित्रकार के) चित्र से यह आशा नहीं की जाती कि वह स्वयं को इतना सामान्य कर देगा कि भुला दिया जाये। और चित्रकार की कला तथा उपन्यासकार की कला में जहाँ तक मैं समझता हूँ, पूर्ण समानता है। उन (दोनों) की प्रेरणा समान है, उनकी प्रणाली (विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करने की) समान है एवं उनकी सफलता भी समान है। वे एक दूसरे से सीख सकते हैं तथा एक दूसरे की व्याख्या एवं रक्षा कर सकते है। उनके कारण समान हैं तथा एक का सम्मान दूसरे का सम्मान है।[2]

हैनरी जेम्स के विचार से उपन्यास एक प्रकार का इतिहास है। यह केवल एक सामान्य विवरण है, जो इसके साथ न्याय करता है और जो हम उपन्यास के सम्बन्ध में दे सकते हैं। किन्तु इतिहास भी जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकता है, करने को स्वतंत्र है। उपन्यासकार का काम ज्यादा कठिन इसलिए है कि उसे जीवन में से घटनाओं का चयन करना पड़ता है। उसका कार्य इसलिए अधिक महत्वपूर्ण भी है। कुछ लोग समझते हैं कि उपन्यास की विषय वस्तु कल्पित होती है, यह गलत है। उपन्यासकार भी सत्य की खोज करता है और सत्य को प्रकट करता है। कुछ लोग समझते हैं कि कला नैतिकता की विरोधिनी है और मात्र अन्धविश्वास के लिए है। यह भी अन्धविश्वास है। कुछ का विचार है कि उपन्यास में केवल अच्छे पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए। कुछ कहते हैं कि अन्त सुखद रहना चाहिए, जैसे भोजन के अन्त में मीठी चीज। मुख्य वस्तु

१. दे० "आधुनिक साहित्य", प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३३।
२. वही, पृ० ३४।

यह है कि उपन्यास कलात्मक हो। ... उपन्यासकार से हम एक मात्र माँग यह कर सकते है कि उसकी कृति रोचक हो।[१]

उपन्यास की परिभाषा करते हुए हैनरी जेम्स ने बताया है कि उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा के अनुसार एक व्यक्तिगत तथा प्रत्यक्ष जीवन की छाप है, जो उसके मूल्य का निर्माण तथा महत्व का निर्धारण करती है। यह महत्व कम या ज्यादा होगा उस छाप की मात्रा और गुण के अनुसार। किन्तु जब तक उपन्यासकार को अनुभव करने और कहने की स्वतन्त्रता न होगी तब तक वह ऐसी छाप या प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। एक उपन्यासकार अपना कार्य धीरे धीरे आगे बढ़ाता है, अपने ब्रशवाले भाई (चित्रकार) की तरह, जिसके सम्बन्ध में हम हमेशा कहते हैं कि उसने अपना चित्र ऐसे ढंग से रंगा है जिसे केवल वह स्वयं ही अपनी तरह समझ सकता है। उसका ढंग ही उसका रहस्य है। यह ढंग आवश्यक रूप में गुप्त रहस्य नहीं। ऐसा मैं उपन्यासकार तथा चित्रकार के शैलीगत साम्य का अनुभव करने पर ही कह रहा हूँ। चित्रकार इस योग्य है कि वह अपने अभ्यास के मूल तत्व सिखा सके। अपनी कृतियों का अध्ययन किसी सीमा तक यह सिखाता है कि किस प्रकार एक चित्र बनाया जाय और किस प्रकार लिखा जाय।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास में यथार्थतमकता पर बहुत गौरव दिया है, उसने अनिवार्यतः यह स्वीकार किया है कि सत्यता के विवेक के अभाव में किसी श्रेष्ठ उपन्यास की रचना असम्भव है। परन्तु इसके साथ ही उसने यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई निश्चित विधि बता सकना कठिन है। मानवता विशाल है और सत्य के असंख्य रूप हैं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि किसी उपन्यास में यथार्थ की गन्ध होती है, किसी में नहीं।[२]

हैनरी जेम्स ने बताया है कि साहित्यकार को लेखन कार्य करने के लिए पर्याप्त अनुभव होने की आवश्यकता है और अनुभव से ही सीखना भी चाहिए। परन्तु यह उसने एक अपर्याप्त संकेत माना है, क्योंकि अनुभव अनेक प्रकार के होते हैं। साथ ही, अनुभव चारों ओर है और कल्पनाशील मस्तिष्क छोटे से छोटे संकेत को जीवन रहस्य का वाहक बना देता है। इसका विश्लेषण करते हुए उसने बताया है कि किसी देखी हुई वस्तु से

१. दे० "आधुनिक साहित्य", प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३५।
२. वही, पृ० ३६।

बिना देखी हुई वस्तु की कल्पना करना या किसी वस्तु की परीक्षा उसकी चित्राकृति से करना या जीवन का ऐसा सामान्य अनुभव करना कि देखते ही विशेष पकड़ में आ जाय, यही अनुभव है। और यदि अनुभव प्रेक्षण से निर्मित होते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि प्रेक्षण ही अनुभव है। किन्तु वह तो वह वायु है, जिसमें हम श्वास लेते हैं। अतः किसी नये लेखक को मात्र इतनी सलाह देना कि "अनुभव से लिखो" पर्याप्त नहीं है। उसके साथ ही उसे यह भी सलाह देनी चाहिए कि एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करो, जो अनुभव का उचित उपयोग कर सके।[१]

ऊपर के विवरण से यह भ्रम हो सकता है कि हैनरी जेम्स ने अनुभव को ही मूल माना है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उसने शुद्धता, सत्यता और विवरणात्मकता पर भी बल दिया है। उसने यहाँ तक कहा है कि यथार्थ वातावरण की सृष्टि एक उपन्यास का मूल और सबसे बड़ा गुण है। इसी पर उसके अन्य सभी गुण निर्भर करते हैं। इस गुण के अभाव में सभी गुणों का होना निरर्थक है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का ऋणी है, जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारम्भ और अन्त है।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास को एक बहुत सशक्त साहित्य माध्यम माना है। उसने बताया है कि उपन्यास एक सजीव वस्तु है। वह किसी भी अन्य संगठन की भाँति एकता पूर्ण, गतिमय तथा आनुपातिक होता है, जैसाकि प्राणवान् वस्तु में पाया जाता है। उपन्यास का सत्य जीवन से होड़ लेता है, चित्र से होड़ लेता है।

उपन्यास के अन्य उपकरणों पर संकेत रूप में विचार करते हुए हैनरी जेम्स ने कहा है कि सारा जीवन उपन्यासकार का आह्वान करता है। जीवन के क्षुद्रतम अंश का चित्रण भी एक जटिल व्यापार है। इस चित्रण के नियम कोई नहीं बता सकता। बहुत से तथ्य लेकर उपन्यासकार उनमें से कुछ को चुनता है। जहाँ तक पात्रों का प्रश्न है, उसके विचार से उनका प्रणयन स्पष्ट रूप रेखा के अनुसार होना चाहिए। वर्णनात्मकता के तत्व के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उपन्यास में अधिक लम्बे वर्णन अपेक्षित नहीं। उसकी अपेक्षा कथोपकथन श्रेष्ठ तत्व है। वर्णनात्मकता के तत्व का उद्देश्य उपन्यास की कथा का प्रसार होना चाहिए।

१. "हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास", प्रतापनारायण टंडन, पृ० ५६।

उपन्यासों का वर्गीकरण हैनरी जेम्स ने बहुत रोचक ढंग से किया है। चरित्र प्रधान और घटना प्रधान उपन्यासों के जो भेद किये जाते हैं, उन्हें उसने पुराना और निरर्थक माना है। उसके विचार से उपन्यास केवल दो प्रकार के होते हैं, अच्छे उपन्यास और बुरे उपन्यास। दूसरे शब्दों में सजीव उपन्यास और निर्जीव उपन्यास।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास में कथानक तत्व को विशिष्ट स्थान दिया है। उसके विचार से बिना कहानी का उपन्यास वैसा ही है जैसे बिना सुई का धागा। उसने उपन्यास को कला का एक बहुत उत्कृष्ट रूप माना है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में, हैनरी जेम्स ने बताया है कि कला के प्रश्नों का नैतिकता के प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है। न इन दोनों में किसी प्रकार की समानता है और न इन्हें सरलता से मिलाया जा सकता है। उसने बताया है कि एक बिन्दु है, जहाँ किसी कृति की कलात्मक एवं नैतिक विशेषताओं का मिलन होता है। यह बिन्दु है स्रष्टा की अनुभूति और उसकी कृति का सामंजस्य। आशय यह है कि श्रेष्ठ कृतित्व पूरी ईमानदारी चाहता है। अन्ततः कृति में स्रष्टा का मस्तिष्क प्रतिफलित होता है। साधारण मस्तिष्क से कभी असाधारण कृति नहीं निकल सकती। उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपनी कृति में उसी प्रयोजन को प्रतिफलित करने का प्रयत्न करे जिसे वह अपने चिन्तन एवं रागात्मिका वृत्ति द्वारा पूर्णतः आत्मसात् कर चुका हो। उपन्यासकार के लिए वह केवल एक शर्त रखता है। उसे पूर्णरूपेण ईमानदार होना चाहिए। यदि उपन्यास से निष्कर्ष निकालना आवश्यक है ही, तो इसका ध्यान रखा जाय कि उपन्यासकार का ज्ञान बहुत विस्तृत हो। उपन्यासकार का पहला कर्तव्य है कृति को पूर्ण बनाना, उसे कलात्मक पूर्णता प्रदान करना, निष्कर्ष गौण वस्तु है।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीका में निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति का भी प्रचलन था परन्तु स्टैडमैन आदि के ग्रन्थों का इस दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि निर्णयात्मक समीक्षा में एक प्रकार के औचित्यवाद के संकेत मिलते हैं।[2] उसका यह विचार था कि किसी ग्रन्थ का औचित्य निर्धारण इस समीक्षा का लक्ष्य है। उसका यह मत था कि साहित्य समीक्षा के जो सिद्धान्त परम्परा से प्रचलित चले आ

१. दे० "आधुनिक साहित्य", डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३७।
2. "Nature and Elements of Poetry", E. C. Stedman, 1892.

रहे हैं उनकी उपेक्षा या विरोध उचित नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त हमारे लिए एक सीमा तक परिचित हो गए हैं और यह अधिक सरलता से समझे भी जा सकते हैं। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन विचारकों द्वारा निर्देशित विभिन्न दृष्टिकोणों की उसे अवगति थी परन्तु उसका चिन्तन किसी भी दृष्टिकोण से उनकी अपेक्षा कम मौलिक नहीं था। इसलिए यद्यपि वह उनके विचारों से पूर्ण सहमति नहीं रखता था, परन्तु जहाँ कहीं भी वह उनसे सहमत था, वह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेता था। उसके कुछ मन्तव्य बहुत महत्व के हैं। उदाहरण के लिए वह काव्य की उत्पत्ति नैतिकता की अपेक्षा सुन्दरता से मानना ठीक समझता था। इसके लिए तर्क यह देता था कि शील और नीति परस्पर विरोधी तत्व हैं। इसी प्रकार से समीक्षा के विषय में उसने कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातें कही हैं। उदाहरण के लिए उसका विचार यह था कि "साहित्यिक विकास का रचनात्मक साधन समीक्षा ही हो सकती है।"

इस शताब्दी की एक और प्रवृत्ति मानवतावाद के विचारों से आगृहीत थी। इसके अनुयायी प्रायः वे थे जो काव्य के सौन्दर्य तत्वों के समावेश को विशेष महत्व देते थे। इस शताब्दी में एडगर एलेन पो तथा लावेल आदि इनमें मुख्य थे। इनमें से पो कहता था कि समीक्षक में निर्णय की इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह किसी साहित्यकार के क्रियात्मक कौशल की अभिव्यक्ति की परीक्षा कर सके, क्योंकि उसका काम केवल कला की व्याख्या करना है उसका विचार है कि एक समीक्षक ऐसा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसे निजी दृष्टिकोण से समीक्षा करने की स्वतन्त्रता न हो। वह यह कहता था कि प्रत्येक साहित्यकार की प्रतिभा के परिवेश भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए उन सबके परीक्षण की कोई एक कसौटी नहीं बनाई जा सकती। अतः उसने यह मन्तव्य स्थापित किया कि जिस प्रकार से प्रत्येक क्रियात्मक साहित्यकार की प्रेरणा और कला का का स्वरूप भिन्न होता है, उसी प्रकार से प्रत्येक समीक्षक को भी प्रत्येक कृति की समीक्षा करते समय स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखना चाहिए। इसी प्रकार से इस मत के दूसरे समर्थक लावेल ने भी अपने विचारों का स्थापन किया। वह यद्यपि किसी विशेष विचारधारा के प्रति आजीवन आगृहीत नहीं रहा परन्तु वह एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्यांकन करने का समर्थक था। उसका विचार यह था कि साहित्य का परीक्षण करते समय समालोचक को साहित्य के विविध तत्वों का सैद्धान्तिक ज्ञान होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उसके लिए यह है कि वह नैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं की अवगति भी रखता हो।

कुल मिलाकर लावेल एक उच्च कोटि का विचारक था और अमरीका के समीक्षात्मक क्षेत्रों में उसका स्थान शीर्षस्थ है।

बीसवीं शताब्दी में अमरीका में समीक्षा के क्षेत्र में जो विकास हुआ, उसका आधार स्पिनगार्न जोएल इलियास आदि विचारकों के मत रहे। स्पिनगार्न सौन्दर्यवादी था, इसलिए वह सौन्दर्य को साहित्य और समीक्षा की परख की प्रधान कसौटी मानता था। स्पिनगार्न ने मूलतः सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से ही साहित्य विषयक समस्याओं पर विचार किया है। उसने काव्य और नीति तत्व पर विचार करते हुए उसकी निरपेक्षता बतायी है।[1] उसने काव्य के मूल तत्वों की दुरूहता अन्य विज्ञानों और शास्त्रों की तुलना में भी संकेतित की है।[2] इसके अतिरिक्त अमरीका में क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार की गतिरोध जैसी स्थिति का अनुभव करने के कारण क्रियात्मक समीक्षात्मक चिन्तन की आवश्यकता का विचारकों ने अनुभव किया। पूँजीवाद और मार्क्सवाद की होड़ राजनैतिक सीमाओं का अतिक्रमण कर साहित्य के क्षेत्र में भी व्याप्त होने लगी और मौलिक चिन्तन के विकास में इस विवाद ने पर्याप्त योग दिया। परन्तु कुछ अनिवार्य परिस्थितियों के कारण वहाँ मार्क्सवाद अधिक समय तक नहीं ठहर सका।

बीसवीं शताब्दी में अमरीका में साहित्य और कला के सन्दर्भ में सौन्दर्यशास्त्र पर भी विस्तार से विचार किया गया। हैनरी आर० मार्शल (एस्थैटिक प्रिंसिपिल्स) सानट्याना (सेन्स आफ ब्यूटी), सी०सी० ऐवरेट (पोएट्री कमेडरी एंड ब्यूटी) ऐथेल

1. To say that poetry as poetry is moral or immoral is as meaningless as to say that an equilateral triangle is moral and isosceles triangle immoral or to speak of the immorality of a musical chord or Gothic arch ("Americal Critical Essays", XIX-XX Centuries, p. 443).
2. "Etymology, Versification, Syntax are respectable sciences and have their proper place in the wide field of human knowledge. They are the anatomy and physiology of poetry. But they do not help us to understand the secrets of poetic power for the simple reason that poetic power is independent of accidental and external resemblances." (Spingern—"Creative Criticism", p. 11).

पाठक के बीच में एक प्रकार की सूत्रात्मकता का नियोजन करती है। उसने प्रभावाभिव्यंजकता की दृष्टि से भी समीक्षा के स्वरूप पर विचार किया है।[१] कारलाइल के विचार से समीक्षा की सफलता इसी में है कि वह पाठक को साहित्य के यथार्थ महत्व की प्रतीति करा सके।

मैथ्यू आर्नल्ड

प्रमुख विचार :—

उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षकों में मैथ्यू आर्नल्ड का बहुत ऊँचा स्थान है। उसका समय सन् १८२२ से लेकर सन् १८८८ तक माना जाता है।[२] सैंट्सबरी ने उसे उच्च कोटि की असाधारण प्रतिभा से युक्त समीक्षक माना है।[३] वह काव्य को जीवन की व्याख्या करने का एक माध्यम मानता था।[४] उसकी व्यावहारिक उपयोगिता और आवश्यकता भी वह स्वीकार करता था।[५] उसका विचार था कि काव्य में आन्तरिक पक्षों का महत्व उसके बाह्य तत्वों की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु यह आन्तरिक

1. To have sensations in the presence of a work of art and to express them that is the function of criticism for the impressionistic critic."(Americal Critical Essays, XIX&XX centuries).
2. "A Short Biographical Dictionary of English Literature", John W. Cousin, p. 13.
3, "A History of English Criticism", George Saintsburry, p. 469.
4. "It is important, therefore, to hold fast to this : that poetry i at bottom a criticism of life: that the greatness of a poet lies in his powerful application of ideas to life" (Mathew Arnold. "Essay in Criticism").
5. "More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. Without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry", (Mathew Arnold. "Essay in Criticism")

पक्ष पूर्ण रूप से दार्शनिक चिन्तन और सूक्ष्मता से युक्त होकर चित्रित होने चाहिए। केवल उसी अवस्था में वह स्थायी महत्व की वस्तु हो सकेगा।[1] काव्य की महत्ता वह इस कारण भी सर्वाधिक मानता था क्योंकि उसके विचार से काव्य के माध्यम से ही मनुष्य अधिकतम पूर्णता के साथ सत्य को उद्घाटित कर सकता है और इसलिए वह उसे मनुष्य के जीवन की व्याख्या मानता था।

मैथ्यू आर्नल्ड के विचार से वास्तविक समीक्षा में जिज्ञासा की वृत्ति की निहिति और महत्व होता है। इस दृष्टि से समीक्षा की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का वह समर्थक था। वह यह मानता था कि उच्च और महती वैचारिक परम्पराओं की जीवन्तता का निर्वाह भी समीक्षा का ही कार्य है। यदि कोई समीक्षात्मक रूप इतना भी करने में समर्थ है तो उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से आर्नल्ड ने समीक्षा में यथातथ्यता की विशेषता और निष्पक्षता के गुण पर विशेष बल दिया है। इनके होने पर ही समीक्षा का वह लक्ष्य पूरा हो सकेगा जिसके अनुसार वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों की अवगति और प्रचार को ही समीक्षा का कार्य मानता था।[2]

आई० ए० रिचर्ड्स

प्रमुख विचार :—

आधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान बहुत ऊँचा है। उसे आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा की नवीन पद्धति का प्रतिष्ठापक माना जाता है। रिचर्ड्स का महत्व इस कारण भी है, क्योंकि उसने पूर्ववर्ती तथा समसामयिक

1. "Essay in Criticism", Mathew Arnold, p. 38.
2. "But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (curiousity and disinterested love of a free play of mind) it obeys an instant prompting *to try to* know the best that is known and thought in the world." Mathew Arnold, "Essay in Criticism", *p.* 16).

वाल्टर स्काट, "लेक्चर्स आन पोयट्री", "स्पेसीमेन्स आफ ब्रिटिश पोयट्स", "फेरोमिडा" आदि का लेखक कैम्पवेल, "लेटर्स" तथा "डिफेंस आफ पोयट्री" का लेखक परसी बिशी शेली, "दि कनवरसेशंस" का लेखक लेंडर, "लाइफ आफ पोप" का लेखक वाउल्स, "लेटर्स" तथा "लेटर्स टु लार्ड मरे" का लेखक लार्ड बायरन, "सेंसुरा लिटरेरिया", "क्यूरिया-सिटीज", "करेल्स", "एमिनिटीज" का लेखक आइजक डिशाइजली, "दि ब्रिटिश बिब्ल्योग्राफर", "रेस्टेटुला" तथा "सेंसुरा" का लेखक सर इगर्टन ब्राइज्स, "लिटरेचर आफ यूरोप" "एसेज इन इंग्लिश लिटरेचर" का लेखक हैनरी हेलम तथा इनके अतिरिक्त गिफर्ड, वाल्काट तथा पथाइस आदि समीक्षक भी इसी युग के सन्दर्भ मे उल्लेखनीय हैं।

इस युग में यह सामान्य रूप से स्वीकृत कर लिया गया कि साहित्य का सर्वयुगीन विकास आवश्यक है। प्रत्येक साहित्यकार या साहित्य समीक्षक की कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्यक होती हैं। इस युग में यह भी मान्य हुआ कि साहित्य विषयक कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण तो किया जा सकता है, परन्तु प्रत्येक युग के साहित्य को उस युग की समीक्षा दृष्टि से परखना ही ठीक है। सिद्धान्त रचना में श्रेष्ठतम कोटि के साहित्य-कारों द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरणों को ही ध्यान में रखना चाहिये। अनावश्यक नियमों की रचना भी निरर्थक होती है। साहित्य में वैविध्य की सम्भावनाओं को सदैव दृष्टिगत रखना चाहिये। साहित्य का उद्देश्य आनन्दानुभूति है। उसकी आत्मा कल्पना तथा शैली शरीर है। साहित्य नीति के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहार तथा यथार्थता से निर्देशित होता है। एक समीक्षक का यह अनिवार्य गुण है कि वह किसी कृति की प्रभावात्मकता का अनुभव कर सके तथा उससे सम्बद्ध अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता से पूरित हो। उसके लिए अधिकतम ज्ञान अनुमोदित किया गया और उसे पूर्वाग्रहों से अलग करने की सलाह दी गयी। उसे चाहिए कि पहले वह धैर्यपूर्वक किसी कृति का पारायण करके उसकी विशेषता और कलात्मकता को सशक्त और प्रभाव-पूर्ण ढंग से निर्देशित करे।

सेमुअल टेलर कालरिज

प्रमुख विचार :—

सेमुअल टेलर कालरिज का समय सन् १७७२ से लेकर सन् १८३४ तक माना जाता है। वह यूरोप के आधुनिक युगीन साहित्यकारों में एक कवि, दार्शनिक एवं

आलोचक के रूप में प्रसिद्ध है।[1] कालरिज का विचार है कि व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप निर्धारण एवं विकास रचना सिद्धान्तों के नियमन के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[2] वह काव्य के विषय में परम्परानुगत प्रकृति की अनुकरण धारणा से सहमत नहीं था और इसे बुद्धिमानी नहीं समझता था। उसके विचार से काव्य का प्रमुख गुण उसकी विश्वसनीयता होती है। वह कहता था कि काव्य तथा विज्ञान में इस दृष्टिकोण से मौलिक अन्तर है। काव्य का प्राथमिक उद्देश्य आनन्दात्मकता की सृष्टि करना है, विज्ञान की भाँति सत्य का प्रामाणिक निरूपण करना नहीं।

टॉमस कारलाइल

प्रमुख विचार :—

टॉमस कारलाइल का समय सन् १७९५ से लेकर सन् १८८१ माना जाता है।[3] उसकी समीक्षात्मक धारणा के विचार से समीक्षा का उद्देश्य प्रधानतः व्याख्या करना है। वह कहता है कि इस विषय में यही धारणा व्यापक रूप से मान्य की जा सकती है। समीक्षा के विषय क्षेत्र के विषय में वह बहुत उदार विचार रखता था और इसकी विशदता और विस्तार का पक्षपाती था। साहित्य का क्षेत्र यदि समग्र मानव जीवन है तो समीक्षा की परिधि भी उतनी ही प्रशस्त होनी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वह समीक्षा को एक व्याख्यात्मक माध्यम के रूप में भी स्वीकार करता था।[4] क्योंकि वह साहित्यकार और

1. "A Short Biographical Dictionary of English Literature", John W. Cousin, p. 89.
2. The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing than to furnish rules to pass judgement on what has been written by others."
3. "A Short Biographical Dictionary of English Literature", John W. Cousin, p. 72.
4. "Criticism stands like an interpreter between the uninspired and the inspired, between the prophet and those who beat melody of his words and catch some glimpses of their material meaning but understand not their deeper import."

मकर (स्टडी इन सिमेट्री आर साइकोलोजी आफ ब्यूटी), डेविड पारकर (दि प्रिंसिपिल्स आफ एस्थेटिक), हरबर्ट लांगफेल्ड (दि एस्थेटिक एटीट्यूड), एम० डब्लू० पाल (दि एस्थेटिक जजमेंट) और (एस्थेटिक एनालिसीस), राबर्ट औगडन (दि साइकोलोजी आफ आर्ट) तथा एन० लेंड ढौलन (दि एस्थेटिक सेन्टीमेंट) और जान ड्यूवी (आर्ट एज एक्सपीरियेंस) आदि विचारकों ने अपने अपने दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार किया। संक्षेप में इन विचारकों ने क्रोचे से मिलते जुलते सिद्धांत ही निर्धारित किए परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि इनमें मौलिक चिन्तन का अभाव था। वास्तव में इनके ग्रन्थों में सौन्दर्य शास्त्र का जो विश्लेषण और इतिहास प्रस्तुत किया गया वह विशिष्ट उपलब्धि के रूप में मान्य होना चाहिए।

आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षा

आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षा के विकास के सन्दर्भ में सर्वप्रथम सर टामस ग्रे का नाम उल्लेखनीय है। सर टामस ग्रे ने ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य के मूल्यांकन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि उसके साहित्यिक व्यक्तित्व का अधिक महत्वपूर्ण अंग उसके समीक्षात्मक रूप की अपेक्षा उसका कवि रूप ही था और उसकी काव्यात्मक उपलब्धियाँ ही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं, परन्तु उसमें समीक्षा विवेक का अभाव न थ। अपनी "हिस्ट्री आफ इंग्लिश पोयट्री" वह कभी पूर्ण न कर सका। उसको अन्य साहित्यकारों के विषय में पर्याप्त ज्ञान था। उसने यह भी आवाज उठायी कि प्राचीन सिद्धान्तों का पूर्ण बहिष्कार अनुचित है, क्योंकि साहित्य शास्त्रीय नवीन सिद्धान्तों में पूर्णता और पर्याप्तता नहीं हैं। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि साहित्य की सर्वयुगीन कसौटियों से परख करना औचित्यपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि वह एक विशिष्ट युग जीवन में रची जाती है। अपनी "अपालोजी फार लिडगेट" में उसने इसी प्रकार से युगीन तत्वों को मर्यादित घोषित किया है। अपनी "क्रिटिकल आब्जरवेशंस" नामक कृति में उसने विविध महती प्रतिभाओं पर अपने तुलनात्मक विचार प्रकट किये हैं।

ग्रे के परवर्ती समीक्षकों में "एसेज आन पोप" के रचयिता जोजेफ वार्टन, "आब्जरवेशंस" तथा "हिस्ट्री आफ इंगलिश पोयट्री" के रचयिता टामस वार्टन तथा "वर्क्स" और "डिसरटेशन" के रचयिता बिशप हर्ड के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनके साथ ही "दि पावर आफ नम्बर्स एण्ड दि प्रिंसिपिल्स आफ हारमोनी इन पोयटिक कम्पोजीशन" तथा "दि पावर एण्ड हारमोनी आफ प्रोसाइक नम्बर्स" के लेखक जेम्स मैसेन, "इन्क्वायरी इंटू दि प्रिंसिपिल्स आफ हारमोनी इन लैंग्वेज" के लेखक मिटफोर्ड, "ट्रिसट्रैन शैंडी" के लेखक लारेन्स स्टर्न, "एसेज आन मेन एण्ड मैनर्स" तथा "दि स्कूल मिस्ट्रेस" के लेखक परसी आदि के नाम भी लिये जा सकते हैं। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रधानता देने वाले यूरोपीय समीक्षकों में बाउम गार्टन, सूल्जर, डेकार्ड, वीको, धान्द्रे, लाक, बर्क, एडम स्मिथ, एलिसन तथा एडवर्ड गिबन के नाम उल्लेखनीय हैं। ह्यूम की "सिम्प्लीसिटी एण्ड रिफाइनमेंट" में समीक्षा के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रबलता है। जेफ्री लिखित "एसे आन टेस्ट" में अठारहवीं शताब्दी की अनेक साहित्यिक धारणाओं का भ्रामक प्रस्तुतीकरण है।

यहाँ पर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के समीक्षा में समावेश के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। समीक्षा के क्षेत्र में इस नवीन विचारधारा के समावेश का यह परिणाम हुआ कि समीक्षा सिद्धान्तों का पुनर्निर्धारण आरम्भ हो गया। इस कार्य में सौन्दर्य तत्व और उदात्त तत्व के विषय में नये सिद्धान्तों की रचना हुई, जिसके फलस्वरूप अनेक परम्परावादी विचारों का विरोध होने लगा। अब इन्हीं नवीन सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन साहित्यकारों का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का भी प्रचार हुआ। अब साहित्य में वैयक्तिकता का महत्व बढ़ रहा था। इस क्षेत्र में लेसिंग तथा डिड्रौट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विलियम वर्ड्सवर्थ तथा कोलरिज ने काव्य के क्षेत्र में असाधारण उपलब्धियों के साथ ही साथ काव्य सिद्धान्तों पर भी अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। चार्ल्स लैम्ब ने अपनी "स्पेसीमेंस आफ ड्रामेटिक पोयट्स", "रेफ्लेक्टर" तथा "एसेज आन ईलिया" आदि कृतियों में अपने समीक्षात्मक विचारों को प्रस्तुत किया है। विलियम हैजलिट की "लेक्चर्स आन इंग्लिश पोयट्स" उसके अंग्रेजी काव्य विषयक अगाध ज्ञान की परिचायक है। "दि प्लेन स्पीकर", "दि कामिक राइटर्स", "टेबिल टाक", "दि राउंड टेबिल", "दि स्प्रिट आफ दि एज" तथा "स्केचेज एंड एसेज" उसकी अन्य कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त "विब्लियाग्रेफैका ब्रिटेनिका", "दि डाक्टर्स लेटर्स" का लेखक राबर्ट सदे, "इटेलियन पोयट्स", "इमेजिनेशन एंड फैन्सी", "विट एंड ह्यूमर" आदि का लेखक ले हंट, "दि मेरिज आफ हेवेन एंड हेल" का लेखक विलियम ब्लेक, "लाइव्ज आफ स्विफ्ट एंड ड्राइडन", "बयाग्रेफीज", "सिवेलरी, रोमान्स एंड ड्रामा" का लेखक सर

विचार पद्धतियों की अपूर्णता के कारण असन्तोष का अनुभव करके ही नयी वैचारिक प्रणाली का सूत्रपात किया और उसके मंडन का प्रयत्न तार्किक शैली का आधार लेकर किया। अपने समीक्षात्मक दृष्टिकोण की नवीनता तथा गुणानुकूलता के कारण उसने अपने समकालीन साहित्य विचारकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

मूल्य तथा भाव प्रेषण—

रिचर्ड्स ने मूल्य तथा भावों की प्रेषणीयता को साहित्य सिद्धान्तों का आधार-स्तम्भ माना है। इसीलिए उसकी समीक्षा पद्धति में प्रेषणीयता की समस्या बहुत महत्व की है। चूँकि उसने यह स्वीकार किया है कि प्रेषणीयता की विधि समालोचना का एक महत्वपूर्ण आधार है, अतः उसने इस समस्या का कई दृष्टियों से विश्लेषण किया है। उसके विचार से यह एक बहुत जटिल समस्या है, जिसका समाधान लगभग असम्भव है। उसने बताया है कि भाव प्रेषण का माध्यम वस्तुतः भाषा ही है। और भाषा को उसने वह प्रतीक समूह माना है, जो पढ़ने वाले को लिखने वाले की मानसिक अवस्था से परिचित कराकर उसमें भी वही भाव उत्पन्न करे। इस प्रकार से यह प्रेषण कार्य लेखक और पाठक के बीच संचालित होता है। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी है कि आज का पाठक वर्ग अभी उतना चेतनशील नहीं जितना साहित्यकार वर्ग। क्योंकि जहाँ एक ओर पाठक अपनी अभी पिछले युग को ही एक प्रकार से नहीं पार कर पाये हैं, वहाँ लेखकगण नये युग की चेतना की अवगति की चेष्टा करते दिखाई देते हैं।

भाषा और विचार :—

रिचर्ड्स की धारणा है कि भाषा जीवन और साहित्य दोनों में जो कार्य करती है वह है अर्थ वहन का। अर्थ निर्देश करते समय उसने अपने वाक्य के अर्थ का विश्लेषण किया है और फिर उसके भी अर्थ का विश्लेषणात्मक निदान प्रस्तुत किया है। उसने यह भी बताया है कि किसी शब्द का अर्थ इस तथ्य से निर्धारण पायगा कि उसका प्रयोग किस सन्दर्भ में किया गया है। उसने शब्दों के विविध स्थलों पर प्रयोग के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अर्थ विविधता पर भी विचार किया है। उसने बताया है कि शब्द विशेष का प्रयोग अनेक भिन्न विचारों तथा भावनाओं को जन्म दे सकता है और सुनने वालों पर विविध प्रतिक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। कहने का आशय यह है कि एक शब्द का क्षेत्र विविधता की दृष्टि से बहुत विस्तृत होता है। परन्तु यह विस्तार तभी तक रहता है जब तक वह शब्द अकेला हो। जैसे ही उसे एक वाक्य में, या कहीं और

रख दिया जाता है, उसका क्षेत्र वैविध्य तुरन्त संकुचित हो जाता है। इस प्रकार से उसने शब्द, अर्थ तथा उनसे व्यंजित प्रवृत्ति का महत्व स्वीकार किया है।[1] भाषा के विषय में रिचर्ड्स ने बताया है कि उसके दो बिल्कुल भिन्न प्रयोग होते हैं। परन्तु चूँकि भाषा सिद्धान्त के अध्ययन का विषय अत्यन्त उपेक्षित रहा है, इसीलिए प्रायः उन्हें ठीक से पहचाना नहीं जाता। भाषा की बात करते हुए उसने कहा है कि सुसम्बद्ध शब्दों द्वारा निर्मित छन्दबद्ध काव्य भाषा गद्य से अधिक प्रभावपूर्ण होती है।[2]

समीक्षात्मक विचार:—

रिचर्ड्स की धारणा है कि जिन प्रश्नों के समाधान एक आलोचक खोजता है वे गहन होते हुए भी असाधारण रूप से दुर्बोध नहीं होते। परन्तु बहुत से मौलिक प्रश्नों, जैसे एक अनुभूति दूसरे की अपेक्षा कैसे श्रेष्ठ ठहराई जा सकती है, एक चित्र की अपेक्षा दूसरा क्यों पसन्द किया जाता है, मत वैभिन्न्य का क्या कारण होता है, जिनका उत्तर समीक्षक को देना चाहिए। उन बुनियादी सवालों के साथ आवश्यक है, जैसे चित्र क्या है, कविता क्या है, संगीत क्या है, अनुभूतियों की तुलना किस प्रकार की जा सकती है तथा मूल्य क्या होते हैं? क्योंकि ये उनके उपरान्वेषण मे सहायक होंगे। इसके बाद वह इस मन्तव्य का स्थापन करता है कि समीक्षक का कार्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।

रिचर्ड्स ने समीक्षा का सर्वप्रमुख कार्य साहित्य का मूल्य आँकना माना है। उसने बताया है कि मूल्यों का कलात्मक दृष्टि से कोई निर्धारण करना असम्भव है। वह किसी ऐसी दर्शन की विचारधारा के माध्यम से भी सम्भव है, जो किसी विशिष्ट

1. "Many arrangements of words evoke attitudes without any reference required on route. They operate like musical phrases. But usually references are involved as condition for, or stages in, the ensuing development of attitudes, yet it is still the attitudes not the references which are important. It matters not at all in such cases whether the references are true or false. Their sole function is to bring about and support the attitudes which are the further response". ("Principles of Literary Criticism", I. A. Richards, Ch. XXXIV, pp. 267-8.)

२. दे० "युगचेतना", अप्रैल, १९५८, पृ० ६४।

स्वतन्त्रता का आधार लेकर चलती है और जिसका जीवन की यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में वह वस्तु मूल्य ही है, जो समीक्षा का आधार होती है।[१०]

मनोविज्ञान का आधार लेकर रिचर्ड्स ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि पूर्ण स्वतन्त्र विचार सिद्धान्त अपने आपमें कोई महत्व नहीं रखते। उसकी आलोचना दृष्टि पर भी मनोविश्लेषण का प्रभाव स्पष्ट है। उसने "कला के लिए कला" के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है, क्योंकि उसके विचार से कला जीवन से बहुत घनिष्ठ और अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से वह जीवन पर विविध कर्मों में प्रभाव छोड़ती है।

आई० ए० रिचर्ड्स की समीक्षा पद्धति का आधार वैज्ञानिक है। उसने समीक्षा शास्त्र को एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है। उसने एक ऐसे सिद्धांत के निर्माण की आवश्यकता पर बहुत अधिक गौरव दिया है, जिसके आधार पर विविध साहित्यिक मूल्यों को निर्धारित किया जा सके। यदि ऐसा नहीं होगा तो कई प्रकार से हानि होने की आशंका है। उदाहरण के लिए इसके अभाव में मर्यादित और सम्पूर्णात्मक समीक्षा की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। और ऐसा सिद्धांत इतना विस्तृत क्षेत्रीय होना चाहिए, जो सामान्य रूप से विविध साहित्यिक या कलात्मक मूल्यों के निर्माण कार्य में सहायक हो सके। क्योंकि जब तक ऐसा न होगा तब तक अनेक विरोधी आक्रमणों से विविध स्थापित मान्यताओं को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। आदर्शात्मक धारणाओं तथा सामान्य मानव रुचि के बीच का जो भेद है, वह भी तभी समाप्त हो सकता है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रिचर्ड्स की आलोचना दृष्टि पर मनोविश्लेषण शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि उसकी समीक्षा प्रणाली का स्रोत भी मनोविश्लेषण शास्त्र में निहित था। और यह एक महत्वपूर्ण बात है कि मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्षों का आधार लेकर चलने से समीक्षात्मक विकास की सम्भावनाओं में वृद्धि भी हुई। इसका स्थूल रूप से एक कारण यह भी था कि इसके फलस्वरूप समीक्षा क्षेत्र में उन असंकोचशील समस्याओं का

१०. दे "युगचेतना", मार्च १९५९, पृ० ६४।

अतिक्रमण हुआ, जिनके कारण उसका रूप वेराबद्ध हो गया था और जो रूढ़िगत मान्यताओं के अंध अनुकरण के कारण उससे छुटकारा नहीं पा रही थी।

दर्शन तथा धर्म आदि की रूढ़िगत मान्यताओं को रिचर्ड्स ने काव्य विरोधी माना है। काव्य, शब्द निर्मित एक ऐसी वस्तु है, जिसकी वैज्ञानिक यथार्थता की परख की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही यह एक सामान्य बात है कि काव्य की यथार्थत्मकता अनिवार्य रूप में आवश्यक नहीं है। वास्तव में संसार में विज्ञान की सहायता से ज्ञान का स्पष्टीकरण इतने विस्तृत रूपीय प्रकारों से हुआ है कि अब काव्य को केवल कल्पनात्मक सूत्रों का जाल मानना अनुचित है। अब काव्य के लिए अनिवार्य रूप में यथार्थत्मिक तत्वों को समावेशित करने की मान्यता परिवर्तित हो चुकी है। रिचर्ड्स ने कवि के वर्णन क्षेत्रीय स्वातन्त्र्य तथा प्रासंगिक तत्वों के काव्य में समावेश पर भी विचार किया है।[1]

रिचर्ड्स ने एक अच्छे आलोचक की तीन योग्यताएँ बतायी हैं। एक, आलोचक में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह विश्लेषण कृति में निबद्ध अनुभूति और उसके स्वरूप की परीक्षा कर सके। दो, उसमें उसकी सफलता का निर्णय करके उसके सापेक्ष मूल्य का निर्धारण करने की योग्यता होनी चाहिए। और तीन, उसे मूल्यों का ठोस और गम्भीर निर्णायक होना चाहिए तथा मूल्यांकन के व्यापक दृष्टिकोण की चेतना होनी चाहिये क्योंकि तभी वह मूल्यांकन का कार्य समुचित रूप से कर सकेगा।

1. "A poet may distort his statements, he may make statements which have logically nothing to do with the subject under treame treatment, he may by metaphor and otherwise, present objects for thought which are logically quite irrelevent, he may properate logical nonsense, be as trivial and as silly, logically as it is possible to be, all in the interests of the other function of language—to express feeling or adjust tone or further his other intension. If his success in these other aims justify him, no reader can validly say anything against him". ("Practical Criticism", I. A. Richards, pp. 187-88.)

प्रासंगिक रूप से रिचार्ड्स ने यह आशंका प्रकट की है कि भविष्य में साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता जायगा और काव्य मृतप्राय। उसने यह भी बताया है कि आगे चलकर साहित्य अधिक दुरूह होता चला जायगा और जहाँ तक काव्य भाषा के अधिक प्रभावपूर्ण होने की बात है, उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह प्रभाव अर्थ के घनत्व से आगृहीत है। उसके कहने का आशय यह है कि केवल शब्दों की सहायता से बहुत सरल और साधारण विचार ही समझाये जा सकते है। परन्तु चूंकि वैचारिक जटिलता क्रमशः बढ़ती जाती है, अतः विचारों के प्रेषण के लिए कठिनतर प्रतीक प्रयुक्त करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से उसमें दुरूहता अनिवार्य हो जाती है, जिसकी और आगे चलकर वृद्धि होती जाती है।[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है रिचर्ड्स ने भविष्य में साहित्य के दुरूह हो जाने और क्षेत्र संकोच की आशंका प्रकट की है। वह जीवन का साहित्य से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। उसने अनुमान लगाया है कि भविष्य में साहित्य क्षेत्र का विस्तार इसलिए कम हो जायगा, क्योंकि उसकी रचना का आधार ऐसी अनुभूतियाँ होंगी, जो सामान्य जीवन से भिन्न होंगी।

टी० एस० इलियट

प्रमुख समीक्षात्मक विचार :—

टी० एस० इलियट के समीक्षात्मक विचार भी प्रासंगिक रूप से उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं, जहाँ पर उसने यूरोपीय साहित्य के विविध अंगों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। यों, यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इलियट के इस प्रकार के विचारों का महत्व उसके अपने साहित्य के सन्दर्भ में भी निर्विवाद है। इलियट ने एक बहुत महत्वपूर्ण युगीन साहित्यिक समस्या की ओर संकेत किया है। आजकल बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जहाँ एक ओर वैशिष्ट्य की प्रवृत्ति को

१. दे. "युगचेतना", मार्च १९५९, पृ० ६४।

प्रोत्साहन मिल रहा है वहां दूसरी ओर वैविध्य की ओर भी साहित्यकारों का झुकाव दिखायी देता है। एक क्षेत्रीय साहित्यकार के दूसरे क्षेत्रों में रचनात्मक प्रयासों के मूल में यही प्रेरणा विद्यमान रहती है। इसीलिए उसने परम्परानुगामिता की प्रवृत्ति की दुरूहता की ओर संकेत किया है।[1]

उपर्युक्त प्रवृत्ति पर इलियट ने दूसरे दृष्टिकोण से अपने विचार प्रकट किये हैं। उसने बताया है कि किसी कवि द्वारा प्रतिपादित समीक्षात्मक सिद्धान्त वैचारिक पूर्णता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से तो महत्व रखते ही हैं, साथ ही उस विशिष्ट कवि द्वारा रचे गये क्रियात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भी वे महत्वहीन नहीं होते। इसका कारण यह है कि किसी भी कवि की विचारधारा की एक निजी आधार भूमि होती है। इसी आधार भूमि पर उसका वह दृष्टिकोण निर्मित होता है, जो उसके क्रियात्मक साहित्य में समावेशित लगता है। दूसरे शब्दों में, अपने दृष्टिकोण को वह अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त करता तथा उसका पुष्टीकरण करता है। ठीक इसी प्रकार से जब वह कवि कोई समीक्षात्मक अंश रचता है, तो उसमें भी उससे दृष्टिकोणगत एकता रहती है।[2]

इसी तथ्य को एक दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। वह इस प्रकार से जब काव्य तथा समीक्षा इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार अपने एक ही विशिष्ट दृष्टिकोण को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है, तो उसे एक ही रूप में अधिक मान्यता नहीं मिलती, वरन् दोनों रूपों से उसका महत्व समान रहता है। इस प्रकार से कोई

1. "Tradition and the Individual Talent", T. S. Eliot.
2. "The critical mind operating in poetry, the critical effect which goes to writing of it, may always be advance of the critical mind operating upon poetry whether it be one's own or some one's else. I only affirm that there is significant relation between the boet poetry and the best criticism of the same period contemporary poet who is not merely a composer of graceful verses is forced to ask himself such questions as "What is poetry for not merely what am I to say but rather how and to whom I am to say it".

भी जागरूक साहित्यकार अपने युग की चेतना की निर्मिति में यदि अपनी कविता द्वारा योग देता है, तो उसका समीक्षात्मक साहित्य भी उसे अनिवार्य रूप में प्रभावित करता है। यह एक विचित्र सत्य है कि इलियट का यह विचार स्वयं उसके ऊपर भी समान रूप से लागू होता तथा इस प्रकार से पुष्ट होता है। क्योंकि इलियट ने आधुनिक साहित्य जगत को अपने काव्य से जितना प्रभावित किया है, कम से कम उतना ही अपने समीक्षात्मक विचारों से भी।

इलियट द्वारा उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन एक और युगीन समस्या की ओर संकेत करता है। आधुनिक युग में बहुधा कविगण किसी न किसी मत वाद के पोषक होते हैं और इनका काव्य उस मत वाद के वैचारिक प्रचार का एक माध्यम होता है। ऐसी स्थिति में जब विपक्षी समीक्षक कभी-कभी इनके साहित्य का मूल्यांकन निष्पक्ष भाव से नहीं कर पाते, तब एक प्रकार का वैचारिक साहित्यिक युद्ध सा होने लगता है। उपर्युक्त संकेत द्वारा इलियट ने क्रियात्मक साहित्यकारों के लिए एक आवश्यक योग्यता की शर्त भी लगायी है। एक साहित्यकार यदि युगीन जन चेतना से अपनी भिज्ञता तथा उसके प्रति जागरूकता का परिचय देते हुये कोई मौलिक काव्य रचना कर सकता है, तो उसमें यह सामर्थ्य भी होनी चाहिये कि अपने काव्य में प्रतिपादित विचारों का पुष्टीकरण वह अपने समीक्षात्मक साहित्य के माध्यम से भी कर सके।

टी० एस० इलियट ने एक और विशिष्ट तथ्य की ओर संकेत करते हुये बताया है कि परम्परा का अनुगामी होना स्पष्ट और निश्चित रूप से रूढ़िवादी होना नहीं है। उसका विचार है कि हमारी प्राचीन परम्पराएँ हमारे भावी विकास की आधारभूमि होती हैं और इस प्रकार हमारे वर्तमान को प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार से हमारी वर्तमान दृष्टि अतीत की उपलब्धियों का मूल्यांकन करती है। इससे इतना तो कम से कम निष्कर्ष निकल ही आता है कि अतीत की परम्पराओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है।

अपने "दि फंक्शंस आफ क्रिटिसिज्म"[1] शीर्षक निबन्ध में इलियट ने बताया है कि अन्ततः समीक्षा की कौन सी प्रणालियाँ उत्कृष्ट और कौन सी निकृष्ट प्रमाणित

1. "On Poetry and Poets", T. S. Eliot, 1957, p. 103.

होती हैं। उसका विचार है कि उचित समीक्षा का मुख्य उद्देश्य हम में एक ऐसी दृष्टि निर्मित करना है, जो हमें साहित्य अध्ययन और रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न कर सके।

इलियट ने यह बात स्वीकार की है कि प्रत्येक नया युग अपने साथ मूल्यगत क्रान्तिकारी परिवर्तनों की उद्भावना की प्रवृत्ति लाता है।[१] इस मूल्य परिवर्तन और मान निर्धारण के अनुसार ही उस युग की उपलब्धियों का लेखा जोखा बनाना सम्भव है। जहाँ तक अंग्रेजी समीक्षा के विकास का सम्बन्ध है, इलियट ने उसका आरम्भ कालरिज के समय से माना है।

इलियट ने बताया है कि नाटक की रचना करते समय गद्य का ही प्रयोग करना उचित है, पद्य का नहीं। काव्य के नाटक में समाविष्ट हो जाने से वह अपने मूल उद्देश्य से हट भी सकता है। उसका विचार है कि नाटक के प्रयोजन और विश्लेषण के सन्दर्भ में भाषा के प्रश्न गौण होते हैं। क्योंकि तथ्य यह है कि वे केवल एक माध्यम हैं। उसका विचार है कि या तो नाटक में माध्यम गद्य होना चाहिए और या पद्य। उसमें इन दोनों का सम्मिश्रण यथासम्भव नहीं होना चाहिए। उसके अनुसार सामान्य रूप से कविता में सरलता के साथ ही साथ उच्चता का गुण होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार से काव्य में कल्पना का प्रयोग तो ठीक है, परन्तु वह अतिशयता से नहीं होना चाहिए। कुल मिला कर वैशिष्ट्य स्वयं एक बड़ा गुण है।

इस प्रकार से इलियट की वैचारिक मान्यताएँ वर्तमान यूरोपीय साहित्य के सन्दर्भ में विशिष्ट रूप से महत्त्व की हैं, क्योंकि उनकी प्रशस्ति में वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कार्यशील रही हैं।

ई० एम० फार्स्टर

प्रमुख विचार :—

यूरोप के समीक्षकों में ई० एम० फार्स्टर का अपना स्थान है। फार्स्टर के समीक्षात्मक विचार भी अधिकांशतः कथा साहित्य के सन्दर्भ में ही अभिव्यक्त किये गये हैं। उसने साहित्य के इस अंग के विषय में विचार करते हुए अरस्तू के विचारों को भी ध्यान में रखा है। उसने लिखा है, "अरस्तू का कथन है कि पात्र हमें गुण देते हैं,

किन्तु व्यवहार में हम आल्हादित या विक्षुब्ध ही होते रहते हैं।" हम यह निर्णय कर चुके हैं कि अरस्तू भूलता है और अब हमें उस विरोध के परिणाम का साक्षात् करना चाहिए। अरस्तू कहता है कि समस्त मानवीय सौख्य तथा पीड़ा उस अदृश्य जीवन में समाविष्ट रहती है, जिसे हम व्यतीत करते हैं और जिसका उपन्यासकार अपने चित्रणों से स्पर्श करता है, यह हम जानते भी हैं। अदृश्य जीवन से हमारा आशय उस जीवन से है, जिसका बाह्य प्रमाण हमारे पास नहीं रहता। हमारा आशय किसी अश्लील जीवन से नहीं, वरन् उस जीवन से है जिसका व्यक्तीकरण किसी अवसर विशेष या शब्द अथवा उच्छ्वासों से होता है। परन्तु शब्द या उच्छ्वास भी उतने ही प्रामाणिक हैं जितने कि भाषण या हत्या। ये जिस जीवन की अभिव्यक्ति करते हैं। वह जीवन से व्यवहार की ओर बढ़ता है। किसी प्रकार अरस्तू को विषय समय नहीं मिला। उसने कुछ उपन्यास पढ़े अवश्य थे, परन्तु आधुनिक नहीं। वह स्वभावतः ही गौणता से विक्षुब्ध सा था और वास्तव में वह मानवीय मस्तिष्क को एक ऐसी परख नहीं समझता था, जिसमें डालकर उसकी सारी बातों का पर्यवेक्षण हो सके और जब उसने उपर्युक्त शब्द कहे होंगे, तब उसके मस्तिष्क में नाटक रहा होगा जिसके विषय में वे निस्सन्देह सच भी हैं। नाटक में प्रत्येक मानवीय सौख्य या पीड़ा कार्य रूप ग्रहण करती है और उसे ग्रहण करना चाहिए भी, अन्यथा वह अज्ञात ही रह जायगी। बस नाटक तथा उपन्यास में यही अन्तर है।"[1]

फार्स्टर ने यह माना है कि उपन्यास आधुनिक युग में एक सशक्त और व्यापक माध्यम है। उसका विचार है कि उपन्यासकार का स्थान एक प्रकार से सर्वज्ञ जैसा होता है जिसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। उपन्यास की यह विशेषता है कि उसमें लेखक अपने पात्रों के विषय में बात कर सकता है और उनकी वार्ता के समय हमारे सुनने का आयोजन भी कर सकता है। वह आत्मश्लाघा को छू सकता है और उस स्तर से गहराई में जाकर उप चेतना का संसर्ग पा सकता है। वास्तव में कोई अपनी अन्तर प्रज्ञा से बात नहीं करता। सुख या दुख की जो अज्ञात अनुभूति उसे होती है वह उन कारणों तक पहुँच जाती है जिसे वह स्वयं व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि जैसे ही वह सुख या दुख की इन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति के स्तर तक ले जाता है वे अपनी

1. "Aspects of the Novel", E. M. Forester, p. 80.

मौलिक प्रतिभिज्ञा को देते हैं। यहाँ उपन्यासकार के लिए खींचातानी सी होती है। वह उप चेतना के मँडराते अस्तित्व को सीधे व्यवहार में ला सकता है जैसा कि एक नाटककार भी कर सकता है तथा वह इसे स्वगत भाषण से भी सम्बद्ध दिखा सकता है। वह गोपनीय जीवन पर अधिकार रखता है। लेखक ने अपने मूल तत्व को कैसे जाना वह इस लक्ष्य पर अटल नहीं रहा, वह अपने उद्देश्य से हट रहा है, आदि प्रश्न बहुत कुछ न्यायालय की सी प्रवृत्ति रखते हैं। पाठक को जिस बात से मतलब है वह यह है कि क्या गोपनीय जीवन तथा मनोवेगों का बदला जाना अपराध है।

उपन्यास कला तथा उपन्यास के मूल तत्वों आदि का विवेचन करते हुए फार्स्टर ने साहित्य के विविध पक्षों पर भी महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उसने लिखा है कि अधिकांश साहित्यिक कृतियों में दो तत्व होते हैं, मानवीय चरित्र तथा कला। अब हम एक ऊँचे पक्ष कथानक को लेते हैं। कथानक न्यून पात्रों की जगह बृहद् समुदाय को लेकर चलता है। वे कलुषित तथा अप्रपंची भी होते हैं। उनका पौन भाग सागर में तैरते हिम पर्वत की तरह अन्तरस्थ रहता है। उनमें अरस्तू द्वारा वर्णित तीनों असाधक तत्वों का समावेश रहता है। अब इन तत्वों का उन्मेष और आविपत्य हो जाता है तब इनका फल एक ऐसा उपन्यास होता है जिसे असल में नाटक होना चाहिए था किन्तु उसे सामान्य उत्तेजना नहीं मिलती। वे उपन्यास मौन बैठ जाते हैं या कुछ लोग बखेड़े उठाया करते हैं और कथानक जन जीवन की उत्तेजना से शून्य रह जाता है। केवल यह कहने से काम नहीं चल सकता कि व्यक्तिवाद एक आवश्यक गुण है। वास्तव में मेरी स्थिति व्यक्तियों पर ही निर्भर है, यह मैंने स्वच्छन्दता से स्वीकार किया है। फिर भी यह पर्याप्त है कि वे सीमाएं होती हैं और उन्हें अब पार किया जा रहा है। पात्रों की बहुलता नहीं होनी चाहिए तथा उन्हें उठने बैठने दौड़ने में समय नहीं नष्ट करना चाहिए। उन्हें कुछ देना ही चाहिए, अन्यथा मनोरंजन समाप्त हो जायगा।

उपन्यास के प्रधान तत्व कथानक की परिभाषा-व्याख्या करता हुआ फार्स्टर कहता है कि कथानक भी घटनाओं का लेखा है। इसमें मुख्यता कारणों की होती है। "राजा की मृत्यु पर रानी का शोक" एक कथानक है। समय का लेखा इसमें सुरक्षित है। किन्तु साधारणता का ध्यान इसे छिपा लेता है। इसी प्रकार रानी की मृत्यु होती है कोई कारण नहीं जानता। अब तक यह पता नहीं चल जाता कि राजा की मृत्यु के शोक के कारण ही ऐसा हुआ। यह एक कथानक है, जिसमें भेद है तथा यह एक ऐसा रूप भी है जिसे विस्तार दिया जा सकता है। यह समय सोच विचार को समाप्त कर

सकता है। यह कहानी कि इतनी दूर चला जाता है जितनी दूर उसकी सीमा स्वीकृति देती है। यदि यह घटना किसी कथा के अन्तर्गत हो तो हम कहेंगे "तब फिर" यदि यह घटना किसी कथानक में हो तो कहेंगे "क्यों" ? उपन्यास के दो मौलिक पक्षों में वही एक भेद है। कथानक कन्दारकों के आदिवासियों, विलासी सुलतानों अथवा आधुनिक वंशज छाया वाद की जनता को नहीं सुनाया जा सकता। उन्हें केवल जाग्रत रखा जा सकता है और तब वे अपना कुतूहल उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु एक कथानक प्रतिभा तथा स्मरण शक्ति की भी अपेक्षा रखता है।"[1]

फार्स्टर के विचार से कुतूहल मानवीय मस्तिष्क में सबसे छोटी शक्ति है। दैनिक जीवन में आप देखते हैं कि जब लोग आश्चर्य चकित होते हैं तब प्रायः उनका स्मरण उथला और अन्त में निष्प्रयोजन हो जाता है। वह व्यक्ति जो आरम्भ में ही आपके भाई बहिनों की संख्या पूछता है, कभी सहानुभूतिपूर्ण नहीं हो सकता और यदि एक वर्ष के उपरान्त वह फिर आपसे मिले तो सम्भवतः फिर पूछेगा कि आपके कितने भाई या बहिनें हैं। उसका मुँह फिर से उठकर कपिता तथा उसकी आँखें फिर से उग सी उठेंगी। ऐसे आदमी से मित्रता करना कठिन है। इसलिए भी कि दो कठोर व्यक्तियों का मित्र होना असम्भव होना चाहिए। कुतूहल स्वयं हमें एक छोटी पगडंडी तक ले जाता है, वह हमें उपन्यास में किसी दूरस्थ सीमा तक नहीं ले जा सकता। उसकी पहुँच केवल कहानी तक है। यदि हम कहानी को ग्रहण करना चाहें तो उसमें प्रतिभा तथा स्मरण शक्ति का भी हमें योग देना चाहिए।[2]

फार्स्टर के सिद्धान्तों के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसने प्रतिभा को प्राथमिकता दी है और उसे ही सर्वोपरि माना है। उसने लिखा है कि "एक प्रतिभा सम्पन्न उपन्यास पाठक जो एक कौतूहल प्रधान पाठक से भिन्न होता है मस्तिष्क से उसे ग्रहण कर लेता है। वह उसे दो दृष्टियों से देखता है। प्रथम रूप से तथा पूर्व पृष्ठों में पढ़े हुये तथ्यों के सम्बन्ध रूप से। सम्भवतः वह उसे समझ नहीं पाता है परन्तु वह ऐसा करने का एकाएक निश्चय भी नहीं कर लेता। किसी सुसंगठित उपन्यास के तथ्य किसी अहंवादी के समान किसी पत्र व्यवहार जैसी प्रकृति के होते हैं

१. दे० "आधुनिक साहित्य", डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३९।
२. वही, पृ० ३४।

और एक दर्शक पाठक उसकी झलक तब तक नहीं पा सकता जब तक वह उसके अन्तिम सिरे के पास एक पहाड़ी पर नहीं बैठता। आश्चर्य या गोरखधन्धों का यह तत्व जो कभी कभी निर्व्याज रूप से "जासूसी" कह दिया जाता है कथानक में बड़ा महत्वपूर्ण होता है। इसका जन्म समय के रहोबदल से होता है और जटिलता से घटित होता है, जैसे "रानी का देहावसान क्यों हुआ" अत्यधिक जटिलता, अर्ध अनुमानित विचार तथा शब्दों में इसका वास्तविक अर्थ कई कुछ आगे पीछे गौण रहता है। यह [illegible] कथानक के लिए अत्यन्त आवश्यक है और प्रतिभा के अभाव में यह प्रशंसनीय भी नहीं है।[1]

प्रतिभा के बाद फार्स्टर ने स्मृति की बात की है। उसने बताया है कि स्मृति तथा प्रतिभा का निकट सम्बन्ध है। इसलिये हम प्रतिभा के अध्ययन के बिना उसे नहीं समझ सकते। यदि रानी की मृत्यु तक आते आते हम राजा के अस्तित्व को भुला दें तो यह जानना हमारे लिये सम्भव नहीं होगा कि रानी की मृत्यु कैसे हुई। कथानक हमारे ध्यान की अपेक्षा करता है और हम उससे यह अपेक्षा करते हैं कि वह [illegible] स्पष्ट करे। किसी कथानक की प्रत्येक गति या शब्द की गणना होनी चाहिये और यहाँ तक कि जटिल होते हुये भी उसमें अलौकिकता या रहस्यात्मकता हो, किन्तु वह पथ भ्रान्त न हो। और वह जैसे जैसे अनावृत होगा, पाठक की स्मृति उस पर मंडरायेगी तथा प्रज्ञा, विचार और योजना, नवीन समस्याएँ, कारण तथा परिणाम की शृंखलाएँ, अन्तिम चेतन समस्या या शृंखलाबद्ध नहीं, प्रत्युत सौन्दर्यपूर्ण महान् तथा ऐसा होगा जिसे उपन्यासकार ने एकाएक प्रदर्शित किया हो, किन्तु यदि यह सीधे सादे रख दिया जाता तो कभी सुन्दर न होता। [illegible] में यहाँ हम पहली बार सौन्दर्य तक आये हैं। सौन्दर्य उपन्यास का लक्ष्य कभी नहीं होना चाहिये, यद्यपि उसके अभाव में उपन्यासकार असफल रहता है। वह सौन्दर्य को बाद में यथा योग्य देता है, इस बीच सौन्दर्य को सम्पूर्ण कथानक का ही एक भाग समझना चाहिये।

इस प्रकार से उपन्यास कला और उसके प्रमुख तत्वों पर विचार करता हुआ फार्स्टर अन्त में इस निष्कर्ष पर आता है कि अब "कथानक ही तार्किक-बौद्धिक दृष्टि से उपन्यास है। उसमें रहस्य होना चाहिये, परन्तु बाद में उसका निराकरण भी होना

१. दे० "आधुनिक साहित्य", डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३८

चाहिये । पाठक अनभिज्ञ विश्व में भले ही भटकता रहे, किन्तु लेखक तो उसे पथ भ्रान्त नहीं करता । वह अपने कार्य का विषय अनुभवी तब कहा जायगा, जब एक प्रकाश की किरण यहाँ तथा एक कहानी चुटकी वहाँ लेते हुये वह अपने समृद्ध पात्रों से बात करेगा जिनकी रचना उसने सुन्दरतम की हो । वह कल्पना में अपनी पुस्तक की रचना कर लेता है, वह उसके ऊपर रखता है तथा वह अपनी रुचि और परिणाम से एक पूर्व निश्चय कर लेता है ।

बीसवीं शताब्दी में जो अंग्रेजी समीक्षा लिखी गई है उसको देखने पर यह ज्ञात होता है कि वह उन्नीसवीं शताब्दी में हुई उपलब्धियों द्वारा विशेष रूप से प्रभावित हुई । उन्नीसवीं शताब्दी में समीक्षा के क्षेत्र में यों भी विशेष रूप से गतिशीलता रही थी । बीसवी शताब्दी में जहाँ एक ओर पिछली शताब्दी से पर्याप्त वैचारिक प्रभाव ग्रहण किया गया वहाँ दूसरी ओर अनेक मान्यताओं का विरोध भी किया गया । इस शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा की विशेषता यह है कि इस शताब्दी में एक प्रकार की वैचारिक नवीनता की भावना अधिक व्यापक रूप से मिलती है । इस युग के प्रायः सभी उच्च कोटि के चिन्तकों के समीक्षा साहित्य में जो लेखक आते हैं, उनके विचारों में यही विशेषता मिलती है । मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टर पेटर, जार्ज सेंट्सबरी, टी०एस० इलियट, एडमन गास सिडनी कालविन, ए०स० ब्रैडले तथा सी०एच० हारफाई आदि जो भी समीक्षक हैं, उन की विचारधारा में नवीनता की ओर झुकाव दिखाई देता है । यद्यपि यह समीक्षक भी पूर्ववर्ती समीक्षा सिद्धांतों का विरोध नहीं करते पाए और अधिकांशतः परम्परावादी ही रहे । परन्तु फिर भी इन विचारकों के दृष्टिकोण में नवीनतर तत्व समावेशित दिखाई देते हैं ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की उपर्युक्त परम्पराएँ प्राचीनता तथा महत्व की विशदता की दृष्टि से विशिष्ट हैं । प्रायः चौथी शताब्दी ई० पू० से लेकर लगभग ढाई हजार वर्षों तक इसका प्रसार मिलता है । प्राचीन यूनानी विचारक प्राचीन रोमीय विचारक मध्य कालीन एवं आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के विचारकों ने इसके विकास में योग दिया । साहित्य के प्रत्येक अंग और तत्व से सम्बन्धित व्यापक सिद्धान्तों का निदर्शन उनके दृष्टिकोण में मिलता है । पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के अन्तर्गत सैद्धान्तिक विकास का क्रम अधिकांश रूप में परम्परानुगामिता का आभास देता है । यूनानी चिन्तन की परम्परा से जितना व्यापक

प्रभाव रोमीय परम्परा ने ग्रहण किया उतना ही यूरोप की अन्य भाषाओं की परम्पराओं ने भी।

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में संकेत कर आये हैं, विभिन्न दृष्टियों से साहित्य का मूल्यांकन करने वाले सिद्धान्त पाश्चात्य विचारकों ने निर्देशित किये। स्पेन, इटली, जर्मनी, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड तथा अमेरिका आदि देशों की चिन्तन धाराओं में जहाँ एक ओर वैचारिक भिन्नता न्यूनाधिक रूप में मिलती है, वहाँ दूसरी ओर सैद्धान्तिक संयुक्तता की प्रतीति भी उनसे होती है। यही कारण है कि यूरोप की विविध भाषाओं में जो आन्दोलन वैचारिक क्षेत्र में हुए, उनका प्रसार अन्तर्महाद्वीपीय स्तर पर हुआ। आधुनिक विचारक अरस्तू, लौंजाइनस, सिसरो, होरेस, सिडनी तथा ड्रायडन आदि महान् चिन्तकों के ही सिद्धान्तों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। यह भी पाश्चात्य समीक्षा के मूल स्रोत की एकात्मकता का ही परिचायक तथ्य है, जिससे उसकी प्राचीनता और सैद्धान्तिक एकरूपता का आभास भी मिलता है।

प्राचीन संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने पर इन तथ्य की अवगति होती है कि साहित्य चिन्तन की परम्पराओं में संस्कृत का स्थान विशिष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसकी प्राचीनता वैदिक युग तक सिद्ध है। परवर्ती युगों में इसके अस्तित्व के केवल संकेत मात्र ही नहीं मिलते, वरन् इसके वैज्ञानिक स्वरूप के विकास के भी प्रमाण उपलब्ध हैं। पाणिनि और पतंजलि आदि व्याकरणिक एवं तत्व वेत्ताओं ने इसके सैद्धांतिक प्रसार की सम्भावनाओं को आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जन्म दिया था। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत भाषा की उपलब्धियाँ असाधारण हैं। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य भारतवर्ष के ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीनतम और महान् साहित्यों में परिगणित होता है। संस्कृत साहित्य के विकास के प्रारम्भ से ही साहित्यांगों में समीक्षा को विशिष्ट अंग स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रकांड पंडित राजशेखर ने समीक्षा शास्त्र का इतना अधिक महत्व प्रतिपादित किया है कि उसे वेद का सातवाँ अंग माना है।[१] वास्तव में संस्कृत साहित्य इतना प्राचीन और इतना प्रशस्त है कि यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि उसमें साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ किस काल से हुआ और उसका प्रवर्तन करने वाली विभूति कौन सी थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वेदों या संहिताओं में समीक्षा शास्त्र या उसके किसी अंग का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी कारण यह अनुमानित किया जाता है कि यद्यपि वैदिक युग में अलंकारादि का समावेश भाषा में होने लगा था, परन्तु समीक्षा शास्त्र इस शास्त्र या काव्य शास्त्र विषयक स्वतंत्र अध्ययन उस काल तक नहीं हो सका था।

१—उपाकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः ।
ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानादेवार्थानवगतिः ।। (काव्य मीमांसा)

संस्कृत साहित्य में समीक्षा शास्त्र का विवेचन उसके विविध सिद्धान्तों द्वारा होता रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि इसका प्राचीनतम नाम "क्रिया कल्प" रहा होगा।[१] "क्रिया कल्प" शब्द का अर्थ कविता का विधान है। इस सम्बन्ध मे यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह "क्रिया कल्प" शब्द अपने इस अर्थ में अधिक समय तक प्रयोग में न आ सका। दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य मीमांसा" में रस शास्त्र के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला। अनुमान लगाया जाता है कि "रस" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम "ऋग्वेद" में मिलता है। परन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वहाँ इस शब्द का प्रयोग किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिए यह कहना औचित्यपूर्ण न होगा कि वैदिक युग में रस शास्त्र का कोई अस्तित्व न था। इस प्रकार से, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहली शताब्दी से इस शास्त्र के विविध अंगों और पदों का निरूपण प्रारम्भ हुआ होगा। इसके पश्चात् संस्कृत में "अलंकार शास्त्र" का विकास हुआ जो समीक्षा शास्त्र का ही पर्याय है। भरत मुनि के समय में "अलंकार शास्त्र" को "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत समझा जाता था और उसी के एक अंग के रूप में इसे मान्यता प्राप्त थी। पाँचवी शताब्दी में वामन ने अलंकार सिद्धांत का महत्व एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के समय से ही इस शास्त्र के सम्यक् विकास की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यहाँ संक्षेप में इस शास्त्र के स्वरूप विकास में योग देने वाले तथा मान निर्धारण करने वाले आचार्यों की देन का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

भरत मुनि

रचना और काल :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थ "नाट्य शास्त्र" के रचयिता भरत मुनि हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जाता है। भरत

१—"संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ६

मुनि का "नाट्य शास्त्र" सूत्र भाष्य, कारिका तथा अनुवंश्य श्लोक इन तीन विभागों में मिलता है। अनुमान है कि इसका प्रथम विभाग बहुत प्राचीन सूत्रों का भरत द्वारा भाष्य है, द्वितीय विभाग में इस भाष्य की विस्तृत व्याख्या है और तृतीय में इनका पुष्टीकरण किया गया है। इस महान् ग्रन्थ में छत्तीस अध्याय तथा पाँच सहस्र श्लोक हैं। परवर्ती युगों में "नाट्य शास्त्र" की अनेक टीकाएँ हुईं, जिनमें से कुछ विशेष रूप से मान्य हैं।

रस विवेचन

रस का महत्व :—

भरत को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भरत के अनुसार वह वस्तु रस ही है, जिसका नाटक में प्राधान्य रहता है। भरत के "नाट्य शास्त्र" में रस की महत्ता का पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया गया है। भरत ने रसानुभूति का विश्लेषण किया है। रस की अनुभूति किसी पाठक के हृदय में किस प्रकार से नाटक देखने के पश्चात् होती है, इसका भरत ने बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाति रस निष्पत्तिः" अर्थात् विभाव अनुभव तथा व्याभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, वाले सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। भरत का विचार है कि इन तीनों के सम्मिलन से ही दर्शकों को रसानुभूति होती है।

रस का विभाजन :—

भरत ने रस को आठ भागों में विभक्त किया है, शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स तथा अद्भुत।[1] नवाँ रस उन्होंने नहीं माना है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भरत ने ये आठ रस नाटक के अनुसार ही माने हैं। यों काव्य में नौ रस माने गये हैं, जिनमें आगे चलकर दो और जोड़े गये। वे वात्सल्य और भक्ति के नाम से मान्य हुए। भरत का रस सिद्धान्त मूलतः उपर्युक्त आठ

१. शृंगारहास्य करुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। 'नाट्यशास्त्रम्' (६,१५)

प्राचीन संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने पर इन तथ्य की अवगति होती है कि साहित्य चिन्तन की परम्पराओं में संस्कृत का स्थान विशिष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसकी प्राचीनता वैदिक युग तक सिद्ध है। परवर्ती युगों में इसके अस्तित्व के केवल संकेत मात्र ही नहीं मिलते, वरन् इसके वैज्ञानिक स्वरूप के विकास के भी प्रमाण उपलब्ध हैं। पाणिनि और पतंजलि आदि व्याकरणिक एवं तत्व वेत्ताओं ने इसके सैद्धांतिक प्रसार की सम्भावनाओं को आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जन्म दिया था। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत भाषा की उपलब्धियाँ असाधारण हैं। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य भारतवर्ष के ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीनतम और महान् साहित्यों में परिगणित होता है। संस्कृत साहित्य के विकास के प्रारम्भ से ही साहित्यांगों में समीक्षा को विशिष्ट अंग स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रकांड पंडित राजशेखर ने समीक्षा शास्त्र का इतना अधिक महत्व प्रतिपादित किया है कि उसे वेद का सातवाँ अंग माना है।[1] वास्तव में संस्कृत साहित्य इतना प्राचीन और इतना प्रशस्त है कि यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि उसमें साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ किस काल से हुआ और उसका प्रवर्तन करने वाली विभूति कौन सी थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वेदों या संहिताओं में समीक्षा शास्त्र या उसके किसी अंग का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी कारण यह अनुमानित किया जाता है कि यद्यपि वैदिक युग में अलंकारादि का समावेश भाषा में होने लगा था, परन्तु समीक्षा शास्त्र इस शास्त्र या काव्य शास्त्र विषयक स्वतंत्र अध्ययन उस काल तक नहीं हो सका था।

१—उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः॥ (काव्य मीमांसा)

संस्कृत साहित्य में समीक्षा शास्त्र का विवेचन उसके विविध सिद्धान्तों द्वारा होता रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि इसका प्राचीनतम नाम "क्रिया कल्प" रहा होगा।[१] "क्रिया कल्प" शब्द का अर्थ कविता का विधान है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह "क्रिया कल्प" शब्द अपने इस अर्थ में अधिक समय तक प्रयोग में न आ सका। दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य मीमांसा" में रस शास्त्र के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला। अनुमान लगाया जाता है कि "रस" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम "ऋग्वेद" में मिलता है। परन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वहाँ इस शब्द का प्रयोग किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिए यह कहना औचित्यपूर्ण न होगा कि वैदिक युग में रस शास्त्र का कोई अस्तित्व न था। इस प्रकार से, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहली शताब्दी से इस शास्त्र के विविध अंगों और पदों का निरूपण प्रारम्भ हुआ होगा। इसके पश्चात् संस्कृत में "अलंकार शास्त्र" का विकास हुआ जो समीक्षा शास्त्र का ही पर्याय है। भरत मुनि के समय में "अलंकार शास्त्र" को "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत समझा जाता था और उसी के एक अंग के रूप में इसे मान्यता प्राप्त थी। पाँचवी शताब्दी में वामन ने अलंकार सिद्धांत का महत्व एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के समय से ही इस शास्त्र के सम्यक् विकास की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यहाँ संक्षेप में इस शास्त्र के स्वरूप विकास में योग देने वाले तथा मान निर्धारण करने वाले आचार्यों की देन का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

भरत मुनि

रचना और काल :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थ "नाट्य शास्त्र" के रचयिता भरत मुनि हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जाता है। भरत

१—"संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ६

संस्कृत साहित्य में समीक्षा शास्त्र का विवेचन उसके विविध सिद्धान्तों द्वारा होता रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि इसका प्राचीनतम नाम "क्रिया कल्प" रहा होगा।[१] "क्रिया कल्प" शब्द का अर्थ कविता का विधान है। इस सम्बन्ध मे यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह "क्रिया कल्प" शब्द अपने इस अर्थ में अधिक समय तक प्रयोग में न आ सका। दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य मीमांसा" में रस शास्त्र के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला। अनुमान लगाया जाता है कि "रस" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम "ऋग्वेद" में मिलता है। परन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वहाँ इस शब्द का प्रयोग किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिए यह कहना औचित्यपूर्ण न होगा कि वैदिक युग में रस शास्त्र का कोई अस्तित्व न था। इस प्रकार से, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहली शताब्दी से इस शास्त्र के विविध अंगों और पदों का निरूपण प्रारम्भ हुआ होगा। इसके पश्चात् संस्कृत में "अलंकार शास्त्र" का विकास हुआ जो समीक्षा शास्त्र का ही पर्याय है। भरत मुनि के समय में "अलंकार शास्त्र" को "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत समझा जाता था और उसी के एक अंग के रूप में इसे मान्यता प्राप्त थी। पाँचवी शताब्दी में वामन ने अलंकार सिद्धांत का महत्व एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के समय से ही इस शास्त्र के सम्यक् विकास की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यहाँ संक्षेप मे इस शास्त्र के स्वरूप विकास में योग देने वाले तथा मान निर्धारण करने वाले आचार्यों की देन का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

भरत मुनि

रचना और काल :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थ "नाट्य शास्त्र" के रचयिता भरत मुनि हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जाता है। भरत

१—"संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ९

मुनि का "नाट्य शास्त्र" सूत्र भाष्य, कारिका तथा अनुवंश्य श्लोक इन तीन विभागों में मिलता है। अनुमान है कि इसका प्रथम विभाग बहुत प्राचीन सूत्रों का भरत द्वारा भाष्य है, द्वितीय विभाग में इस भाष्य की विस्तृत व्याख्या है और तृतीय में इनका पुष्टीकरण किया गया है। इस महान् ग्रन्थ में छत्तीस अध्याय तथा पाँच सहस्र श्लोक हैं। परवर्ती युगों में "नाट्य शास्त्र" की अनेक टीकाएँ हुईं, जिनमें से कुछ विशेष रूप से मान्य हैं।

रस विवेचन

रस का महत्व :—

भरत को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भरत के अनुसार वह वस्तु रस ही है, जिसका नाटक में प्राधान्य रहता है। भरत के "नाट्य शास्त्र" में रस की महत्ता का पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया गया है। भरत ने रसानुभूति का विश्लेषण किया है। रस की अनुभूति किसी पाठक के हृदय में किस प्रकार से नाटक देखने के पश्चात् होती है, इसका भरत ने बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाति रस निष्पत्तिः" अर्थात् विभाव अनुभव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, वाले सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। भरत का विचार है कि इन तीनों के सम्मिलन से ही दर्शकों को रसानुभूति होती है।

रस का विभाजन :—

भरत ने रस को आठ भागों में विभक्त किया है, शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स तथा अद्भुत।[१] नवाँ रस उन्होंने नहीं माना है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भरत ने ये आठ रस नाटक के अनुसार ही माने हैं। यों काव्य में नौ रस माने गये हैं, जिनमें आगे चलकर दो और जोड़े गये। वे वात्सल्य और भक्ति के नाम से मान्य हुए। भरत का रस सिद्धान्त मूलतः उपर्युक्त आठ

१. शृंगारहास्य करुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। 'नाट्यशास्त्रम्' (६,१५)

संस्कृत साहित्य मे समीक्षा शास्त्र का विवेचन उसके विविध सिद्धान्तों द्वारा होता रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि इसका प्राचीनतम नाम "क्रिया कल्प" रहा होगा।[1] "क्रिया कल्प" शब्द का अर्थ कविता का विधान है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह "क्रिया कल्प" शब्द अपने इस अर्थ में अधिक समय तक प्रयोग में न आ सका। दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य मीमांसा" में रस शास्त्र के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला। अनुमान लगाया जाता है कि "रस" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम "ऋग्वेद" में मिलता है। परन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वहाँ इस शब्द का प्रयोग किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिए यह कहना औचित्यपूर्ण न होगा कि वैदिक युग मे रस शास्त्र का कोई अस्तित्व न था। इस प्रकार से, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहली शताब्दी से इस शास्त्र के विविध अंगों और पदों का निरूपण प्रारम्भ हुआ होगा। इसके पश्चात् संस्कृत में "अलंकार शास्त्र" का विकास हुआ जो समीक्षा शास्त्र का ही पर्याय है। भरत मुनि के समय में "अलंकार शास्त्र" को "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत समझा जाता था और उसी के एक अंग के रूप में इसे मान्यता प्राप्त थी। पाँचवी शताब्दी में वामन ने अलंकार सिद्धांत का महत्व एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के समय से ही इस शास्त्र के सम्यक् विकास की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यहाँ सक्षेप मे इस शास्त्र के स्वरूप विकास में योग देने वाले तथा मान निर्धारण करने वाले आचार्यों की देन का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

भरत मुनि

रचना और काल :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थ "नाट्य शास्त्र" के रचयिता भरत मुनि हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जाता है। भरत

१—"संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ६

मुनि का "नाट्य शास्त्र" सूत्र भाष्य, कारिका तथा अनुवंश्य श्लोक इन तीन विभागों में मिलता है। अनुमान है कि इसका प्रथम विभाग बहुत प्राचीन सूत्रों का भरत द्वारा भाष्य है, द्वितीय विभाग में इस भाष्य की विस्तृत व्याख्या है और तृतीय में इनका पुष्टीकरण किया गया है। इस महान् ग्रन्थ में छत्तीस अध्याय तथा पाँच सहस्र श्लोक हैं। परवर्ती युगों में "नाट्य शास्त्र" की अनेक टीकाएँ हुईं, जिनमें से कुछ विशेष रूप से मान्य हैं।

रस विवेचन

रस का महत्व :—

भरत को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भरत के अनुसार वह वस्तु रस ही है, जिसका नाटक में प्राधान्य रहता है। भरत के "नाट्य शास्त्र" में रस की महत्ता का पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया गया है। भरत ने रसानुभूति का विश्लेषण किया है। रस की अनुभूति किसी पाठक के हृदय में किस प्रकार से नाटक देखने के पश्चात् होती है, इसका भरत ने बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः" अर्थात् विभाव अनुभव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, वाले सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। भरत का विचार है कि इन तीनों के सम्मिलन से ही दर्शकों को रसानुभूति होती है।

रस का विभाजन :—

भरत ने रस को आठ भागों में विभक्त किया है, शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स तथा अद्भुत।[१] नवाँ रस उन्होंने नहीं माना है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भरत ने ये आठ रस नाटक के अनुसार ही माने हैं। यों काव्य में नौ रस माने गये हैं, जिनमें आगे चलकर दो और जोड़े गये। वे वात्सल्य और भक्ति के नाम से मान्य हुए। भरत का रस सिद्धान्त मूलतः उपर्युक्त आठ

१. शृंगारहास्य करुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। 'नाट्यशास्त्रम्' (६,१५)

रसों पर ही केन्द्रित है। भरत के अनुसार नाटक या काव्य में मूल और प्रधान तत्व रस ही है। उन्होंने रस को "नाट्य रस' कहा है। भरत के साहित्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

भाव वर्णन :—

भरत मुनि ने भावों का वर्णन करते हुए बताया है कि भाव उस अर्थ को कहते हैं, जो वाणी, अंग, और सात्विक भाव के अभिनय से स्पष्ट होता है। यह कवि के आन्तरिक भाव की भी प्रतीति कराता है।[1] विभाव उसे कहते हैं, जिससे वाणी, अंग, तथा अभिनय के आशय वाले अनेक अर्थ विभवित हों।[2] अनुभाव उसे कहते हैं, जिससे वाणी और अंगों के अभिनय से वाणी तथा अंगों, उपांगों से संयुक्त अर्थ अनुभावित हों।[3] भरत ने स्थायी भाव जगत् में उसी प्रकार सर्वोच्च और सर्व प्रधान माना है, जैसे पुरुषों में राजा तथा शिष्यों में गुरु।[4] इसी प्रकार से व्यभिचारी भाव वे होते हैं जो वाणी अंग, सत्व से मिश्रित को वैविध्यपूर्वक अभिमुख्य से रस में ले जाते हैं तथा सात्विक भाव उन्हें कहा जाता है, जिनके अभिनय के हेतु सत्व अभीष्ट हो। भरत ने स्थायी भावों, संचारी भावों और सात्विक भावों का भी वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय नामक आठ स्थायी भाव,[5] निर्वेद, ग्लानि शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त प्रबोध अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, तथा वितर्क नामक तेंतीस व्यभिचारी

१ विभावैनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।। (नाट्यशास्त्रम् ७,१)

२ बहवोर्था विभाव्यन्ते वागंङ्गाभिनयाश्रिताः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः । (वही ७,४)

३ वागंङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागंङ्गोपांग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।। (वही ७,५)

४ यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।। (वही ७,८)

५ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः (वही ६,१७)

भाव[1] तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथ प्रलय नामक आठ सात्विक भाव[2] होते हैं।

रस और भाव :—

इस प्रकार से इस रस के भेद, उनके स्थायी भाव, संचारी भाव और सात्विक भाव बताने के साथ ही भरत मुनि ने रस की व्याख्या करते हुए कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उन्होंने इन रसों को नाट्य रस बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि रस और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध से इनकी उत्पत्ति नहीं होती, भाव से रस की की निष्पत्ति होती है, रस से भाव की नहीं। जिस प्रकार से अनेक प्रकार के व्यंजनों के सम्मिश्रण से कोई व्यंजन स्पष्ट स्वरूप बोध करता है, उसी प्रकार से भावों के सहयोग से रस अभिव्यक्त होता है। इन दोनों का एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध सा होता है इसलिए इन्हें अन्योन्याश्रित भी कहा जा सकता है। इसी कारण न रस भाव हीन होता है, और न भाव रसहीन। ये दोनों एक दूसरे की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं।

रस की उत्पति:—

रस की उत्पति के विषय में बताते हुए भरत ने कहा है कि चार रस शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स, इनकी उत्पति के कारण हैं। इनमें से शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि शृंगार का अनुकरण हास्य माना गया है, रौद्र से करुण की उत्पति होती है क्योंकि रौद्र का कार्य करुण रस है, वीर से अद्भुत रस की उत्पति

१ निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूयामदश्रमाः। आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा। गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।
सुप्तं प्रबोधोमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता। मतिर्व्याधिरथोन्मादस्तथा मरणमेव च।

२ स्तम्भः स्वेदोऽथरोमांचः स्वरसादोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रु प्रलया इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥

होती है, क्योंकि वीर का कर्म अद्भुत है तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वीभत्स का दर्शन भयानक है।[1]

रस वर्ण :—

ऊपर बताये गये आठों रसों के वर्णों का वर्णन करते हुए मुनि भरत कहते हैं कि श्रृंगार का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत के समान, रौद्र का लाल, वीर का गोरा, भयानक का काला, वीभत्स का नीला और अद्भुत का पीला होता है।[2]

रस देवता :—

भरत मुनि ने श्रृंगार रस का देवता विष्णु, हास्य का प्रमथ, रौद्र का रुद्र, करुण का यम, वीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का महेन्द्र तथा अद्भुत का ब्रह्मा को बताया है।[3]

१ श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
श्रृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः।
रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्चभवेत् स तु भयानकः॥
(नाट्यशास्त्रम् ६,३९,४०,४१)

२ श्यामो भवेत्तु श्रृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तोरौद्रः प्रकीर्तितः।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।
नील वर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥
(वही, ६,४२,४३)

३ श्रृंगारो विष्णुदेवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवतः॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः॥
(वही, ६,४४,४५)

रस वर्णनः शृंगार :—

भरत मुनि ने रसों का वर्णन करते हुए बताया है कि शृंगार की रचना रति नामक स्थायी भाव से होती है। उसके दो भेद होते हैं, सम्भोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार। सम्भोग शृंगार में ऋतु, माला, भूषण, प्रियजन, अनुभव, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा आदि विभाव, अभिनय, कटाक्ष आदि अनुभाव तथा भय, आलस्य, उग्रता और घृणा के अतिरिक्त शेष सभी व्यभिचारी भाव होते हैं। इसी प्रकार से विप्रलम्भ शृंगार में निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, चिन्ता, उत्कंठा, निद्रा, सुप्त, स्वप्न, उन्माद, अपस्मार, जड़ता तथा मरण आदि अनुभाव होते हैं। भरत मुनि ने यह निर्देशित किया है कि इस रस का अभिनय उपर्युक्त प्रकार से करना उचित होगा। यह रस तीन प्रकार का होता है, वागात्मक, नेपथ्यात्मक तथा क्रियात्मक।

हास्य :—

हास्य रस का स्थायी भाव हास है। इसकी उत्पत्ति अव्यवस्थित वेश भूषा, चंचलता, प्रलाप, व्यंग्य आदि विभावों से होती हैं। हास्य रस के अभिनय में होंठ काटना, नाक हिलाना, दृष्टि संकोच आदि अनुभावों का प्रयोग करना चाहिए। आलस्य, अवहित्था, ऊंघ, निद्रा, स्वप्न, जागरण आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। हास्य के आत्मस्थ और परस्थ दो प्रकार होते हैं। आत्मस्थ हास्य तब होता है जब पात्र स्वयं हँसे और परस्थ हास्य तब होता है, तब वह दूसरे को हँसावे। यह रस स्त्री तथा नीच प्रकृति से युक्त लोगों में अधिक होता है। इसके छै भेदों में से प्रथम अर्थात् स्मित हास्य वहाँ होता है, जहाँ कपोल हंसते से प्रतीत हों, कटाक्ष सौष्ठवपूर्ण हों और दाँत न खुले हों, द्वितीय अर्थात् हसित हास्य वहाँ होता है, जहाँ नेत्र, मुख और गाल खिले हों, तृतीय अर्थात् विहसित हास्य वहाँ होता है, जहाँ आँख और गाल संकुचित हो, और हास्य मधुर स्वर पूरित हो, चतुर्थ अर्थात् उपहसित हास्य वहाँ होता है, जहाँ नाक फूली हो, दृष्टि कुटिल हो और कन्धा, सिर संकुचित हो, पंचम अर्थात् अपहसित हास्य वहां होता है जहाँ असमय हंसना, हंसते में रोना, कन्धा सिर हिलाना आदि हो और पृष्ठ अर्थात् अतिहसित हास्य वहाँ होता है, जहाँ आँखों में आँसू उमड़ आयें, स्वर में तीव्रता हो आदि। हास्य की तीन प्रकृतियाँ, उत्तम, मध्यम और अधम होती हैं, इन सबके योग से इसके अभिनय में पूर्णता आती है। यह रस तीन प्रकार का होता है, अंग, नेपथ्य तथा वाक्य द्वारा उत्पन्न।

करुण :—

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। इसके विभाव कलेश, वियोग, वैभव, हानि, वध, बन्धन, दुर्घटना आदि हैं। इस रस का अभिनय आँसू गिराना, मुँह फीका पड़ना,

ठंढी सांस लेना आदि अनुभावों से होना चाहिए। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, उत्कंठा, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दीनता, व्याधि, जड़ता, उन्माद, आलस्य, मृत्यु आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। यह तीन प्रकार का होता है, धर्मापघात से उत्पन्न, क्षीणता द्वारा उत्पन्न तथा शोक द्वारा उत्पन्न।

रौद्र :—

इस का स्थायी भाव क्रोध होता है। इसके विभाव अपमान, अनादर, असत्य भाषण, कठोर वचन, विद्रोह आदि हैं। इसके अनुभाव रक्तिम आँखें, टेढ़ी भौंह, दाँत पीसना, ओठ चबाना आदि तथा व्यभिचारी भाव सम्मोह, उत्साह, चपलता, उग्रता, स्वेद, रोमांच आदि होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। अंग, नेपथ्य तथा वाक्य द्वारा उत्पन्न।

वीर :—

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। इसके विभाव असंमोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, तथा प्रभाव आदि, अनुभाव स्थिरता, शूरता, धीरता, त्याग चतुरता तथा व्यभिचारी भाव धृति, मति, गर्व, वेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति तथा रोमांच आदि होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है, दानवीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर।

भयानक :—

भयानक रस का स्थायी भाव भय, विभाव विकृत आवाजों वाले पशुओं को देखना, भय, व्याकुलता आदि, अनुभाव काँपते हुए हाथ पैर, रोमांच, मुँह का रंग फीका पड़ जाना, आवाज बदल जाना आदि तथा व्यभिचारी भाव स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्पन, स्वर परिवर्तन, शंका, मोह, शून्य, भय तथा मरण आदि होते हैं। यह तीन प्रकार होता है, बहाने, अपराध और भय से।

बीभत्स :—

इसका स्थायी भाव जुगुप्सा, विभाव असुन्दर तथा अप्रिय दर्शन, श्रवण तथा कथन आदि, अनुभाव अंगों की शिथिलता, मुँह की सकीर्णता, वमन आदि, तथा व्यभिचारी भाव अपस्मार, वेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि होते हैं। बीभत्स रस तीन प्रकार का होता है, क्षोभ से उत्पन्न, शुद्ध तथा उद्वेग जनित।

अद्भुत :—

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, विभाव अलौकिक वस्तु दर्शन, मनोकामना पूर्ति, इन्द्रजाल आदि, अनुभाव आँखें फैलाना, अपलक दृष्टि से देखना, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष आदि तथा व्यभिचारी भाव अश्रु, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, आवेग, जड़ता, प्रलय आदि होते हैं। यह रस दो प्रकार का होता है, प्रथम दिव्य और द्वितीय आनन्द से उत्पन्न।

अलंकार विवेचन

उपमा :—

भरत मुनि ने अलकारों का विवेचन करते हुए बताया है कि प्रधानतः नाटक में चार अलंकार उपमा, रूपक, दीपक, और यमक होते हैं।[1] इनमें से उपमा उसे कहते हैं, जिससे काव्य में किसी वस्तु की सदृशता से उपमित किया जाय। उपमा गुण और आकृति पर निर्भर करती है। एक से एक की, अनेक से एक की, एक से अनेक की तथा अनेक से अनेक की उपमा की जानी चाहिए।[2] इनमें से चारों प्रकार का उदाहरण देने के बाद मुनि भरत ने उपमा के पाँच भेद प्रशंसा, निन्दा, कल्पित सदृशी तथा किंचित् सदृशी सोदाहरण बताये हैं।

रूपक:—

भरत मुनि ने बताया है कि जिसमें रूप का सम्पूर्णता से वर्णन हो, उसे रूपक कहते है।[3]

१. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥ (नाट्यशास्त्रम्, १७,४३)

२. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया॥
एकस्यैकेन सा कायनिके नाट्ययवा पुवः। अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा।
(वही, १७,४४,४५)

३. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्। (वही, १७, ५७)

दीपकः—

विविध विषयक शब्दावली का दीपक की तरह एक वाक्य में संयोग होने पर दीपक अलंकार होता है।[१]

यमकः —

जहाँ पर शब्दों की पुनरावृत्ति हो, वहाँ पर यमक अलंकार होता है।[२]

काव्य के दोषः—

भरत मुनि ने काव्य के दस दोष गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थ हीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायपेत, विषयम, विसन्धि तथा शब्द च्युत बताये हैं।[३] इनमें से जहाँ पर्याय शब्दों से कथन किया गया हो, वहाँ गूढार्थ, जहाँ अवर्णनीय का वर्णन हो, वहाँ अर्थान्तर, जहाँ असम्बद्ध अर्थ हो, वहाँ अर्थ हीन, जहाँ असभ्य अथवा ग्राम्यार्थ हो तथा जहाँ एक के स्थान पर दूसरा अर्थ कहा जाय, वहाँ भिन्नार्थ, जहाँ अर्थ भेद या अर्थ साम्य की उपेक्षा कर एक अर्थ कहा जाय, वहाँ एकार्थ, जहाँ वाक्यार्थ संक्षिप्त हो, वहाँ अभिलुप्तार्थ, जहाँ प्रमाण रहित कथन हो, वहाँ न्यायायेत, जहाँ छन्द दोष हो, वहाँ विषम, जहाँ सन्धि हीन शब्द हों, वहाँ विसन्धि और जहाँ अशब्द का योग हो, वहाँ शब्दच्युत दोष होता है।[४]

१. नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपतः।
   एकवाक्येन संयोगो यत्तद्दीपकमुच्यते ॥ (नाट्यशास्त्रम्, १७, ६०)
२. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।
   विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥ (वही १७, ६२)
३. अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
   न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥ (वही, १७, ८८)
४. पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम्।
   अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥
   अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सा त्वशेषार्थमेव च।
   भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥
   विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।

व्य के गुण:—

मुनि भरत ने काव्य के दस गुणों, श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति का भी उल्लेख किया है।[1] इनमें से गुण वहाँ होता है जहाँ इष्ट अर्थों से परस्पर अन्तर्सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता हो।[2] द गुण वहाँ होता है जहाँ शब्द और अर्थ के सरल संयोग होने पर भी शब्दार्थ स्फुट पाय,[3] समता गुण वहाँ होता है, जहाँ अलंकार और गुण समान रूप से शोभित हों[4] धि गुण वहाँ होता है, जहाँ उपमा द्वारा व्यंजित अर्थों का अतिसंयोग हो,[5] माधुर्य वहाँ होता है, जहाँ अनेक बार कहने सुनने पर भी किसी वाक्य से उद्विग्नता न हो,[6]

भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः
एकार्थस्याभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम् ।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ॥
न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणापरिवर्जितम् ।
वृत्त (दोषौ) भवच्छेद्यं नाम तद् भवेत् ॥
अनुप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति काशितम् ।
शब्दहीनं च विज्ञेयमसब्दस्य च योजनात् । (नाट्यशास्त्रम्, १७, ८९, ९५)

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥
(वही, १७, ९६)

२. ईप्सितेनार्थजालेन सम्बद्धानुपरस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्याभिधीयते ॥ (वही, १७, ९८)

३. अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दाऽर्थो वा प्रतीयते ।
सुख शब्दार्थ सम्बोधात् प्रसादः परिकीर्त्यते ॥ (वही, १७, ९९)

४. अन्योन्यसदृश यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
अलंकारगुणाश्चैव समासात् समता यथा ॥ (वही, १७, १००)

५. उपमास्वियहिष्टानां अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ॥ (वही, १७, १०१)

६. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यं उक्तं वापि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ (वही, १७, १०२)

ओज गुण वहाँ होता है जहाँ अनुदान होने पर भी उदारता हो,[१] सौकुमार्य गु होता है, जहाँ काव्य सुश्लिष्ट सन्धि तथा सुकुमार अर्थ युक्त हो,[२] अर्थव्यक्ति गु होता है जहाँ प्रयोग के बाद अर्थ मन में प्रवेश कर जाय,[३] उदात्त गुण वहाँ होता है सौष्ठवपूर्ण तथा अर्थ विशेष से युक्त हो,[४] तथा कान्ति गुण वहाँ होता है, जहाँ शब्द सुखकारक हो।[५]

अभिनय प्रकार :—

भरत मुनि के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं, आंगिक, वाचिक, और सात्विक। ये ही नाटक के आश्रय होते हैं।[६] इसी प्रकार धर्मी के लोक और नामक भेद बता कर भरत ने नाटक की चार वृत्तियाँ, भारती, आवन्ती, कौशिक आरमरी तथा पाँच नाट्य प्रवृत्तियाँ, आवन्ती, दक्षिणात्या, औड्मागधी, पाचाल मध्यमा बतायी है।[७]

१. अवगीताविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभावक: ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोज: परिकीर्तितम् ।। (नाट्यशास्त्रम्, १७, १०३)
२. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्ट सन्धिभि: ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ।। (वही १७, १०४)
३. यस्मार्थानुप्रवेशन मनसा परिकल्प्यते ।।
अनन्तरं प्रयोगस्य साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता ।। (वही १७, १०५)
४. अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तै: सौष्ठवसंयुतै: ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ।। (वही, १७, १०६)
५. यो मनश्श्रोत्रविषय: प्रसाद जनको भवेत् ।
शब्दबन्ध: प्रयोगेणे स कान्त इति मण्यते ।। (वही १७, १०७)
६. आंगिको वाचिकश्चैव आहार्य: सात्विकस्तथा ।।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रया: ।। (वही ६, २३)
७. लोकधर्मी नाट्य धर्मी धर्मी तु द्विविध: ।
भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ।
चतस्रो, वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

महत्व और प्रभाव :—

इस प्रकार से, ऊपर भरत मुनि के "नाट्य शास्त्र" में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस चिन्तन परम्परा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में मुनि भरत का ही नाम मान्य किया जाता है। अनुमान किया जाता है कि "नाट्यशास्त्र" एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है।[१] यह भी अनुमान किया जाता है कि पाणिनि की "अष्टाध्यायी" के एक उल्लेख के अनुसार नाटक के विधानों के संकलन "नटसूत्र" का भी उपयोग भरत के "नाट्यशास्त्र" में किया गया होगा, जिसके रचयिता शिलालि तथा कृशाश्व थे।[२] इसीलिए इस धारणा का भी प्रचार है कि भरत के "नाट्य-शास्त्र" का उपलब्ध रूप उसके मौलिक रूप से पर्याप्त भिन्न हो सकता है और इस कारण इस मूल पाठ की समस्या का समाधान कठिन है।[३] परन्तु भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में अभिव्यक्त विचारों का महत्व और परवर्ती युगों में मान्यता कितनी सिद्ध हुई, इसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है, कि उनके व्याख्याता कितने हुए और उनसे प्रभाव किन्होंने ग्रहण किया। भरत के विचारों पर मातृगुप्ताचार्य, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, हर्ष, कीर्तिधर तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की व्याख्या महत्व की समझी जाती है। इनमें अभिनवगुप्त की व्याख्या अपनी मौलिकता और सम्यक्ता के कारण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, जिसके विषय में यथा स्थान विचार किया जायगा।

अन्य आचार्य

संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस परम्परा में मुनि भरत के पश्चात् मेधावी नाम के आचार्य का नाम उल्लेखनीय है। इनके विषय में निश्चित ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधी पांचाली मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्ये प्रवृत्तयः (नाट्शास्त्रम् ६, २४. २५. २६)

१. "संस्कृत आलोचना", पं० बलदेव उपध्याय, पृ० २६० ।

२. "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय, पृ० २७० ।

3. 'History of Sanskrit Poetics', Dr. Sushil Kumar De, Vol. 1, P·23.

नहीं है। राजशेखर कृत "काव्यमीमांसा" में भी इनका उल्लेख किया गया है। उससे यह भी पता चलता है कि यह जन्म से अन्धे थे। यद्यपि इनकी रचना के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, परन्तु इनका क्षेत्र मुख्यतः अलंकार शास्त्र था। उन्होंने उपमा के सात दोषों का भी निदर्शन किया था।[१] मेधावी के साथ ही भट्टि नामक आचार्य का उल्लेख किया जा सकता है।[२] उन्होंने अपने काव्य "रावणवध" के दसवें सर्ग में अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिनकी संख्या अड़तीस है। अलंकार के अतिरिक्त उन्होंने माधुर्य गुण, भाविक, भाषा सम आदि की भी सम्यक् व्याख्या की है।

भामह

रचना और काल :—

आचार्य भामह का समय छठी शताब्दी का मध्य काल स्वीकार किया जाता है। आचार्य भामह का लिखा हुआ "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के छः परिच्छेदों में से प्रथम में काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद, द्वितीय तथा तृतीय में अलंकार, चतुर्थ में दोष, पंचम में न्याय विरोधी दोष तथा षष्ठं में शब्द शुद्धि का विवेचन किया है।

काव्य साधन :—

भामह ने बताया है कि जो व्यक्ति काव्य रचना की इच्छा रखता हो, उसे शब्द, छन्द, कोष द्वारा मान्य अर्थ, ऐतिहासिक कथाओं, लोक व्यवहार, युक्ति तथा कलाओं का मनन करना चाहिए।[३] उसे शब्द और अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर विद्वानों का

१. "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय, पृ० २७१।

२. वही, पृ० २७१।

३. शब्द श्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी॥ (काव्यालंकार १, ९)

नैकट्य प्राप्त कर ही काव्य की रचना करनी चाहिए[1] और कभी भी सदोष काव्य नहीं रचना चाहिए।[2]

काव्य लक्षण :—

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ के मिश्रण से ही काव्य का निर्माण होता है। उसके गद्य और पद्य दो भेद तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन प्रकार होते हैं।[3]

काव्य के भेद :—

भामह ने दो दृष्टियों से काव्य के भेद किये हैं। पहले उन्होंने देवादि वृत्त का निरूपण कलाबित और शास्त्राश्रित[4] तथा फिर महाकाव्य नाटक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक[5] आदि भेद किये हैं।

महाकाव्य :—

इनमें से प्रथम अर्थात् महाकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भामह ने बताया है कि महाकाव्य सर्गबद्ध, महान् का निरूपक और महान् होता है। उसमें सुन्दर शब्द सुन्दर अर्थ, अलंकार तथा सुन्दर वस्तु होनी चाहिए। उसमें पांच सन्धियाँ, मंत्र, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, होनी चाहिएँ। वह स्पष्ट और उत्कर्षशील होना चाहिए। लोक स्वभाव का वर्णन यथा विविध रस निरूपण के साथ उसमें धर्मादि वर्गों का वर्णन होना चाहिए। उसमें पहले नायक का उत्कर्ष दिखाकर उसका वध

१. शब्दाऽभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
   विलोक्याऽन्य निबन्धांश्च कार्यः काव्य क्रियादरः (वही, १, १०)
२. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
   विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ॥ (वही, १, ११)
३. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा।
   संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंशं इति त्रिधा ॥ (वही, १, १६)
४. वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्य वस्तु च।
   कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्वा भिद्यते पुनः ॥ (वही, १, १७)
५. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
   अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते ॥ (वही, १, १८)

नहीं कराना चाहिए। यदि नायक का उत्कर्ष किसी कारण से न दिखाना हो, तो उसका आश्रायण तथा स्तुति भी निरर्थक है।[1]

नाटक :—

नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भामह ने बताया है कि उसमें अभिनय योग्य वर्णन होना चाहिये तथा छिपदी ,शम्पा, रासक, स्कन्धक आदि होने चाहिये।[2] उसमे नायक के वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन होना चाहिये। वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग तथा अवसर के अनुसार भविष्यत् अर्थ निरूपण भी होना चाहिये।[3]

कथा :—

कथा की व्याख्या करते हुये भामह ने बताया है कि कथा कवि के अभिप्रायपूर्ण कथनों से युक्त होती है। उसके विषय कन्या का हरण, युद्ध तथा वियोगादि होते हैं

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत।
युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक॥
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ। (काव्यालंकार, १, १९. २३)

२. नाटकं द्विपदीशम्पारासकस्कन्धकादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तारः। (वही, १, २४)

३. प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपद वृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रंचापरवक्त्रं च काले भाव्यार्थशंसि च॥

उसमें वक्त्र, अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग तथा उच्छ्वासों का अभाव होता है। उसमें संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता है। उसमें नायक स्वयं कुलीन पुरुष होने के कारण अपना गुण वर्णन नहीं करता।[1]

गाथा :—

इसी प्रकार से गाथा की परिभाषा करते हुए भामह ने बताया है कि गाथा उसे कहते हैं जो श्लोक मात्र की प्रबन्ध रहित रचना हो। उसमें वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति आदि सभी समाविष्ट होते हैं।[2]

वैदर्भ और गौड़ीय भेद:—

वैदर्भ और गौड़ीय भेद बताते हुए भामह ने कहा है कि उन्हें पृथक् नहीं मानना चाहिए। जिसमें अर्थ पुष्ट न हो, वक्रोक्ति न हो तथा प्रसादता, सरलता और कोमलता हो, तथा जो गीत की भाँति भिन्न और सुनने में सुन्दर हो, वह वैदर्भ होता है तथा जिसमें अलंकार हो, परन्तु ग्राम्य दोष, अर्थान्वितता, आकुलता न हो वह गौड़ीय है और वैदर्भी भी इससे भिन्न नहीं है।[3]

१. कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता॥
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥ (काव्यालंकार, १, २७, २९)

२. अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥ (वही, १, ३०)

३. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलंकारवद् ग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥
(काव्यालंकार, १, ३४, ३५)

दोष वर्णन :—

सबसे पहले भामह ने नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त तथा गूढ़ शब्दों के प्रयोग रूप में सामान्य दोष बताये हैं। फिर उन्होने श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट नामक वाणी दोषों की ओर संकेत किया है। इनके अतिरिक्त भामह के विचार से अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ ससंशय, अपक्रम शब्द हीन, यति भ्रष्ट, भिन्न वृत्त, विसन्धि, देश विरुद्ध, काल विरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन, दृष्टान्तहीन आदि दोषों का भी काव्य मे निषेध करना प्रतिपादित किया है।[1]

गुण वर्णन:—

काव्य के विविध गुणों का वर्णन करते हुए भामह ने यह प्रतिपादित किया है कि श्रव्य काव्य में बड़े समासों का प्रयोग नहीं करना चाहिए तथा उनमें मधुरता और प्रसाद गुणों का सरल समावेश होना चाहिए।[2]

महत्व :—

इस प्रकार से आचार्य भामह का नाम संस्कृत साहित्य शास्त्र की उपर्युक्त परम्परा में भरत मुनि के बाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भामह का सबसे बड़ा कार्य अलंकार सम्प्रदाय का स्वतन्त्र रूप में स्थापन है। इस सिद्धान्त की परम्परा

१. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत् ।
गूढशब्दाभिधानञ्चकवयो न प्रयुञ्जयते ॥
श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ।
अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञा हेतुदृष्टांतहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ (काव्यालंकार, १. ३७. ४, १, २)

२. श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।
आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् (वही, २, ३)

के प्रवर्तन के कारण उन्हें अलंकार वर्ग का सर्वप्रथम आचार्य कहा जाता है। भामह के पश्चात् जिन आचार्यों ने इस परम्परा में अपना योग दान किया, उनमें "काव्यादर्श" के रचयिता दंडी तथा "अलंकारसारसंग्रह" के रचयिता उद्भट के नाम विशेष महत्व के है। यों इस परम्परा का प्रसार सुदीर्घ काल तक मिलता है, जिसके साथ अनेक आचार्यों का कृतित्व सम्बद्ध है।

दंडी

रचना और काल:—

सातवीं शताब्दी के आचार्य दंडी "काव्यादर्श" नामक ग्रन्थ के रचयिता थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भामह के पश्चात् दंडी का नाम लिया जाता है, यद्यपि इन दोनों आचार्यों के विषय में काल सम्बन्धी मतभेद बहुत से विद्वानों में रहा है। कुछ लोग भामह को दंडी का तथा कुछ लोग दंडी को भामह का परवर्ती मानते हैं। कुछ का यह भी विचार है कि यह दोनों आचार्य एक ही शताब्दी में हुए थे। दास गुप्ता ने अपने ग्रन्थ में इस सम्भावना का उल्लेख किया है कि भामह दंडी के पूर्ववर्ती थे। दंडी दक्षिण भारत के सिंह विष्णु नामक राजा की सभा के पंडित थे। भामह के उपर्युक्त ग्रंथ का अनुवाद तिब्बती भाषा में हो चुका है। इसके कुछ अंश कन्नड़ (भाषाकविराज मार्ग) तथा सिंघली भाषा (सिय बसलकर) में भी अनूदित हो चुके हैं। 'काव्यादर्श' नामक ग्रंथ में साढ़े छै सौ के लगभग श्लोक हैं। यह ग्रंथ चार परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम में काव्य के लक्षण, तथा भेद, रीतियों तथा गुणों की व्याख्या है, दूसरे में अर्थालंकार, तीसरे में शब्दालंकार तथा चौथे में दोषों का विवेचन किया गया है। दंडी का महत्त्व रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में भी मान्य है।

1. "Dandin had lived in all probabilty more or less in the same century as Bhamah, but there is no direct means by which we can conclusively fix the date of Dandin. On the whole the weight of evidence, though not condusive seems to tend to the conclusion that is generally adopted that Bhamah was prior to Dandin." (Das Gupta, "A History of Sanskrit Literature" Vol. 1, page 533.)

काव्य के भेद:—

दंडी ने काव्य के तीन भेद किये हैं। प्रथम छन्दबद्ध अथवा पद्य, द्वितीय छन्द हीन अर्थात् गद्यऔर तृतीय गद्य और पद्य मिश्रित् अर्थात चम्पू। पद्य में चार चरण और दो भेद जाति छन्द तथा वृत्त छन्द होते हैं।[1]

महाकाव्य:—

दंडी के अनुसार महाकाव्य उसे कहते हैं, जहाँ बहुत से सर्गों में कथा वर्णित हो। महाकाव्य का आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश द्वारा होता है।[2] महाकाव्य की रचना का आधार किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य श्रेष्ठ कथा को होना चाहिए। महाकाव्य का नायक बुद्धिमान और उदात्त होना चाहिए।[3] महाकाव्य में नगर, समुद्र पर्वत, ऋतु, तथा चन्द्रमा, सूर्य, उपवन, जलक्रीड़ा मधु पान तथा प्रेमोत्सव आदि के वर्णन होने चाहिए।[4] उसमें प्रेम विरह, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक विजय आदि के प्रसंग होने चाहिए।[5] उसमें विविध वृत्तान्त तथा विस्तृत वर्णन होने चाहिए। इसके सर्ग सन्तुलित होने चाहिए। छन्दों का चयन भी अच्छा होना चाहिए।[6] महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक भिन्न छन्द में होना चाहिए। महाकाव्य को अलंकार पूर्ण तथा लोक रंजक होना चाहिए, क्योंकि ये ही

१. पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
   पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा॥ (काव्यादर्श, १, ११)
२. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
   आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥ (वही, १, १४)
३. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
   चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् (१, १५)
४. नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रा र्कोदयवर्णनैः। उद्यानसलिलक्रीडा मधुपा नरतोत्सवैः॥
   (वही, १ १६)
५. विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
   मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥ (वही, १, १७)
६. अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
   सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः (वही, १, १८)

गुण इसके स्थायित्व में सहायक होते हैं।[१] यदि किसी महाकाव्य में उपर्युक्त गुणों में से किसी का अभाव हो, परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से वह अत्यन्त समृद्ध हो, तब भी उसे दूषित नहीं कहा जायगा।[२] महाकाव्यकार को चाहिए कि वह पहले नायक के गुणों का वर्णन करे तब उसके द्वारा शत्रु की पराजय का, क्योंकि यही रीति मनोहर है।[३] महाकाव्य मे नायक के वंश, शौर्य तथा विद्वत्ता आदि का वर्णन करने के पश्चात् उसे पराजित करने के साथ नायक के उत्कर्ष का वर्णन होना चाहिए।[४]

गद्य काव्य के भेद: आख्यायिका, कथा और चम्पू:—

दंडी के अनुसार जिस पद समूह में चरणों का अभाव हो उसे गद्य (काव्य) कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका उसे कहते हैं, जिसमें नायक के द्वारा कथा का वर्णन हो तथा कथा उसे कहते हैं, जिसमें अन्य पात्र के द्वारा वर्णन हो। नायक द्वारा कथा वर्णन में उसके स्वयं के द्वारा गुण वर्णन को दोष नहीं कहा जायगा।[५] आख्यायिका और कथा ये दोनों एक ही जाति की होने पर भी उन्हें दो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। आख्यान की अन्य जातियाँ भी इन्हीं दोनों के अन्तर्गत हैं।[६] कन्या हरण, युद्ध, प्रेम विरह आदि का वर्णन होने के आख्यायिका के जो लक्षण हैं, वे ही महाकाव्य

१. सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥ (काव्यादर्श, १, १९)

२. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः॥ (वही, १, २०)

३. गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥ (वही, १, २१)

४. वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥ (वही, १, २२)

५. नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः (वही, १, २४)

६. तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥ (वही, १, २८)

के भी होते हैं। इसीलिए इन्हें आख्यायिका के विशेष गुणों के रूप में नहीं माना जाता है।[1] गद्य और पद्य के मिश्रण से जो रचना होती है, उसे चम्पू कहा जाता है।

काव्य की रीतियाँ, गुण-बोध और हेतु:—

काव्य की रीतियाँ अनेक हैं, जिनमें पारस्परिक सूक्ष्म भेद मिलते हैं। इनमें से वैदर्भी और गौड़ी रीतियों में स्पष्ट अन्तर मिलता है।[2] वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद, मधुरता, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कन्ति तथा समाधि नामक दस गुण हैं, जिनका गौड़ी रीति में प्रायः विपर्यय मिलता है।[3]

रस पूर्ण काव्य को ही माधुर्य गुण कहते हैं। रस की स्थिति शब्द तथा अर्थ मे होती है। जब किसी शब्द समूह का उच्चारण होता है, तो उसमें समता का जो अनुभव होता है, वही अनुभव मध्य पद स्थिति से अनुप्रासयुक्त होकर रस की उत्पत्ति करता है।[4]

जब कोई कवि लोक व्यवहार का पालन करते हुए अन्य अप्रस्तुत के धर्म को किसी अन्य स्थान पर किसी वाक्यार्थ में पूर्णता से स्थापित करता है, तब उस वाक्यार्थ को समाधि गुण कहा जाता है।[5] यह समाधि गुण ही काव्य का सर्वस्व है, जिसे प्रायः सभी कवियों ने मान्यता प्रदान की है।[6]

१. कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः॥ (काव्यादर्श, १, २९)

२. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ (वही, १, ४०)

३. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥ (वही, १, ४१)

४. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥
यया कयापि श्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपादि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥ (वही, १, ५१, ५२)

५. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ (वही, १, ९३)

६. तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोपि तमेकमुपजीवति॥ (वही, १, १००)

दंडी ने बताया है कि कवियों को काव्य मर्मज्ञ होना चाहिए और उसके गुण दोषों को भली भाँति जानना चाहिए, क्योंकि जहाँ काव्य के गुण उसकी समृद्धि के कारण होते हैं, वहाँ दोष उसकी विफलता के[1] सामान्यतः काव्य के दस दोष होते हैं, निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिन्नार्थक, संशयपूर्ण, क्रमहीन, अपेक्षित शब्द रहित, यतिभ्रष्ट, असंवृत्त, संधिहीन तथा स्थान, समय, कला, लोक न्याय तथा आगम का विरोध। कवियों को इन दसो दोषों को अपने काव्य में समावेश से रोकना चाहिए।[2] दंडी ने अन्त में यह भी बताया है कि यदि कवि प्रतिभावान है तो उपर्युक्त दोष, दोष सीमा का अतिक्रमण करके दोष नही रह जाते हैं।[3] स्वाभाविक प्रतिभा, शास्त्र ज्ञान तथा कठोर अभ्यास इन्हीं से कवित्व शक्ति समृद्ध होती है।[4]

अलंकार विवेचन:—

अलंकार काव्य के सौन्दर्य कारक धर्मों को कहा जाता है।[5] अलंकारों में उत्तम अतिशयोक्ति अलंकार होता है। यह अलंकार उस स्थल पर होता है, जहाँ प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष का वर्णन लोक मर्यादा का अतिक्रमण करके किया जाता है।[6] प्रेयः अलंकार वहाँ होता है जहाँ अत्यन्त प्रीति कर भाव का वर्णन हो। रसवत् अलंकार उसे कहते हैं,

१. काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः।
   दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथा॥ (काव्यादर्श ३, ११४)
२. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
   शब्दहीनं यतिभ्रष्टं, भिन्नवृत्तं विसंधिकम्॥
   देशकाल कलालोकन्यायागमविरोधि च।
   इतिदोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः (वही, १२५, २६)
३. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कवि कौशलात्।
   उत्क्रम्य दोषगणनां गुणा वीथीं विगाहते॥ (वही, ३, १७९)
४. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥ वही, १, १०३)
५. काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते॥ (वही, २, १)
६. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
   असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥ (वही, २, २१४)

जहाँ रस से उत्पन्न आनन्द दायक भाव का वर्णन हो। इसी प्रकार से जहाँ गर्व का स्पष्टता से अभिव्यक्तीकरण हो वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार होता है।[1] श्लेष अलंकार सभी वक्रोक्तियों की शोभा में वृद्धि करता है। काव्य स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो प्रकार का होता है।[2]

महत्व :—

दंडी का स्थान प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्रियों में विशिष्ट है। उन्होंने संस्कृत साहित्य के विविध सैद्धान्तिक सम्प्रदायों में रीति मत का प्रवर्तन किया जो उनकी सबसे बड़ी देन है और उनके महत्व का मुख्य कारण है। कुछ लोगों का अनुमान है कि दाक्षिणात्य होने के कारण काश्मीर प्रधान पंडित परम्परा के अनुमोदकों ने उन्हें नहीं स्वीकार किया।[3] दंडी के सर्वप्रमुख ग्रन्थ "काव्यादर्श" पर परवर्ती युग के अनेक आचार्यों ने टीकाएँ रचीं। उनमें से तरुण वाचस्पति की व्याख्या, किसी अज्ञात आचार्य की "हृदयंगमा" तथा नृसिंहदेव शास्त्री कृत "कुसुमप्रतिभा" टीका आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उद्भट

रचना और काल :—

आचार्य उद्भट का समय अष्टम शती का उत्तरार्द्ध अथवा नवम् शती पूवार्द्ध माना जाता है। यह वामन के समकालीन थे। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अलंकार सम्प्रदाय के स्थापक के रूप में उद्भट का अन्यतम स्थान है। उनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें से प्रथम है "काव्यालंकारसार संग्रह", द्वितीय है "भामह विवरण" तथा

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
   ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्। (काव्यादर्श, २, २७५)
२. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
   भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ (वही, ३, ३६३)
३. "संस्कृत साहित्य का इतिहास," पोद्दार, खंड १, पृ० १३१।
४. "संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २६३।
५. "भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा", डा० नगेन्द्र, पृ० ६२।

तृतीय है "कुमार सम्भव काव्य।" इनमें से प्रथम सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, जिसमें उद्भट के काव्य सिद्धांतों का विवरण है। द्वितीय, भामह के ग्रन्थ की टीका है, जो उपलब्ध नहीं है, परन्तु, जिसका उल्लेख प्रतिहारेन्दुराज ने किया है। तृतीय एक काव्य है, जिसमें उद्भट ने अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये लक्षणों के उदाहरण दिये हैं।

अलंकार विवेचन :—

नाटक में नौ रस शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त होते हैं।[1] जिस काव्य में शृंगार आदि रसों का स्पष्ट उदय हो, उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। रसों का यह उदय स्वशब्द, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव से होता है।[2] इसी प्रकार से जहाँ रति आदि भावों के सूचक अनुभाव आदि द्वारा जिस काव्य की रचना हो वह प्रेय अलंकार युक्त काव्य होता है।[3] काम, क्रोध, आदि के कारण अनौचित्य में प्रवृत्त भावों या रसों की रचना ऊर्जस्वि अलंकार कहलाती है।[4] जहाँ रस भाव, रसाभास तथा भावाभास की शान्ति वर्णित हो तथा अन्य रसों के अनुभाव आदि की उपेक्षा हो, वहाँ समाहित अलंकार होता है।[5] जहाँ किसी समृद्ध वस्तु या महापुरुष का अवदान या अंगरूप वर्णन हो वहाँ उदात्त अलंकार होता है।[6]

१. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीर भयानकाः।
बीभत्साद्भुत शान्ताश्च नव नाट्ये रसा स्मृताः॥
(काव्यालंकारसारसंग्रह ४, ४)

२. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ (वही ४, ३)

३. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वादुदाहृतम्॥ (वही ४, २)

४. अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानाञ्च रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ (वही ४, ५)

५. रसाभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्। अन्यानुभाव निःशून्यरूपं यतत्समाहितम्॥
(वही ४, ७)

६. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥ (वही ४, ८)

महत्व :—

जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं, उद्‌भट की ख्याति का कारण मुख्यत: "काव्यालंकार सार संग्रह" ही है। परवर्ती काल में इस ग्रंथ की दो उल्लेखनीय टीकाएँ हुईं। पहली टीका दसवीं शताब्दी में मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दु राज ने की थी और दूसरे टीकाकार राजानक तिलक थे, जिनकी "विवृति" नामक टीका का प्रकाशन सन् १९३१ में बड़ौदा से हुआ था।[1]

वामन

रचना और काल :—

आचार्य वामन का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। यह काश्मीर नरेश जयापीड़ के मन्त्री थे। इनका लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यालंकार सूत्र" है। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें काव्य की आलोचना सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वामन का यह ग्रंथ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है और इसकी सूत्र संख्या तीन सौ उन्नीस है। वामन ने इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा उपदेश का विवेचन और रीतियों का वर्णन, द्वितीय में काव्यदोषों का विवेचन, तृतीय में काव्य गुणों का वर्णन, चतुर्थ में अलंकार वर्णन तथा पंचम में शब्द शुद्धि का वर्णन किया है। संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में वामन का रीति सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में विशिष्ट स्थान है।

काव्य और अलंकार :—

आचार्य वामन के अनुसार काव्य की शोभा अलंकार से ही होती है। "काव्य" शब्द गुण तथा "अलंकार" संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए प्रयोग में लाया जाता है। लक्षणा से केवल शब्दार्थ का बोधक समझा जाता है। उन्होंने अलंकार की परिभाषा करते हुए बताया है कि सौन्दर्य को ही अलंकार कहते हैं।[2]

१. "संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय पृ० २६३।
२. "सौन्दर्यमलंकारः।" (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, १, १, २)

काव्य का प्रयोजनः

वामन ने बताया है कि सुन्दर काव्य प्रीति और कीर्ति होने के कारण दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के फल वाला होता है।[1] इसीलिए काव्य रचना की प्रतिष्ठा यश प्राप्ति का कार्य बताया जाता है, और कुकाव्य रचना को अपकीर्ति का।[2] विद्वानों ने कीर्ति को स्वार्ग रूप फल दायिनी तथा अपकीर्ति को नरक की दूती कहा है।[3] इस प्रकार से वामन ने कवि को श्रेष्ठ काव्य रचना से कीर्ति का भागी होने को ही काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया है।

काव्य के अधिकारीः—

पहले वामन ने कवियों के दो प्रकार बताये हैं—(१) अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी।[4] इन्हें उन्होंने विवेकी और अविवेकी भी कहा है। फिर इनमें से केवल प्रथम कोटि के कवियों अर्थात् विवेकी को ही काव्य का अधिकारी प्रतिपादित किया है।[5] उन्होंने बताया है कि द्वितीय कोटि के अर्थात् सतृणाभ्यवहारी व्यक्ति शास्त्रों के पारायण से भी स्वयं को योग्य नहीं बना सकते, क्योंकि इस कोटि के व्यक्तियों में शास्त्र सफल नहीं हो सकता।

काव्य की रीतियाँः—

आचार्य वामन ने रीति का महत्व निर्धारित करते हुए बताया है कि रीति काव्य की आत्मा है।[6] रीति की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि रीति विशेष प्रकार की पद रचना होती है।[7]

१. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १, १, ५)
२. प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
   अपकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥ (वही, १)
३. कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
   अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥ (वही, २)
४. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। (वही, १, २, १)
५. पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् (वही, १, २, ६)
६. रीतिरात्मा काव्यस्य (वही, १, २, ६)
७. विशिष्ट पदरचनारीतिः (वही, १, २, ७)

रीति के भेद:—

वामन के मतानुसार रीति तीन प्रकार की होती है (१) वैदर्भी, (२) गौड़ी तथा (३) पांचाली।[१] रीतियों का यह नामकरण विदर्भ आदि देशों में आविष्कृत होने के कारण किया गया है।[२] इनमें से वैदर्भी रीति वह रीति है, जो समस्त गुणों से युक्त हो।[३] यह सभी प्रकार के दोषों से रहित और मधुर होती है। गौड़ी रीति में ओज तथा कांति गुण होते हैं।[४] उसमें समास अधिक एवं पद उग्र होते हैं। पांचाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुण रहते हैं।[५] इसके पद सुकुमार और विच्छाय होते हैं। इन तीनों रीतियो के भीतर काव्य उसी प्रकार से समाविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार से रेखाओं के बीच में चित्र की प्रतिष्ठा होती है।[६] वामन ने प्रथम अर्थात् वैदर्भी रीति को सर्वग्राह्य बताया है, क्योंकि वह समग्र गुणयुक्त होती है[७] तथा द्वितीय एवं तृतीय अर्थात् गौड़ी तथा पांचाली को अल्प गुणयुक्त होने के कारण अग्राह्य।[८] इस प्रकार से उन्होंने वैदर्भी रीति को सर्वगुण युक्त और सर्व ग्राह्य बताते हुए उसका महत्व सर्वोपरि निर्देशित किया है।

काव्य के अंग :—

वामन ने काव्य के तीन अंग बताये हैं—(१) लोक, (२) विद्या तथा (३) प्रकीर्ण।[९] इनमें से प्रथम से आशय है लोक व्यवहार,[१०] द्वितीय से आशय है शब्द स्मृति, अभिधान कोश, छन्दोविचिति, कला शास्त्र, काम शास्त्र, और दड

१. सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पांचाली चेति (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १, २, ९)
२. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या (वही १, २, १०)
३. समग्रगुणा वैदर्भी (वही, १, २, ११)
४. ओज: कान्तिमती गौड़ीया (वही १, २, १२)
५. माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पांचाली। (वही, १, २, १३)
६. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। (वही पृ० १३)
७. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् (वही १, २, १४)
८. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् (वही १, २, १५)
९. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि। (वही, १, ३, १)
१०. लोक वृत्तं लोक: (वही, १, ३, २)

नीति[1] तथा तृतीय से लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिमान तथा अवधान से आशय है।[2]

काव्य के भेद :—

वामन ने सर्वप्रथम काव्य के दो भेद किये हैं (१) गद्य तथा (२) पद्य।[3] इनमें से गद्य कवियों की कसौटी होती है।[4] गद्य के तीन प्रकार होते हैं (१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण तथा (३) उत्कलिका प्रायः।[5] इनमें से वृत्तगन्धि गद्य वह होता है, जो पद्यभाग से युक्त हो।[6] चूर्ण गद्य असमस्त और ललित पदों से युक्त होता है।[7] तथा उत्कलिकाप्राय गद्य उसे कहते हैं जो चूर्णात्मक गद्य से विपरीत होता है।[8] इसी प्रकार से सम, अर्धसम तथा विषम आदि के अनुसार पद्य के भी अनेक भेद होते हैं।[9] वह अनिबद्ध और निबद्ध दो प्रकार का होता है। वामन ने मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य का महत्व अधिक प्रतिपादित किया है।

रुद्रट

रचना और काल:—

रुद्रट का समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। यह अलंकार सम्प्रदाय के पंडित

१. शब्दस्मृत्यभिधान कोशच्छन्दोविचितिकला कामशास्त्रदंडनीति पूर्वा विद्या: (वही १, ३, ३)

२. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणणं प्रतिमानमवधानंच प्रकीर्णम्। (वही १, ३,)

३. काव्यं गद्यं पद्यंच। (वही १, ३, २१)

४. कवीनां निकषं वदन्ति (वही १, २१)

५. गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिका प्रायंच। (वही १ ३ २२)

६. पद्यभागवद् वृत्तगन्धि। (वही १, ३, २३)

७. अनाविद्धललित पदं चूर्णम्। (वही १, ३, २४)

८. विपरीत मुत्कलिकाप्रायम् (वही १, ३, २५)

९. पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नो भवति। (वही २६)

थे। उनका व्यापक प्रभाव इस शताब्दी के अन्य आचार्यों तथा परवर्ती साहित्य शास्त्रियों पर पड़ा। रुद्रट के पिता का नाम भट्ट वामुक था। वह सामवेदी ब्राह्मण थे। रुद्रट का प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यालंकार" है। यह ग्रन्थ सोलह अध्यायों में विभाजित है। इसमें आचार्य ने काव्य के स्वरूप, शब्दालकारों, अर्थालंकारों, रीतियों, वृत्तियों, रसों, दोषों तथा नायिका भेद का विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ पर परवर्ती टीकाकारों ने अनेक टीकाएँ लिखीं। इनमें से वल्लभदेव की लिखी हुई टीका उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी हुई जैन यति नमिसाधु तथा तेरहवीं शताब्दी में लिखी आशाधर की टीकाएँ उपलब्ध हैं। रुद्रट के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का प्रयोजन :—

रुद्रट के विचार से देदीप्यमान और निर्मल रचना करने वाले महाकवि सरस काव्य की रचना करके अपना तथा अपने नायक का नाम अमर कर देता है।[1] यदि सुकविगण ऐसा न करें, तो उन अमर नायकों के नाम इस संसार से शीघ्र ही मिट जायँ।[2] इसलिए अपने उपर्युक्त कार्य के कारण कवि द्वारा नायकगण अवश्य ही उपकृत होते हैं।[3] यह कार्य एक प्रकार का परोपकार है और परोपकार की महत्ता बहुत अधिक है।[4] साथ ही भक्ति रचना करने वाले कवियों की प्रत्येक कामना अवश्य पूर्ण होती है।[5] इस प्रकार से रुद्रट ने यह निर्देशित किया है कि जो कविगण अपनी प्रतिभा और क्षमता की पूर्ण सिद्धि चाहते हैं, उन्हें अनेक विषयों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए तथा

१. ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमा कल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि। (काव्यालंकार, १, ४)

२. तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम्। (काव्यालंकार, १, ५)

३. इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम्।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम्॥ (वही, १, ६)

४. अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र। (वही, १, ७)

५. अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः (वही, १, ८)

कवि को निर्दोष काव्य की रचना ही करनी चाहिए ।[१] अन्ततः ज्ञानी पुरुष वाणी के संस्कार के लिए ही प्रयत्न करते हैं और सुन्दर काव्य वाणी का ही फल है ।[२] काव्य के द्वारा उन रसिकजन को भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो नीरस शास्त्रों में कोई रुचि नहीं लेते ।[३]

काव्य के हेतु :—

रुद्रट ने बताया है कि सुन्दर काव्य रचना के लिए उसका दोष रहित एवं आलंकारिक होना आवश्यक है, और ऐसी काव्य रचना शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से सम्भव है ।[४] इसमें से प्रथम हेतु शक्ति है । इस हेतु के विद्यमान होने से स्वस्थ चित्त में स्फूर्ति होती है, जिसके कारण सार्थक वाक्य एवं पद रचना होती है ।[५] इसके दो भेद सज्जा तथा उत्पाद्या होते हैं ।[६] काव्य का दूसरा हेतु व्युत्पत्ति है, जिसका आशय है छन्द, व्याकरण, कला, आदि का विवेक पूर्ण ज्ञान ।[७] दूसरे शब्दों में, सर्वज्ञता को ही विस्तार व्युत्पत्ति कहते हैं, क्योंकि इस संसार में जितने भी वाच्य तथा वाचक हैं, वे सब

१. तदिति पुरुषार्थसिद्धि साधुविधास्याङ्गुरविकलां कुशलैः ।
   अधिगतसकल ज्ञेयः कर्तव्यं काव्यममलमलम् । (काव्यलंकार, १, १२)
२. फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः ।
   यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यकला: (वही, १, १३)
३. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
   लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः (वही, १२, १)
४. तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
   त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥ (वही, १, १४)
५. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
   अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः (वही, १, १५)
६. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
   पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥ (वही, १, १६)
७. छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थ विज्ञानात् ।

काव्यांगों की परिधि में आ जाते हैं।[१] इस प्रकार से सभी विषयों के ज्ञाता कवि सुकवि के पार्श्व में निरन्तर काव्य का अभ्यास करना चाहिए।[२]

अलंकारों का वर्गीकरण :—

रुद्रट ने अलंकारों के चार भेद किये हैं, १. वास्तव, २. औपम्य, ३. अतिशय और ४. श्लेष। शेष जितने रूपक आदि भी अलंकार हैं, वे उन्हीं के रूप होते हैं।[३]

वास्तव :—

वास्तव अलंकार उसे कहते हैं, जो किसी वस्तु का स्वरूप वर्णन करे। वह अर्थ की पुष्टि करता तथा विपरीत प्रतीति से निवृत्ति कराने वाला होता है। वह औपम्य, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है। इसके तेईस भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं:—

१. सहोक्ति, २. समुच्चय, ३. जाति, ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६. पर्याय, ७. विषय, ८. अनुमान, ९. दीपक, १०. परिकर, ११. परिवृत्ति, १२. परिसंख्या, १३. हेतु, १४. कारणमाला १५. व्यतिरेक, १६. अन्योन्य, १७. उत्तर, १८. सार, १९. सूक्ष्म, २०. लेश, २१. अवसर, २२. मीलित, एवं २३. एकावली।[४]

औपम्य :—

औपम्य अलंकार उसे कहते हैं जो किसी वस्तु के स्वरूप का सम्पूर्णता से बोध कराने के लिये उसी के समान किसी अन्य वस्तु का वर्णन प्रस्तुत करे। इसके निम्न-

युक्तायुक्त विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन। (काव्यालंकार १, १८)

१. विस्तारसस्तु किमन्यत्तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्यांगं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा। (वही, १, १९)

२. अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम्।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम्॥ (वही, १, २०)

३. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषः॥ (वही, ७, ९)

४. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूप कथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपमनतिशयमश्लेषम्॥
तस्य समुहोक्ति समुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः।
विषयानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः॥

लिखित इक्कीस भेद होते हैं, १. उपमा, २. उत्प्रेक्षा, ३. रूपक, ४. अपह्नुति, ५. संशय ६. समासोक्ति, ७. मत, ८ उत्तर, ९. अन्योक्ति, १०. प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३. भ्रान्तिमान, १४. आक्षेप, १५. प्रत्यनीक, १६. दृष्टान्त, १७. पूर्व, १८. सहोक्ति, १९. समुच्चय, २०. साम्य और २१. स्मरण ।[1]

अतिशय :—

अतिशय अलंकार, वहाँ पर होता है, जहाँ पर कोई अर्थ और धर्म नियम कहीं प्रसिद्धि के बोध से लोक का उल्लंघन कर अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो । इस अतिशय अलंकार के बारह भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं, १. पूर्व, २. विशेष, ३. उत्प्रेक्षा ४. विभावना, ५. तद्गुण, ६. अधिक, ७. विरोध, ८. विषम, ९. असंगति, १०. पिहित ११. व्याघात तथा १२. अहेतु ।[2]

श्लेष :—

श्लेष अलंकार वहाँ होता है, जहाँ अनेकार्थक पदों से किसी एक वाक्य के अनेक अर्थों की अवगति हो । इसके निम्नलिखित दस भेद होते हैं, १. अविशेष, ६. विरोध,

हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम् ।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ।। (काव्यालंकार ७, १०, ११. ११)

१. सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।।
उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ।।
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेप प्रत्यनीक दृष्टान्तः ।
सहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ।। (वही, ८, १, २, ३)

२. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययमे याति ।
कश्चित्क्वचिदितिलोकंस्यादित्यति शयस्तस्य ।
पूर्वविशेषोत्प्रेक्षा विभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाता हेतवोभेदकः ।

३. अधिक, ४. वक्र, ५. व्याज, ६. उक्ति, ७. असम्भव, ८. अवयव, ९. तत्व तथा १०. विरोधाभास ।[1]

महत्व :—

रुद्रट का स्थान संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्यों में है। उनके द्वारा रचे हुये "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ को कुछ विद्वान वैज्ञानिक और मौलिक प्रणाली से युक्त मानते हैं।[2] जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके है, रुद्रट कृत "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ की परवर्ती युग के आचार्यों द्वारा कई टीकाएँ प्रस्तुत की गयी, जिनमें से कुछ उपलब्ध भी नहीं हैं। रुद्रट की जिस मौलिक स्थापना ने परवर्ती चिन्तकों को प्रभावित किया, उसके अनुसार शास्त्रीय दृष्टिकोण से काव्य में अलंकार का स्थान सर्वोपरि है।

आनन्दवर्द्धन

रचना और काल :—

आचार्य आनन्दवर्द्धन का समय नवम् शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। वह ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में असाधारण महत्व रखते हैं। आनन्दवर्द्धन काश्मीर के अवन्ति वर्मा नामक नरेश के राजकवि थे। आनन्दवर्द्धन का ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" है, जिसमें उन्होंने काव्य शास्त्र के विविध पक्षों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने के साथ ही साथ ध्वनि सिद्धांत की प्रतिष्ठा भी की है। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि पर प्राचीन आचार्यों के विचारों की समीक्षात्मक विवेचना है, द्वितीय एवं तृतीय में ध्वनि का सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्गीकरण है तथा चतुर्थ में ध्वनि की उप-

१. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥
अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसम्भवावयवाः ।
तत्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥ (काव्यालंकार, १०, १, २)

२. "संस्कृत साहित्य का इतिहास", श्री वाचस्पति गैरोला, पृ० ९५४ ।

योगिता पर विचार किया है। इस ग्रन्थ पर परवर्ती काल में अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाओं की रचना हुई, जिनमें से सर्व प्रमुख अभिनव गुप्त लिखित "ध्वन्यालोकलोचन" है। यहाँ आनन्दवर्द्धन के प्रमुख साहित्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ध्वनि की स्थिति एवं स्वरूप विवेचन:—

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए इसके दो भेद किये हैं (१) वाच्य तथा (२) प्रतीयमान। उन्होंने ध्वनि को शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर, रमणीय काव्य में सार रूप में स्थित बताया है।[१] वाच्य वह है जो उपमा आदि अलंकारों से प्रसिद्ध है तथा प्रतीयमान वह है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में भासित होता है।[२] आनन्दवर्द्धन ने इसी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा निदेशित किया है। इसी के कारण वाल्मीकि द्वारा रचित शोक काव्य रूप में मान्य हुआ।[३] शोक करुण रस का स्थायी भाव कहा जाता है। प्रतीयमान का उपलक्षण रस भाव द्वारा ही होता है, यद्यपि उसके अन्य भेद भी है।[४] चूंकि यह प्रतीयमान अर्थ प्रतिभा सम्पन्न महाकवि ही समझ सकते हैं, इसलिए काव्य में इसी की प्रधानता रहती है। महाकवि बनने के अभिलाषी को इसी प्रतीयमान अर्थ एवं उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ शब्द को भली भाँति पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए।[५]

१. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ (ध्वन्यालोक, १, २)
२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ (वही, १, ४)
३. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ (वही, १, ५)
४. शोको हि करुणरसस्थायिभावः। प्रतीयमानस्यचान्यभेददर्शनेऽपि
   रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् (वही, ५)
५. सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
   यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ (वही, १, ८)

ध्वनि के भेद:—

अविवक्षित वाच्य या लक्षणामूला तथा विवक्षिता परवाक्य या अभि दो ध्वनि के भेद हैं। इनमें से अविवक्षित वाच्य ध्वनि दो प्रकार की हैं (१) अर्थान्तर संक्रमित तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत। उपर्युक्त में से वाच्य ध्वनि का स्वरूप दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम असंलक्षित तथा द्वितीय संलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है।[२] इनमें से रस, भाव, तथा भावशान्ति आदि अक्रम अंगी भाव से प्रतीत होकर ध्वनि की आत्म में स्थित होता है।[३]

प्रबन्ध काव्य में रसाभिव्यंजना:—

आनन्दवर्द्धन के विचार से महाकाव्य में रस के अनुसार ही औचि चाहिए, क्योंकि उसमें रस की ही प्रधानता होती है। इसी कारण से रस प्रधान को इतिवृत्ति प्रधान महाकाव्य से श्रेष्ठतर कहा जाता है। इसी प्रकार से नाटक योजना पर सर्वाधिक गौरव देना चाहिए।[४] रस औचित्य ही गद्य रचना में सघटनों का नियामक होता है, यद्यपि उसमें कोई छन्द नियम नहीं होता।[५] इस

१ अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधामतम्॥ (ध्वन्यालोक, २, १)

२ असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥ (वही, २, १)

३ रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ (वही, २, ३)

४ सर्गबन्धे तु रसतात्पर्यं यथा रसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचारः।
द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः।
अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः॥ (वही, ३, ७)

५ एतद् यथाकामौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते॥ (वही, ३, ८)

उनके मत के अनुसार रस औचित्य का आश्रय करने वाली रचना गद्य और पद्य सर्वत्र शोभा पाती है, यद्यपि विषय के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत भेद अवश्य हो जाता है।[1]

रस के विरोधी तत्व:—

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बताया है कि रस के विरोधी तत्वों को कवि को अपने काव्य में समावेशित होने से बचाना चाहिए। उन्होंने रस के विरोधी तत्वों की संख्या पाँच बतायी है (१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावों आदि को ग्रहण कर लेना, (२) रस के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का अपेक्षा कृत अधिक वर्णन, (३) अनुपयुक्त अवसर पर रस की समाप्ति अथवा प्रकाशन, (४) रस का पूर्ण पोषण होने पर उसकी आवृत्ति अथवा उद्दीपन तथा (५) व्यवहार की अनुचितता।[2]

प्रबन्ध काव्य में अंगी रस:—

आनन्दवर्द्धन के अनुसार काव्य में प्रधान रस का अन्य रसों के साथ समावेश होना स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले रस की अंगिता का विघातक नहीं होता है।[3] जिस प्रकार से किसी प्रबन्ध में व्यापक एक प्रधान कार्य ही रखा जाता है, उसी प्रकार से रस की विधि में भी विरोध नहीं होता है।[4] अन्य रस के प्रधान होने पर उसके विरोधी या

१ रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत्॥ (ध्वन्यालोक, ३, ९)

२ विरोधिरससम्बन्धिविभावादि परिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च॥ (वही, ३, १८, १९)

३ रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः॥ (वही, ३, २२)

४ कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते॥ (वही, ३, २३)

अविरोधी किसी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे भी उनका अविरोध हो सकता है ।[१]

शृंगार का प्रमुख रसत्व:—

आनन्दवर्द्धन ने शृंगार रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि सत्कवि को इसी रस का वर्णन करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, क्योंकि उसके प्रमाद तुरन्त प्रकट हो जाता है ।[२] शिष्यों को प्रवृत्त करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए यदि इसके विरोधी रसों में इसके अंगों का स्पर्श हो, तो वह दूषित नहीं होता है ।[३]

गुणीभूत व्यंग्य :—

आनन्दवर्द्धन के विचार के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य काव्य का दूसरा भेद होता है । यह वहाँ पर होता है, जहाँ व्यंग्य से सम्बन्ध होने पर वाच्य की चारुता अधिक उत्कर्षयुक्त हो जाती है ।[४] प्रसन्न एवं गम्भीर आनन्ददायक काव्य रचनाओं में बुद्धिमान कवि को गुणीभूत व्यंग्य का प्रयोग करना चाहिए ।[५] आनन्दवर्द्धन ने गुणीभूत व्यंग्य का भारी महत्व बताया है । उन्होंने कहा है कि काव्य के व्यापक क्षेत्र में गुणीभूत व्यंग्य का विषय व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से भी अनेक प्रकार से होता है । इसलिए इसे ध्यानपूर्वक समझना आवश्यक है । आनन्दवर्द्धन ने यहाँ तक कहा है कि सहृदयों को मुग्ध करने वाले काव्य का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसमे व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से सौन्दर्य न समाविष्ट

१ अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्याद विरोधिता ।। (ध्वन्यालोक, ३, २४)

२ अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ।। (वही, ३, २९)

३ विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ।। (वही, ३, ३०)

४ प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ।। (वही, ३, ३५)

५ प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहा ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः समेधसा ।। (वही ३, ३६)

हो जाता हो। इसलिए विद्वानों को इसे काव्य के परम रहस्य के रूप में समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार से अलंकारों आदि से युक्त होने पर भी मुख्यतः लज्जा ही कुल वधुओं का अलंकार होती है, उसी प्रकार से यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है।[1] आनन्दवर्द्धन ने यह भी बताया है कि काकु के द्वारा अर्थान्तर की जो प्रतीति स्पष्ट होती है वह भी व्यंग्य के गौण होने पर इसी के अन्तर्गत आती है।[2] अन्त में आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि गुणीभूत व्यंग्य का यह प्रकार भी रस आदि के तात्पर्य विचार से ध्वनि हो जाता है।[3]

चित्र काव्य का स्वरूप :—

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने चित्र काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए बताया है कि व्यंग्य के प्रधान और गुण भाव से स्थित होने पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों से भिन्न जो काव्य होता है, उसे चित्र काव्य कहते हैं।[4] चित्र काव्य का वर्गीकरण करते हुए उन्होंने उसके दो भेद किये हैं। ये भेद शब्द और अर्थ पर आधारित होते हैं। इन्हीं के कारण उन्हें शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र कहा जाता है।[5]

कवि प्रतिभा :—

अन्त में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कवि की प्रतिभा का महत्व बताते हुए कहा है

१ मुख्य महाकविगिरामलंकृतभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ (ध्वन्यालोकः, ३, ३८)

२ अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥ (वही, ३, ३९)

३ प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्य पर्यालोचनया पुनः (वही ३, ४१)

४ गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ (वही, ३, ४२)

५ चित्रं शब्दार्थ भेदेन द्विधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् । (वही, ३, ४३)

कि यदि कवि में प्रतिभा होती है तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय से काव्य के अर्थों की कभी समाप्ति नहीं होती।[1]

महत्व :—

इस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्रकी परम्परा के इतिहास में आचार्य आनन्द-वर्द्धन का स्थान कई दृष्टियों से विशिष्ट है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का साहित्य शास्त्रीय दृष्टिकोण परम्परागत सैद्धान्तिक चिन्तन की तुलना में एक प्रकार से क्रान्ति-कारी चरण कहा जा सकता है। अपने ग्रन्थ "ध्वन्यालोक:" में आनन्दवर्द्धन ने काव्य के सामान्य विचार से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों को समाविष्ट नहीं किया। ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्त्तक के रूप में उन्होंने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए उसकी मुख्यता सिद्ध की। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन का महत्व संस्कृत के साहित्या-चार्यों में एक समन्वयवादी विचारक के रूप में भी बहुत अधिक है। "ध्वन्यालोक:" में जो साहित्य निरूपण मिलता है, उसके मूल में पूर्ववर्ती समस्त वैचारिक प्रणालियों का अद्भुत समन्वय मिलता है। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन के पश्चात् जितने भी संस्कृत साहित्य शास्त्रीय विचारक हुए, उन्होंने उनसे न्यूनाधिक रूप में प्रभाव अवश्य ग्रहण किया।

अभिनव गुप्त

रचना और काल :—

अभिनव गुप्त का नाम ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने वालों में महत्वपूर्ण है। अपने प्रसिद्ध साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ "अभिनव भारती" के अतिरिक्त इन्होंने "तन्त्रालोक", "परमार्थसार" तथा "प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी" आदि विशिष्ट महत्व के ग्रन्थों की रचना भी की। इनके कुल ग्रन्थ इकतालिस बताये जाते हैं। इनमें से एक अप्राप्य टीका ग्रन्थ "काव्य कौतुक विवरण" भी बताया जाता है, जिसके रचयिता भट्ट तौत थे। अभिनव गुप्त का समय दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त तथा माता

१ ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुण:॥ (ध्वन्यालोक, ४, ६)

का नाम त्रिपलका था। इन्होंने अपने पिता इन्दुराज तथा गुरु भट्ट तौत आदि से व्याकरण, ध्वनि एवं नाट्य शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की।

भरत सूत्र की व्याख्या :—

भरत के "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" नामक प्रसिद्ध सूत्र की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने कतिपय अन्य विद्वानों द्वारा की गयी व्याख्याओं से असहमति प्रकट की है। अभिनवगुप्त ने स्वयं इस सूत्र की व्याख्या करते हुए बताया है कि स्थायी की प्रतीति अनुमिति के रूप में कही जा सकती है, रस के नहीं। इसलिए स्थायी को सूत्र में बाधा स्वरूप समझने के कारण नहीं रखा गया है। अभिनवगुप्त के विचार से जिस प्रकार व्यंजन के आस्वाद में तत्पर चित्त वाले भोक्ता में आस्वादकता होती है, क्योंकि दूसरी जगह मन रखने से भोजन करके भी आस्वाद का ज्ञान नहीं होता है। प्रसन्नता, वृद्धि, जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य आस्वाद के फल होते हैं। उसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त स्थायी शब्द से प्रतिपादित रस में आस्वादकता निर्विवाद है। एकाग्रचित्त तन्मय सामाजिक में आस्वादकता होती है। हर्ष प्रधान धर्मादि की व्युत्पत्ति, वैदग्ध्य आदि आस्वाद के फल होते हैं, इसलिए कर्म, कर्ता और फल की समानता से विभावादि से उत्पन्न ज्ञान विशेष रसना का व्यापार माना गया है, यह तात्पर्य है।"[1]

अभिनय का महत्व :—

अभिनव गुप्त ने बताया है कि काव्य मुख्यतः दश रूपकात्मक होता है। उसमें उचित भाषा, व्यापार, काकु तथा नैपथ्य आदि से रसवत्ता की पूर्ति होती है। विद्वानों ने अभिनय आदि से युक्त नाट्य नटोचित कर्म रूप माना है। इस तात्पर्य से नाट्य से ही उन्होंने रसोत्पत्ति मानी है। अभिनव गुप्त ने उन लोगों से असहमति प्रकट की है, जो यह कहते हैं कि प्रतीयमान शोक प्रतीति करने वाले हृदय में दुख की अनुभूति कराता है। उन्होंने बताया है कि वस्तु के स्वभाव के अनुसार ही भाव की अनुभूति होती है। उन्होंने आनन्द की अतिशयता को सम्वेदन का आस्वाद माना है। इसी प्रकार से उन्होंने यह भी बताया है कि भाव शब्द के अर्थ पर विचार करने से यह प्रतीत होता

१ "भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा", सं० डा० नगेन्द्र०, पृ० १५०।

है कि रसों से भाव नहीं उत्पन्न होते हैं, उचित प्रकार से सम्बद्ध हृदयगत रसों को विविध प्रकार के अभिनयों द्वारा भावना करना ही भाव कहलाता है।[1]

शान्त रस:—

अभिनव गुप्त ने शान्त रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि संसार में धर्म, अर्थ तथा काम की भाँति ही मोक्ष भी एक प्रकार का पुरुषार्थ है। जिस प्रकार से विविध चित्त वृत्तियाँ रति आदि से पूरित होकर आस्वाद की योग्यता प्राप्त करके शृंगार आदि रसावस्था को प्राप्त कराती हैं, उसी प्रकार से मोक्ष नामक पुरुषार्थ के योग्य चित्तवृत्ति भी रस की अवस्था को प्राप्त कराती है, और इस प्रकार की चित्त वृत्ति ही शान्त रस का स्थायी भाव होती है। दूसरे शब्दों में उसे निर्वेद कहा जा सकता है। निर्वेद तत्वज्ञान के प्रति उपयोगी होता है। तत्वज्ञान से ही मोक्ष होता है।

अन्य रस:—

अभिनवगुप्त ने लिखा है कि स्नेह रस नहीं होता। वह आसक्ति का ही नाम है। स्नेह, रति और उत्साह आदि में अन्यत्र हो जाता है। बड़ों के प्रति स्नेह भय में तथा मित्रों के प्रति रति में शान्त होता है। अन्य स्थायी भावों तथा अन्य रसों में भी मूलतः यही प्रक्रिया रहती है।

महत्व :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में अभिनव गुप्त का उनके अगाध पांडित्य के कारण बहुत अधिक महत्व है। अभिनव गुप्त ने भरत सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में अन्य व्याख्याकारों के मतों की विवेचना करते हुए यह निर्देशित किया है कि भोजकत्व और भोगीकरण दो शक्तियों को नहीं मानना चाहिए क्योंकि रस की व्यंजना और रस के आस्वाद में ये हैं। उन्होंने रस की प्रतीति को ही रस को अन्तिम अवस्था स्वीकार किया है। इस प्रकार से अभिनवगुप्त ने भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित रस सिद्धान्त को स्वरूपात्मक पूर्णता प्रदान की।

१ "न रसेभ्यो भावा, भाव शब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह ।
नानाभिनयैः सम्बद्धान् हृदयंगतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसास्तस्माद्भावाः ॥
(अभिनव भारती)

राजशेखर

रचना और काल:—

संस्कृत साहित्य में राजशेखर का स्थान एक शास्त्रज्ञ, नाटककार तथा महाकवि के रूप में मान्य है। अपनी नाट्य कृतियों में राजशेखर ने जो प्रस्तावनात्मक विवरण दिये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वह कन्नौज के राजा रामपाल के गुरु थे और उनके संरक्षक उसके पुत्र महीपाल थे। इस प्रकार इस आधार पर राजशेखर का समय सं० ९३७ से लेकर ९७० वि० तक माना जा सकता है।[1] वह अकालजलद के प्रपौत्र तथा दुर्दक के पुत्र थे। उनकी माता शीलवती थी। राजशेखर की रचनाओं में (१) कर्पूर मंजरी, (२) विध्शालभंजिका, (३) बालरामायण, (४) बालभारत अथवा प्रचंड पांडव तथा (५) काव्य मीमांसा उपलब्ध हैं। इनमें से साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में उनका अन्तिम ग्रन्थ ही प्रख्यात है। यह ग्रन्थ अठारह अध्यायों में विभाजित है जो इस प्रकार हैं: शास्त्र संग्रह, शास्त्रनिर्देश, काव्य पुरुषोत्पत्ति, पदवाक्य विवेक, व्युत्पत्ति काव्य पाकत्व, पदवाक्य विवेक, वाक्यभेद, काव्यार्थयोनि, अर्थव्याप्ति, कवि चर्या, राज चर्या, शब्दहरण, अर्थहरण के भेद, कवि समय, गुण समय, स्वर्गपातालीय कवि रहस्य, देश विभाग तथा काल विभाग। राजशेखर के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य की रचना और स्वरूप:—

राजशेखर ने काव्य की रचना और स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि काव्य विधा का सर्व प्रथम उपदेश भगवान शिव ने अपने परमेष्ठी तथा बैकुंठ आदि शिष्यों को दिया था। फिर उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू ब्रह्मदेव ने इसका उपदेश ऋषियों को दिया। इनमें से एक सरस्वती का पुत्र काव्य पुरुष था, जिसे उन्होंने काव्य विद्या के प्रचार की आज्ञा दी। उसने इस काव्य विद्या का उपदेश दिव्य स्नातकों को दिया, जो अठारह भागों में विभक्त थी। इन शिष्यों में से प्रत्येक ने इन अठारह भागों में से एक एक पर विशेष अध्ययन करके ग्रन्थ रचना की। इन्द्र ने कवि रहस्य, उक्तिगर्भ ने उक्ति, सुवर्णनाभ ने रीति, प्रचेता ने अनुप्रास, यम ने यमक, चित्रांगद ने चित्र

१ "काव्यमीमांसा", पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत द्वारा अनुवादित, पृ० ४।

काव्य, शेष ने शब्द श्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव, औपकायन ने उपमा, पराशर ने अतिशयोक्ति, उतथ्य ने अर्थ श्लेष, कुबेर ने शब्द और अर्थ उभय, कामदेव ने विनोद, भरत ने ने नाट्य, नन्दिकेश्वर ने रस, वृहस्पति ने दोष, उपमन्यु ने गुण पर तथा कुचमार ने उपनिषद् आदि विषयों पर अपने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। इस प्रकार से यह काव्य विद्या अनेक भागों में बट गयी।[1]

राजशेखर के मत से काव्य विद्या का अध्ययन करने से पहले विद्यार्थी को काव्योपयोगी विद्याओं तथा काव्य की उपविद्याओं का सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। काव्योपयोगी विधाएँ उन्होने चार बतायी हैं, व्याकरण, कोष, छन्द तथा अलकार। काव्य की उपविधाएं उन्होंन चौंठ कलाएं बतायी है। देशी बिदेशी समाचार सूक्तियाँ, व्यवहार, सत्संग एवं अध्ययन मनन आदि विषयो को उन्होने काव्य का जीवन स्रोत माना है।[2] राजशेखर ने शब्द अर्थ और पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द उसे कहते हैं, जो व्याकरण से प्रकृति, प्रत्यय द्वारा सिद्ध हो। निरुक्त, निघटु, कोष या व्यवहार से शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है, वह अर्थ होता है। और, इन दोनों को मिलाकर पद कहा जाता है।[3] इसी प्रकार से काव्य गुण तथा अलंकार युक्त वाक्य को कहते हैं।[4] राजशेखर ने कतिपय विद्वानों द्वारा मान्य इस मत का खंडन किया है कि काव्य इसलिए उपदेश करने योग्य नहीं है क्योंकि उसमें असत्य तथा आलंकारिक बातें रहती हैं। राजशेखर ने बताया है कि अतिशयोक्ति पूर्ण एवं असत्य वर्णनों से युक्त होने के कारण ही काव्य त्याज्य नहीं हो जाता। बहुधा ऐसे वर्णन असंगत नहीं भी होते। वेदों और शास्त्रों में भी उनका अभाव नहीं है। राजशेखर ने काव्य रचना को सारस्वत मार्ग बताते हुए उसे सभी के लिए वंदनीय बताया है। राजशेखर ने प्रसंग के अनुसार

१ "काव्यमीमांसा", पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पृ० ४।

२ गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपरायणे, अभिधान कोशः, छन्दोविचितिः अलंकारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्ठिःरुपविद्याः। सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्त्ता, विदग्धवादो, लोक यात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च, काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। (काव्यमीमांसा, पृ० १२१)

३ व्याकरण स्मृति निर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्टु वादिभि निर्दिष्टस्तदभिधेयोर्थस्तो पदम्। (वही, पृ० ५३)

४ गुण वदलंकृतंच वाक्यमेव काव्यम् (काव्यमीमांसा, पृ० ६१)

अश्लील वर्णनों को भी औचित्यपूर्ण प्रतिपादित किया है और बताया है कि प्रसंगानुसार शास्त्रों में भी उनका समावेश हुआ है।

कवि प्रतिभा और आलोचक :—

राजशेखर के विचार से शिष्य दो प्रकार के होते है— बुद्धिमान और आहार्य बुद्धि। इसी प्रकार से बुद्धि तीन प्रकार की होती हैं, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा। इनमें से प्रथम अर्थात् स्मृति वह बुद्धि कहलाती है, जो अनुभूत विषयों का स्मरण रखती है, द्वितीय अर्थात् मति वह बुद्धि कहलाती है, जो वर्तमान विषयों का मनन करती है तथा तृतीय अर्थात् प्रज्ञा वह बुद्धि होती है जो भविष्य दर्शिनी होती है। कवि के लिए ये तीनों उपकारक हैं। कवि प्रतिभा का विवेचन करते हुए राजशेखर ने बताया है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, कारयित्री और भावयित्री। इनमें कारयित्री प्रतिभा कवि की और भावयित्री प्रतिभा आलोचक की उपकारक होती है। कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद होते हैं, सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इनमें से प्रथम अर्थात् सहजा प्रतिभा जन्म जात होती है, द्वितीय अर्थात् आहार्या प्रतिभा अभ्यास से उत्पन्न होती है तथा तृतीय अर्थात् औपदेशिकी प्रतिभा वरदान अथवा उपदेश से प्राप्त होती है।[3] उपर्युक्त तीन प्रकार की प्रतिभा वाले कवि उन्हीं के अनुसार सारस्वत आभ्यासिक तथा औपदेशिक कहे जाते हैं। ऊपर वर्णित भावयित्री प्रतिभा आलोचक की उपकारक होती है। प्राचीन आचार्यों ने कवि और आलोचक में भेद नहीं माना है और उन दोनों

१ त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री। (वही पृ० २४)

२ सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च।
कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।
साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्योपदेशिकी च जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा।
जन्मसंस्कारयोनिराहार्या।
मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। (वही पृ० २९)

३ त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च। (वही, पृ० २९)

को "कवि" कोटि में ही रखा है। राजशेखर ने आलोचकों को चार प्रकार का माना है, अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी तथा तत्वाभिनिवेशी। इनमें से प्रथम अर्थात् अरोचकी आलोचक वे होते हैं, जिन्हें अच्छी रचना भी नहीं रुचती, द्वितीय अर्थात् सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो श्रेष्ठ रचनाओं की ही प्रशंसा करते हैं, तृतीय अर्थात् मत्सरी वे आलोचक होते हैं, जो किसी श्रेष्ठ रचना को द्वेषवश अश्रेष्ठ बताते हैं, तथा चतुर्थ अर्थात् तत्वाभिनिवेशी के आलोचक होते है, जो निष्पक्ष होते हैं।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति :—

व्युत्पत्ति से बहुज्ञता से आशय है। काव्य में विविधता से ही बहुज्ञता आती है। राजशेखर ने उचित और अनुचित की विवेचना को ही व्युत्पत्ति कहा है। उनके मत से प्रतिभा और व्युत्पत्ति संयुक्त रूप से काव्य रचना की उपकारक होती हैं। इसलिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति युक्त कवि ही यथार्थ कवि है। राजशेखर ने कवियों की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं, शास्त्र कवि, काव्य कवि तथा उभय कवि। शास्त्र कवि शास्त्रीय गम्भीरता के कारण काव्य में रस सम्पत्ति की शोभा वृद्धि करता है, काव्य कवि जटिल विषयों को सरस बनाता है तथा उभय कवि इन दोनों कार्यों में समान रूप से सक्षम होता है। इनमें से शास्त्र कवि की भी तीन कोटियाँ हैं, शास्त्र का निर्माता, शास्त्र में काव्य का विवेशक तथा काव्य में शास्त्रीय अर्थ का निवेशक। इसी प्रकार से काव्य कवि की आठ कोटियाँ हैं, रचना कवि, शब्द कवि, अर्थ कवि, अलंकार कवि, उक्ति कवि, रस कवि, मार्ग कवि तथा शास्त्रार्थ कवि। इनमें से भी शब्द कवि तीन कोटियों के होते हैं, नाम कवि, आख्यात कवि तथा नामाख्यात कवि। अलंकार कवि भी दो प्रकार के होते हैं। शब्दालंकार कवि तथा अर्थालंकार कवि।

राजशेखर के अनुसार उपर्युक्त गुणों में से जो कवि दो या तीन गुणों से युक्त होता है वह कनिष्ठ कवि, पाँच गुणों से युक्त होने पर मध्यम कवि तथा सर्वगुण युक्त कवि महाकवि होता है।[१] राजशेखर ने कवि की दस अवस्थाएँ बतायी हैं, काव्य विद्या, स्नातक, हृदय कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक,

१ एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पंचकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः।
(काव्यमीमांसा, पृ० ४७)

अविच्छेदी तथा संक्रामयिता।[1] इनमें से प्रथम अर्थात् काव्य विद्या स्नातक वह कवि है, जो कवित्व प्राप्ति की इच्छा से काव्य आदि विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरुकुल में जाता है[2], द्वितीय अर्थात् हृदय कवि वह होता है जो कविता रचकर मन ही मे रखता है, संकोचवश दूसरों को सुनाता नही[3], तृतीय अर्थात् अन्योपदेशी वह कवि है, जो अपनी रचना को दोषपूर्ण होने के भय से दूसरे को बताकर सुनाता है।[4] चतुर्थ अर्थात् सेविता वह कवि है जो किसी प्राचीन कवि को आदर्श मानकर उसी का अनुसरण करता हुआ काव्य रचना करता है[5], पंचम अर्थात् घटमान वह कवि होता है, जो प्रकीर्ण रूप से काव्य रचना करता है, किसी एक निबन्ध की रचना नहीं[6], षष्ठ अर्थात् महाकवि वह होता है जो किसी एक महान् निबन्ध काव्य की रचना करता है[7], सप्तम अर्थात् कविराज वह होता है, जो विविध भाषाओं, विविध प्रबन्धों और विविध रसों मे रचना करने की क्षमता से युक्त होता है,[8] अष्टम अर्थात् आवेशिक कवि होता है जो मन्त्र या अनुष्ठान आदि से कवित्व की सिद्धि प्राप्त करता है,[9] नवम् अर्थात् अविच्छेदी वह कवि होता है, जो आशु कविता करता है[10], तथा दशम अर्थात् संक्रामयिता वह कवि होता है,

---

१ दश च कवेरवस्था भवन्ति । तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्धियोः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य । तद्यथा काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानो, महाकविः, आवेशिक, अविच्छेदी, संक्रामयिता च । (वही, पृ० ४७)

२ यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः । (वही, पृ० ४७)

३ यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः ।

४ यः स्वकृपि काव्यंदोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी ।

५ यः प्रवृत्त वचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता ।

६ योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः ।

७ योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः ।

८ यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेष तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्र स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये ॥

९ यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकाले कवते स अवेशिकः ।

१० यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्न वचनः सोऽविच्छेदी ।

जो अविवाहित कुमारिकाओं या कुमारों में मन्त्र शक्ति के द्वारा सरस्वती का संचार करके उन्हें काव्य रचना में प्रवृत्त करता है।[1]

काव्य पाक :—

राजशेखर ने काव्य पाक अथवा परिपक्वता का भी विस्तार से विश्लेषण किया है। उन्होंने बताया है कि निरन्तर अभ्यास करने से कवि द्वारा रचित वाक्यों में परिपक्वता आती है। कवि की परिपक्व अवस्था तभी समझनी चाहिए जब पद विन्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय। एक बार रति पद में पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न प्रतीत होना ही परिपक्वता है। इसी प्रकार से शब्द परिपक्वता तब आती है, जब एक बार संयुक्त शब्द स्थिर रहें। राजशेखर के मतानुसार जहाँ पर पद परिवर्तन की आवश्यकता न हो, वह शब्द पाक वाला काव्य कहा जाता है। इसी प्रकार से जहाँ रस, गुण या अलंकार क्रम सुनिश्चित है, उसे वाक्य पाक कहते हैं।

पाक के भेद :—

पाक की व्याख्या करने के पश्चात् राजशेखर ने बताया है कि जो कवि काव्य रचना का अभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिए नौ प्रकार का पाक होता है। पियुमन्द पाक, बदर पाक, मृद्वीका पाक, वार्ताक पाक, तिन्तिडीक पाक, सहकार पाक, क्रमुक पाक, त्रपुस पाक तथा नारिकेल पाक। इनमें से प्रथम अर्थात् पिचुमन्द पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो नीम की तरह आदि और अन्त दोनों स्थलों पर नीरस होती है।[2] द्वितीय अर्थात् बदर पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो बेर की तरह आदि में नीरस तथा अन्त में सरस होती है[3], तृतीय अर्थात् मृद्वीका पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, मृद्वीका की तरह आदि में नीरस तथा अन्त में सरस होती है,[4] चतुर्थ अर्थात् वार्ताक पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो बैंगन की तरह आदि में

१ यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं संक्रमयति स संक्रामयिता।
२ तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्।
३ आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्।
४ आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्।

सरस तथा अन्त में नीरस होती है[1], पंचम अर्थात् तिन्तिडीक पाक उस काव्य रचना को कहते हैं जो इमली की तरह आदि और अन्त दोनों में मध्यम स्वाद वाली होती है[2], षष्ठ अर्थात् सहकार पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो आम की तरह आदि में मे मध्यम तथा अन्त में सरस होती है[3], सप्तम अर्थात् क्रमुक पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो सुपारी की भाँति आदि में सरस और अन्त में नीरस होती है[4], अष्ठम अर्थात् त्रपुस पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो ककड़ी की तरह आदि में सरस तथा अन्त में मध्यम होती है[5], तथा नवम अर्थात् नारिकेल पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो नारियल की तरह आदि से अन्त तक सरस होती है ।[6] राजशेखर ने बताया है कि उपर्युक्त नौ प्रकारों में से हेय और उपादेयका विभाजन करके अपने काव्य को परिपक्व बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

काव्यार्थ :—

राजशेखर ने काव्यार्थ विषयक प्राचीन आचार्यों के मत का परीक्षण करते हुए अपने मत की स्थापना करते हुए कहा है, कि कोई अर्थ रस के अनुकूल तथा कोई प्रतिकूल होता है । काव्य में कवि रचित वाक्य ही सरसता अथवा नीरसता उत्पन्न करते हैं अर्थ नहीं । प्रतिभावान् कवि साधारण अर्थ को सरस तथा प्रतिभा रहित कवि सरस अर्थ को नीरस बना देते हैं । कुछ विद्वानों ने अर्थ समूह को दो भागों में विभक्त किया है, मुक्तक काव्यगत अर्थ और प्रबन्ध काव्यगत अर्थ । राजशेखर ने अर्थ के सात प्रकार बताये हैं: दिव्य, दिव्य मानुष, मानुष पातालीय, मर्त्य पातालीय, दिव्य पातालीय और दिव्य मर्त्य पातालीय । उन्होंने इन समस्त अर्थों को दो भागों में विभाजित किया है; मुक्तककाव्यगत अर्थ तथा प्रबन्धकाव्यगत अर्थ । अन्त में राजशेखर ने कवि महिमा

१ आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम् ।
२ आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम् ।
३ आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम् ।
४ आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम् ।
५ आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम् ।
६ आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति ।

का वर्णन करते हुए बताया है कि जिस कवि का हृदय उपर्युक्त गहन अर्थों के विवेक से उत्पन्न होता है, उसकी वाणी दुर्गम पथ में भी अकुंठित रहती है।[1]

शब्दार्थ हरण :—

राजशेखर के विचार से किसी दूसरे कवि द्वारा अपनी रचना में प्रयुक्त शब्द अथवा अर्थ को अपनी रचना में प्रयोग को हरण कहते हैं। इस हरण के दो प्रकार हैं, परित्याज्य अर्थात् अग्राह्य तथा अनुग्राह्य अर्थात् स्वीकार्य। इनमें से प्रथम शब्द हरण पाँच प्रकार का होता है : पद हरण, पाद हरण, अर्ध हरण, वृत्त हरण तथा प्रबन्ध हरण। इनके अतिरिक्त किसी दूसरे के काव्य को धन से क्रय करके स्वनाम से प्रसिद्ध करना भी एक प्रकार का हरण होता है। राजशेखर ने लिखा है कि काव्य रचना करने वाले कवियों और व्यापारियों का चरित्र होना सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी कहीं न कहीं चोरी करते हैं। अत. चोरी को छिपा सकने वाले अच्छे रहते हैं और उनकी निन्दा नहीं होती। इसी प्रकार से राजशेखर ने अर्थ हरण की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने बताया है कि किसी कवि द्वारा चुराया हुआ अर्थ अथवा भाव मूल कवि का ही समझा जाता है, उसके हरण कर्ता का नहीं, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार दर्पण का प्रतिबिम्ब स्वयं से पृथक् नहीं समझा जाता।

महत्व :—

राजशेखर का महत्व संस्कृत के मुख्य साहित्यशास्त्रियों की परम्परा में बहुत अधिक है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, उच्च कोटि की पांडित्य शक्ति के साथ ही साथ राजशेखर में असाधारण रचनात्मक प्रतिभा भी विद्यमान थी। उनके लिखे हुए नाटक, महाकाव्य तथा शास्त्रीय ग्रन्थ उनकी प्रतिभा के इस व्यापक स्वरूप का प्रमाण है। स्वयं राजशेखर ने अपने को "कर्पूरमंजरी"[2] तथा "बालरामायण"[3] में कवि-राज कहकर उल्लिखित किया है और उसे महाकवि की अपेक्षा भी बहुत ऊँची कोटि

१ इत्थंकारं धनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः।
दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती॥

२ "कर्पूरमंजरी", राजशेखर, १, ९।

३ "बालरामायण", राजशेखर, १, १०।

का अधिकारी बताया है, क्योंकि उनके विचार से महाकवि उसको कहते हैं जो किसी एक भाषा में महान् प्रबन्ध का निर्माता हो तथा कविराज उसे कहते हैं जो विविध भाषाओं और विभिन्न रसों में स्वतंत्रतापूर्वक काव्य रचना में प्रवृत्त हो सके।[१] राजशेखर की प्रतिभा और सामर्थ्य को देखते हुये उनके कथन को स्वीकार ही करना पड़ता है।

मुकुल भट्ट

मुकुल भट्ट का समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। इनके लिखे हुये एक ही ग्रन्थ के विषय में विवरण उपलब्ध है। यह ग्रन्थ 'अभिधावृत्ति मातृका" है। इसमें मुकुल भट्ट ने पन्द्रह कारिकाएँ तथा उनकी वृत्ति के द्वारा अर्थ विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का परवर्ती आचार्यों में विशेष रूप से "काव्य प्रकाश" के प्रणेता मम्मट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

धनंजय

रचना और काल :—

धनंजय का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनका स्थान ध्वनि सम्प्रदाय के खंडन कर्त्ताओं में प्रमुख है। यह अपने भाई धनिक के साथ मुंजराज नामक नरेश की राज सभा में पंडित थे। धनंजय का ग्रन्थ "दशरूपक" है। इसमें उन्होंने नाटक के अंग उपांगों का विस्तृत विश्लेषण उपस्थित किया है। "दशरूपक" में चार प्रकाश तथा लगभग तीन सौ कारिकायें हैं। इनमें मुख्यतः नाटक की कथावस्तु, प्रधान पात्र, नाटक के दस भेद तथा नाटक में रस का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। धनिक ने इस ग्रन्थ की टीका "अवलोक" के नाम से लिखी है। "दशरूपक" में अभिव्यक्त विचारों के के आधार पर धनंजय के प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्तों का परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ "काव्यमीमांसा", राजशेखर, अध्याय १।

रूपक के भेद :—

धनंजय ने रूपक के दस भेद बताये हैं, जो इस प्रकार हैं १. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अंक तथा ईहामृग ।[१]

नृत्य और नृत :—

नृत्य और नृत का भेद बताते हुये धनंजय ने कहा है कि नृत्य में पदों द्वारा व्यक्त अर्थ का अभिनय होता है । इसके दो प्रकार होते हैं, १. मार्ग और २. देशी ।[२] तथा नृत के भी दो भेद हैं, १. लास्य तथा २. तांडव ।[३]

रूपक के आधार :—

धनंजय ने रूपक का वर्गीकरण करते हुये उसके तीन आधार तत्वों का निर्धारण किया है, १. वस्तु, २. नेता तथा ३. रस ।[४]

वस्तु :—

धनंजय के विचारानुसार रूपक की वस्तु दो प्रकार की होती है, १. आधिकारिक तथा २. प्रासंगिक । इनमें से आधिकारिक वस्तु ही प्रधान होती है । प्रासंगिक उसकी अंगभूत होती है ।[५] आधिकारिक वस्तु के तीन भेद होते हैं १. प्रख्यात, २. उत्पाद्य तथा ३. मिश्र ।[६] इनमें से प्रख्यात उसे कहते हैं जो किसी इतिहास पर आधारित हो, उत्पाद्य

१ नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोग समवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।। (दशरूपकम्, १, ८)

२ अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ।। (वही, १, ९)

३ मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ।। (वही, १, १०)

४ वस्तु च द्विधा ।

५ तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।। (वही, १, ११)

६ प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा ।

उसे कहते हैं जो कल्पित हो तथा मिश्र उसे कहते हैं जो इन दोनों का मिश्रित रूप हो।[१] इसी प्रकार से प्रासंगिक वस्तु दो प्रकार की होती है, १. पताका तथा २. प्रकरी। इनमें से पताका उसे कहते हैं जो आधिकारिक वस्तु के साथ आदि से अन्त तक रहे तथा प्रकरी उसे कहते हैं, जो किसी अंश मात्र से सम्बद्ध हो।[२] धनंजय ने नाटक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, वस्तु की पाँच अवस्थाएं तथा पाँच सन्धियाँ भी बतायी हैं। ये अर्थ प्रकृतियाँ १. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी तथा ५. कार्य,[३] । वस्तु की पाँच अवस्थाएँ १. आरम्भ, २. यत्न, ३, प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति तथा ५. फलागम[४] तथा पाँच सन्धियाँ १. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श तथा ५. उपसंहृति हैं।[५]

नेता :—

रूपक का दूसरा आधार धनंजय ने नेता या नायक को माना है। उनके विचार से नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, उत्साहवान्, स्मृतिवान्, कला समन्वित, मान समन्वित, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु तथा धार्मिक होना चाहिए।[६]

रस :—

धनंजय ने रूपक का तीसरा आधारभूत तत्व रस माना है। रस का लक्षण बताते

१ प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः॥
२ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। (दशरूपक, १, १३)
३ बीज बिन्दुपताकाख्यप्रकरी कार्यलक्षणाः। (वही, १, १८)
४ आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः। (वही, १, १९)
५ मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः। (वही, १, २४)
६ नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ (वही २, १२)

हुए उन्होंने लिखा है कि स्थायी भाव में विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भाव का योग होने पर रस का आविर्भाव होता है।[1]

विभाव और उसके भेद :—

धनंजय ने विभाव का लक्षण बताते हुए लिखा है कि विभाव भाव की पुष्टि करता है। इसके उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) आलम्बन विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव।[2]

स्थायी भाव :—

स्थायी भाव का लक्षण बताते हुए धनंजय ने लिखा है कि स्थायी भाव किसी भी प्रकार के भाव से विच्छिन्न नहीं होता है और उन सभी को आत्म भाव में परिणत कर लेता है।[3] धनंजय ने स्थायी भावों की संख्या आठ तक बतायी है, (१) रति, (२) उत्साह (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) स्मर, (७) भय और (८) शोक। उन्होंने शमको स्थायी भाव नहीं माना है।[4]

रस और शब्द शक्ति :—

धनंजय ने ध्वनि के दो भेद किये हैं (१) विवक्षित वाच्य ध्वनि तथा (२) अविवक्षित वाच्य ध्वनि। इनमें से प्रथम अर्थात् विवक्षित ध्वनि के दो भेद हैं, (१) असंलक्षित क्रम ध्वनि तथा (२) क्रमोद्योत्य ध्वनि। इसी प्रकार से द्वितीय अर्थात् अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं (१) अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ ध्वनि तथा (२) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि।[5] उन्होंने काव्य को भावक और रस आदि को भाव्य

१ विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस स्मृतः॥ (दशरूपक, ४, १)

२ ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा॥

३ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यात् स स्थायी लवणाकरः॥ (वही, ४, ३४)

४ रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मरो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥ (वही, ४, ३५)

५ तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षित वाच्यत्वेन द्वैविध्यम्,
अविवक्षितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तर संक्रमित वाच्यश्चेति द्विधा

मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रस आदि किसी विशिष्ट विभाव आदि वाले काव्य द्वारा भावक शब्दो मे स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार से भाव्य भावक लक्षण सम्बन्ध के अभाव मे काव्य शब्दों में भी रस आदि का भावन नहीं होता।

रसास्वाद और उनके भोक्ता:—

धनंजय के विचार से स्थायी भाव स्वाद्यत्व के कारण रस बनाता है। उन्होंने यह भी माना है कि वह रसिक में ही विद्यमान होता है। काव्य को धनंजय ने रसिक परक मान है, और रस को दर्शन वर्ती। उन्होंने यह भी लिखा है कि काव्य के अर्थ से भावित आस्वाद नर्तक में भी होता है।[1]

काव्य से स्वादोद्भूति और रस संख्या :—

धनंजय ने काव्य से स्वादोद्भूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए बताया है कि स्वाद काव्यार्थ के संभेद से आत्मानन्द रूप में उत्पन्न होता है। उन्होंने मन की चार अवस्थाओं (१) विकास, (२) विस्तार, (३) क्षोभ तथा (४) विक्षेप के अनुसार चार भेद बताये हैं (१) शृंगार, (२) वीर, (३) वीभत्स तथा (४) रौद्र। उन्होंने बताया है कि इनसे ही पृथक् रूप से (१) हास्य, (२) अद्भुत, (३) भय तथा (४) करुण की उत्पत्ति हुई है।[2] शान्त रस को धनंजय ने अभिनेय नहीं माना है। इसी कारण रूपक में उन्होंने उसे स्थान नही दिया है। परन्तु काव्य क्षेत्र से उन्होने उसका निषेध नहीं किया है। काव्य में उसे मर्यादित बताते हुए उन्होंने उसे अनिवार्य तथा शम का प्रकर्ष माना है और उसका स्वरूप "मोद" बताया है।[3] शान्त रस में सुख, दुख, चिन्ता, द्वेष राग इच्छा आदि का अभाव और शम भाव की प्रधानता रहती है।[4] अन्त में धनंजय ने कहा है कि चन्द्र आदि विभावों, निर्वेद आदि संचारी भावों तथा रोमांच आदि

विवक्षितवाच्यस्य असंलक्षितक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः।

१ काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य नावार्यते। (दशरूपक, ४, ४२)

२ स्वदः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तारक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।
शृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥ (वही, ४, ४३, ४४)

३ शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता। (वही, ४, ४५)

४ न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसास्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

अनुभावों से जो स्थायी भाव भावित होता है, उसे ही रस कहते हैं।[1] धनंजय ने शृंगार रस के तीन भेद किये हैं, (१) अयोग शृंगार, (२) विप्रयोग शृंगार तथा (३) संभोग शृंगार।[2] इनमें से अयोग शृंगार उसे कहते हैं, जहाँ पर नवीन प्रेमियों का संगम परवशता अथवा किसी दैवी परिस्थितिवश न हो सके।[3] धनंजय ने अयोग शृंगार की दस अवस्थाएँ बतायी हैं, (१) अभिलाषा, (२) चिन्तन, (३) स्मृति, (४) गुणकथा, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) संज्वर, (९) जड़ता तथा (१०) मरण।[4]

महत्व :—

धनंजय का स्थान संस्कृत में नाट्य शास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप निरूपण की दृष्टि से बहुत ऊँचा है। इस दृष्टिकोण से उन्हें भरत मुनि की परम्परा में आने वाला शास्त्रज्ञ कहा जा सकता है। भरत मुनि द्वारा प्रणीत "नाट्यशास्त्र" की ही परम्परा में उनके ग्रन्थ "दशरूपक" की गणना की जाती है। उन्होंने रस की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए ध्वनि का खंडन किया है। धनंजय का महत्व रस के महान् व्याख्याता के रूप में भी है।

भट्ट तौत

भट्ट तौत का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अनुमानित किया जाता है। इनके विषय में जो विवरण उपलब्ध है, उससे यह ज्ञात होता है कि यह आनन्दवर्द्धन के

१ पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमांचादिस्वरूपकैः।
काव्याद्विभावसंचाय्यनुभावप्रख्यतां गते। (दशरूपक, ४, ४६)

२ आयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा।

३ तत्रायोगोऽनुरागोपि नवयोरेकचित्तयोः।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वौ विप्रकर्षाद्, संगमः।

४ दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोथ चिन्तनम्।
स्मृतिगुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः।
जड़ता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम्॥ (वही, ४, ५२)

गुरु थे। इनके लिखे हुए एक ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है जिसका शीर्षक "काव्य कौतुक" है। अपने इस ग्रन्थ में भट्ट तौत ने शान्ति रस को सर्वोपरि स्थापित किया है, क्योंकि उनके विचार से यह मोक्ष का साधन होता है। भट्ट तौत के इस ग्रन्थ की टीका अभिनवगुप्त द्वारा "विवरण" शीर्षक से की गयी थी।

भट्ट नायक

भट्ट नायक का समय भी दसवीं शताब्दी ही माना जाता है। उनके लिखे हुए एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, जिसका शीर्षक "हृदय दर्पण" है। भट्ट नायक ने साहित्य शास्त्र विषयक अपने इस ग्रन्थ में काव्य में रस को महत्व देते हुए काव्य की आत्मा के रूप में रस को ही मान्यता दी है। रस निष्पत्ति के लिए उन्होंने ध्वनि को अनपेक्षित बताया है। इस कारण से उनकी गणना रस सम्प्रदायी आचार्यों में ही की जानी चाहिए। शब्द के अर्थ विन्यास पर विचार करते हुए उन्होंने इसके तीन क्रम बताये हैं, अभिधा, भावना तथा भोगी कृति। इनकी उन्होंने पृथक् पृथक् व्याख्या भी प्रस्तुत की है। भट्ट नायक के परवर्ती विचारकों के ग्रन्थों को देखने से उनके प्रभाव और महत्व का परिचय मिलता है।

कुन्तक

रचना और काल :—

आचार्य कुन्तक का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।[1] कुछ लोग उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी मानते हैं।[2] यह वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में सम्मान्य हैं। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ "वक्रोक्तिजीवितम्" है। आचार्य कुन्तक अभिनवगुप्त के समकालीन माने जाते हैं। वक्रोक्तिजीवितम् में चार उन्मेष हैं। इनमें वक्रोक्ति के स्वरूप की वैज्ञानिक तथा विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। "वक्रोक्तिजीवितम्" में अभिव्यक्त कुन्तक के साहित्यिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

१ "संस्कृत आलोचना", श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २६६।
२ "संस्कृत साहित्य का इतिहास", श्री वाचस्पति गैरोला, पृ० ९४२।

काव्य का प्रयोजन :—

कुन्तक ने काव्य बन्ध को उच्च कुलीनों के हृदयों को आनन्दित करने वाला, कोमल तथा मृदु शैली में अभिव्यक्त धर्म सिद्धि का मार्ग बताया है।[1] उन्होंने कहा है, काव्य के परिज्ञान से पुरुषों को नूतन औचित्ययुक्त व्यवहार तथा चेष्टा आदि का सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है।[2]

काव्य में अलंकार तथा अलंकार्य :—

कुन्तक अलंकार की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिससे अलंकृति हो उसे अलंकार कहते हैं। इसी प्रकार से उन्होंने कहा है कि शब्द तथा अर्थ दोनों ही अलंकार्य होते हैं। वक्रोक्ति को उन्होंने शब्द तथा अर्थ का अलंकार प्रतिपादित किया है और कहा है कि वक्रोक्ति से ही ये दोनों अलंकृत होते हैं।[3]

काव्य तथा साहित्य :—

कुन्तक ने काव्य की विवेचना करते हुए उसे शब्द, अर्थ तथा अलंकार की समष्टि बताया है। काव्य का लक्षण देते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य मर्मज्ञों के सुन्दर कवि व्यापार से युक्त बन्ध में व्यवस्थित शब्द तथा अर्थ के संयोग से काव्य की उत्पत्ति होती है।[4] उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से मान्य किया है कि सर्वगुणयुक्त तथा संगत शब्द एवं अर्थ एक दूसरे की शोभा वृद्धि करते हैं।[5] उन्होंने इनकी अन्तर्निर्भरता की ओर

१ धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदिता
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाल्हादकारकाः (वक्रोक्तिजीवितम् १, ३)

२ व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥ (वही, १, ४)

३ उभावेतावलंकार तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥ (वही, १, १०)

४ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ (वही, १, ७,)

५ समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

संकेत करते हुए बताया है कि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ निर्जीव हो जाता है तथा चामत्कारिक अर्थ के अभाव में समर्थ शब्द भी भारभूत लगने लगते हैं। इस प्रकार से काव्य में उन्होंने उस शब्द को मर्यादित कहा है जो काव्योचित समस्त सामग्री से युक्त हो। काव्य में उन्होंने उस अर्थ को मर्यादित कहा है जो सुकुमार हो।

साहित्य का स्वरूप :–

कुन्तक के विचारानुसार शोभायुक्तता के प्रति शब्दार्थ की न्यूनाधिकता रहित एक प्रकार की अनिर्वचनीय एवं मनोहर स्थिति ही साहित्य है।[1] इसी प्रकार से उनके मत से साहित्य उसे कहते हैं, जो वाङ्मय का सार होता है।

वक्रोक्ति :–

वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए कुन्तक ने बताया है कि विचित्र वर्णन शैली को ही वक्रोक्ति कहते हैं। उन्होंने कहा है कि व्यापार की वक्रता छः प्रकार की होती है, परन्तु उसके अनेक भेद तथा उपभेद किये जा सकते हैं। उन्होंने स्वयं इसके भेदोपभेदों की विस्तृत व्याख्या की है।

स्वभावोक्ति निराकरण :–

कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है तथा उन शास्त्रज्ञों का विरोध किया है जो स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं। कुन्तक ने अनेक तर्क देते हुए कहा है कि जहाँ पर स्वभाव का ही वर्णन हो, वहाँ पर स्वाभावोक्ति हो सकती है। परन्तु चूँकि स्वभाव का ही वर्णन अलंकार्य है, इस लिए उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता।

महत्व :–

कुन्तक संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के पिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को एक पुष्ट स्वरूप और वैज्ञानिक व्याख्या से मंडित किया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य में चामत्कारिक अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए सर्वोपरि सिद्ध किया और उसे ही काव्य की आत्मा माना।[2] इस दृष्टि से कुन्तक ने

१ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्य व स्थितिः (वक्रोक्तिजीवितम्, १, १७)

2 "History of Sanskrit Poetics", S. K. Dey, p. 236.

अर्थ व्यक्ति का लक्षण एवं भेद :—

महिम भट्ट के अनुसार सत् या असत् प्रकाशमान अर्थ की सम्बन्ध स्मरणानपेक्षी प्रकाश के साथ प्रकाश विषय में आपत्ति को अभिव्यक्ति कहते हैं। उन्होंने इसके तीन भेद किये हैं, क्योंकि सत् के भी तीन भेद होते हैं। परन्तु असत् की अभिव्यक्ति एक से अधिक प्रकार की नहीं क्योंकि उसके कोई भेद उपभेद नहीं होते।[१]

काव्य का स्वरूप :—

महिम भट्ट के विचार से विभाव आदि का संयोजन तथा रस की अव्यभिचारी रूप से अभिव्यक्ति करने वाला कवि व्यापार काव्य कहा जाता है। उन्होंने इसके दो भेद किये हैं, (१) अभिनय तथा (२) अनभिनेय।[२]

अभिधा स्थापना :—

महिम भट्ट ने शब्द शक्ति एक ही अर्थात् अभिधा मानी है। उन्होंने यह एक प्रमाणित किया है कि चूंकि अर्थ की भी एक ही लिंगता होती है, अतः इनमें व्यंजकता नहीं होती।[३]

महत्व :—

महिम भट्ट का महत्व संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में ध्वनि विरोधी आचार्य के रूप में मान्य है। उसकी ख्याति कारण "व्यक्ति विवेक" नामक ग्रन्थ ही है। यद्यपि उनके लिये हुए "तत्वोक्तिकोश" नामक एक और ग्रन्थ का भी उल्लेख किया

१ सतो सत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणा
प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरपि
व्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते।
तत्र सतोभिव्यक्तिस्त्रिविधा, यस्य त्रैविध्यात् (वही)

२ कवि व्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्य व्यभिचारी
काव्य मुच्यते तच्चाभिनेयानमि नेयार्थत्वेन द्विविधम्। (व्यक्तिविवेक पृ० ९५)

३ शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकेव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥ (वही २७)

जाता है। "व्यक्ति विवेक" पर आगे चल कर सम्यक् ने एक टीका भी रची थी। "व्यक्ति विवेक" में आचार्य महिम भट्ट ने सभी प्रकार की ध्वनियों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा है। उन्होंने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि सम्बन्धी स्थापनाओं की परीक्षा करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि जिसे उन्होंने ध्वनि कहा है, वह वास्तव में अनुमान का एक प्रकार। यही नहीं, पूर्ववर्ती रस सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए भी उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है कि रस की अभिव्यक्ति भी वास्तव में अनुमान से ही होती है। इस प्रकार से ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी शास्त्रज्ञों में आचार्य महिम भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है।

भोज

रचना और काल :—

भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है यह धारा नगरी के राजा थे। इनके लिये हुये दो ग्रन्थों का उल्लेख किया जात (१) सरस्वती कंठाभरण तथा (२) शृंगार प्रकाश। इनमें से प्रथम ग्रन्थ ही पूर्ण रूप में उपलब्ध है और विशेष रूप से यह महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभाजित है। इनमें प्रथम में काव्य के गुण तथा दोष, द्वितीय में शब्दालंकार, तृतीय में अर्थालंकार चतुर्थ में उपमालंकार तथा पंचम अध्याय में रस भाव आदि की व्याख्या की गई है। भोज के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके साहित्यिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

वाङ्मय के भेदः—

भोज के अनुसार वाङ्मय या अध्येय उसे कहते हैं, जिससे विधि तथा निषेध का ज्ञान एवं लोक यात्रा का प्रवर्तन हो।[1] उन्होंने उसके छै प्रकार बताये हैं।

१ यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोक यात्रा प्रवर्तते॥
(सरस्वतीकंठाभरणम्, २, १३८)

अपने जिस ग्रन्थ "वक्रोक्तिजीवितम्:" की रचना की है उसको असाधारण महत्व का स्वीकार किया गया है।[1] वक्रोक्ति सिद्धान्त का नियमन कुन्तक की गहन वैचारिक शक्ति का भी परिचायक है। कुन्तक ने पूर्ववर्ती साहित्य शास्त्रियों की भाँति वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार के रूप में नहीं माना, वरन् उसे प्रायः सभी अलंकारों का मूल प्रतिपादित किया। इस दृष्टि से उन्होंने न केवल वक्रोक्ति के स्वरूप की मौलिक व्याख्या की, वरन् उसे एक व्यापक अर्थ भी प्रदान किया। आगे चलकर कायक आदि आचार्यों ने भी कुन्तक के इस सिद्धान्त को मान्यता दी। इस प्रकार से जहाँ परवर्ती युगों में कुन्तक के इस सिद्धान्त को व्यापक क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई, वहाँ कुछ विद्वानों ने वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा माना, एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया। प्रो० पी० वी० काणे ने तथा डा० सुशील कुमार डे ने अपने ग्रन्थों में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये हैं।

महिम भट्ट

रचना और काल :—

आचार्य महिम भट्ट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों में इनका नाम इसलिये उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का वैज्ञानिक और शास्त्रीय शैली में तर्कात्मक रूप में खंडन किया। इस दृष्टि से महिम भट्ट की कृति "व्यक्ति विवेक" विशिष्ट महत्व रखता है। "व्यक्ति विवेक" तीन विमर्शों में है, जिसके प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा अनुमान में उसका अन्तर्भाव, द्वितीय में आनौचित्य काव्य दोष का विस्तृत वर्णन तथा तृतीय विमर्श में ध्वनि की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। महिम भट्ट के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके विचारों का सैद्धान्तिक परिचय संक्षेप में यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

वाक्य का स्वरूप :—

महिम भट्ट ने वाक्य का स्वरूप निर्धारण करते हुये कहा है कि चूँकि वाक्य में एक

1 "Introduction to Sahitya Darpan", P. V. Kane p. LXXXV.

ही क्रिया होती है, इसलिये वह क्रिया प्रधान ही होता है। उसके अन्य भेद नहीं होते।[1]

अर्थ प्रकार :—

महिम भट्ट के अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है, (१) वाच्य अर्थ तथा (२) अनुमेय अर्थ। इनमें से वाच्य अर्थ उसे कहते हैं जिसकी तदर्थता श्रवण मात्र से पूर्ण हो जाय। इसी प्रकार से अनुमेय अर्थ वह होता है, जिसका बोध उपादान यत्नों, से हो। इन्हें मुख्य अर्थ तथा गौण अर्थ भी कहते हैं।[2] इनमें से द्वितीय अर्थात अनुमेय अर्थ के तीन भेद होते हैं (१) वस्तुमात्र, (२) अलंकार तथा (३) रस। इनमें से प्रथम दो वाच्य में भी संभाव्य होते हैं, परन्तु तृतीय केवल अनुमेय होता है।[3]

ध्वनि का परार्थानुमान में अन्तर्भाव :—

महिम भट्ट ने बताया है कि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महाविषय है, क्योंकि उसमें ध्वनि के अतिरिक्त पर्यायोक्ति तथा गुणीभूत व्यंग्य आदि का भी समावेश होता है। यह अनुमान परार्थानुमान होता, क्योंकि यह वचन व्यापार पूर्वक होता है।[4]

१ वाक्यमेक प्रकारं, क्रिया प्रधान्यात्, तस्याश्चैकत्वात्।
(व्यक्तिविवेक, पृ० ३२)

२ श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तममुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ (वही, पृ० ३९)

३ तत एवं तदनुमिताद्वा लिंगभूतार्थान्तरमनुमीयत सोनुमेय।
स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्चेति।
तत्राद्यौ वाच्यावपि संभवतः।
अन्यस्त्वनुमेयः (वही ४०)

४ तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणेक्रमेण लिंगलिंगभावस्य समर्थनात्
सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानेन्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य त तदपेक्षया
महाविषयत्वात्।
महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेपि
विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूत व्यंग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात्।
तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम्॥ (वही, पृ० ६३)

जाता है। "व्यक्ति विवेक" पर आगे चल कर सम्यक् ने एक टीका भी रची थी। "व्यक्ति विवेक" में आचार्य महिम भट्ट ने सभी प्रकार की ध्वनियों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा है। उन्होंने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि सम्बन्धी स्थापनाओं की परीक्षा करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि जिसे उन्होंने ध्वनि कहा है, वह वास्तव में अनुमान का एक प्रकार। यही नहीं, पूर्ववर्ती रस सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए भी उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है कि रस की अभिव्यक्ति भी वास्तव में अनुमान से ही होती है। इस प्रकार से ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी शास्त्रज्ञों में आचार्य महिम भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है।

भोज

रचना और काल :—

भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है यह धारा नगरी के राजा थे। इनके लिये हुये दो ग्रन्थों का उल्लेख किया जात (१) सरस्वती कंठाभरण तथा (२) शृंगार प्रकाश। इनमें से प्रथम ग्रन्थ ही पूर्ण रूप में उपलब्ध है और विशेष रूप से यह महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभाजित है। इनमें प्रथम में काव्य के गुण तथा दोष, द्वितीय में शब्दालंकार, तृतीय में अर्थालंकार चतुर्थ में उपमालंकार तथा पंचम अध्याय में रस भाव आदि की व्याख्या की गई है। भोज के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके साहित्यिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

वाङ्मय के भेद:—

भोज के अनुसार वाङ्मय या अध्येय उसे कहते हैं, जिससे विधि तथा निषेध का ज्ञान एवं लोक यात्रा का प्रवर्तन हो।[1] उन्होंने उसके छै प्रकार बताये हैं।

१ विधिर्वा च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोक यात्रा प्रवर्तते ॥
(सरस्वतीकंठाभरणम्, २, १३८)

(१) काव्य, (२) शास्त्र, (३) इतिहास, (४) काव्य शास्त्र, (५) काव्येतिहास तथा (६) शास्त्रेतिहास ।[१]

श्रव्य काव्य :—

श्रव्य काव्य की विवेचना करते हुए भोज ने बताया है कि जो काव्य दृश्य नहीं होता तथा बोला नहीं जाता और केवल कानों को ही सुख प्रदान करता है, वह श्रव्य काव्य होता है ।[२] उन्होंने श्रव्य काव्य के भी छः भेद बताये हैं (१) आशीः (२) नान्दी (३) नमस्कार, (४) वस्तु निर्देश, (५) अक्षिप्त तथा (६) ध्रुवा ।[३]

प्रबन्ध का स्वरूप :—

भोज ने प्रबन्ध को चारों वृत्तियों के अंगों से युक्त, उदात्त नायक वाला तथा चतुर्थ वर्ग फलदायक बताया है ।[४] उन्होंने प्रबन्ध में पाँच सन्धियाँ मानी हैं, (१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अवमर्श तथा (५) निर्वहण ।[५] भोज के विचार से प्रबन्ध को श्रव्य वृत्त वाला तथा गुण युक्त होना चाहिए । उसमें सर्ग के अन्त में वृत्त भी परिवर्तित हो जाना चाहिए ।[६] उन्होंने बताया है कि प्रबन्ध में पुर, उपवन आदि का

१ काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ।। (सरस्वती कंठाभरण, १३९)

२ श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते ।
श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम् ।। (वही २, १४०)

३ आशीर्नान्दी नमस्कारो वस्तुनिर्देश इत्यपि ।
अक्षिप्तका ध्रुवा चेति शेषो व्यक्तं भविष्यति ।। (वही, २, १४१)

४ चतुर्वृत्त्यंङ्गसंपन्नं चतुरोदात्तनायकम् ।
चतुर्वर्गफलं को न प्रबन्धं बान्धवीयति ।। (वही, ५, १२७)

५ मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्च मनीषिभिः ।
स्मृतानिर्वहणं चेति प्रबन्धे पंच संधयः ।। (वही, ५ १२८)

६ अविस्तृतमसंक्षिप्तं श्रव्यवृत्तं सुगन्धि च ।
भिन्नसर्गान्तवृत्तं च काव्यंलोकोऽतिनन्दति । (वही, ५, १२८)

चित्रांकन तथा समुद्र एवं आश्रय आदि के वर्णन से रस का उत्कर्ष होता है।[१] उसमें ऋतु, रात, दिन, सूर्य और चन्द्रमा के उदय तथा अस्त होने के वर्णन से रस का पोषण होता है।[२] उसमें राजकुमारी, राजकुमार, स्त्री, सेना के अंगों के वक्रतापूर्ण संचालन के वर्णन से रस में प्रवाह आता है।[३] उसमें उद्यान क्रीड़ा, जल क्रीड़ा मधु, पान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह तथा शृंगारिक चेष्टाओं से सरसता आती है।[४] उसमें मन्त्र, दूत गमन युद्ध नायक के अभ्युदय से पुरुषार्थ की पुष्टि से रस बरसता है।[५] उसमें यदि पर्वत, ऋतु, रात्रि आदि का सन्तोष जनक वर्णन हो, तो नगर आदि का वर्णन न होना दोष नहीं माना जाता है।[६] भोज के मत से प्रबन्ध के प्रारम्भ में किसी गुण से नायक की प्रतिष्ठा, तब उससे विरोधियों का निराकरण करना चाहिए।[७] नायक का उत्कर्ष कथन शत्रु के वंश, पराक्रम तथा विद्या वर्णन के पश्चात् उस पर विजय से भी होता है।[८]

दृश्य काव्य :—

इसी प्रकार से भोज ने दृश्य काव्य के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा है कि दृश्य काव्य उसे कहते हैं जो अभिनेताओं द्वारा कथित एवं वाचिक अभिनयों द्वारा

१ पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः।
देशसंपत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥ (सरस्वतीकंठाभरण, ५, १३०)

२ ऋतुरात्रिदिवार्केन्दूदयास्तमयकीर्तनैः।
कालः काव्येषु संपन्नो रसपुष्टिं नियच्छति ॥ (वही, ५, १३१)

३ राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनांगभंगिभिः।
पात्राणां वर्णनं काव्ये रसस्रोतोऽधितिष्ठति ॥ (वही, ५, १३२)

४ उद्यानसलिल क्रीडामधुपानरतोत्सवाः।
विप्रलम्भा विवाहाश्च चेष्टाः काव्ये रसावहाः। (वही, ५, १३३)

५ मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयादिभिः।
पुष्टिः पुरुषकारस्ये रसं काव्येषु वर्षति। (वही, ५, १३४)

६ नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय विदुषां मतम्।
यार्देशैलर्तु रात्र्यादेवर्णनेनैव तुष्यति। (वही, ५, १३५)

७ गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृति सुन्दरः ॥ (वही ५, १३६)

८ वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥ (वही, ५, १३१)

निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है ।[1] भोज ने दृश्य काव्य के छै भेद बताये हैं (१) लास्य, (२) तांडव, (३) छलिक, (४) सम्पा, (५) हल्लीसक और (६) रासक ।[2]

अन्य भेद :—

वाङ्मय के उपर्युक्त भेदों का विवेचन करने के अतिरिक्त भोज ने उसके तीन और प्रकार बताये हैं (१) वक्रोक्ति, (२) रसोक्ति तथा (३) स्वभावोक्ति । इनमें से रसोक्ति को उन्होंने सबसे अधिक हृदयग्राहिणी बताया है ।[3]

रस योजना :—

भोज ने रस योजना की चौबीस विभूतियाँ बतायी हैं, जिनके स्वरूप ज्ञान से कवि काव्य की रचना करने में समर्थ होता है । इन्हें ही भोज ने रसोक्तियाँ कहा है । ये इस प्रकार हैं (१) भाव, (२) जन्म, (३) अनुबन्ध, (४) निष्पत्ति, (५) पुष्टि, (६) संकर, (७) ह्रास, (८) आभास, (९) शम, (१०) शेष, (११) विशेष, (१२) परिशेष, (१३) विप्रलम्भ, (१४) सम्भोग, (१५) चेष्टाएँ, (१६) परीष्टियाँ, (१७) निरुक्ति, (१८) प्रकीर्ण, १९) प्रेम, (२०) पुष्टियाँ, (२१) नायिका नायक गुण, (२२) पाकादि, (२३) प्रेम भक्ति तथा (२४) नानालंकार संसृष्टि के प्रकार ।[4]

१ यदांगिकैकनिर्वर्त्यमुज्झितं वाचिकादिभिः ।
नर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणाक्ष्वेडिकादि तत् ।। (सरस्वतीकंठाभरणं २, १४२)

२ तल्लास्यं ताडवं चैव छलिकं संपया सह ।
हल्लीसकं च रासं स षट्प्रकारं प्रचक्षते ।। (वही, २, १४३)

३ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानते ।। (वही, ५, ८)

४ भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसंकरौ ।
ह्रासाभासौ शमः शेषो विशेषः परिशेषवान् ।।
विप्रलम्भोऽथ संभोगस्तच्चेष्टास्तत्परीयष्टकः ।

इनके अतिरिक्त भोज ने प्रेम की बारह महाऋद्धियाँ बतायी हैं, जो इस प्रकार हैं, (१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) सामान्य, (४) विशेष, (५) प्रच्छन्न, (६) प्रकाश, (७) कृत्रिम (८) अकृत्रिम, (९) सहज, (१०) आहार्य, (११) यौवनज तथा (१२) विस्रम्भज। इसी प्रकार से उन्होंने तेरह प्रेम पुष्टियों का भी उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं (१) चक्षु प्रीति, (२) मन : संग, (३) बारंबार संकल्प, (४) प्रलाप, (५) जागरण, (६) कृशता, (७) अन्य विषयों में अरति, (८) लज्जा, (९) विसर्जन, (१०) व्याधि, (११) उन्माद, (१२) मूर्च्छा तथा (१३) मरण।[२]

रति :—

रति की व्याख्या करते हुए भोज ने उसे मनोनुकूल विषयों में सुख की अनुभूति कहा है। यह रति जब विषयों में असंप्रयुक्त हो जाती है तब प्रीति कहलाती है।[३] भोज ने बताया है कि यह निसर्ग, संसर्ग, औपम्य, अध्यात्म, अभियोग, संप्रयोग, अभिमान

निरुक्तयः प्रकीर्णानि प्रेमाणः प्रेमपुष्टयः।
नायिकानायकगुणः पाकाधाः प्रेमक्तयः।
नानालंकारसंसृष्टेः प्रकारश्च रसोक्तयः।
चतुर्विंशतिरित्युक्ता रसान्वयविभूतयः।
स्वरूपमासां यो वेद स काव्यं कर्तुमर्हति॥ (सरस्वतीकंठाभरण, ५, ९, १२)

१ नित्यो नैमित्तिकश्चान्यः सामान्योऽन्यो विशेषवान्
प्रच्छन्नोऽन्यः प्रकाशोऽन्यः कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ॥
सहजाहार्यनामानौ परौ यौवनजोऽपरः।
विस्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वादशैते महर्द्धयः। (वही, ५, ९७, ९८)

२ चक्षुःप्रीतिर्मनः संग संकल्पोत्पत्तिसंततिः।
प्रलापो जागरः कार्श्यमरतिर्विषयान्तरे।
लज्जाविसर्जनं व्याधिरुन्मादो मूर्च्छनं मुहुः।
मरणं चेति विज्ञेयाः क्रमेण प्रेमपुष्टयः। (वही, ५, ९९, १००)

३ मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः।
असंप्रयोग विषया सेव प्रीतिर्निगद्यते। (वही, ५, १३८)

तथा विषय से उत्पन्न होती है।[1] प्रीति संप्रयोग के स्थान पर अभ्यास से उत्पन्न होती है।[2]

रीति :—

भोज ने बताया है कि वैदर्भ आदि की रचना पद्धति को काव्य में मार्ग कहा गया है। इसकी उत्पत्ति "रीङ्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ "जाना" है।[3] उन्होंने रीति के छै प्रकार बताये हैं (१) वैदर्भी, (२) पांचाली, (३) गौड़ीया, (४) आवन्तिका, (५) लाटीया तथा (६) मागधी।[4] इनमें से वैदर्भी रीति उसे कहते हैं, जो समास रहित, श्लेष आदि गुण युक्त तथा वीणा के स्वर सौन्दर्य से शोभित होती है।[5] पांचाली रीति उसे कहते हैं, जो पाँच छै पदों के समास वाली, ओज और कान्ति गुण रहित मधुर तथा सुकुमार होती है।[6] गौड़ीया रीति उसे कहते हैं जो उद्भट पदों के समास वाली तथा ओज एवं कान्ति गुणों से युक्त होती हैं।[7] आवन्तिका रीति उसे कहते हैं, जो दो, तीन या चार पदों के समास वाली होती है। यह पांचाली तथा

१ रतिर्निसर्गसंसर्गौ स्याध्यात्माभि योयजा।
संप्रयोगाभिमानोत्था विषयेत्था च कथ्यते ॥ (सरस्वतीकंठाभरणं, ५, १६५)

२ प्रीतिरप्येवमेव स्यान्न त्वस्यां सांप्रयोगिकी।
आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतके यथा ॥ (वही, ५, १६६)

३ वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते। (वही, २, २७)

४ वैदर्भी साथ पांचाली गौड़ीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढ़ा रीतिर्निगद्यते ॥ (वही, २, २८)

५ तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता।
मधुरां सुकुमारां च पंचाली कवयो विदुः ॥ (वही, २, ३०)

६ समस्तपंचमपदामोजाकान्तिविवर्जिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः (वही, २, ३०)

७ समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौड़ीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणा। (वही, २, ३१)

वैदर्भी की मध्यवर्तिनी होती है।[1] लाटीया रीति उसे कहते हैं, जो सभी रीतियों से मिश्रित रचना होती है। इसी प्रकार से, मागधी रीति उसे कहते हैं जिसमें उपर्युक्त रीतियों का निर्वाह न होने पर खंड रीति हो।[2]

अरीतिमत् दोष :—

भोज के अनुसार जहाँ पर श्लेष आदि गुणों का विपर्यय हो, वहाँ अरीतिमत् दोष होता है। इसके तीन भेद हैं (१) शब्द प्रधान अरीतिमत् दोष, (२) अर्थ प्रधान अरीतिमत् दोष तथा (३) उभय प्रधान अरीतिमत् दोष। इन तीनों के श्लेष आदि सम्बन्ध से तीन-तीन भेद हैं।[3] इनमें से प्रथम अर्थात् शब्द प्रधान अरीतिमत् दोष वहाँ होता है जहाँ श्लेष, समता तथा सुकुमारता का विपर्यय हो। इनमें से श्लेष के विपर्यय से सन्दर्भ शिथिल दोष युक्त, समता के विपर्यय से विषम दोष युक्त, तथा सुकुमारता के विपर्यय से कठोर दोष युक्त होता है।[4] इसी प्रकार से द्वितीय अर्थात् अर्थ प्रधान अरीतिमत् दोष वहाँ होता है, जहाँ कान्ति, प्रसाद अथवा अर्थ व्यक्ति का विपर्यय हो। इनमें से कान्ति के विपर्यय से ग्राम्य दोष प्रसाद के विपर्यय से अप्रसन्न दोष तथा अर्थ व्यक्ति के विपर्यय से नेयार्थ दोष होता है।[5] तृतीय अर्थात् उभय प्रधान

१ अन्तराले तु पांचालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सान्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः॥ (सरस्वतीकंठाभरण, २, ३२)

२ समस्तरीतिर्व्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खंडरीतिस्तु मागधी॥

३ गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनांविपर्ययः अरी तिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते।
शब्दार्थोभययोरस्य प्राधान्यात्प्रथमं त्रिधा॥ (वही, १, ३०)

४ भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते। अत्र यः श्लेषसमतासौकुमार्यं विपर्ययः।
शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमतिदूषणम्। विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलोभवेत्।
भवेत्स एवं विषमः समताया विपर्ययात्। सौकुमार्यविपर्यासात्कठोर उपजायते।
(वही, १, ३०, ३१, ३२)

५ या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामत्यथा गतिः अर्थप्रधानः प्रोक्तः स वाक्ये गुणविपर्ययः। अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात्। वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्ते-विपर्ययात्॥ कान्तेविपर्ययाद्ग्राम्यंग्राम्यमित्यपदिश्यते। ओजोमाधुर्ययोदार्यं न प्रकर्षाय जायते। (वही १, ३३, ३४, ३५)

अरीतिमत् दोष वहाँ होता है, जहाँ ओज, मधुरता तथा उदारता गुणों का विपर्यय हो। इनमें से ओज के विपर्यय से असमस्त दोष, मधुरता के विपर्यय से अनिर्व्यूढ़ दोष तथा उदारता के विपर्यय से अलंकार दोष होता है।[1]

महत्व :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में भोज का स्थान एक शास्त्रज्ञ की दृष्टि से बहुत अधिक है। उनके गुणों का वर्णन कवि कल्हण ने अपनी "राजतरंगिणी" में भी किया है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, भोज की ख्याति का मुख्य कारण उनका साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ "सरस्वतीकंठाभरण" ही है, यद्यपि इसके तथा "शृंगारप्रकाश" के अतिरिक्त उनके "राजमृगांक" शीर्षक एक ज्योतिष शास्त्र विषयक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके विविध विषयक अन्य भी अनेक ग्रन्थ माने जाते है। भोज कृत "सरस्वतीकंठाभरण" नामक ग्रन्थ की आगे चल कर रत्नेश्वर द्वारा "रत्नार्णव" शीर्षक टीका की भी रचना की गयी।

मम्मट

रचना और काल :—

आचार्य मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम जैयट बताया जाता है। इनके कय्यट तथा उव्वट नामक अनुजों का भी उल्लेख मिलता है। मम्मट का प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य प्रकाश" है। इस ग्रन्थ में दस उल्लास हैं। इसके प्रथम उल्लास में काव्य का प्रयोजन, काव्य के लक्षण, काव्य के भेद आदि, द्वितीय में शब्द तथा अर्थ का स्वरूप तथा शब्द

१ यस्मिंस्तमाहुरुभयप्रधानं तद्विपर्ययात्। वाक्ये यः खंडयन्रीति भवत्योजोविपर्यय. असमस्तमितिप्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः। माधुर्यव्यत्यो यस्तु जायते रीतिखंडनात् तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः। यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः वाक्यं तदनलंकारमलंकारविदो विदुः। (वही, १, ३५, ४१)

शक्ति विवेचन आदि, तृतीय में अर्थ व्यंजना का विवेचन, चतुर्थ में काव्य के भेदों का निरूपण, रस, रस के भेद तथा ध्वनि के भेद आदि, पंचम में गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन, षष्ठ में अधम काव्य का निरूपण, सप्तम में दोष विवेचन, अष्टम् में गुण विवेचन, नवम् में शब्दालंकार विवेचन तथा दशम में अर्थालंकारों का विवेचन है। इसी ग्रंथ के आधार पर मम्मट के सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य प्रयोजन विचार :—

मम्मट के विचार से काव्य प्रवृत्ति का विकास कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के कारण होता है, जो इस प्रकार हैं, यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट निवारण, सद्यः परानिवृति और कान्ता संमित उपदेश।[1] मम्मट के इस मन्तव्य को संस्कृत काव्यशास्त्र की पूर्व परम्परा के सन्दर्भ में देखने पर यह प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम मम्मट को ही काव्य के इस प्रयोजन षटक् का निरूपण करने का श्रेय प्राप्त है। इनमें से पंचम प्रयोजन अर्थात् 'सद्यःपरानिवृति' को ही काव्य का परम उद्देश्य माना है। इसकी महत्ता का निर्देश करते हुए उन्होंने बताया है कि यह रस-आनन्द, वेद, शास्त्र, पुराण तथा इतिहास आदि के माध्यम से भी दुर्लभ हैं, जो काव्य से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त काव्य के जो अन्य पाँच प्रयोजन हैं उनका भी पृथक् पृथक् महत्व है जिसके कारण उन्हें भी गौण नहीं कहा जा सकता है। साथ ही यह तथ्य भी ध्यान में रखने योग्य है कि मम्मट का यह प्रयोजन विचार पारमार्थिक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूरित है। कदाचित् इसी कारण मम्मट ने यश प्राप्ति को सर्वप्रथम रखा है। इससे स्पष्ट है कि परोक्ष रूप से कवि और समाज के सम्बन्ध से ही यह सम्भव है। इसी प्रकार से इसी से सम्बद्ध काव्य प्रयोजन अर्थ लाभ की भावना है। अन्य काव्य प्रयोजन भी इसी प्रकार से व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आधारित मन्तव्य हैं।

काव्य हेतु विवेक :—

आचार्य मम्मट ने काव्य हेतु पर विचार करते हुए अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों के मत को भी दृष्टि में रखा है। यही कारण है कि इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले

१ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
(काव्यप्रकाश, अनु० डा० सत्यव्रत सिंह, १, २)

मम्मट के विचार पूर्व विचारों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। विशेष रूप से ध्वनि सम्प्रदाय के पोषक आचार्यों के विचारों से। मम्मट ने काव्य रचना के तीन कारण बताये हैं (१) कविता रचने की शक्ति, (२) लोक और शास्त्र के अवलोकन की चतुराई तथा (३) काव्य ज्ञाताओं से शिक्षा प्राप्ति तथा अभ्यास।[१] इन तीन काव्य रचना के कारणो का निर्देश करते हुए उन्होंने बताया है कि इन तीनों में एक प्रकार की अन्तर्निर्भरता का सम्बन्ध है। इसी कारण काव्य की रचना में इन तीनों का योग आवश्यक है। इनमें से किसी के भी अभाव में सम्भव रूप से काव्य का उद्भव नहीं हो सकता। यहाँ पर यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि काव्य रचने की शक्ति से मम्मट का आशय काव्य प्रतिभा से है। इसे उन्होंने प्रथम काव्य हेतु विवेक निदर्शित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इसके अभाव में काव्य रचना इसलिये नहीं हो सकती, क्योंकि इसका सम्बन्ध कवि के संस्कार तथा नैसर्गिक प्रतिभा से है। इसी प्रकार द्वितीय काव्य हेतु कवि की निपुणता को आवश्यक बताते हुए मम्मट ने यह प्रतिपादित किया है कि कवि का यह गुण उसके काव्य के माध्यम से सामने आता है। काव्य के तृतीय हेतु 'अभ्यास' पर बल देते हुए उन्होंने यह निदर्शित किया है कि व्यावहारिक ज्ञान के संयोग से कवि अपने काव्य में परिष्कार ला सकता है। इसके साथ ही साथ यह काव्य हेतु एक काव्य रचना के लिये अनिवार्य अनुशासन प्रक्रिया की ओर भी संकेत करता है जिसके अभाव में उत्कृष्ट काव्य रचना सम्भव नहीं होती। अन्त में उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से निर्देशित किया है कि ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के उद्भव उत्कर्ष के कारण हैं।

काव्य स्वरूप निरूपण :—

काव्य के स्वरूप का निरूपण करते हुये मम्मट ने काव्य का सर्वरूपेण विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है कि काव्य के शब्दों तथा अर्थों में दोष न होकर गुण अनिवार्यतः होने चाहिये। अलंकारों का समावेश भी कहीं कहीं होना चाहिये।[१] काव्य के स्वरूप का निरूपण करने वाला मम्मट का पारिभाषिक मन्तव्य एक प्रकार से समन्य-

१ शक्तिर्निपुणता लोकशस्त्रकाव्यद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

१ तदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि॥ (काव्य प्रकाश, १, ३)

वादी मन्तव्य है, जिसमें संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा का प्रसार करने वाले प्रायः सभी मुख्य सिद्धांतों को स्वीकारा गया है। सगुण एवं अलंकृत परन्तु अदोष शब्दार्थ साहित्य को ही मम्मट ने काव्य का लक्षण बताया है। अदोष शब्दार्थ साहित्य में कवि रस योजना प्रतिभा सफलतापूर्वक आभासित होती है, इसलिये इस अदोषता का संकेत रसगत दोष की ओर है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मम्मट ने दोष का प्रयोग अवगुण मात्र के अर्थ में नहीं किया है। काव्य की गुणयुक्तता से मम्मठ का आशय रस वैशिष्ट्य से है। इसी प्रकार अलंकृतता से भी मम्मट का यह संकेत स्पष्ट है कि काव्य में अलंकरण से शब्दार्थ के साथ ही साथ रस और भाव में भी चमत्कार आता है।

काव्य के भेद :—

मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये हैं (१) उत्तम अथवा ध्वनि काव्य, (२ मध्यम अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा (३) अवर अथवा चित्र काव्य। इनमें से उत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो।[1] इसी प्रकार से मध्यम काव्य वह है, जिसमें व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण न होकर गुणीभूत हो[2] तथा अवर काव्य वह कहा जायगा, जिसमें व्यंग्यार्थ न हो तथा शब्द चित्र और वाच्य चित्र हो।[3]

रस निष्पत्ति :—

मम्मट ने रस उस स्थायी भाव को कहा है, जिसका प्रतिपादन विविध विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों से व्यंजना वृत्ति के द्वारा होता है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध में रस की उत्पत्ति का कथन ठीक है। उन्होंने रस पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्प नहीं माना है, क्योंकि उसमें विभावादि के सम्बन्ध की प्रधानता है। परन्तु उन्होंने उसे सविकल्पक भी नहीं माना है, क्योंकि आस्वादन से उसका प्रचुर अलौकिक आनन्दयुक्त होना भी अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार से उन्होंने उसे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न माना है। परन्तु वह

१ इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। (काव्यप्रकाश, १, ४)
२ अतादृशि गुणीभूतव्यंग्य व्यंग्ये तु मध्यमम्। (वही, १, ५)
३ शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। (वही, १, ५)

इनसे भिन्न होकर भी उनके गुणों को एक साथ रखता है। इससे रस का ज्ञान उसके विरोध को न प्रकट करके उसकी अलौकिकता को ही प्रकट करता है। इस प्रकार से मम्मट ने रस निष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विवेचन किया है।[1]

काव्य दोष का स्वरूप :—

मम्मट ने बताया है कि मुख्य अर्थ के ज्ञान के कारणों को दोष कहते हैं। उन्होंने बताया है कि काव्य में रस के साथ ही साथ रस का आश्रित वाच्य अर्थ भी मुख्यता रखता है। इसी प्रकार रस तथा वाच्य अर्थ के उपयोग में शब्द आदि भी आते हैं, अतः उन शब्दों एवं अर्थों में भी दोष होता है।[2]

काव्य गुण का स्वरूप :—

काव्य के गुण का स्वरूप विवेचन करते हुए मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रकार से मानव शरीर में प्रधान आत्मा के शौर्य आदि गुण होते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रधान रस के उत्कर्षकारी धर्म गुण कहलाते हैं। काव्य में इनकी स्थिति अचल एवं नियत रखती है।[3]

गुण और अलंकार का भेद :—

मम्मट के विचार से अलंकार उसे कहते हैं जो धर्म अंगों के द्वारा कभी कभी

१ तद्ग्राहकं च प्रमाणं न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्।
नापि सविकल्पकम् चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।
उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न।
तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। (काव्यप्रकाश, पृ० ९५)

२ मुख्यार्थहतिदोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः। (वही, ७, ४९)

३ ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ (वही, २, ६६)

उपस्थित रहने वाले रस का उपकार करता है। धर्म हार आदि के समान अलंकार कहे जाते हैं। इनके अनुप्रास आदि भेद होते हैं।[1]

प्रमुख काव्य गुण :—

काव्य के प्रमुख गुणों का वर्णन करते हुए मम्मट ने बताया है कि माधुर्य काव्य के उस गुण को कहते हैं, जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और शृंगार रस में चित्त को गलित कर देने का कारण होता है।[2] इसी प्रकार से ओजस उस गुण को कहते हैं, जो चित्त को उत्तेजित करता है।[3] प्रसाद गुण वह होता है, जो सूखे ईंधन में अग्नि की भाँति तथा स्वच्छ वस्त्र आदि में जल की भाँति, तुरन्त मन में व्याप्त हो जाता है। यह सभी रसों में स्थित रहता है।[4]

काव्यगत शब्दार्थ के भेद :—

काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द के मम्मट ने तीन भेद किये हैं (१) वाचक रूप शब्द प्रकार, (२) लाक्षणिक रूप शब्द प्रकार तथा (३) व्यंजक रूप शब्द प्रकार।[5] इसी प्रकार से इन त्रिविधरूप शब्दों के क्रमानुसार त्रिविध अर्थ भी हैं, अर्थात् (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ तथा (३) व्यंग्यार्थ। इनके अतिरिक्त एक और अर्थ भी उन्होंने "तात्पर्यार्थ" के नाम से बताया है। यह भी उन्होंने इंगित किया है कि तात्पर्यार्थ को अभिहितान्वयवादी लोग एक भिन्न अर्थ प्रकार मानते हैं परन्तु अन्विताभियानवादी उसे वाक्यार्थ नहीं मानते। इनमें से प्रथम अर्थात् "वाचक" उस शब्द को बताया है जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक हो।[6] यह संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है।

१ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (काव्यप्रकाश, ८, ६७)
२ आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ॥ (वही, ८, ६८)
३ दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति । (वही, ८, ६९)
४ शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितः (वही, ८, ७०)
५ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ (वही, २, ९)
६ साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः (वही, २, ७)

१. जातिरूप अर्थ, २. गुण रूप अर्थ ३. क्रियारूप अर्थ और ४. इच्छा रूप अर्थ।[1] इसी चतुर्विध साक्षात् संकेतित अर्थ को उन्होंने शब्द का मुख्य अर्थ कहा है। और इस अर्थ के बोध में अभिधा व्यापार अथवा अभिधाशक्ति कार्यशील रहती है।[2] जब वाक्य-रूप शब्द स्वयं अपने मुख्य अर्थ की अविवक्षा में उससे सम्बद्ध किसी ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करने लगता है जिसमें कोई रूढ़ि अथवा उद्देश्य विशेष कारण हो तब उसे लाक्षणिक शब्द और उसकी क्रिया को लक्षण कहते हैं।[3] मम्मट ने "लक्षण" का पहला भेद "शुद्धा" लक्षणा बताया है जिसके दो रूप होते है—१. शुद्धा उपादान लक्षणा तथा २. शुद्धा लक्षण-लक्षणा। यहाँ उपादान का तात्पर्य है शब्द के मुख्यार्थ का स्वयं को संगत बनाने के लिये अपने अप्रधान अर्थ का आक्षेप करना। इसी प्रकार से लक्षणा का आशय है शब्द के मुख्य अर्थ का स्वयं को अपने अप्रधान अर्थ के लिये समर्पित कर देना जिससे वह अप्रधान अर्थ ही संगत हो जाय।[4]

लक्षणा के उपर्युक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त मम्मट ने दो अन्य भेद बताये है। १. सारोपारूप लक्षणा तथा २. साध्यवसाना रूप लक्षणा हैं। इनमें से सारोपा रूप लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें विषयी तथा विषय दोनों प्रतिपाद्य होते हैं। इसी प्रकार से साध्य-वसाना रूप लक्षणा में विषय विषयी के द्वारा तिरोभूत हो जाता है।[5]

उपर्युक्त सारोपा तथा साध्यवसाना भेदों के भी दो भेद हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् सारोपारूप लक्षणा के दो भेद इस प्रकार हैं—१. गौणसारोपा लक्षणा तथा २. शुद्धसारोपा लक्षणा। इसी प्रकार से द्वितीय अर्थात् साध्यवसानारूप लक्षणा के भी दो भेद हैं १. गौण साध्यवसाना लक्षणा तथा शुद्धसाध्यवसाना लक्षणा।

१ संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। (काव्यप्रकाश २, ८)
२ समुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। (वही, २, ८)
३ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ (वही, २, ९)
४ स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥ (वही, २, १०)
५ सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥ (वही, २, ११)

शब्दरूप काव्योपकरण :

मम्मट ने शब्दों का श्रेणी विभाजन करते हुये लिखा है कि काव्य में शब्द की त्रिविध उपाधियों का परिज्ञान अनिवार्य है। जिसका कारण यह है कि इसके अभाव में कवि की रस सृष्टि का सम्यक् विश्लेषण नहीं हो सकता। सामान्यतः शब्द की तीन उपाधियाँ मान्य हैं १. वाचकता, २. लाक्षणिकता तथा ३. व्यंजकता। इसीलिये उन्होंने बताया है कि काव्य में जिन शब्दों का प्रयोग कवि करता है वे त्रिविध होते है।

अर्थ रूप काव्य साधन :—

आचार्य मम्मट ने अर्थ का दो रूपों में विवेचन किया है—१. सामान्य साधन और २. कलात्मक माध्यम। सभी प्रकार के अर्थ प्रायः पद के अर्थ होते हैं। काव्य में शब्द और अर्थ समान रूप से महत्व रखते हैं। इसीलिये मम्मट ने लिखा है कि काव्य एक विलक्षण कृति है क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ अपने वैचित्र्य के साथ रस योजना की सिद्धि के हेतु प्रयुक्त होते हैं।[1] उन्होंने लिखा है कि वाच्य लक्ष्य तथा व्यंग्यरूप अर्थों का प्रयोग कविगण अनुभव के प्रकाशन के उद्देश्य से करते हैं।[2]

महत्व :—

संस्कृत अलंकारशास्त्र के विकास की परम्परा में आने वाले ग्रन्थों में "काव्य प्रकाश एक प्रमुख ग्रन्थ के रूप में मान्य है। आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ अपने रचना काल से लेकर वर्तमान काल तक एक प्रामाणिक आलंकारिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसकी रचना होने के समय से लेकर आज तक इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। इन टीकाओं में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम टीका "काव्य प्रकाश संकेत" है, इसका रचना काल विक्रम संवत् १२१६ है, जिसके रचयिता गुजराती पंडित माणिक्य-चन्द्र हैं, यद्यपि प्राप्त संकेतों के आधार पर यह कहा जाता है कि इसके पूर्व भी काव्य प्रकाश पर कुछ टीका साहित्य उपलब्ध था। इसके पश्चात् वि० सं० १२९८ में आचार्य सरस्वतीतीर्थ ने इस ग्रन्थ की टीका "बालचिन्तानुरंजनी" के नाम से प्रस्तुत की।

१ शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसांगभूतव्यापार प्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्।
(काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)

२ सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते। (वही, द्वितीय उल्लास)

तत्पश्चात् पुरोहित जयन्त भट्ट ने वि० सं० १३५० में "काव्य प्रकाश दीपिका" के नाम से इस ग्रंथ की टीका प्रस्तुत की "फिर आचार्य सोमेश्वर ने" 'काव्यादर्श' अथवा "संकेत" के नाम से, कविराज विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाश दर्पण' के नाम से (तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी मे), परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने 'काव्य प्रकाश विस्तारिका' के नाम से (चौदहवीं शताब्दी के लगभग), कवि आनन्द ने 'सारसमुच्चय' के नाम से (पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग) ,श्री वत्सलांछन भट्टाचार्य ने 'सार बोधनी' के नाम से (पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग), पंडित गोविन्द ठाकुर ने 'काव्य प्रदीप' के नाम से (सोलहवी सत्रहवीं शताब्दी के लगभग) महेश्वर भट्टाचार्य ने "आदर्श" के नाम से (सत्रहवीं शताब्दी), कमलाकर भट्ट ने 'काव्यप्रकाशटीका' के नाम से, नरसिंह ठाकुर ने 'नरसिंरमतीषा' के नाम से, वैद्यनाथ ने 'उदाहरण चन्द्रिका' के नाम से, भीमसेन दीक्षित ने 'सुधासागर' के नाम से (विक्रम संवत् १७७९), हरिशंकर शर्मा ने 'नागेश्वरी' टीका के नाम से तथा तथा डा० सत्यव्रत सिंह ने 'हिन्दी काव्य प्रकाश' के नाम से प्रस्तुत की है। इनके अतिरिक्त श्रीधर, देवनाथ, भास्कर (साहित्य दीपिका)' सुबिद्धि मिश्र, अच्युत, रत्नपाणि (काव्य दर्पण), रवि पंडित (मधुमती) 'जयराम (प्रकाश तिलक), यशोधर, मुरारि मिश्र, पक्षधर, रामनाथ (रहस्य प्रकाश), जगदीश (रहस्य प्रकाश), गदाधर, राघव (अवचूरि), वैद्यनाथ (प्रभा) आदि टीकाकारों ने भी अपनी टीकाएँ प्रस्तुत की है। तत्वबोधिनी, कौमुदी आलोक आदि टीकाओं का भी उल्लेख मिलता है।

क्षेमेन्द्र

रचना और काल:—

आचार्य क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह आचार्य मम्मट के समकालीन कहे जाते हैं। इनके पितामह का नाम सिन्धु तथा पिता का नाम प्रकाशेन्दु था। यह काश्मीर में निवास करते थे। इन्हें आचार्य सौम ने वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया था और विधिवत् वैष्णव बना लिया था। परन्तु वैष्णव धर्म में दीक्षित होने के पूर्व यह शैव थे और इसी मत के अनुयायी थे। साहित्य के क्षेत्र में इनके गुरु आचार्य अभिनवगुप्त थे। उन्हीं से इन्हें साहित्य शास्त्र की सम्यक् शिक्षा मिली थी। इनके लिखे हुए ग्रन्थों में सर्व प्रथम "औचित्य विचार चर्चा" उल्लेखनीय है। यह इनकी सर्व प्रथम रचना भी है। इस ग्रन्थ में इन्होंने साहित्य विषयक अपने नवीन मौलिक

सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि औचित्य ही काव्य का सर्वस्व है। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में यही सर्व प्रमुख है। इसमें उन्होंने औचित्य की व्यानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसका सूक्ष्मता से विश्लेषण और वर्गीकरण किया है। उसके विविध भेदों का स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य के अन्य अंगों से उसका सन्बन्ध भी स्पष्ट किया है। इस प्रकार से उन्होंने एक सम्यक् स्वरूप निर्देशन के पश्चात् काव्य में औचित्य का महत्व मान्य किया है। 'औचित्य विचार चर्चा' के पश्चात् इनका दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ 'कविकंठाभरण' है। इस ग्रन्थ का महत्व उनके प्रथम ग्रन्थ की तुलना में बहुत कम है। इसमें मुख्यतः कवि शिक्षा का ही विवेचन किया गया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के इन दोनों ग्रन्थों 'औचित्य विचार चर्चा' तथा 'कविकंठार भरण' का रचनाकाल लगभग वही बताया जाता है' जो काश्मीर नरेश अनन्त का राज्य काल है, अर्थात् सन् १०२८ से लेकर १०६५ तक। आचार्य क्षेमेन्द्र की तीसरी कृति 'सुवृत तिलक' है। इस ग्रन्थ का विषय छन्द शास्त्र है। इसी कारण इसमें मुख्यतः छन्द शास्त्र और उसके विविध अंगों का ही विश्लेषण किया गया है, जो पर्याप्त सीमा तक नवीन और मौलिक है। अचार्य क्षेमेन्द्र की अन्तिम कृति 'दशावतार चरित' मानी जाती है। इसका रचना काल सन् १०६६ ई० माना जाता है, जो राजा अनन्त के पुत्र राजा अनन्त के पुत्र राजा कलश का राज्य काल है।

औचित्य निरूपण:—

आचर्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ में औचित्य का निरूपण करते हुए लिखा है कि काव्य के लिए अलंकार तथा गुणों के साथ ही साथ जीवन औचित्य भी आवश्यक है, क्योंकि औचित्य का गुण ही काव्य में सप्राणता लाता है।[1] उन्होंने यह भी निर्देशित किया है कि अलंकार को अलंकार तभी कहा जाता है,

१ काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं, काव्यस्य जीवितम्॥
(औचित्यविचार चर्चा, ४, ५)

सेद्धान्त का प्रतियादन करते ए बताया है कि औचित्य विषयक अपने नवीन मौलिक

जब उनका स्थान उचित हो और औचित्य से युक्त गुणों को ही सदैव गुण कहा जाता है ।[1]

औचित्य का स्वरूप :—

औचित्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि जो पदार्थ जिसके सदृश होता है, उसे ही उचित भी कहा जाता है। अतः उचित के भाव को औचित्य कहते हैं ।[2] यह औचित्य काव्य रूपी शरीर में प्राण के समान है। पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व अभिप्राय, स्वभाव, सार, संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद आदि स्थानों में मर्म स्थानों के समान काव्य के संपूर्ण शरीर मे स्थित प्राण रूपी औचित्य स्पष्ट होता है ।[3]

पद औचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार से जो सूक्ति एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करती है, वह कस्तूरी धारण की हुई चन्द्रानना और चन्दन चर्चित श्यामा के समान शोभा पातीहै। अपने इस मन्तव्य को उन्होंने विविध उदाहरणों को सव्याख्या प्रस्तुत करके पुष्ट किया है।

१ उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।। (औचित्यविचारचर्चा, ६)

२ उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।। (वही, ७)

३ पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायांकारके लिंगे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।। (वही, ८, ९, १०)

४ तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम् ।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ।। (वही, ११)

काव्य औचित्य:–

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार जो काव्य औचित्य से निर्मित होता है, वह त्याग द्वारा उन्नत ऐश्वर्य और शील द्वारा उज्जवल प्रसिद्धि के समान विद्वानों द्वारा निरन्तर प्रशंसा प्राप्त करता है ।[1]

प्रबन्ध औचित्य :–

आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि प्रबन्धात अर्थ उचित अर्थ की विशिष्टता से उसी प्रकार से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार से गुण के प्रभाव द्वारा भव्य ऐश्वर्य से सज्जन पुरुष ।[2]

गुणौचित्य :–

आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से ओज, प्रसाद, माधुर्य, एवं सौकुमार्य आदि लक्षणों से युक्त गुणमय काव्य उसी प्रकार से सहृदय पुरुषों को आनन्दयक होता है, जिस प्रकार सम्भोग के समय उदित हुआ चन्द्र ।[3]

अलंकार औचित्य :–

आचार्य क्षेमेन्द्र के मत से अर्थोचित अलंकार से युक्त सूक्ति उसी प्रकार शोभा पाती है, जैसे पीन पयोधर पर लहराते हुए हार के द्वारा मृगाक्षी ।[4]

१ औचित्यरचितं वाक्यं सततं सम्मतमसताम् ।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्जवलमिव श्रतम् । (औचत्यविचारचर्चा, १२)

२ प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवोन्गुणः ।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संयोगावसरोदितः ।। (वही, १४)

३ प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः ।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः । (वही, १४)

४ अर्थोचित्यवता सूक्तिलंकरेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षण ।। (वही, १५)

रसौचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि जिस प्रकार से वसन्त अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार से औचित्य द्वारा प्रदीप्त रस मन को प्रफुल्लित करता है ।[१]

तत्व औचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार तत्वोचित कथन से काव्य निश्चित विश्वास की दृढ़ता के कारण हृदय सम्मत और इस प्रकार से उपादेय हो जाता है ।[२]

तत्व औचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार से कवि का सत्व गुण से उचित कथन उसी प्रकार से चामत्कारिक सिद्ध होता है, जिस प्रकार से प्रकार ते सुबुद्धि द्वारा विचार किया हुआ श्रेष्ठ, उदार चरित्र ।[३]

स्वभाव औचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि स्वाभाव विषयक औचित्य उसी प्रकार से कवि की सूक्तियों के श्रेष्ठ अलंकार के रूप में मान्य होता है, जिस प्रकार से सुन्दरियों का स्वाभाविक और अद्वितीय सौन्दर्य ।[४]

प्रतिभा औचित्य :—

आचार्य क्षेमेन्द्र का मन्तव्य है कि प्रतिभा से अलंकृत कवि द्वारा रचित काव्य

१ कुर्वन्सर्वाश्येव्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ।

२ काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात् ।
तत्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः ॥

३ चमत्कारं करोत्येव वचः सत्वोचितं कवे ।
विचारश्चिरोदार चरितं सुमतेरिव ॥

४ स्वभावोचित्यमाभाति सूक्तीनां चारुभूषणं ।
अकृतिममसामान्यं लावण्यंचवयोषिताम् ॥

उसी प्रकार से शोभा पाता है, जिस प्रकार से लक्ष्मी द्वारा सुशोभित गुणी पुरुष का निर्मल कुल।[1]

महत्व :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के इतिहास में आचार्य क्षेमेन्द्र का महत्व उनके तीन ग्रन्थों "सुवृत्ति तिलक", "औचित्य विचार चर्चा", तथा "कवि कंठाभरण" के कारण ही है। यों उनके लिखे हुए अन्य ग्रन्थों की संख्या भी चालीस से अधिक अनुमानित की जाती है। कहा जाता है क्षेमेन्द्र ने साहित्य शास्त्र पर "कवि कर्णिका" नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, जो उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त क्षेमेन्द्र रचित "शिशुवंश", "दशावतारचरित", "बृहत्कथामंजरी", "भारतमंजरी" तथा "रामायण मंजरी" का भी उल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में से "औचित्य विचार चर्चा" की वृत्ति भी क्षेमेन्द्र ने लिखी थी। वस्तुतः इस ग्रन्थ का महत्व औचित्य के काव्य में महत्व प्रतिपादन की दृष्टि से बहुत अधिक है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही रस का जीवन माना। उन्होंने उस विचार का इतना मंडन किया कि बहुत से परवर्ती विद्वानों ने उनके मत के आधार पर औचित्य को एक स्वतन्त्र काव्य सम्प्रदाय ही स्वीकार कर लिया।

सागरनन्दी

सागरनन्दी का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। उनका वास्तविक नाम सागर ही था, परन्तु अपने वंश नन्दी के कारण वह सागरनन्दी नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उनकी मुख्य देन नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में ही है। इस विषय पर उन्होंने नाट्य लक्षण रत्न कोश नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें नाट्य साहित्य का सिद्धान्त शास्त्रीय निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इनके ग्रन्थ में राजशेखर के विचारों का उल्लेख भी मिलता है। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में मुभूति ने अपनी "अमरटीका"

१ प्रतिभाभरणं काव्यमुचित शोभते कविः।
निर्मलं सगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम्॥

की रचना में इनके विचारों का उल्लेख किया है, जो इनके परवर्ती युग पर प्रभाव का सूचक है।

रुय्यक

आचार्य रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। कहा जाता है कि यह काश्मीर के राजा जयसिंह के सन्धि विग्रहक महाकवि मंखक के गुरु थे, जिनके द्वारा रचित "श्रीकंठ चरित" नामक महाकाव्य का उल्लेख मिलता है। इनके पिता का नाम राजानक तिलक था। वह स्वयं भी अलंकार शास्त्री थे। उन्होंने उद्‌भट के "काव्यालंकार सार" पर टीका लिखी थी जिसका नाम "उद्‌भट विवेक" या "उद्‌भट विचार" था। रुय्यक ने "काव्यप्रकाश" पर एक टीका लिखी है। रुय्यक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ "अलंकार सर्वस्व" है। इस ग्रन्थ में उन्होने अलंकार विषयक बहुत मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें प्रायः सभी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है, जिनमें से अनेक मौलिक तथा नवीन हैं। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ने इससे विशेष रूप से प्रभाव ग्रहण किया। आचार्य रुय्यक के इस ग्रन्थ पर आगे चलकर दो महत्वपूर्ण टीकाएँ रची गयीं। इनमें से प्रथम जयरथ द्वारा रचित "विभार्षिणी" तथा द्वितीय समुद्रबन्ध द्वारा रचित टीका है।

"अलंकार सर्वस्व" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में आचार्य रुय्यक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्यशास्त्र विषयक मान्यताओं का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि भामह तथा उद्‌भट आदि प्राचीन अलंकार शास्त्रियों ने प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ का उत्कर्षकारक होने के कारण उसे अलंकारों की ओर लगाया है। उदाहरणार्थ पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, उपमेयोपमा, व्याजस्तुति, अनन्वय आदि अलंकारों में से वस्तु रूप व्यंग्य को उन्होंने "स्वसिद्ध में पराक्षेपः" तथा परार्थ स्वसमर्पणं:" इन दो प्रकार की शैलियों से बताया है। रुद्रट ने तो भावालंकार को ही दो प्रकार का कहा है, रूपक और दीपक।

आचार्य रुय्यक ने लिखा है कि व्यंग्य नाम रखने वाले विषय को ही काव्य की आत्मा कहना चाहिए। उसी के गुण एवं अलंकार से मनोहरता की सृष्टि होती है। रस आदि विषय काव्य का जीवन अवश्य है परन्तु इन्हें अलंकार रूपता से नहीं कहना

चाहिए। रुय्यक का विचार है कि अलंकार तो शोभाकारक होते हैं, इसलिए व्यंग्य ही काव्य की आत्मा है।

मंखक

रुय्यक के शिष्यों में मंखक का नाम भी उल्लेख योग्य है, जिनके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है कि उन्होंने "श्रीकंठचरित" नामक महाकाव्य की रचना की थी। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी ही माना जाता है। यह काश्मीर के राजा जयसिंह के मन्त्री थे। मंखक की साहित्य शास्त्रीय विषयक देन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि रुय्यक के ग्रन्थ "अलंकार सर्वस्व" के सूत्र और वृत्ति नामक दो भागों की रचना में इनका भी योग था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन दोनों आचार्यों ने पृथक् पृथक् भागों की रचना की तथा कुछ का अनुमान है कि रुय्यक की रचना में मंखक ने कुछ परिवर्तन मात्र किया था।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र जैन आचार्य थे। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी माना जाता है। साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त उनकी देन व्याकरण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। यह गुजरात के राजा कुमारपाल के गुरु थे। हेमचन्द्र के द्वारा रचित "काव्यानुशासन" नामक साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ तथा इस पर "अलंकारचूड़ामणि" नामक वृत्ति तथा विवेक नामक टीका का उल्लेख मिलता है। इनके काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ को देखने से यह ज्ञात होता है कि इन पर अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ का विभाजन आठ अध्यायों में किया है। इनमें से पहले में काव्य के प्रयोजन हेतु तथा प्रतिभा आदि का विवेचन, दूसरे में रस विवेचन, तीसरे में दोष विवेचन, चौथे में गुण विवेचन, पाँचवें में शब्दालंकार विवेचन, छठे में अर्थालंकार विवेचन, सातवें में नायक-नायिका-भेद तथा आठवें में काव्य के विविध भेदों की व्याख्या की गयी है।

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनमें से रामचन्द्र "प्रबन्धशतकर्ता" की उपाधि से भूषित थे। उन्होंने संयुक्त लेखन में "नाट्यदर्पण" नामक

कृति की रचना की थी। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है, इसका विषय नाट्य शास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना है। संयुक्त लेखकों ने इस "नाट्यदर्पण" नामक कृति की पृथक् से भी व्याख्या प्रस्तुत की थी। इस ग्रन्थ का महत्व सिद्धान्त निरूपण के साथ ही कुछ ऐतिहासिक महत्व की सूचनाएँ देने के कारण भी है।

वाग्भट्ट (प्रथम)

वाग्भट्ट प्रथम का समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है। यह भी जैन सम्प्रदाय के थे। इन्होंने साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में 'वाग्भटालंकार' नामक कृति की रचना की थी। इस कृति पर आठ टीकाएं रची गयी बतायी जाती हैं। इस ग्रन्थ का विभाजन पाँच अध्यायों में किया गया है। इनमें से प्रथम अध्याय में काव्य कवि प्रतिभा, कवि समय आदि का विवेचन, द्वितीय अध्याय में विविध काव्य प्रकारों में पद, वाक्य तथा अर्थ दोषों का विवेचन, तृतीय अध्याय में काव्य गुणों का विवेचन, चतुर्थ अध्याय में अलंकार तथा रीति का विवेचन तथा पाँचवें अध्याय में नायक नायिका भेद तथा रस विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जयदेव

जयदेव का समय तेरहवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। उनका जन्म प्रदेश मिथिला था। कहा जाता है कि उन्हें "पीयूषवर्ष" उपाधि प्रदान की गयी थी। इनके रचे हुए ग्रन्थ का शीर्षक "चन्द्रालोक' है। आगे चलकर इस पर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुईं। जयदेव लिखित "चन्द्रालोक" का विभाजन दस मयूखों में हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय मुख्यतः अलंकार शास्त्र का सैद्धान्तिक निरूपण ही है। इस विषय के परिचयात्मक ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी बताया जाता है इनके ग्रन्थ से व्यापक प्रभाव ग्रहण करके अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" की रचना की थी। इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद राजा जसवन्त सिंह ने "भाषाभूषण" नाम से किया है।

शारदातनय

शारदातनय का समय भी तेरहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके वास्तविक नाम के विषय में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं

है। शारदातनय के द्वारा रचे हुए ग्रन्थ का शीर्षक "भावप्रकाशन" है। इस ग्रन्थ का विषय क्षेत्र मूलतः नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें रचयिता ने भाव, रस के रूप, रस के भेद, नायक तथा नायिका भेद, शब्द तथा अर्थ की व्याख्या, नाट्य शरीर निरूपण, दश रूपक, नृत्य के भेद तथा नाट्य प्रयोग आदि का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार से इसमें नाट्य शास्त्र तथा नाट्य कला का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

भानुदत्त

भानुदत्त का समय भी तेरहवीं शताब्दी ही स्वीकार किया जाता है। इनके पिता का नाम गणेश्वर था। इनका जन्म प्रदेश भी मिथिला ही था। इनके रचे हुए ग्रन्थों में 'रस तरंगिणी' तथा 'रस मंजरी' का उल्लेख किया जाता है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त संस्करण द्वितीय ग्रन्थ है। 'रसतरंगिणी' का विभाजन आठ तरंगों में किया गया है। जैसे कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है. इस कृति में रस का सम्यक् रूप से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भानुदत्त के लिखे हुए 'अलंकारतिलक' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने गीत गौरीश नामक एक गीत ग्रन्थ की भी रचना की थी।

विद्याधर

विद्याधर का समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अनुमानित किया जाता है। इनके रचे हुए हुए 'एकावली' नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ लेखक ने उत्कल के राजा नरसिंह की प्रशंसा में रचा था था। इस ग्रन्थ की रचना विद्याधर ने मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' की शैली पर की थी। इन ग्रन्थ की विशेषता यह भी है कि इसमें लेखक ने स्वयं अपने ही रचे हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। आगे चलकर इस ग्रन्थ की जो टीकाएं लिखी गयीं, उनमें मल्लिनाथ की 'तरल' नामक टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

विश्वनाथ

रचना और काल :—

आचार्य विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह उत्कल के राजा के सन्धिविग्रहिक थे। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। उनकी लिखी हुई दो कृतियाँ 'पुष्पमाला' तथा 'भाषार्णव' बतायी जाती हैं। आचार्य विश्वनाथ का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण, है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। इन दस परिच्छेदों में आचार्य विश्वनाथ ने विविध काव्य तत्वों का वैज्ञानिक और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्य के अतिरिक्त इसमें नाटक के विषय में भी महत्वपूर्ण विवरण उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थ पर आगे चलकर दो टीकाएँ प्रस्तुत की गयीं, जिनमें से प्रथम आचार्य विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की टीका तथा द्वितीय रामतर्क वागीश की टीका हैं। आचार्य विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' में से उनकी साहित्यिक मान्यताएँ संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

काव्य फल :—

काव्य के स्वरूप का निरूपण करने के पूर्व आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के फल के विषय में बताते हुए लिखा है कि काव्य के ही द्वारा अल्पबुद्धि वालों को भी बिना किसी परिश्रम के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[१]

काव्य का स्वरूप :—

काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती विविध आचार्यों के मतों का तर्कपूर्ण ढंग परीक्षण करते हुए अन्त बताया है कि रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। रस के अभाव में में काव्यत्व नहीं होता।

१ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

(साहित्य दर्पण, अनु० डॉ० सत्यव्रत सिंह, १, २)

काव्य के गुण का लक्षण करते हुए उन्होंने बताया है कि गुण अलंकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं।[1]

वाक्य का स्वरूप :—

आचार्य विश्वनाथ के वाक्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पद समूह ही वाक्य कहा जाता है।[2] इनमें से योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति की उन्होंने पृथक् पृथक् व्याख्या की है। आकांक्षा, किसी वाक्यार्थ की पूर्ति हेतु किसी पदार्थ की जिज्ञासा के बने रहने को कहते हैं। योग्यता किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा के न होने को कहते हैं। तथा आसक्ति प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अव्यवधान को कहते हैं।[3]

वाक्य के भेद :—

वाक्य के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने के वाक्य दो भेद किये हैं (१) वाक्य तथा (२) महावाक्य। इनमें से महावाक्य का लक्षण करते हुए उन्होंने बताया है कि महाकाव्य योग्यता आकांक्षा तथा आसक्ति से युक्त वाक्य समूह को कहा जाता है।[4]

काव्य के प्रकार :—

विविध काव्य रूपों का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्य काव्य के दो भेद किये हैं (१) गद्य और (२) पद्य।[5] इनमें से पद्य उस काव्य को कहते हैं, जो छन्दों में लिखा गया हो। पद्य यदि युक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो, तो मुक्तक और यदि उसमें दो श्लोकों से वाक्य पूर्ति होती हो, तो युग्मक कहा जाता है। इनके अतिरिक्त

१ उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः ॥ (वही १, ३)

२ वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

३ योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः…
आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः।
स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः।

४ वाक्योच्चयो महावाक्यंयोग्यताकांक्षासत्तियुक्तइत्येव।
इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्। (वही, २, १)

५ श्रव्यंश्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ (६, ३, १३)

तीन पद्यों वाला काव्य सन्दानितक अथवा विशेषक, चार पद्यों वाला कलापक तथा पाँच अथवा पाँच से अधिक पद्यों वाला होने पर कुलक कहा जाता है।[1]

महाकाव्य :—

महाकाव्य की विवेचना करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि महाकाव्य उसे कहते हैं, जिसमें सर्गों का निबन्धन हो। महाकाव्य में एक नायक होना चाहिये, जो देवता या सव्द्श क्षत्रिय हो। उसे धीरोदात्त होना चाहिए।[2] उसमें एक अंगी रस होना चाहिए, जो शृंगार, वीर या शान्त कोई भी हो सकता है। अंगी रस के अतिरिक्त अन्य रस उसमें गौण हो जाते हैं। उसमें नाटक की सभी सन्धियाँ रहनी चाहिए।[3] उसकी कथा ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध होती है। उसका धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक फल होता है।[4] इसकी सर्ग संख्या आठ से अधिक होती है।[5] इसके सर्गान्त में छन्द भिन्न हो जाता है और आगामी कथा की सूचना होती है।[6] इसमें विविध प्रकार के पूर्ण वर्णन होने चाहिये। इसका नामकरण कवि या नायक के अनुसार होना चाहिये।

गद्य काव्य :—

आचार्य विश्वनाथ ने गद्य काव्य का विवेचन करते हुए बताया है कि गद्य चार प्रकार का होता है (१) मुक्तक जो समास रहित होता है, (२) वृत्त गन्धि जिसमे

१ छन्दोबद्धपदं पद्यंतेन मुक्तेन मुक्तकम्। द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम् (३, १५)

२ सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः। (६, ३१५)
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित॥ (१६)

३ शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्ग रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः (६, ६१७)

४ इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्। (३, ३१८)

५ एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः।
नातिस्वल्पानातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह। (२०)

६ नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्। (२१)

पद्यांश होते है, (३) उत्कलिकाप्राय, जिसमें दीर्घ समास होते हैं तथा (४) चूर्णक, जिसमें लघु समास होते हैं।[1] कथा का स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि उसमें सरस वस्तु गद्य द्वारा निर्मित होती है। उसमें आर्या वक्त्र, तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। उसमें पद्यमय नमस्कार प्रारम्भ में होता है।[2] आख्यायिका की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि वह कथा के समान होती है। इसमें कवि वंश का वर्णन होता है। इसमें पद्य भी यत्र तत्र होते हैं। इसमें विविध कथा खंडों को 'आश्वास' कहा जाता है। आश्वासारम्भ में आर्यावक्त्र अथवा अपवक्त्र छन्द के द्वारा आगामी कथा की सूचना दी जाती है आदि।[3] इसी प्रकार से आचार्य विश्वनाथ ने चम्पू उस काव्य को कहा है, जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों।[4] इसी प्रकार से गद्य और पद्य दोनों से युक्त राजस्तुति विरुद्ध है[5] तथा विविध भाषा निर्मित करम्भक होता है।[6]

रस का स्वरूप :—

आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' नामक साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ के तीसरे परिच्छेद में रस का स्वरूप निरूपण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है कि सहृदय

१ वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिका प्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥ (६, ३३०, ३१, ३२)

२ कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः··· (६, ३३२, ३३)

३ आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ (६, ३३४, ३५)

४ गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। (६, ३४६)

५ गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।

६ करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्। (६, ३३७)

के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रति आदि स्थायी भाव जब कवि द्वारा वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं तब आनन्द रूप होकर रस की संज्ञा प्राप्त करते हैं ।[१] उन्होंने बताया है कि जो सहृदय होते हैं, वे ही रस रूपी काव्यानन्द का अनुभव करते हैं । जब उनके हृदय में सत्व का उद्रेक होता है तभी रस का अनुभव भी । रसों में सर्वप्रथम शृंगार रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि इसका स्वरूप 'शृंगार' शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है । 'शृंग' से काम के आविर्भाव से आशय है तथा उससे सम्भूत होने को शृंगार कहते हैं । शृंगार के उन्होंने विप्रलम्भ तथा सम्भोग नामक दो भेद बताये हैं । इनमें से प्रथम के पूर्वराग विप्रलम्भ, मान विप्रलम्भ, प्रवास विप्रलम्भ तथा करुण विप्रलम्भ नामक चार भेद बताये हैं, दस कामदशाओं, अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृति का उल्लेख भी उन्होंने इसी प्रसंग में किया है ।[२] हास्य रस की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने इसके छै भेद बताये हैं, उत्तम प्रकृतिगत स्मित हास्य, उत्तम प्रकृतिगत हसित हास्य, मध्यम प्रकृतिगत विहसित हास्य, मध्यम प्रकृतिगत अवहसित हास्य, अधम प्रकृतिगत अपहसित हास्य तथा अधम प्रकृतिगत अतिहसित हास्य ।[३] करुण रस की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि वह वस्तुतः शोक नामक स्थायी भाव की ही पूर्ण अभिव्यंजना है ।[४] रौद्र रस उसे कहते हैं जिसका स्थायी भाव क्रोध, वर्ण रक्त तथा देवता रुद्र है ।[५] वीर रस के चार भेद हैं, दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, तथा दयावीर ।[६] भयानक रस वह होता है जिसका स्थायी भाव भय, वर्ण कृष्ण तथा देवता काल है ।[७] वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, वर्ण नील तथा देवता महा-

१ "साहित्य दर्पण", अनुवादक डा० सत्यव्रत सिंह, ३, १

२ वही, ३,१८३

३ वही, ३, ११७

४ वही, ३, २२३

५ वही, ३, २२७

६ वही, ३, २३४

७ वही, ३, २३५

काल होता है।[1] अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व है।[2] शान्त रस का स्थायी भाव शम, वर्ण श्वेत तथा देवता नारायण हैं।[3]

महत्व :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ का महत्व उत्तरकालीन पंडितों में बहुत अधिक है। उनके ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' को देखने से यह ज्ञात होता है कि उस पर 'काव्य प्रकाश', 'दशरूपक', 'अलंकारसर्वस्व', 'वक्रोक्तिजीवित' तथा 'अभिनवभारती' आदि ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया गया है। आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रणीत 'साहित्य दर्पण' नामक शास्त्रीय ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कृतियाँ उल्लिखित की जाती हैं, जिनमें संस्कृत भाषा में रचित 'राघव विलास' नामक महाकाव्य, प्राकृत भाषा में रचित 'कुवलयाश्व चरित' नामक काव्य, 'प्रभावती परिणय' नामक नाटिका, 'प्रशस्ति रत्नावली' तथा 'काव्य प्रकाश दर्पण' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि विश्वनाथ आचार्य का प्रमुख ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' मौलिकता की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखता, परन्तु बोधगम्यता के कारण इसकी लोकप्रियता असाधारण है। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में पंडित राज जगन्नाथ पर इस ग्रन्थ का विशेष रूप से प्रभाव मिलता है, जिनका साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ "रस गंगाधर" के नाम से विख्यात है।

शोभाकर मित्र

शोभाकर मित्र का समय चौदहवीं स्वीकार किया जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मिश्र था। इनके लिखे हुए "अलंकार रत्नाकर" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें लेखक ने अलंकार शास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य शोभाकर मित्र ने लगभग सौ अलंकारों की व्याख्या की है। इनमें से कुछ

१ वही, ३, २३९
२ वही, ३, २४१
३ वही ३, २४६

के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रति आदि स्थायी भाव जब कवि द्वारा वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं तब आनन्द रूप होकर रस की संज्ञा प्राप्त करते हैं ।[१] उन्होंने बताया है कि जो सहृदय होते हैं, वे ही रस रूपी काव्यानन्द का अनुभव करते हैं। जब उनके हृदय में सत्व का उद्रेक होता है तभी रस का अनुभव भी। रसों में सर्वप्रथम श्रृंगार रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि इसका स्वरूप 'श्रृंगार' शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। 'श्रृंग' से काम के आविर्भाव से आशय है तथा उससे सम्भूत होने को श्रृंगार कहते हैं। श्रृंगार के उन्होंने विप्रलम्भ तथा सम्भोग नामक दो भेद बताये हैं। इनमें से प्रथम के पूर्वराग विप्रलम्भ, मान विप्रलम्भ, प्रवास विप्रलम्भ तथा करुण विप्रलम्भ नामक चार भेद बताये हैं, दस कामदशाओं, अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृति का उल्लेख भी उन्होंने इसी प्रसंग में किया है।[२] हास्य रस की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने इसके छै भेद बताये हैं, उत्तम प्रकृतिगत स्मित हास्य, उत्तम प्रकृतिगत हसित हास्य, मध्यम प्रकृतिगत विहसित हास्य, मध्यम प्रकृतिगत अवहसित हास्य, अधम प्रकृतिगत अपहसित हास्य तथा अधम प्रकृतिगत अतिहसित हास्य।[३] करुण रस की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि वह वस्तुतः शोक नामक स्थायी भाव की ही पूर्ण अभिव्यंजना है।[४] रौद्र रस उसे कहते हैं जिसका स्थायी भाव क्रोध, वर्ण रक्त तथा देवता रुद्र है।[५] वीर रस के चार भेद हैं, दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, तथा दयावीर।[६] भयानक रस वह होता है जिसका स्थायी भाव भय, वर्ण कृष्ण तथा देवता काल है।[७] वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, वर्ण नील तथा देवता महा-

१ "साहित्य दर्पण", अनुवादक डा० सत्यव्रत सिंह, ३, १

२ वही, ३,१८३

३ वही, ३, ११७

४ वही, ३, २२३

५ वही, ३, २२७

६ वही, ३, २३४

७ वही, ३, २३५

काल होता है।[1] अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व है।[2] शान्त रस का स्थायी भाव शम, वर्ण श्वेत तथा देवता नारायण हैं।[3]

महत्व :—

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ का महत्व उत्तरकालीन पंडितों में बहुत अधिक है। उनके ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' को देखने से यह ज्ञात होता है कि उस पर 'काव्य प्रकाश', 'दशरूपक', 'अलंकारसर्वस्व', 'वक्रोक्तिजीवित' तथा 'अभिनवभारती' आदि ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया गया है। आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रणीत 'साहित्य दर्पण' नामक शास्त्रीय ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कृतियाँ उल्लिखित की जाती हैं, जिनमें संस्कृत भाषा में रचित 'राघव विलास' नामक महाकाव्य, प्राकृत भाषा में रचित 'कुवलयाश्व चरित' नामक काव्य, 'प्रभावती परिणय' नामक नाटिका, 'प्रशस्ति रत्नावली' तथा 'काव्य प्रकाश दर्पण' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि विश्वनाथ आचार्य का प्रमुख ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' मौलिकता की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखता, परन्तु बोधगम्यता के कारण इसकी लोकप्रियता असाधारण है। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में पंडित राज जगन्नाथ पर इस ग्रन्थ का विशेष रूप से प्रभाव मिलता है, जिनका साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ "रस गंगाधर" के नाम से विख्यात है।

शोभाकर मित्र

शोभाकर मित्र का समय चौदहवीं स्वीकार किया जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मिश्र था। इनके लिखे हुए "अलंकार रत्नाकर" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें लेखक ने अलंकार शास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य शोभाकर मित्र ने लगभग सौ अलंकारों की व्याख्या की है। इनमें से कुछ

१ वही, ३, २३९
२ वही, ३, २४१
३ वही ३, २४६

अलंकार नवीन हैं तथा कुछ के नाम नवीन हैं। इस ग्रन्थ में जो नवीन अलंकार हैं उनमें अचिन्त्य, अनादर, अनुकृति, असम, अवरोह, अशक्य, आदर तथा आपत्ति आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[१]

विद्यानाथ

आचार्य विद्यानाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध स्वीकार किया जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम "प्रतापरुद्रयशोभूषण" है। इस ग्रन्थ को लेखक ने अपने आश्रयदाता तेलंगना के काकतीय राजा प्रतापरुद्र के लिए रचा था। इन्हीं की प्रशंसा में इस ग्रन्थ के सभी उदाहरण रचे गये हैं। इस ग्रन्थ की रचना में लेखक ने मम्मट तथा रुय्यक से विशेष रूप से प्रभाव ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभाजित किया गया है। इनमें लेखक ने नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार की विवेचना प्रस्तुत की है। आगे चलकर मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी द्वारा इस ग्रन्थ पर "रत्नापण" शीर्षक टीका लिखी गयी।[२] इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर लिखी गयी "रत्नशरण" नामक एक अन्य टीका का भी उल्लेख किया जाता है।[३]

वाग्भट्ट (द्वितीय)

वाग्भट्ट (द्वितीय) का समय चौदहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम "काव्यानुशासन" है। पाँच अध्यायों में विभाजित इस ग्रन्थ में अधिकांशतः विविध साहित्यिक ग्रन्थों से सिद्धान्त संकलन किया गया है।

१ "संस्कृत आलोचना", पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २७३।
२ वही, पृ० २७५
३ "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय, पृ० २८१

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह दक्षिण भारतीय थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" में अपने आश्रयदाता का नाम वेंकटपति लिखा है, जो पेन्नकोंडा के राजा थे।[१] अप्पय दीक्षित के लिखे हुए तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। ये ग्रन्थ "वृत्ति वार्तिक", चित्रमीमांसा" तथा "कुवलयानन्द" हैं। इनमें से अन्तिम ही उनकी ख्याति का मुख्य कारण है। यह ग्रन्थ पर्याप्त मौलिकता लिये हुए है। अलंकार शास्त्र के इतिहास में इसका विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। अप्पय दीक्षित के लिखे हुए लगभग एक सौ ग्रन्थ बताये जाते हैं। इन्होंने जयदेव कृत "चन्द्रालोक" से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। आगे चलकर अप्पय दीक्षित के कुछ मतों का खंडन पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में किया।

जगन्नाथ

रचना और काल—

पंडितराज जगन्नाथ का समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यह जात्या आन्ध्र ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेड्ड भट्ट था। कहा जाता है कि यह शाहजहाँ के आग्रह पर उसके पुत्र दारा को संस्कृत की शिक्षा देने के उद्देश्य से दिल्ली रहे थे। यही नहीं, इन्होंने अपने काव्य में दारा के विषय में भी लिखा है। पंडितराज जगन्नाथ की सर्व प्रसिद्ध कृति "रस गंगाधर" है। इसमें उन्होंने रस तथा अलंकार आदि का सम्यक् विवेचन करते हुए अपने ही लिखे हुए उदाहरणों से उनकी पुष्टि की है। "रस गंगाधर" के प्रथम आनन में पंडितराज ने काव्य के भेद, शब्द गुण, अर्थ गुण, ध्वनि, भेद तथा रस मीमांसा प्रस्तुत की है तथा द्वितीय आनन में संलक्ष्य-क्रम ध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा अलंकार विवेचन किया गया है। पंडितराज के इस ग्रन्थ में प्रस्तुत विचारों में से प्रमुख को संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

२ "संस्कृत आलोचना", पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २७१.

काव्य लक्षण:—

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के लक्षण बताते हुए लिखा है कि काव्य उस शब्द को कहते हैं, जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है।[1] उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्य शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये काव्य विषयक मन्तव्य का विरोध करते हुए अपनी इस मान्यता का दृढ़तापूर्वक पोषण किया है कि शब्द और अर्थ दोनों को काव्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार से उन्होंने काव्य लक्षण में गुण और अलंकारादि की योजना भी अनुचित बतायी है।[2]

काव्य की आत्मा :—

काव्य की आत्मा के विषय में पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि जिस प्रकार से आत्मा के धर्म शौर्य आदि गुण हैं, उसी प्रकार से काव्य की आत्मा रस के धर्म गुण हैं। इसी प्रकार से जैसे शरीर की शोभा के विधायक हार आदि होते हैं, वैसे ही काव्य का अलंकरण अलंकारों के द्वारा होता है। परन्तु काव्य लक्षण में इनका प्रयोग उसी प्रकार से अनुचित है, जिस प्रकार से वीरता अथवा हार शरीर निर्माण में अनुपयोगी है।[3] पंडितराज ने पूर्ववर्ती मान्यता, जिसमें रस है, वही काव्य है, से भी असहमति प्रकट की है, क्योंकि उनके विचार से इस मान्यता के अनुसार जो काव्य रस प्रधान न होकर, अलंकार प्रधान है, वह काव्य की कोटि में आने से वंचित रह जाता है।[4]

काव्य हेतुक प्रतिभा :—

पंडितराज जगन्नाथ की सम्मति के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है, जो कवि में होती है। प्रतिभा काव्य के निर्माणार्थ अनुकूल शब्द तथा अर्थ की

१ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

२ लक्षणे गुणालंकारादिनिवेशोऽपि न युक्तः

३ शौर्यादिवदात्माधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलंकाराणां च शरीर-घटकत्वानुपपत्तेश्च।

४ वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः।

उपस्थिति को ही कहते हैं।[1] उन्होंने बताया है कि इस प्रतिभा का कारण कहीं अदृष्ट तथा कहीं दृष्ट होता है। यह अदृष्ट वहाँ होता है, जहाँ किसी देवता अथवा महापुरुष की प्रसन्नता से हो, तथा दृष्ट असाधारण अध्ययन अथवा काव्य रचना के अभ्यास में होता है। परन्तु इन तीनों में से एक ही प्रतिभा का कारण हो सकता है, तीनों नहीं क्योंकि बहुधा इनमें से एक के द्वारा ही प्रतिभा की उत्पत्ति देखी गई है।[2]

काव्य भेद :—

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेद बताते हुए लिखा है कि काव्य चार प्रकार का होता है—(१) उत्तमोत्तम काव्य, (२) उत्तम काव्य, (३) मध्यम काव्य तथा (४) अधम काव्य।[3] इनमें से प्रथम अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य वह होता है, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों स्वयं गौण होकर किसी चामत्कारिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें।[4] द्वितीय अर्थात् उत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें व्यंग्य प्रधान न होते हुए भी चामत्कारिक हो।[5] तृतीय अर्थात् मध्यम काव्य उसे कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो।[6] तथा चतुर्थ अर्थात् अधम काव्य उसे कहते हैं, जिनमें शब्द चमत्कार प्रधान तथा अर्थ चमत्कार उसकी शोभा के लिए ही हो।[7]

ध्वनि काव्य के भेद :—

ध्वनि काव्य के भेदों का विश्लेषण करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि यह दो प्रकार का होता है, (१) अभिधामूलक ध्वनि काव्य तथा (२) लक्षणामूलक

१ तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।
२ तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जाति विशेष उपाधि रूप वाखंडम्। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतार महापुरुषप्रसादादिजन्यदृष्टम्।
३ तच्चोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।
४ शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्॥
५ यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्॥
६ यत्र व्यंग्यचमत्कारासामानाधिकरण्यो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम्।
७ यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्॥

ध्वनि काव्य। इनमें से भी अभिधामूलक ध्वनि काव्य के तीन भेद होते हैं, (१) रस ध्वनि, (२) वस्तु ध्वनि तथा (३) अलंकार ध्वनि। इस प्रकार से लक्षणामूलक ध्वनि काव्य के दो भेद होते हैं (१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य।[१]

रस विवेचन :–

पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि काव्य के उपर्युक्त पाँच भेदों में से रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मान कर उसकी आत्मा रस का विस्तार से वर्णन किया है। रस के भेद करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने उसे नौ प्रकार का बनाया है (१) शृंगार, (२) करुण, (३) शान्त, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) अद्भुत, (७) हास्य, (८) भयानक तथा (९) वीभत्स।[२]

अलंकार निरूपण :–

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुत, आक्षेप, विरोध विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्त, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढ़ोक्ति, ललित, प्रहषण, विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण,

१ द्विविधो ध्वनिः अभिधामूलो लक्षणामूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः। रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्यलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद्रसभावतदाभासभाव शान्तिभावोदयभावसंधिभावशबलत्वानां ग्रहणम्...द्वितीयश्च द्विविधः। अर्थान्तर संक्रमित वाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च।

२ शृंगारः करुणः शान्त रौद्रौ वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥

अतद्गुण, मीलित, सामान्य तथा उत्तर आदि अलंकारों की व्याख्या की है। पंडितराज ने अलंकारों को रस आदि काव्य की आत्मा की शोभा के सम्पादक के रूप में मान्य किया है।[1]

महत्व:—

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के इतिहास में पंडितराज जगन्नाथ का महत्व अन्तिम महान् शास्त्रज्ञ के रूप में बहुत अधिक है, यद्यपि इनके पश्चात् होने वाले भी कुछ साहित्य शास्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "रसगंगाधर" पर आगे चलकर नागेश भट्ट ने अपनी टीका लिखी। पंडितराज जगन्नाथ को संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में मम्मट और विश्वनाथ की श्रेणी का विद्वान् माना जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि "रसगंगाधर" के अतिरिक्त भी उनकी अनेक कृतियाँ बतायी जाती हैं। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उनके अनेक काव्य ग्रन्थ थे। इनमें से "भामिनी विलास", "आसफविलास", "गंगालहरी", "करुणलहरी", "अमृत लहरी", "लक्ष्मी लहरी", "जगदाभरण", "प्राणाभरण", "सुधालहरी", "यमुनावर्णन चम्पू" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

केशव मिश्र

संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा के इतिहास मे आने वाले अन्य आचार्यों में सर्वप्रथम पं० केशव मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। उनका समय भी सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। उनके द्वारा रचे हुए ग्रन्थ का नाम "अलंकार शेखर" है। इस ग्रन्थ मे आठ रत्न और अट्ठाईस मरीचियाँ हैं। इसमें कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण उपलब्ध हैं।[2]

१ "रसगंगाधर", हिन्दी व्याख्याकार पं० मदनमोहन झा, द्वितीय आनन, पृ० १०६।
२ "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय, पृ० २८९॥

विश्वेश्वर पंडित

विश्वेश्वर पंडित का समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। यह अपने समय के प्रकांड पंडित थे। साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण तथा तर्क शास्त्र के क्षेत्र में भी इनका महत्व है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ का नाम "अलंकार कौतुक" है। इस ग्रन्थ में विश्वेश्वर पंडित ने मम्मट द्वारा मान्य इकसठ अलंकारों को ही स्वीकार किया है। इनके लिखे हुए कुछ अन्य ग्रन्थ भी बताये जाते हैं, जिनमें "अलंकार मुक्तावली" "रस चन्द्रिका", "अलंकार प्रदीप", तथा "कवीन्द्र कठाभरण" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्य आचार्य

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में यहाँ जिन साहित्याचार्यों के सिद्धान्तों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया गया है, उनके अतरिक्त भी बहुत से शास्त्रज्ञ हुए हैं, यद्यपि उनके विषय में पर्याप्त विवरण उपलब्ध नहीं है। बहुत से विचारक ऐसे भी हैं, जिनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्य विचारक ऐसे भी हैं, जिनकी रचनाएँ आधुनिक युग के अन्तर्गत आती हैं। इन श्रेणियों के अन्तर्गत जो साहित्य शास्त्री माने जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम "काव्यकल्पलता" के संयुक्त लेखक अमरचन्द्र तथा अमरसिंह का नाम उल्लेखनीय है जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। फिर चौदहवीं शताब्दी में "कविकल्पलता" के लेखक देवेश्वर का नाम लिया जाता है। सोलहवीं शताब्दी मे "चन्द्रलोक" पर "शरदागम" टीका के रचयिता प्रद्योत भट्ट का नाम उल्लेख्य है। इसी शताब्दी में "उज्ज्वलनीलमणि", "नाटक चन्द्रिका", "भक्ति रसामृतसिन्धु", "विदग्धमाधव" तथा "उत्कलिकावली" के रचयिता रूप गोस्वामी तथा "अलंकार कौस्तुभ" और उसकी "किरण" शीर्षक टीका के रचयिता गोस्वामी कर्णपूर तथा "अलंकार रत्नाकर" के लेखक शोभाकर के नाम उल्लेखनीय हैं। "रस मंजरी" "रस गंगाधर", "काव्यप्रकाश" तथा "कुवलयानन्द" के टीकाकार नागेश भट्ट, "कोविदानन्द", "त्रिवेणिका" तथा "अलंकार दीपिका" के लेखक आशाधर भट्ट के नाम सत्रहवीं शताब्दी में उल्लेखनीय हैं।[1] अठारहवीं शताब्दी में "नन्दराजयशोभूषण" के रचयिता नरसिंह कवि, "अलंकार कौस्तुभ" के रचयिता कल्याण सुब्रह्मण्यम, "अलंकार चिन्तामणि"

१ "संस्कृत साहित्य का इतिहास", श्री वाचस्पति गैरोला, पृ०९६६।

के लेखक शान्तराज, "अलंकार मंजूषा" के लेखक देवशंकर, "अलंकार सारोद्धार" के लेखक भीमसेन, "अलंकार सर्वोदय" के लेखक यज्ञेश्वर दीक्षित, "साहित्य चूड़ामणि" के लेखक भट्ट गोपाल, "काव्य सार संग्रह" के लेखक श्रीनिवास, "काव्यार्थगुम्फ" तथा "काव्यालोक" के लेखक हरिप्रसाद, "कविसमयकल्लोल" तथा "अलंकार मंजरी" के लेखक अनन्तराम, "अलंकार सुधा सिन्धु" तथा "रस प्रपंच" के लेखक वेंकटशास्त्री तथा "साहित्य कल्पद्रुम" के लेखक नारायण के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी में "साहित्यसार" के रचयिता अच्युत राय मोडक, "काव्य कलानिधि" के रचयिता कृष्णासुधी, "रामचन्द्र यशोभूषण" के रचयिता कच्छेश्वर दीक्षित, "अलंकार मकरन्द" के लेखक राजशेखर तथा "मैथिलीश शब्दार्थकौस्तुभ" के रचयिता चर्लभास्कर शास्त्री के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[१]

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास का निर्माण करने वाले उपर्युक्त आचार्यों का विविध सम्प्रदायों के आधार पर वर्गीकरण करके उनकी सापेक्ष देन और उपलब्धि को भली प्रकार से समझा जा सकता है। संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम साहित्य शास्त्री भरत मुनि को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मान्य किया जाता है, यद्यपि उनके पूर्व भी रस की मान्यता थी।[२] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्राचीनतम साहित्य सम्प्रदाय है। रस के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से भरत का "नाट्य शास्त्र" असाधारण महत्व की कृति है। इस ग्रन्थ में उन्होंने रस की निष्पत्ति पर विचार करते हुए बताया है कि विभावानुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है। भरत के पश्चात् रस सम्प्रदाय के क्षेत्र में जो कुछ भी चिन्तन हुआ, उसका आधार उनका यही सूत्र रहा। भरत ने रस को नाट्य रस कहा है और उसका उन्मेष ही नाटक का चरम उद्देश्य प्रतिपादित किया है। भरत ने रस की कुल संख्या आठ निर्धारित की थी। आगे चलकर रुद्रट ने प्रेयस तथा शान्त अलंकार जोड़ कर उनकी संख्या दस कर दी। भरत के रस सूत्र की व्याख्या करने वालों में भट्ट लोल्लट का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनके विचार से निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति अथवा पुष्टि है। फिर शंकुक ने रस को कार्य स्वरूप न मानते हुए यह प्रतिपादित किया कि निष्पत्ति से भरत का आशय अनुमिति था।

१ "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय पृ० २८३ ॥

2 History of Sanskrit Poetics, Dr. S. K. Dey, vol. II, p. 22.

विश्वेश्वर पंडित

विश्वेश्वर पंडित का समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह अपने समय के प्रकांड पंडित थे। साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण तथा तर्क शास्त्र के क्षेत्र में भी इनका महत्व है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ का नाम "अलंकार कौतुक" है। इस ग्रन्थ में विश्वेश्वर पंडित ने मम्मट द्वारा मान्य इकसठ अलकारों को ही स्वीकार किया है। इनके लिखे हुए कुछ अन्य ग्रन्थ भी बताये जाते हैं, जिनमें "अलंकार मुक्तावली" "रस चन्द्रिका", "अलंकार प्रदीप", तथा "कवीन्द्र कंठाभरण" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्य आचार्य

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में यहाँ जिन साहित्याचार्यों के सिद्धान्तों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया गया है, उनके अतिरिक्त भी बहुत से शास्त्रज्ञ हुए हैं, यद्यपि उनके विषय में पर्याप्त विवरण उपलब्ध नहीं है। बहुत से विचारक ऐसे भी हैं, जिनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्य विचारक ऐसे भी हैं, जिनकी रचनाएँ आधुनिक युग के अन्तर्गत आती हैं। इन श्रेणियों के अन्तर्गत जो साहित्य शास्त्री माने जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम "काव्यकल्पलता" के संयुक्त लेखक अमरचन्द्र तथा अमरसिंह का नाम उल्लेखनीय है जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। फिर चौदहवीं शताब्दी में "कविकल्पलता" के लेखक देवेश्वर का नाम लिया जाता है। सोलहवीं शताब्दी में "चन्द्रलोक" पर "शरदागम" टीका के रचयिता प्रद्योत भट्ट का नाम उल्लेख्य है। इसी शताब्दी में "उज्ज्वलनीलमणि", "नाटक चन्द्रिका", "भक्ति रसामृतसिन्धु", "विदग्धमाधव" तथा "उत्कलिकावली" के रचयिता रूप गोस्वामी तथा "अलंकार कौस्तुभ" और उसकी "किरण" शीर्षक टीका के रचयिता गोस्वामी कर्णपूर तथा "अलंकार रत्नाकर" के लेखक शोभाकर के नाम उल्लखनीय हैं। " रस मंजरी" "रस गंगाधर", "काव्यप्रकाश" तथा "कुवलयानन्द" के टीकाकार नागेश भट्ट, "कोविदानन्द", "त्रिवेणिका" तथा "अलंकार दीपिका" के लेखक आशाधर भट्ट के नाम सत्रहवीं शताब्दी में उल्लेखनीय हैं।[1] अठारहवीं शताब्दी में "नन्दराजयशोभूषण" के रचयिता नरसिंह कवि, "अलंकार कौस्तुभ" के रचयिता कल्याण सुब्रह्मण्यम, "अलंकार चिन्तामणि"

१ "संस्कृत साहित्य का इतिहास", श्री वाचस्पति गैरोला, पृ०९६६।

के लेखक शान्तराज, "अलंकार मंजूषा" के लेखक देवशंकर, "अलंकार सारोद्धा" के लेखक भीमसेन, "अलंकार सर्वोदय" के लेखक यज्ञेश्वर दीक्षित, "साहित्य चूड़ामणि" के लेखक भट्ट गोपाल, "काव्य सार संग्रह" के लेखक श्रनिवास, "काव्यार्थगुम्फ" तथा "काव्यालोक" के लेखक हरिप्रसाद, "कविसमयकल्लोल" तथा "अलंकार मंजरी" के लेखक अनन्तराम, "अलंकार सुधा सिन्धु" तथा "रस प्रपंच" के लेखक वेंकटशास्त्री तथा "साहित्य कल्पद्रुम" के लेखक नारायण के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी में "साहित्यसार" के रचयिता अच्युत राय मोडक, "काव्य कलानिधि" के रचयिता कृष्णासुधी, "रामचन्द्र यशोभूषण" के रचयिता कच्छेश्वर दीक्षित, "अलंकार मकरन्द" के लेखक राजशेखर तथा "मेकाधीश शब्दार्थकौस्तुभ" के रचयिता चर्लभाष्कर शास्त्री के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास का निर्माण करने वाले उपर्युक्त आचार्यों का विविध सम्प्रदायों के आधार पर वर्गीकरण करके उनकी सापेक्ष देन और उपलब्धि को भली प्रकार से समझा जा सकता है। संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम साहित्य शास्त्री भरत मुनि को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मान्य किया जाता है, यद्यपि उनके पूर्व भी रस की मान्यता थी।[2] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्राचीनतम साहित्य सम्प्रदाय है। रस के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से भरत का "नाट्य शास्त्र" असाधारण महत्व की कृति है। इस ग्रन्थ में उन्होंने रस की निष्पत्ति पर विचार करते हुए बताया है कि विभावानुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से ही रस की निष्पति होती है। भरत के पश्चात् रस सम्प्रदाय के क्षेत्र में जो कुछ भी चिन्तन हुआ, उसका आधार उनका यही सूत्र रहा। भरत ने रस को नाट्य रस कहा है और उसका उन्मेष ही नाटक का चरम उद्देश्य प्रतिपादित किया है। भरत ने रस की कुल संख्या आठ निर्धारित की थी। आगे चलकर रुद्रट ने प्रेयस तथा शान्त अलंकार जोड़ कर उनकी संख्या दस कर दी। भरत के रस सूत्र की व्याख्या करने वालों में भट्ट लोल्लट का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनके विचार से निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति अथवा पुष्टि है। फिर शंकुक ने रस को कार्य स्वरूप न मानते हुए यह प्रतिपादित किया कि निष्पत्ति से भरत का आशय अनुमिति था।

१ "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डा० रामजी उपाध्याय पृ० २८३॥

2 History of Sanskrit Poetics, Dr. S. K. Dey, vol. II, p. 22.

तत्पश्चात् भट्ट नायक ने रसानुभूति को ज्ञान, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति से परे सिद्ध करते हुए कहा कि रस की स्थिति प्रत्यक्षतः सहृदय में ही होती है। उन्होंने तीन शक्तियों से रसानुभूति बतायी है। उनके विचार से अभिधा, भावकत्व अथवा भावना शक्ति के द्वारा जब स्थायी भाव योग की आनन्दावस्था को प्राप्त होता है तभी रस की संज्ञा प्राप्त करता है। अभिनवगुप्त के विचार से रस की उत्पत्ति अनुमिति अथवा भुक्ति नहीं होती है। वह अभिव्यक्त होता है और आत्मा से सम्बन्धित होता है। अभिनवगुप्त के पश्चात् विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। मम्मट तथा जगन्नाथ ने भी रस ध्वनि को उत्तम काव्य मानते हुए रस का उच्च महत्व स्वीकार किया।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में अलंकार सम्प्रदाय भी अपनी प्राचीनता और व्यापकता के कारण महत्व रखता है। यों तो भरत ने भी अपने 'नाट्य शास्त्र' में अलंकार वर्णन प्रस्तुत किया है, परन्तु एक पुष्ट सिद्धान्त के रूप में अलंकार की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य भामह माने जाते हैं। उन्होंने अलंकार को काव्य की उत्कृष्टता का प्रधान और अनिवार्य साधन मानते हुए इसका महत्व प्रतिपादित किया है। अपने "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ में भामह ने विविध अलंकारों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की और अलंकृति को ही काव्य का सर्वस्व बताया। यही नहीं, उन्होंने रस तथा भाव का भी स्वतंत्र महत्व स्वीकार करते हुए उन्हें अलंकार के अन्तर्गत ही रखा। भामह ने वक्रोक्ति को ही सभी अलंकारों का प्राण तत्व मान्य किया। उनके पश्चात् दंडी ने भी अलंकार का महत्व स्वीकार करते हुए उसे काव्य का प्रमुख गुण माना और अपने ग्रन्थ "काव्यादर्श" में अलंकारों को विशेष महत्व प्रदान किया। परन्तु दंडी ने भामह की भाँति वक्रोक्ति को अलंकार की आत्मा न मानकर अतिशय को माना। यही नहीं, उन्होंने अलंकार के साथ ही गुण और रीति को भी मान्यता दी। उद्भट ने अलंकार शास्त्र पर अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ "अलंकार सार संग्रह" की रचना की। उन्होंने भी रस तथा भाव आदि की अपेक्षा अलंकार को प्रधानता दी। अलंकार सम्प्रदाय के विविध आचार्यों में उद्भट का अलंकार वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। उद्भट ने अर्थभेद के अनुसार ही शब्द भेद की कल्पना की और श्लेष को अर्थालंकारों के अन्तर्गत रखते हुए शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष नामक उसके दो प्रकार बताये। यही नहीं, अन्य अलंकारों के योग में भी उन्होंने श्लेष की ही प्रधानता स्वीकार की। उद्भट के अलंकार विचार को आगे चलकर व्यापक प्रशस्ति मिली और उन्हें अलंकार सम्प्रदाय के प्रकाड उन्नायक के रूप में मान्यता दी गयी। अलंकारों की संख्या भी उनके द्वारा बढ़ा दी गयी लगभग पचास अलंकारों का स्वरूप उन्होंने विवेचित किया। फिर रुद्रट ने अलंकारक

मूल तत्व वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष स्वीकार करते हुए इन्हीं के आधार पर इनका विभाजन तथा नवीन अलंकारों की उद्भावना की। उनके बाद बारहवीं शताब्दी में रुय्यक ने इस सम्प्रदाय को महत्वपूर्ण देन दी, इन्होंने पचहत्तर अर्थालंकार तथा छै शब्दालंकार निरूपित किये और "विकल्प" तथा "विचित्र" आदि नवीन अलंकार उद्भावित किये। आगे चलकर अन्य भी अनेक महत्वपूर्ण आलंकारिकों ने पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धान्तों के आधार पर ही इस धारा को पुष्ट करते हुए अपनी वैचारिक स्थापनाएँ कीं और अलंकार सम्प्रदाय को एक पुष्ट शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया।

"रस" और "अलंकार" सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के बाद संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में "रीति सिद्धान्त" की स्थापना हुई। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन माने जाते हैं। रीति का अर्थ है शैली अथवा अभिव्यक्ति का प्रकार। वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया और इस प्रकार से उसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया। उन्होंने रीति की व्याख्या करते हुए विशिष्ट पद रचना के रूप में इसे स्पष्ट किया। उनके विचार से रीति का अपरिहार्य धर्म गुणों में निहित है। गुणों का विवेचन यों तो भरत तक ने अपने नाट्य शास्त्र में किया है, परन्तु वामन ने इनकी मौलिक रूप से व्याख्या की। उन्होंने गुणों का विभाजन शब्द गुण तथा अर्थ गुण में किया। उन्होंने गुण तथा अलंकार की पारस्परिक तुलना की तथा अलंकार को गुण की अपेक्षा हीन बताया। उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली के रूप में तीन रीतियों की कल्पना की। उनके पूर्व भामह ने वैदर्भी और गौड़ीय नामक दो भेदों पर विचार करते हुए उन्हें पृथक् नहीं माना था। दंडी ने इनमें भेद माना था, परन्तु इनकी संख्या दो ही बतायी थी। वामन के पश्चात् रुद्रट, कुन्तक, राजशेखर आदि ने भी रीति की विविध दृष्टियों से व्याख्या प्रस्तुत की। भोज ने रीति पर विचार करते हुए उसके छै प्रकार बताये, वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, आवन्तिका, लाटीया तथा मागधी। वाग्भट्ट तथा जगन्नाथ आदि ने भी रीति सिद्धान्त का सूक्ष्मता से निरूपण किया। परन्तु रीति सिद्धान्त के विरोधियों ने इसके अनेक मन्तव्यों का खंडन किया। कुन्तक ने रीतियों को मार्ग कहा तथा वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के लिए सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग नाम दिये। मम्मट ने रीति सिद्धान्त का खंडन करते हुए उसे एकांगी घोषित किया और काव्य की आत्मा के रूप में भी सर्वथा अस्वीकृत कर दिया। रीति को स्वरूपगत पूर्णता देने वाले आचार्यों में विश्वनाथ का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने रीति में अन्य काव्य तत्वों को भी समाविष्ट कर दिया। परन्तु आगे चलकर धीरे धीरे

यह सिद्धान्त अपने महत्व से हीन होता चला गया और इसने अपनी प्रभावात्मकता भी खो दी। इस प्रकार से रीति सिद्धान्त का अस्तित्व इसके पूर्ण महत्व के साथ यद्यपि स्थायी रूप से सुरक्षित न रह सका, परन्तु संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में एक अपेक्षाकृत पूर्ण सिद्धान्त के रूप में इसे जो ख्याति और मान्यता मिली, वह इसकी सूक्ष्मता और व्यापकता का परिचय देने में समर्थ है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। कुन्तक के पूर्व भामह ने वक्रोक्ति से केवल वचन की अलंकृति का आशय ग्रहण किया था। कुन्तक ने अपनी असाधारण प्रतिभा और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए रस, अलंकार तथा रीति सिद्धान्तों के समानान्तर ही वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में उसका महत्व स्पष्ट किया। वक्रोक्ति का विश्लेषण बहुत व्यापक अर्थ में करते हुए आचार्य कुन्तक ने इसके अन्तर्गत प्रायः काव्य के सभी आवश्यक और महत्वपूर्ण तत्वों का नियोजन किया। उन्होंने संकुचित अर्थों में वक्रोक्ति के प्रयोग का खंडन करते हुए इस मत का विरोध किया कि वक्रोति का अर्थ केवल वाक्य चातुर्य या उक्ति चमत्कार है। उन्होंने किसी वस्तु के असाधारण अथवा अलौकिक ढंग से कथन को वक्रोति का अर्थ बताया। इस प्रकार से उन्होंने उसे कवि व्यापार अथवा कवि कौशल के रूप में मान्य किया। उन्होंने वक्रोक्ति के वर्ण वक्रता, पद पूर्वार्ध वक्रता, पदोत्तरार्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता के रूप में छः प्रकार निर्देशित किये। उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से उस वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्व सिद्ध किया, जिसे भामह ने केवल अलंकार का मूल तत्व माना था। वामन ने उसकी कल्पना अर्थालंकार के रूप में की थी तथा रुद्रट ने शब्दालंकार के रूप में। आगे चलकर यद्यपि वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी ध्वनि सिद्धान्त के समक्ष न स्थापित रह सका, परन्तु एक समन्वयात्मक शास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में मौलिक स्थापना के कारण उसका ऐतिहासिक महत्व बना रहा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में अनेक महान् शास्त्रज्ञों ने अपने प्रकांड पांडित्य और मौलिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए विविध शास्त्रीय सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। परन्तु इन सिद्धान्तों में व्यापकता की सम्भावनाओं के साथ ही साथ एकांगिता की वृत्ति भी विद्यमान थी। इस दृष्टिकोण से आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि सिद्धान्त को एक ऐतिहासिक उपलब्धि के रूप में मान्य किया जा सकता है। इसकी संयोजित व्याख्या यद्यपि आनन्द-

वर्द्धन द्वारा ही की गयी, परन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया था। आनन्दवर्द्धन ने स्वयं ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए यह लिखा है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की भी यही मान्यता थी। उन्होंने ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्वनि प्रधान काव्य को सर्वोत्तम काव्य कहा और ध्वनि के अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो भेद किये। काव्य के वाच्य अर्थात् प्रकट तथा प्रतीयमान अथवा अप्रकट भेद करते हुए उन्होंने प्रतीयमान को वस्तु अलंकार और रस, तीन प्रकार का बताया। यह सर्व बोधगम्य नहीं होता, यद्यपि यही काव्य का प्रधान अर्थ होता है और इसकी प्रधानता ही ध्वनि काव्य का रूप प्रस्तुत करती है। आनन्दवर्द्धन के पश्चात् मम्मट ने भी इस सिद्धान्त का व्यापक रूप में प्रतिपादन किया और प्रायः सभी काव्य सिद्धान्तों को इसके अन्तर्गत निरूपित किया। इस कारण से ध्वनि सम्प्रदाय को अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई।

इस प्रकार से संस्कृत साहित्य चिन्तन की इस परम्परा का प्रसार स्थूलतः दूसरी शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक मिलता है। इस दीर्घ काल के बीच के विचारकों ने साहित्य के विविध रूपों और तत्वों का विस्तार से विवेचन किया और विभिन्न आंदोलनों को जन्म दिया। ये सभी आंदोलन स्वतंत्र सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वे जहाँ एक ओर काव्य की आत्मा के अन्वेषक और उसकी आंतरिक गहनता पर गौरव देते थे, वहाँ काव्य की वाह्यरूपता तथा चामत्कारिता के प्रति भी उपेक्षा उनमें नहीं थी। यद्यपि इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत गिने जाने वाले विविध शास्त्रज्ञों में परस्पर वैचारिक मतभेद भी रहा है, परन्तु उनके चिन्तन की प्रणालियों में एक प्रकार की एकरूपात्मकता भी रही है, जो उनके दृष्टिकोण की व्यापकता की परिचायक है। सुदीर्घ, सुविस्तृत और सुनियोजित चिन्तन की यही समृद्ध परम्परा परवर्ती काल में हिन्दी साहित्य शास्त्र की जन्मदात्री और सुदृढ़ आधार भूमि सिद्ध हुई।

हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार भूमि

हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार भूमि उसकी पूर्ववर्ती भाषा परम्पराएं हैं। इनमें से भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान संस्कृत भाषा का है। संस्कृत में समीक्षा शास्त्र की एक पुष्ट, गहन और दीर्घकालीन परम्परा का प्रसार मिलता है। परवर्ती युगों में इस परम्परा से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करके विविध नवीन भाषा परम्पराओं का सूत्रपात् हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी भाषा संस्कृत की बहुत अधिक ऋणी है। हिन्दी ने न केवल संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस परम्परा से प्रेरणा तथा प्रभाव ग्रहण किया वरन् उसी के ढाँचे पर अपना समीक्षा शास्त्र निर्मित किया। हिन्दी समीक्षा शास्त्र की परम्परा के प्रवर्तकों में प्रायः सभी संस्कृत भाषा के भी पंडित थे और उन्हें संस्कृत काव्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान था। इस कारण से प्रारम्भ में जब हिन्दी समीक्षा शास्त्र के प्रणयन की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ, तब इस क्षेत्र में व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं हुई। विविध विद्वानों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के मान्य ग्रन्थों पर टीकायें रचीं अथवा उन्हीं सिद्धान्तों को अनुवाद रूप में हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। परन्तु उससे इस लाभ के अतिरिक्त कुछ हानि भी हुई। और वह यह कि हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य शास्त्रियों ने संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मान्यताओं के समर्थन, पुष्टीकरण और अनुवाद में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा इतनी प्रौढ़ और समृद्ध थी कि उसका अनुसरण करना सभी दृष्टियों से हितकर था। परन्तु उससे इतनी हानि अवश्य हुई कि हिन्दी समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र में प्रारंभिक युगों में मौलिक चिन्तन का बहुत अभाव रहा और उसकी रचना प्रायः उन्हीं तत्वों का आधार ग्रहण करके हुई जिस पर संस्कृत साहित्य शास्त्र निर्मित हुआ था। मौलिक चिन्तन के इस अभाव ने हिन्दी के अपने समीक्षा शास्त्र के निर्माण में एक दीर्घकालीन बाधा का कार्य किया, उसे युगों तक रुद्ध रखा। परन्तु इसका कारण बहुत सीमा तक समकालीन परिस्थितियाँ भी थीं। उस युग में जब हिन्दी काव्य शास्त्र के जन्म की सम्भावनायें उपज रही थीं, संस्कृत

एक सर्वमान्य भाषा थी। देववाणी के रूप में उसकी प्रख्याति के कारण उससे विरोध की भावना इस प्रकार से अकल्पनीय थी। हिन्दी के आचार्यों में भी यह भावना व्याप्त थी और इसलिये उनका इस परम्परा से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार से हिन्दी साहित्य शास्त्र के प्रवर्तन की मूल प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ही मिली। प्रारम्भिक युग के साहित्य प्रेमियों ने काव्य रचना और सिद्धान्त निदर्शन करने की इच्छा से आवश्यक अभ्यास और शिक्षा ग्रहण की। जिन लोगों ने स्वयं अपने प्रयत्न से उसे कठिन समझा, उन्होंने किसी मान्य और प्रौढ़ गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। हिन्दी साहित्य शास्त्र की नींव पड़ने के समय अर्थात् युग के प्रारम्भिक वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में क्रियाशील प्रतिभाओं में इसी प्रकार की मनोवृत्ति पायी जाती थी। परन्तु यही प्रवृत्ति बहुत शीघ्र ही विकसित हुई और धीरे धीरे एक सुस्पष्ट परम्परा की सम्भावनायें प्रतीत होने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत थोड़े समय में ही इस क्षेत्र में सर्वाधिक क्रियाशीलता लक्षित की जाने लगी। विविध आचार्यों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुकरण पर रस, अलंकार तथा छन्द आदि शास्त्रों पर विस्तृत ग्रन्थ प्रस्तुत करने आरम्भ किये। प्रारम्भ में ये ग्रन्थ सम्भवतः शिक्षात्मक थे, क्योंकि आचार्यों की अपनी अपनी शिष्य परम्परायें थीं और शास्त्र रचना के माध्यम से शिष्यों को विज्ञ बनाना भी उनका एक उद्देश्य था, परन्तु बाद में इन क्षेत्रों में अनेक प्रकार की समस्याएँ उठायी गयीं और उन पर उच्च कोटि का चिन्तन मनन भी हुआ। यही नहीं विविध आचार्यों ने किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों का मण्डन तथा किन्हीं का खण्डन करके इस क्षेत्र में अपनी जागरूकता का भी परिचय दिया।

इस प्रकार से एक स्तरीय साहित्यिक एवं शास्त्रीय वाद विवाद के अवसर उपस्थित हुए जिन्होंने निष्कर्षात्मक मन्तव्यों की रचनात्मक सम्भावनाएँ इंगित कीं। बहुधा ऐसा भी हुआ कि हिन्दी साहित्य शास्त्र के मूल आधार संस्कृत साहित्य शास्त्र की किसी सैद्धान्तिक मान्यता के विषय में भी इस युग के हिन्दी साहित्य शास्त्रियों में पारस्परिक मत भेद हुआ और उन्होंने अलग अलग दृष्टियों से मूल का अर्थ और व्याख्या की। इसी सन्दर्भ में कुछ साहित्य पंडितों ने हिन्दी भाषा के स्वरूप विकास से सम्बन्ध रखने वाली कुछ समस्याओं की ओर भी संकेत किया तथा इसके साथ ही साथ व्यवहार रचना की दृष्टि से उनके निदान भी प्रस्तुत किये। यों हिन्दी साहित्य शास्त्र के

इतिहास के इस प्रथम विकास युग में उपर्युक्त कुछ प्रवृत्तियाँ गतिशील रहीं, जो इस परम्परा का प्रारम्भिक आधार हैं।

केशवदास के पूर्ववर्ती आचार्य

हिन्दी के रीति साहित्य के प्रवर्तक अचार्यों में महत्वपूर्ण नाम आचार्य केशवदास का है। परन्तु केशवदास के काव्य सिद्धांतों का परिचय देने के पूर्व इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि उनसे पूर्व भी ऐसे अनेक साहित्य शास्त्री हो चुके थे, जिन्होंने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये। इन साहित्य शास्त्रियों के स्थूल रूप से दो वर्ग किये जा सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत वे नाम आते हैं जिनके विषय में कोई विशेष विवरण अप्राप्त है; केवल उनका उल्लेख मात्र यत्र-तत्र मिलता है तथा द्वितीय के अन्तर्गत वे नाम आते हैं जिनके सम्बन्ध में प्राप्त विवरण को विभिन्न साहित्यिक इतिहासकारों ने प्रामाणिक माना है। प्रथम के अन्तर्गत पुंड अथवा पुष्य आदि कवियों का नाम लिया जा सकता है, जिनका उल्लेख 'शिवसिंह सरोज'[1], 'मिश्रबन्धु विनोद'[2] तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास'[3] आदि कृतियों में मिलता है। इनका समय सं० ७७० वि० के लगभग अनुमानित किया जाता है।

सामग्री की अनुलब्धता के कारण इस वर्ग में आनेवाले साहित्यकारों के विषय में विश्वस्त रूप से कुछ कहा जा सकना कठिन है, यद्यपि इतना निश्चित है कि इस प्रकार के संकेत साहित्यिक इतिहासों में मिलना इस तथ्य का प्रमाण है कि इस परम्परा की जड़ें भी बहुत प्राचीन हैं तथा इसका प्रसार आगे आने वाली शताब्दियों तक मिलता है। यों पुंड के पूर्व हुए किसी हिन्दी साहित्य शास्त्री का कोई पता नहीं चलता और न ही इसके कोई संकेतात्मक विवरण ही किसी साहित्यिक कृति में उपलब्ध होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यक्ति अपने विषय का प्रवर्तक सर्वप्रथम आचार्य होगा तथा उसकी रचना भी इस परम्परा की सर्वप्रथम कृति होगी। द्वितीय कोटि के

१ "शिवसिंह सरोज", भूमिका, पृ० ९।
२ "मिश्रबन्धु विनोद", भाग १, पृ० ७३।
३ "हिन्दी साहित्य का इतिहास", श्री रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३।

अन्तर्गत आने वाले नामों मे सर्वप्रथम कृपाराम का उल्लेख किया जाना चाहिए क्योंकि उपलब्ध सामग्री के आधार पर उन्हें ही हिन्दी साहित्य शास्त्र का सर्वप्रथम आचार्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से माना जाता है तथा यह परम्परा भी उन्हीं से प्रवर्तित हुई बतायी जाती है। इनका रचा हुआ 'हिततरंगिणी' नामक ग्रन्थ संवत् १५९६ वि० में रचा बताया जाता है।[1] यह ग्रन्थ पाँच तरंगों में लिखा गया है।

कृपाराम के पश्चात् लिखी गयी कृतियों में गोपा अथवा गोप कृत 'रामभूषण' और 'अलंकार चन्द्रिका' (संवत १७७३ वि०)[2], मोहनलाल मिश्र कृत 'शृंगार सागर' (संवत् १६१६ वि०), नन्ददास कृत 'रसमंजरी' तथा करनेस कृत 'करणाभरण' 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूप-भूषण' आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों में या तो संस्कृत के ग्रन्थो से और या हिन्दी के ही पूर्ववर्ती ग्रन्थों से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। साहित्यिक उच्चता, विचारगत मौलिकता तथा उच्च स्तरीयता का इनमें पर्याप्त सीमा तक अभाव है। परन्तु इन सीमाओं के होते हुये भी इन कृतियों का विशिष्ट महत्व इस कारण से है, क्योंकि ये हिन्दी साहित्य शास्त्र के विकास की मुख्य कड़ियाँ हैं। साथ ही यह हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा की स्पष्टता भी अभासित करती हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है ये सभी अलंकार ग्रन्थ आचार्य केशवदास के आविर्भाव के पूर्व रचित हुए हैं और गुरुत्व की दृष्टि से साधारण होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए इनका उल्लेख यहाँ आवश्यक समझा गया। इनके पश्चात् आचार्य केशवदास द्वारा उन्नायित शास्त्र की परम्परा के विकास में योग देने वाले आचार्यों और समीक्षकों के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांतो तथा वैचारिक मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे उपस्थित किया जा रहा है।

---

१ सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतीयासु,
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकाश।
बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तारि,
मैं बरन्यों दोहानि बिच याते सुघर विचार।
अक्षर थोरे भेद बहुत पूरन रस कौ धाम,
हिततरंगिनी नाम को रच्यो ग्रन्थ अभिराम।

२ "हिन्दी काव्य शस्त्र का इतिहास", डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ४७

केशवदास

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य केशवदास का स्थान हिन्दी रीति साहित्य के प्रवर्तक के रूप में मान्य है। उनकी जन्म तिथि के विषय में विविध विद्वान् भिन्न भिन्न मत रखते हैं। इन विद्वानों का अनुमान है कि केशवदास का जन्म संवत् १५०८ वि० से लेकर संवत् १६२४ वि० के बीच में हुआ। इनका निवास स्थान ओरछा था। इनके पिता का नाम काशीनाथ तथा पितामह का कृष्णदत्त था। केशवदास तीन भाई थे। इनका विवाह हुआ था और इनको संतान सुख भी प्राप्त था। कुछ लोगों ने महाकवि बिहारी लाल को इनका पुत्र बताया है, परन्तु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। यह विविध राजाओं के आश्रय में रहे, जिनमें सर्वप्रथम जोधपुर के महाराज चन्द्रसेन थे। इनका उल्लेख केशव ने अपनी 'कविप्रिया' नामक कृति में किया है। इसके पश्चात् केशव ओरछा के महाराज इन्द्रजीत सिंह के आश्रय में रहे। कहा जाता है कि केशव ने 'रसिक प्रिया' की रचना इन्हीं के यहाँ की थी, केशवदास के तीसरे आश्रयदाता महाराज वीरसिंहदेव थे जिनके गौरव का गान केशव ने 'वीरसिंहदेव चरित' में किया है। इनके चौथे आश्रयदाता अमरसिंह बताये जाते हैं जिनके विषय में केशव ने कवि प्रिया तथा रसिक प्रिया आदि ग्रन्थों में कुछ स्फुट पद लिखे हैं। राजा बीरबल, राजा टोडरमल, रहीम, तुलसी आदि से भी केशवदास का परिचय और सम्पर्क होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

आचार्य केशवदास के लिखे हुए ग्रन्थों की संख्या पाँच बतायी जाती है, जो निम्नलिखित हैं (१) विज्ञान गीता, (२) कवि प्रिया, (३) राम चन्द्रिका, (४) रसिक प्रिया तथा (५) रामालंकृत मंजरी। यों इनके अन्य ग्रन्थों में "रतन बावनी", "जहाँगीर जस चन्द्रिका", "वीर सिंह देव चरित" आदि का भी उल्लेख किया जाता है। कुछ लोगों ने इनकी रची हुई एक और कृति "नखशिख" भी मानी है। डा० हीरालाल दीक्षित ने केशवदास के प्रामाणिक ग्रन्थों में (१) रसिक प्रिया, (२) नखशिख, (३) कवि प्रिया, (४) रामचन्द्रिका, (५) वीरसिंह देव चरित, (६) रतन बावनी, (७) विज्ञान गीता तथा (८) जहाँगीर जस चन्द्रिका एवं अप्रामाणिक ग्रन्थों में (१) जैमुनि की कथा, (२) हनुमान जन्म लीला, (३) बालिचरित्र, (४) आनन्द लहरी, (५) रस तिलक, (६) कृष्ण लीला तथा (७) अमीघूंट मानी हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने उनके एक सन्दिग्ध ग्रन्थ "रामालंकृत मंजरी" का भी

उल्लेख किया है। उपर्युक्त कृतियों में से जो काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ हैं उनमे "रसिक प्रिया" "नखशिख" "कवि प्रिया" तथा "रामचन्द्रिका" विशिष्ट हैं।[१]

केशवदास के काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों में सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ "रसिक प्रिया" है। इसकी रचना सम्वत् १६४८ वि० में हुई थी।[२] इसमें केशव ने रस विवेचन तथा नायिका भेद किया है। यह ग्रन्थ सोलह प्रकाशों में विभाजित है। इनमें से प्रथम प्रकाश में श्रृंगार रस का वर्णन, द्वितीय में नायक भेद वर्णन, तृतीय में जाति धर्म अवस्थानुसार नायिका भेद वर्णन, चतुर्थ में दर्शन व्याख्या, पंचम में नायक नायिका चेष्टा तथा स्वयं दूतत्व वर्णन, षष्ठ में भाव विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव तथा हाव वर्णन, सप्तम में काल गुणानुसार नायिका भेद, अष्टम में विविध दशाओं का वर्णन, नवम् में मान भेद, दशम में मान मोचन के उपाय, एकादश मे वियोग श्रृंगार के अन्य भेद, द्वादश में सखी भेद, त्रयोदश में सखी कर्म, चतुर्दश में अन्य रसों का वर्णन, पंचदश में वृत्ति वर्णन तथा षष्ठदश में काव्य दोषों का वर्णन किया गया है। उनके दूसरे ग्रन्थ "नखशिख" में आचार्य ने नखशिख का शास्त्रीय विवेचन किया है।

इस विषय में तीसरे ग्रन्थ "कवि प्रिया" की रचना संवत् १९५८ वि० में हुई थी।[३] इस ग्रन्थ की रचना आचार्य ने अपनी शिष्या प्रवीणराय को काव्य की शिक्षा देने के उद्देश्य से की थी।[४] "कवि प्रिया" का विभाजन सोलह प्रभावों में हुआ है। इनमें से प्रथम प्रभाव में राय वंश वर्णन, द्वितीय मे कवि वंश वर्णन, तृतीय में काव्य

१ "आचार्य केशवदास", डा० हीरालाल दीक्षित, पृ० ८९,

२ संवत् सोरह से बरस, बीते अड़तालीस।
कार्तिक सुदि तिथि सप्तमी, बारबार रजनीस ।। (रसिकप्रिया, पृ० ११)

३ प्रगट पंचमी को भयो कवि प्रिया अवतार,
सोरह से अट्ठावनों फागुन सुदि बुधवार। (कविप्रिया, पृ० ३)

४ वृषभ वाहिनी अंग उर बासुकि लसत प्रवीन,
शिव संग सो है सर्वदा शिवा कि रायप्रवीन।
सविता जू कविता दई ता कह परम प्रकास,
ताके काज कवि प्रिया कीन्हीं केशवदास ।। (वही, पृ० १९)

दोष वर्णन, चतुर्थ में कवि भेद, काव्य रीति एवं सोलह श्रृंगार वर्णन, पंचम में भिन्न रंग वस्तु वर्णन, षष्ठ में भिन्न आकृति गुण वस्तु वर्णन, सप्तम में भूमि श्री वर्णन, अष्टम में राज्य श्री वर्णन, नवम्, दशम्, एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश तथा पंचदश में काव्यालंकार वर्णन एवं षष्ठदश में चित्रालंकार वर्णन किया गया है। इस विषय की उनका चौथा ग्रन्थ "रामचन्द्रिका" है। इसका रचना काल संवत् १९५८ वि०[1] है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है, कवि ने इसमें राम कथा का वर्णन किया है। इसमें केशवदास ने छन्द शास्त्र विवेचन प्रस्तुत िया है। इन ग्रन्थों में अभिव्यक्त किये गये केशव के सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

कवियों के प्रकार :—

आचार्य केशवदास ने कवियों के तीन भेद किये हैं : (१) उत्तम, जो हरि रस में मग्न रहते हैं, (२) मध्यम, जो मनुष्यों में लीन रहते हैं तथा (३) अधम, जो दोषों में लीन रहते हैं।[2]

कवि रीति वर्णन :—

कवि रीति वर्णन करते समय आचार्य केशवदास ने बताया है कि मुख्यतः तीन प्रकार के वर्णन काव्य में समावेशित होते हैं। १. सत्र को झूठ कहना और उसका वर्णन न करना,[3] २. झूठ को सच मानकर वर्णन करना,[4] तथा ३. परम्परानुकूल वर्णन।

काव्य दोष वर्णन :—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केशवदास ने अपने "कविप्रिया" नामक ग्रन्थ के तीसरे "प्रभाव" में विविध काव्य दोषों का वर्णन किया है। उन्होंने

१ "रामचन्द्रिका", सं० जानकी प्रसाद, पृ० ३०।

२ उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

३ केशवदास प्रकाश बहु चन्दन के फल फूल,
कृष्ण पक्ष की जोन्ह ज्यों शुक्ल पक्ष तम मूल।

४ जहं तहं बरनत सिन्धु सब, तहं तहं रतननि लेखि,
सूक्ष्म सरोवर हू कहे, केशव हंस विशेषि।

उल्लेख किया है। उपर्युक्त कृतियों में से जो काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ हैं उनमे "रसिक प्रिया" "नखशिख" "कवि प्रिया" तथा "रामचन्द्रिका" विशिष्ट हैं।[1]

केशवदास के काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों में सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ "रसिक प्रिया" है। इसकी रचना सम्वत् १६४८ वि० में हुई थी।[2] इसमें केशव ने रस विवेचन तथा नायिका भेद किया है। यह ग्रन्थ सोलह प्रकाशों में विभाजित है। इनमें से प्रथम प्रकाश में शृंगार रस का वर्णन, द्वितीय में नायक भेद वर्णन, तृतीय में जाति धर्म अवस्थानुसार नायिका भेद वर्णन, चतुर्थ में दर्शन व्याख्या, पंचम में नायक नायिका चेष्टा तथा स्वयं दूतत्व वर्णन, षष्ठ में भाव विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव तथा हाव वर्णन, सप्तम में काल गुणानुसार नायिका भेद, अष्टम में विविध दशाओं का वर्णन, नवम् में मान भेद, दशम मे मान मोचन के उपाय, एकादश में वियोग शृंगार के अन्य भेद, द्वादश में सखी भेद, त्रयोदश में सखी कर्म, चतुर्दश में अन्य रसों का वर्णन, पंचदश में वृत्ति वर्णन तथा षष्ठदश में काव्य दोषों का वर्णन किया गया है। उनके दूसरे ग्रन्थ "नखशिख" में आचार्य ने नखशिख का शास्त्रीय विवेचन किया है।

इस विषय में तीसरे ग्रन्थ "कवि प्रिया" की रचना संवत् १९५८ वि० में हुई थी।[3] इस ग्रन्थ की रचना आचार्य ने अपनी शिष्या प्रवीणराय को काव्य की शिक्षा देने के उद्देश्य से की थी।[4] "कवि प्रिया" का विभाजन सोलह प्रभावों में हुआ है। इनमें से प्रथम प्रभाव में राय वंश वर्णन, द्वितीय में कवि वंश वर्णन, तृतीय में काव्य

१ "आचार्य केशवदास", डा० हीरालाल दीक्षित, पृ० ८९,

२ संवत् सोरह से बरस, बीते अड़तालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी, बारबार रजनीस ॥ (रसिकप्रिया, पृ० ११)

३ प्रगट पंचमी को भयो कवि प्रिया अवतार,
सोरह से अट्ठावनों फागुन सुदि बुधवार। (कविप्रिया, पृ० ३)

४ वृषभ वाहिनी अंग उर बासुकि लसत प्रवीन,
शिव संग सो है सर्वदा शिवा कि रायप्रवीन।
सविता जू कविता दई ता कहू परम प्रकास,
ताके काज कवि प्रिया कीन्हीं केशवदास ॥ (वही, पृ० १९)

दोष वर्णन, चतुर्थ में कवि भेद, काव्य रीति एवं सोलह श्रृंगार वर्णन, पंचम में भिन्न रंग वस्तु वर्णन, षष्ठ में भिन्न आकृति गुण वस्तु वर्णन, सप्तम में भूमि श्री वर्णन, अष्टम में राज्य श्री वर्णन, नवम्, दशम्, एकादश, द्वादस, त्रयोदश, चतुर्दश तथा पंचदश में काव्यालंकार वर्णन एवं षष्ठदश मे चित्रालंकार वर्णन किया गया है। इस विषय का उनका चौथा ग्रन्थ "रामचन्द्रिका" है। इसका रचना काल संवत् १६५८ वि०[1] है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है, कवि ने इसमें राम कथा का वर्णन किया है। इसमें केशवदास ने छन्द शास्त्र विवेचन प्रस्तुत किया है। इन ग्रन्थों में अभिव्यक्त किये गये केशव के सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

कवियों के प्रकार :—

आचार्य केशवदास ने कवियों के तीन भेद किये हैं : (१) उत्तम, जो हरि रस में मग्न रहते हैं, (२) मध्यम, जो मनुष्यों में लीन रहते हैं तथा (३) अधम, जो दोषों में लीन रहते हैं।[2]

कवि रीति वर्णन :—

कवि रीति वर्णन करते समय आचार्य केशवदास ने बताया है कि मुख्यतः तीन प्रकार के वर्णन काव्य में समावेशित होते हैं। १. सच को झूठ कहना और उसका वर्णन न करना,[3] २. झूठ को सच मानकर वर्णन करना,[4] तथा ३. परम्परानुकूल वर्णन।

काव्य दोष वर्णन :—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केशवदास ने अपने "कविप्रिया" नामक ग्रन्थ के तीसरे "प्रभाव" में विविध काव्य दोषों का वर्णन किया है। उन्होंने

१ "रामचन्द्रिका", सं० जानकी प्रसाद, पृ० ३०।

२ उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

३ केशवदास प्रकाश बहु चन्दन के फल फूल,
कृष्ण पक्ष की जोन्ह ज्यों शुक्ल पक्ष तम मूल।

४ जहं तहं बरनत सिन्धु सब, तहं तहं रतननि लेखि,
सूक्ष्म सरोवर हू कहे, केशव हंस विशेषि।

दोषों की संख्या अठारह मानी है, ये इस प्रकार हैं—१. अन्ध, २. बधिर, ३. पंगु, ४. नग्न, ५. मृतक, ६. अगन, ७. हीनरस, ८. यतिभंग, ९. व्यर्थ, १०. अपार्थ, ११. हीनक्रम, १२. कर्ण कटु, १३. पुनरुक्ति, १४. देशविरोध, १५. काल विरोध, १६. लोक विरोध, १७. न्याय विरोध तथा १८. आगम विरोध ।[1]

रस दोष वर्णन :—

आचार्य केशवदास ने "रसिक प्रिया" में कुछ रस दोषों का भी वर्णन किया है। इन्हें उन्होंने "अनरस" कहा है । इनकी संख्या पाँच है। १. प्रयत्नीक २. नीरस, ३. विरस, ४. दुःसन्धान तथा ५. पात्र दुष्ट ।[2] इनमें से प्रथम अर्थात् प्रयत्नीक वहाँ होता है जहाँ शृंगार, वीभत्स, रौद्र, करुणा आदि वर्णित हों,[3] द्वितीय अर्थात् नीरस वहाँ होता है, जहाँ हृदय में प्रेमानुभूति का अभाव होते हुए भी प्रेम प्रकाशन हो,[4] तृतीय अर्थात् विरस वहाँ होता है जहाँ शोक के वातावरण में आनन्द और विलास का वर्णन

१ अंध बधिर अरु पंग तजि नग्न मृतक मति शुद्ध,
अंध विरोधी पंथ को बधिर सु शब्द विरुद्ध ।
छंद विरोधी पंगु गनि नग्न जु भूषण हीन,
मृतक कहावे अर्थ विनु केशव सुनहु प्रवीन ।
अगन न कीजै हीन रस अरु केशव यतिभंग,
व्यर्थ अपारथ हीन क्रम कविकुल तजो प्रसंग ।
देश विरोध न बरनिये कालविरोध निहारि,
लोक न्याय आगमन के, तजौ विरोध विचारि ।

(कविप्रिया, तीसरा प्रभाव ७, ८, १०, ११)

२ प्रयत्नीक, नीरस, विरस, केशव, दुःसंधान ।
पात्रादुष्ट, कवित्त बहु, करहि न सुकवि बखान ॥

(रसिक प्रिया, सोलहवाँ प्रकाश १)

३ जहै शृंगार वीभत्स भय बिरसहि बरणै कोइ ।
रौद्रसु करुण मिलत हौ प्रयत्नीक रस होई ॥ (वही, १६, २)

४ जहां दम्पती मुंह मिले सदा रहै यह रीति ।
कपट रहै लपटाय मन नीरस रस की प्रीति । (वही, १६, ४)

हो,[१] चतुर्थ अर्थात् दुःसन्धान वहाँ होता है जहाँ एक की अनुकूलता तथा दूसरे की प्रतिकूलता का वर्णन हो,[२] तथा पंचम अर्थात् पात्र दुष्ट वहाँ होता है जहाँ कुछ का कुछ वर्णन हो।[३]

अलंकार वर्णन :—

आचार्य केशवदास ने अलंकार को काव्य में विशिष्ट महत्व दिया है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि अच्छी से अच्छी कविता की शोभा अलंकार विहीना होने पर फीकी होती है।[४] इस प्रकार से केशव ने काव्य में अलंकार की अनिवार्यता बताते हुए इसके दो भेद किये (१) साधारण तथा (२) विशिष्ट।[५] इनमें से प्रथम अथवा साधारण अलंकार के उन्होंने चार भेद किये हैं (१) वर्णालंकार, (२) वर्ण्यालंकार, (३) भूमिश्री वर्णन तथा (४) राज्य श्री वर्णन।[६] इनमें से प्रथम अर्थात् वर्णालंकार के अन्तर्गत केशवदास ने सात रंगों का वर्णन किया है। ये रंग हैं (१) श्वेत, (२) पीत, (३) काला, (४) अरुण, (५) धूमर, (६) नीला तथा (७) मिश्रित।[७] वर्ण्यालंकार केशव ने वहाँ माना है जहाँ किसी वस्तु का गुण लेकर कोई उक्ति कथन किया जाय। इनमें सम्पूर्ण, आवर्त,

१ जहाँ शोक महिं भोग को बरणि कहैं कवि कोइ।
केशवदास हुलास सों तहँ ही बीर रस होइ॥ (रसिकप्रिया १६, ६)

२ एक होइ अनुकूल जहँ, दूजो है प्रतिकूल।
केशव दुःसन्धान रस, शोभित तहाँ समूल॥ (वही १६)

३ जैसो जहाँ न बूझिए तैसो करिए पुष्ट।
बिनु विचार जो बरणिये सो रस पातर दुष्ट॥ (वही १६, १८)

४ यद्यपि जाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥ (कवि प्रिया ५, १, ५)

५ कवित कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप।
एक कहे साधारणै, एक विशिष्ट स्वरूप॥ (वही ५)

६ सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकाश।
वर्ण वर्ण्य भू राज श्री भूषण केशवदास॥ (वही ५)

७ सेत पीत कारे अरुण धूमर नीले वर्ण।
मिश्रित केशवदास कहि, सात भाँति शुभ वर्ण॥ (वही ५)

मंडल, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत, तीक्ष्ण, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, शीतल, तप्त, सुरूप, कुरूप, मधुर, अबल, बलिष्ट, अगति, सदागति तथा दानी आदि। तृतीय अर्थात् भूमि श्री अलंकार के अन्तर्गत आचार्य केशवदास ने देश, नगर, वन, गिरि, आश्रम, सरिता, रवि, शशि, सागर और छहों ऋतुओं का वर्णन रखा है। इसी प्रकार से चतुर्थ अर्थात् राज्य श्री अलंकार के अन्तर्गत उन्होंने राजा, रानी, राजसुत, प्रोहित, दलपति, दूत, मंत्री, मन्त्र, प्रयाण, हय, गय तथा संग्राम का वर्णन रखा है।[1]

विशेषालंकार का वर्णन आचार्य केशवदास ने अपने "कविप्रिया" नामक ग्रन्थ के प्रभाव ९ से लेकर प्रभाव १५ तक में किया है। उन्होंने इस अलंकार के अन्तर्गत शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों को ही रखा है। उन्होंने बताया है कि निम्नलिखित सैंतीस अलंकारों का प्रयोग भाषा की शोभा वृद्धि के लिये करना चाहिये (१) स्वभाव, (२) विभावना, (३) हेतु, (४) विरोध, (५) उत्प्रेक्षा, (६) आक्षेप, (७) क्रम, (८) गणना, (९) आशिष, (१०) प्रेमा, (११) श्लेष, (१२) सूक्ष्म, (१३) लेश, (१४) निदर्शना, (१५) ऊर्जस्व (१६) रसवत, (१७) अर्थान्तरन्यास, (१८) व्यतिरेक, (१९) अपह्नुति, (२०) उक्ति, (२१) व्याजस्तुति, (२२) अमित, (२३) पर्यायोक्ति, (२४) युक्त, (२५) समाहित, (२६) सुसिद्ध, (२७) प्रसिद्ध, (२८) विपरीत, (२९) रूपक, (३०) दीपक, (३१) प्रहेलिका, (३२) परवृत्त, (३३) उपमा, (३४) यमक तथा (३५) चित्रालंकार।[2]

१　राजा रानी राजसुत प्रोहित दलपति दूत,
　　　　मंत्री मन्त्र प्रयान हय गय संग्राम अभूत।
　आखेटक जल केलि पुनि विरह स्वयम्बर जाति,
　　　　भूसित सुरतादिकनि करि राजश्रीह्रियपाति॥
　　　　　　　　　　　　　　　　(कवि प्रिया, ८)

२　जानि स्व भाव विभावना हेतु विरोध विशेष,
　　　　उत्प्रेक्षा आक्षेप क्रम गणना आशिष लेष।
　प्रेमा श्लेष समेद है नियम विरोधी मान,
　　　　सूक्ष्म लेश निदर्शना ऊर्जस्वा पुनि जान।
　रस अर्थान्तरन्यास है भेद सहित व्यतिरेक,
　　　　फेरि अपह्नुति उक्ति है वक्रोक्ति सविवेक।

रस विवेचन :—

आचार्य केशवदास ने अपने "रसिक प्रिया" नामक ग्रन्थ में रस विवेचन प्रस्तुत किया है। रस की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव कहा है।[1] उन्होंने रसों की संख्या नौ बतायी है, जो निम्नलिखित हैं (१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत तथा (९) शान्त।[2] इनमें से प्रथम अर्थात् शृंगार रस के आचार्य केशवदास ने दो भेद किये (१) संयोग शृंगार तथा (२) वियोग शृंगार। इन दोनों के उन्होंने दो उपभेद और किये हैं (१) प्रच्छन्न तथा (२) प्रकाश।

नायक भेद :—

आचार्य केशवदास ने अपने 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ में नायक के चार भेद किये हैं, (१) अनुकूल, (२) दक्षिण, (३) शठ तथा (४) धृष्ठ। उन्होंने नायक के गुण बताते हुए लिखा है कि वह अभिमानी, त्यागी, तरुण, कोक कलाओं में प्रवीण, भव्य, क्षमी, सुन्दर, धनी, शुचिरुचि तथा कुलीन होना चाहिए।[3] इनमें से अनुकूल नायक उन्होंने उसे बताया है, जो मन, वाणी और कर्म से अपनी नारी के अनुकूल तथा अन्य

अन्योक्ति व्यधि करन है सुविशेषोक्ति साधि,
फिरि सहक्ति को कहत है क्रम ही सों अभिलाषि।
व्याजस्तुति निन्दा कहैं पुनि निन्दा स्तुति वंत,
अमित सु पर्यायोक्ति पुनि युक्ति सुनो सब संत।
ससमाहित जु सुसिद्ध पुनि औ प्रसिद्ध विपरीत,
रूपक दीपक भेद पुनि कहे प्रहेलिका मीत।
अलंकार परवृत्त कहौं उपमा जमक सुचित्र,
भाषा इतने भूषणनि भूषित कीजै मित्र॥
(कविप्रिया, पृ० १८३)

१ रसिक प्रिया, १, २।

२ प्रथम शृंगार सुहास्यरस करुण रुद्र सुवीर,
भय वीभत्स बखानिए अद्भुत शान्त सुधीर।

३ अभिमानी त्यागी तरुण कोककलान प्रवीन।
भव्यक्षमी सुन्दर धनी शुचि रुचि सदा कुलीन॥ (रसिक प्रिया, पृ० २०)

नारियों के प्रतिकूल हो,[1] दक्षिण नायक उनके विचार से वह होता है, जो पहली नायिका से भय के कारण प्रीति करता और हृदय को चंचल नहीं होने देता,[2] शठ नायक उन्होंने उसे बताया है जिसके हृदय में कपट हो और मुँह पर मीठी बात, तथा जिसे अपराध का भय न हो।[3] एवं धृष्ठ नायक उनके विचार से वह होता है जो त्रास को तिलांजलि दे दे, जिस पर गाली अथवा मार का कोई प्रभाव न हो तथा जो अपना दोष देख कर भी उसे न स्वीकारे।[4]

जाति अनुसार नायिका भेद :—

आचार्य केशवदास ने अपने 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ के तृतीय प्रकाश में नायिका भेद वर्णन किया है। उन्होंने सर्व प्रथम नायिकाओं का वर्गीकरण जाति के अनुसार किया है। इस दृष्टिकोण से नायिकाओं के भेद करते हुए केशव ने लिखा है कि नायिकायें चार प्रकार की होती हैं (१) पद्मिनी, (२) चित्रिणी, (३) शंखिनी तथा (४) हस्तिनी। इनमें से पद्मिनी नायिका उन्होंने उसे बताया है जो स्वरूपवती हो, जिसका शरीर सुगन्धयुक्त एवं स्वर्ण के समान हो, जिसका प्रेम सुखदायक और पुण्यस्वरूप हो, जो लज्जाशीला, उदार और कोमल हृदय हो, जो हंसमुख हो और अपने वस्त्र स्वच्छ रखती हो तथा जिसमें भोजन, निद्रा, मान, रोष और रति की मात्रा अल्प हो।[5]

१ प्रीति करै निज नारि सौं, परनारी प्रतिकूल।
केशव मन वच कर्म करि, सो कहिये अनुकूल॥ (रसिकप्रिया, पृ० २१)

२ पहिली सों हिय होति डर सहज बड़ाई कानि,
चित्त चलै हू ना चलै, दक्षिण लक्षण जानि। (वही, पृ० २३)

३ मुख मीठी वातें कहै, निपट कपट जिय जान,
जाहि न डर अपराध को शठ कर ताहि बखान॥ (वही, पृ० २५)

४ लाज न गारी मार को छोड़ि दई सब त्रास,
देख्यो दोष न मानहीं धृष्ठ सु केशवदास। (वही, पृ० २७)

५ सहज सुगंध स्वरूप शुभ पुन्य प्रेम सुखदान,
तनु तनु भोजन रोस रति निद्रामान बखान।
सलज सुबुद्धि उदार मृदु हास बास शुचि अंग,
अमल अलोम अनंगभुव पद्मिनि हाटक रंग॥

चित्रिणी नायिका के विषय में आचार्य केशवदास ने लिखा है कि वह नृत्य, गीत तथा काव्य में रुचि रखती है, उसका हृदय स्थिर होता है, उसकी दृष्टि चंचल होती है, उसे रति रुचती है, उसके मुख से सुगन्ध निकलती है, उसके शरीर पर रोम कम होते हैं और उसे चित्रों से प्रेम होता है।[1] शंखिनी नायिका के विषय में केशवदास का मत है कि वह कोपशीला, चतुरा, कपटयुक्त, सजला एवं सलोम शरीरा होती है, लाल रंग के वस्त्रों को पसन्द करती है, नखदान उसे रुचता है, वह निर्लज्ज, निर्भय तथा अधीरा होती है।[2] इसी प्रकार से हस्तिनी नायिका के विषय में केशव ने लिखा है कि उसकी उंगलियाँ, चरण, मुख, अधर और भृकुटी स्थूल होती है। उसके बोल कटु, चित्त चंचल और गति मन्द होती है, उसके बाल भूरे होते हैं, उसका स्वेद हाथी के मद के समान गन्ध वाला होता है, तथा उसके शरीर पर तीक्ष्ण तथा अधिक रोम होते हैं।[3]

अन्य नायिका प्रकार :—

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त आचार्य केशवदास ने नायिकाओं के अन्य भेद भी किये हैं। स्वकीया, परकीया तथा सामान्या के अन्तर्गत उनका विभाजन करते हुए आचार्य ने बताया है कि इनमें से स्वकीया नायिका वह होती है, जो सम्पत्ति, विपत्ति और मरण

१ नृत्यगीत कविता रुचै अचल चित्त चल दृष्टि,
बहिरतिरत अति सुरत जल मुख सुगंध की सृष्टि।
विरल लोम तन मदन गृह भावत सकल सुवास,
मित्र चित्रप्रिय चित्रिणी जानहु केशवदास। (रसिकप्रिया, पृ० ३१)

२ कोपशील कोविद कपट सजल सलोम शरीर,
अरुण वसन नखदान रुचि निलज निशंक अधीर।
क्षार गंधयुक्त मार जल, तप्त सूर सम होई,
सुरतारति अति संखिनी बरनत कवि जन लोई। (वही, पृ० ३२)

३ थूल अंगुली चरण मुख, अधर भृकुटि कटु बोल,
मदन सदन रदकंधरा मंद चाल चित लोल।
स्वेद मदन जल, द्विरदमद गंधित भूरे केश,
अति तीक्ष्ण बहुलोमतन भनिहस्तिनि इहि वेश। (वही, पृ० ३३)

में नायक के प्रति मन, वचन और धर्म से व्यवहार करे।[१] फिर उन्होंने स्वकीया के ही अन्तर्गत तीन अन्य भेद किये हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। फिर मुग्धा के उन्होंने चार उपभेद किये हैं। मुग्धा नववधू, नवयौवना भूषिता मुग्धा, मुग्धा नवलअनंगा और लज्जाप्राइरति मुग्धा। इनमें से प्रत्येक का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। फिर उन्होंने मध्या के चार भेद किये हैं। मध्यारूढ़ा यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और विचित्र सुरता। इनके अतिरिक्त उन्होंने धैर्य गुण के आधार पर मध्या के तीन अन्य भेद किये हैं। धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा। प्रगल्भा नायिका के भेद करते हुए आचार्य केशवदास ने उन्हें चार प्रकार का बताया है। समस्तरस कोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामति नायिका और लब्धापति। परकीया नायिका के सर्वप्रथम दो भेद करते हुए आचार्य ने बताया है कि वह रूढ़ा तथा अनूढा होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्या का वर्णन नही किया।

उपर्युक्त नायिका भेद के अतिरिक्त आचार्य केशवदास ने अभिसारिका, स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकशय्या, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा आदि नायिकाओं के अन्य प्रकार बताये हैं। यह विभाजन उन्होंने अवस्थानुसार किया है। इसके अतिरिक्त नायिकाओं के तीन अन्य भेद किये हैं: उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा। उपर्युक्त सबके लक्षण तथा उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।[२] उन्होंने अगम्या का भी वर्णन लक्षण तथा उदाहरण सहित किया है।[३]

१ सम्पत्ति विपत्ति जो मरण हूं सदा एक अनुहार,
ताको स्वकीया जानिये, मन क्रम बचन विचार। (रसिकप्रिया, पृ० ३४)

२ मान करै अपमान तें तजें मान तें मान,
प्रिय देखे सुख पावई ताहि उत्तमा जान।
मान करै लघु दोष तें छोड़ें बहुत प्रणाम,
केशवदास बखानिये ताहि मध्यमा बाम।
रूठै बारहि बार जो तूठै बैठेहि काज,
ताही को अधमा बरण हैं महाकविराज।
(वही, पृ० १३ और ४३

३ तजि तरुणी संबंध की जाति मित्र द्विजराज,
राखि लेई दुख भूख तै ताको तिय तें माज।

रस के अंग :—रस के अंगों का विवेचन करते हुए आचार्य केशवदास ने सर्वप्रथम भाव के विषय में लिखा है कि भाव मन की उस बात को कहते हैं, जिसे मुख, नेत्रों अथवा वाणी से प्रकट किया जाय।[1] उन्होंने भावों को पाँच प्रकार का लिखा है—१. स्थायी भाव, २. विभाव, ३. अनुभाव, ४. सात्विक भाव तथा ५. व्यभिचारी भाव। इसी प्रकार से उन्होंने विभाव उसे कहा है जिससे विविध रसों की अभिव्यक्ति हो। विभाव उन्होंने दो प्रकार के बताये हैं : १. आलम्बन विभाव और २. उद्दीपन विभाव। इनमें से प्रथम वह होता है जिनके अभाव में रस का उद्भव, कोई अस्तित्व नहीं रखता तथा द्वितीय वह होता है, जो रस को उद्दीप्त करता है।[2] उन्होंने आलम्बन के अन्तर्गत नायक दंपति के यौवन, रूप, जाति, लक्षण, वसन्त, फूल, फल, दल, उपवन, जलाशय, कमल, चातक, मोर, कोयल की कूक, भ्रमर गुंजार, शुभ्र, सेज, दीप सुगन्धित गृह, पावक, वस्त्र, नव नृत्य तथा वीणा आदि की रचना की है।[3] इसी प्रकार से आचार्य केशवदास ने

अधिक वरण अरु अङ्ग घटि अंत्यजमन की नारि,
तजि विधवा अरु पूजिता रमियहुरसिकविचारि। (रसिकप्रिया, पृ० १७१)

१ आनन लोचन वचन मग प्रगटत मन की बात,
ताही सों सब कहत हैं भाव कवित के तात। (वही, पृ० ८९)

२ जिनते जगत अनेक रस प्रकट होत अनयास,
तिनसों विमति विभाव कहि वर्णन केशवदास।
सो विभाव द्वै भाँति के, केशवदास बखान,
आलंबन इक दूसरो उद्दीपन मन आन।
जिन्हें अतन अवलंबई ते आलंबन जान,
जिनते दीपति होत हैं ते उद्दीप बखान। (वही, पृ० ८९, ९०)

३ दंपति जोवन रूप जति लक्षण युत सखि जन,
कोकिल कलित बसंत फूलि फल दलिअलि उपवन।
जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर,
चातक मोर सुशब्द तड़ित घन अंबुद अंबर।
शुभ्र सेज दीप सौगन्ध गृह पान खान परिधान भजि,
नव नृत्यभेद वीणादि सब आलंबन केशव बरजि। (वही, पृ० ९१)

में नायक के प्रति मन, वचन और धर्म से व्यवहार करे।[1] फिर उन्होंने स्वकीया के ही अन्तर्गत तीन अन्य भेद किये हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। फिर मुग्धा के उन्होंने चार उपभेद किये हैं। मुग्धा नववधू, नवयौवना भूषिता मुग्धा, मुग्धा नवलअनंगा और लज्जाप्राइरति मुग्धा। इनमें से प्रत्येक का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। फिर उन्होंने मध्या के चार भेद किये हैं। मध्यारूढ़ा यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और विचित्र सुरता। इनके अतिरिक्त उन्होंने धैर्य गुण के आधार पर मध्या के तीन अन्य भेद किये हैं। धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा। प्रगल्भा नायिका के भेद करते हुए आचार्य केशवदास ने उन्हें चार प्रकार का बताया है। समस्तरस कोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामति नायिका और लब्धापति। परकीया नायिका के सर्वप्रथम दो भेद करते हुए आचार्य ने बताया है कि वह ऊढ़ा तथा अनूढा होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्या का वर्णन नहीं किया।

उपर्युक्त नायिका भेद के अतिरिक्त आचार्य केशवदास ने अभिसारिका, स्वाधीन-पतिका, उत्का, वासकशय्या, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा आदि नायिकाओं के अन्य प्रकार बताये हैं। यह विभाजन उन्होंने अवस्थानुसार किया है। इसके अतिरिक्त नायिकाओं के तीन अन्य भेद किये हैं : उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा। उपर्युक्त सबके लक्षण तथा उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।[2] उन्होंने अगम्या का भी वर्णन लक्षण तथा उदाहरण सहित किया है।[3]

१ सम्पत्ति विपत्ति जो मरण हूं सदा एक अनुहार,
ताको स्वकीया जानिये, मन क्रम बचन विचार। (रसिकप्रिया, पृ० ३४)

२ मान करै अपमान तें तजै मान तें मान,
प्रिय देखे सुख पावई ताहि उत्तमा जान।
मन्न करै लघु दोष तें छोड़ै बहुत प्रणाम,
केशवदास बखानिये ताहि मध्यमा बाम।
रूठै बारहि बार जो तूठै बैठेहि काज,
ताही को अधमा बरण हैं महाकविराज।
(वही, पृ० १३ और ४३

३ तजि तरुणी संबंध की जाति मित्र द्विजराज,
राखि लेई दुख भूख तै ताको तिय तें माज।

रस के अंग:—रस के अंगों का विवेचन करते हुए आचार्य केशवदास ने सर्वप्रथम भाव के विषय में लिखा है कि भाव मन की उस बात को कहते हैं, जिसे मुख, नेत्रों अथवा वाणी से प्रकट किया जाय।[1] उन्होंने भावों को पाँच प्रकार का लिखा है—१. स्थायी भाव, २. विभाव, ३. अनुभाव, ४. सात्विक भाव तथा ५. व्यभिचारी भाव। इसी प्रकार से उन्होंने विभाव उसे कहा है जिससे विविध रसों की अभिव्यक्ति हो। विभाव उन्होंने दो प्रकार के बताये हैं : १. आलम्बन विभाव और २. उद्दीपन विभाव। इनमें से प्रथम वह होता है जिनके अभाव में रस का उद्‌भव, कोई अस्तित्व नहीं रखता तथा द्वितीय वह होता है, जो रस को उद्दीप्त करता है।[2] उन्होंने आलम्बन के अन्तर्गत नायक दंपति के यौवन, रूप, जाति, लक्षण, बसन्त, फूल, फल, दल, उपवन, जलाशय, कमल, चातक, मोर, कोयल की कूक, भ्रमर गुंजार, शुभ्र, सेज, दीप सुगन्धित गृह, पावक, वस्त्र, नव नृत्य तथा वीणा आदि की रचना की है।[3] इसी प्रकार से आचार्य केशवदास ने

अधिक वरण अरु अङ्ग घटि अंत्यजमन की नारि,
तजि विधवा अरु पूजिता रमियहुरसिकविचारि। (रसिकप्रिया, पृ० १७१)

१ आनन लोचन वचन मग प्रगटत मन की बात,
ताही सों सब कहत हैं भाव कवित के तात। (वही, पृ० ८९)

२ जिनते जगत अनेक रस प्रकट होत अनयास,
तिनसों विमति विभाव कहि वर्णन केशवदास।
सो विभाव द्वै भाँति के, केशवदास बखान,
आलंबन इक दूसरो उद्दीपन मन आन।
जिन्हें अतन अवलंबई ते आलंबन जान,
जिनते दीपति होत हैं ते उद्दीप बखान। (वही, पृ० ८९, ९०)

३ दंपति जोवन रूप जति लक्षण युत सखि जन,
कोकिल कलित बसंत फूलि फल दलिअलि उपवन।
जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर,
चातक मोर सुशब्द तडित घन अंबुद अंबर।
शुभ्र सेज दीप सौगन्ध गृह पान खान परिधान मजि,
नव नृत्यभेद वीणादि सब आलंबन केशव बरजि। (वही, पृ० ९१)

नायक नायिका द्वारा एक दूसरे की ओर देखा जाना, आलाप, आलिंगन, नखदान, रददान, चुम्बन, मर्दन, तथा स्पर्श आदि की गणना उद्दीपन के अन्तर्गत की है।[१]

आचार्य केशवदास ने स्थायी भावों की संख्या आठ बतायी है जो इस प्रकार हैं—१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. निन्दा तथा ८. विस्मय।[२] इसी प्रकार से उन्होंने सात्विक भावों की संख्या भी आठ बतायी है—१. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. सुरभंग, ५. कंप, ६. वैवर्ण, ७. अश्रु तथा ८. प्रलाप।[३] केशवदास संचारी भावों का विवेचन करते हुए उनकी सूची इस प्रकार देते हैं १. निर्वेद, २.ग्लानि, ३. शंका, ४. आलस्य, ५. दैन्य, ६. मोह, ७ स्मृति, ८. धृति, ९. कीड़ा, १०. चपलता, ११. श्रम, १२. मद, १३. चिन्ता, १४. मोह, १५. गर्व, १६. हर्ष, १७. आवेग, १८. निन्दा, १९. निद्रा, २०. विवाद, २१. जड़ता, २२. उत्कंठा, २३. स्वप्न, २४. प्रबोध, २५. विषाद, २६. अपस्मार, २७. मति, २८. उग्रता, २९, आशतर्क, ३०. व्याधि, ३१ उन्माद, ३२. मरण तथा ३३. भय।[४] इसी प्रकार से उन्होंने हाव के भी तेरह भेद किये हैं जो निम्नलिखित हैं—१. हेला, २. लीला, ३. ललित, ४. मद, ५. विभ्रम, ६. निहित, ७. विलास, ८. किलकिंचत, ९. विच्छित्ति, १०. बिब्बोक, ११. मोट्टाइत, १२. कुट्टमित, तथा १३. बोध।[५]

१ अविलोकन आलाप परिरंभन नखरद दान,
चुंबनादि उद्दीपये मर्दन परस प्रवान। (वही, पृ० ९१)

२ रतिहासी अरु शोक पुनि क्रोध उछाह सुजान,
भयनिन्दा विस्मय सदा थाई भाव प्रमान। (रसिकप्रिया, पृ० ९२)

३ स्तंभ स्वेद रोमांच सुर भंग कंप वैवर्ण,
अश्रु प्रलाप बखानिये आठौ नाम सुवर्ण। (वही, पृ० ९३)

४ निर्वेद ग्लानि शंका तथा आलस दैन्यरुमोह,
स्मृति धृति ब्रीडा चपलता श्रम मदचिंता कोह।
गर्व हर्ष आवेग पुनि निन्दा नींद विवाद,
जड़ता उत्कंठा सहित स्वप्न प्रबोध विषाद।
अपस्मार मति उग्रता आशतर्क अति व्याध,
उन्माद मरण भय आदि दै व्यभिचारीयुतआध। (वही, पृ० ९४)

५ हेला लीला ललित मद विभ्रम विहित विलास,
किलकिंचित विक्षिप्त अरु कहि बिब्बोकप्रकार।

वियोग शृंगार:—

वियोग शृंगार के आचार्य केशवदास ने चार भेद किये हैं:—पूर्वानुराग, करुण, मान तथा प्रवास। इसके साथ ही इन्होंने दस दशाओं: अभिलाषा, चिन्ता, गुण कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण का भी उल्लेख करते हुए इनके लक्षण सहित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[1] इसी प्रकार से इन्होंने मान विरह के भेदों का वर्णन करते हुए मान के तीन भेद बताये हैं। गुरु, लघु और मध्यम[2] मान मोचन के छः उपाय बताये हैं। साम, दाम, भेद, प्रणति, उपेक्षा तथा प्रसंग विध्वंस[3] इन सबके उन्होंने लक्षण एवं उदाहरण पृथक् पृथक् रूप से प्रस्तुत किये हैं। यों उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से निर्देशित किया है कि कभी-कभी परिस्थितिवश भी मान छूट जाता है।[4] इनके अतिरिक्त केशव ने करुण विरह[5] तथा प्रवास विरह[6] आदि का भी विवेचन किया है। सखी वर्णन करते हुए केशव ने धाय, जनी, नाइन, नटी, परोसिन, मालिन, बरइन, शिल्पिनि, चुरिहारी, सुनारिन, रामजनी, सन्यासिनी और

सोट्टाइत सुनु कुट्टमित बोधादिक बहुभाव,
अपनी-अपनी बुद्धिबल वर्णत कवि कविराव।

१ अवलोकन आलाप ते मिलिबे को अकुलाहि,
होत दशा दश मिले केशव क्यों कहि जाहि।
अभिलाष सुचिन्ता गुण कथन, स्मृति उद्वेग प्रलाप,
उन्माद व्याधि जड़ता भयहोतमरणपुनि ताहि। (रसिकप्रिया, पृ० १४८)

२ मान भेद प्रकटहि त्रिया गुरु लघु मध्यम मान,
प्रकटति प्रीय प्रियानप्रति केशवदास सुजान। (वही, पृ० १३१)

३ सामदाम अरु भेद पुनि प्रणित उपेक्षा मानि,
अरु प्रसंगविध्वंस पुनि दंड होहि रसहानि। (वही, पृ० १००)

४ देशकाल बुधि बचन ते, कल ध्वनि कोमल गान,
शोभा शुभ सौगंध ते सुख ही छूटतमान। (वही, पृ० १९१)

५ छूटि जाति केशव जहाँ सुख के सबै उपाय,
करुण रस उपजत जहाँ आपन ते अकुलाय। (वही, पृ० १९२)

६ केशव कोनहु काज से प्रिय परदेशहि जाय,
तासों कहत प्रवास सब कवि कोविद समुझाय। (वही, पृ० १९७)

पटुवे की स्त्री को सखी के अन्तर्गत माना है[१] तथा सखी कर्म का भी वर्णन किया है। उनके विचार से सखी कर्म के अन्तर्गत शिक्षा देना, विनय करना, मनाना, समागम कराना, श्रृंगार करना, विनम्र बनाना तथा उलाहना देना आदि हैं।[२]

अन्य रस :—

आचार्य केशवदास ने हास्य रस के चार भेद किये हैं: मन्द हास, कलहास, अतिहास तथा परिहास। करुण रस के विषय में उन्होने बताया है कि इसकी उत्पत्ति प्रिय के विप्रियकरण से होती है।[३] उन्होंने रौद्र रस को क्रोधमय माना है, उसका शरीर उग्र तथा रंग अरुण माना है।[४] वीर रस को उन्होंने उत्साहमय, गौरवर्ण, उदार और गम्भीर बताया है।[५] भयानक रस को उन्होंने श्याम वर्ण और उसकी उत्पत्ति किसी भयप्रद वस्तु के दर्शन श्रवण से बतायी है।[६] अद्भुत रस पीत वर्ण होता है और उन्होंने आश्चर्यजनक वस्तु के दर्शन श्रवण से इसकी उत्पत्ति बतायी है।[७] बीभत्स रस को

१ धाय जनी नायन नटी प्रकट परोसिन नारि,
मालिन बरइन शिलपिनी चुरिहारिनी सुनारि।
रामजनी संन्यासिनी पटु पटुवा की बाल,
केशव नायक नायिका सखी करहिं सब काल। (रसिकप्रिया, पृ० २०६)

२ शिक्षा विनय मनाइबो मिलबै करहिं श्रृंगार,
झुकि अरु देइ उराहनो यह तिनको व्यवहार। (वही पृ० २२०)

३ प्रिय के विप्रिय करण ते आन करुण रस होत,
ऐसो वरण बखानिये जैसे तरुण कपोत। (वही पृष्ठ २३०)

४ होहिं रौद्र रस क्रोध में विग्रह उग्र शरीर,
अरुण बरण बरणत सबै कहि केशव मति धीर। (वही पृ० २३९)

५ होहिं वीर उत्साहमय गौर वरण द्युति अंग,
अति उदार गम्भीर कहि केशव पाय प्रसंग। (वही पृ० २४०)

६ होहिं भयानक रस सदा केशव श्याम शरीर,
जाको देखत सुनत ही उपजि परे भय भीर। (वही पृ० २०१)

७ होहि अचंभो देखि सुनि सो अद्भुत रस जान,
केशवदास विलाप विधि पीत वरण वपुमान। (वही पृ० २४४)

उन्होंने निन्दमय और नील वर्ण माना है। इसकी उत्पत्ति उन्होंने किसी उपेक्षित अथवा घृण्य वस्तु के दर्शन श्रवण से बतायी है।[1] इसी प्रकार से शान्त रस उन्होंने वहाँ बताया जहाँ मनुष्य के मन का केन्द्रीकरण हो जाय।[2]

सुन्दर कवि

परिचय तथा कृतियाँ :—

सुन्दर कवि सम्राट शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। उन के द्वारा रचे गये एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है जिसका शीर्षक है "सुन्दर श्रृंगार"। इस कृति की रचना संवत् १६८८ वि० में हुई बतायी जाती है।[3] इस ग्रन्थ में रचयिता ने श्रृंगार रस का वर्णन किया है। आरम्भ में सुन्दर कवि ने नायिका भेद का वर्णन किया है। यह वर्णन अधिकांशतः "रस मंजरी" पर आधारित बताया जाता है। नायिका भेद के अन्तर्गत उन्होंने अनुराग के प्रसंग का भी वर्णन किया है। अनुराग उन्होंने दो प्रकार का बताया है (१) दृष्टानुराग तथा (२) श्रुतानुराग। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे रचयिता ने श्रृंगार रस के भेदों, सात्विक भावों तथा हावों आदि का वर्णन किया है। उन्होंने इन विषयों के लक्षण देने के साथ ही साथ उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इस ग्रन्थ की रचना सामान्य जन को काव्य शिक्षा देने के उद्देश्य से लेखक ने की थी।[4] परन्तु श्रृंगार रस का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में इसका स्थान अग्रगण्य माना जाता है।[5]

१ निंदामय बीभत्स रस नील वरण वपु तास,
केशव देखत सुनत ही तन मन होइ उदास। (रसिकप्रिया, पृ० २४३)

२ सबै होइ उदास मन बसै एक ही ठौर,
ताही सों सम रस कहें केशव कवि सिरमौर। (वही पृ० २४६)

३ संवत् सोरह सै बरस बीते अट्ठासीति,
कातिक सुदि षष्ठी गुरुहि रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति। (सुन्दर श्रृंगार)

४ सुरबानी याते करी नर बानी में त्याय,
जाते मगु रस रीति को सबते समझो जाय। (वही)

५ "हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास", डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ६८

चिन्तामणि

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना हिन्दी साहित्य के महान् पंडितों में की जाती है। इनका जन्म संवत् १६६६ वि० तथा रचनाकाल १७०० माना जाता है।[१] यह नागपुर के भोसला राजा मकरन्दशाह के दरबार में रहते थे। कहा जाता है कि उनके लिए ही इन्होंने अपने ग्रन्थ 'पिंगल' की रचना की थी। इसमें इन्होंने छन्द शास्त्र का विवेचन किया है[२]। आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के रचे हुए छः ग्रन्थ बताये जाते हैं। (१) काव्य विवेक, (२) काव्य प्रकाश, (३) कविकुल कल्पतरु, (४) रस मंजरी, (५) पिंगल तथा (६) रामायण। इन ग्रन्थों में कवि कुल कल्पतरु का रचना काल संवत् १७०७ वि० माना जाता है। इसमें लेखक ने काव्य के गुणों, अलंकार, दोष तथा शब्द शक्ति आदि का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ की रचना लेखक ने विविध संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् उन्हीं के आधार पर की थी।[३]

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी लिखित काव्य शास्त्र विषयक दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'शृंगार मंजरी' है। यह ग्रन्थ लेखक ने शाहराज के पुत्र बड़े साहिब अकबर साहि के लिए लिखा था।[४] इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६६० वि० में मानी जाती है।[५]

१ मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४०२ तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २९२।

२ चिन्तामनि कवि को हुकुम, कियो साहि मकरन्द,
करौ लच्छि लच्छन सहित, भाषा पिंगल छन्द।

३ जो सुरवानी ग्रन्थ हैं तिनको समुझ विचार,
चिंतामनि कवि करत है भाषा कवित विचार।

४ इति श्रीमन महाराजाधिराज मुकुटतटधारित मनि प्रभाराजिनी राजित चरन राजीव साहिराज गुरुराज तनुज बड़े साहिब अकबर साहिब विरचिता शृंगार मंजरी समाप्ता।

५ "शृंगार मंजरी", सं० डा० भगीरथ मिश्र।

"श्रृंगार मंजरी" में रचयिता ने नायिका भेद को वर्ण्य विषय बनाया है। इन ग्रन्थों के आधार पर चिन्तामणि के प्रमुख साहित्य विचारों का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का स्वरूप:—

चिन्तामणि के विचार से गुण और अलंकार से युक्त तथा दोष रहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[1]

काव्य के भेद:—

चिन्तामणि ने सर्व प्रथम काव्य के दो भेद किये है—गद्य और (२) पद्य। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक काव्य शास्त्रियों द्वारा मान्य चम्पू को उन्होंने उल्लिखित नहीं किया है। परन्तु संस्कृत के ही प्रभावानुसार इन्होंने काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों को स्वीकार करते हुए उनके उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किये हैं।[2]

काव्य पुरुष:—

चिन्तामणि ने काव्य पुरुष का रूपक बाँधते हुए काव्य पुरुष का शरीर शब्द तथा अर्थ को, रस को उसका जीवित अर्थात् आत्मा, श्लेष तथा शौर्य आदि गुणों को रस रूपी जीवित के निश्चय धर्म, उपमा आदि अलंकारों को शब्दार्थ रूपी शरीर के हार आदि के समान शोभाकारक धर्म, रीति को मानव स्वभाव तथा वृत्ति को मानव वृत्ति

१ सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होई,
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोई। (कविकुल कल्पतरु १/७)

२ उत्तम मध्यम अधम ए त्रिविध कवित पहिचानि,
तिनके लक्षण उदाहरन देत लेहु मन आनि॥
वाक अर्थ ते कहत मनि व्यंग अधिक जहँ होई।
सो जन उत्तम कवित है, यह जानत कवि कोइ॥
उत्तम व्यंग प्रधान गन, अप्रधान गन व्यंग।
सो मध्यम पुनि अधम गन, त्रिविध चित्र अव्यंग॥
(कविकुल कल्पतरु ५, १, २, ३)

चिन्तामणि

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना हिन्दी साहित्य के महान् पंडितों में की जाती है। इनका जन्म संवत् १६६६ वि० तथा रचनाकाल १७०० माना जाता है।[१] यह नागपुर के भोंसला राजा मकरन्दशाह के दरबार में रहते थे। कहा जाता है कि उनके लिए ही इन्होंने अपने ग्रन्थ 'पिंगल' की रचना की थी। इसमें इन्होंने छन्द शास्त्र का विवेचन किया है[२]। आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के रचे हुए छः ग्रन्थ बताये जाते हैं। (१) काव्य विवेक, (२) काव्य प्रकाश, (३) कविकुल कल्पतरु, (४) रस मंजरी, (५) पिंगल तथा (६) रामायण। इन ग्रन्थों में कवि कुल कल्पतरु का रचना काल संवत् १७०७ वि० माना जाता है। इसमें लेखक ने काव्य के गुणों, अलंकार, दोष तथा शब्द शक्ति आदि का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ की रचना लेखक ने विविध संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् उन्हीं के आधार पर की थी।[३]

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी लिखित काव्य शास्त्र विषयक दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ' 'शृंगार मंजरी' है। यह ग्रन्थ लेखक ने शाहराज के पुत्र बड़े साहिब अकबर साहि के लिए लिखा था।[४] इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६६० वि० में मानी जाती है।[५]

१ मिश्र बन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४०२ तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २९२।

२ चिन्तामनि कवि को हुकुम, कियो साहि मकरन्द,
करौ लच्छि लच्छन सहित, भाषा पिंगल छन्द।

३ जो सुरवानी ग्रन्थ हैं तिनको सुमुक विचार,
चिंतामनि कवि करत है भाषा कवित विचार।

४ इति श्रीमन महाराजाधिराज मुकुटतटधारित मनि प्रभाराजिनी राजित चरन राजीव साहिराज युवराज तनुज बड़े साहिब अकबर साहिब विरचिता शृंगार मंजरी समाप्ता।

५ "शृंगार मंजरी", सं० डा० भगीरथ मिश्र।

"श्रृंगार मंजरी" में रचयिता ने नायिका भेद को वर्ण्य विषय बनाया है। इन ग्रन्थों के आधार पर चिन्तामणि के प्रमुख साहित्य विचारों का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का स्वरूप:—

चिन्तामणि के विचार से गुण और अलंकार से युक्त तथा दोष रहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[1]

काव्य के भेद:—

चिन्तामणि ने सर्व प्रथम काव्य के दो भेद किये हैं—गद्य और (२) पद्य। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक काव्य शास्त्रियों द्वारा मान्य चम्पू को उन्होंने उल्लिखित नहीं किया है। परन्तु संस्कृत के ही प्रभावानुसार इन्होंने काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों को स्वीकार करते हुए उनके उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किये हैं।[2]

काव्य पुरुष:—

चिन्तामणि ने काव्य पुरुष का रूपक बाँधते हुए काव्य पुरुष का शरीर शब्द तथा अर्थ को, रस को उसका जीवित अर्थात् आत्मा, श्लेष तथा शौर्य आदि गुणों को रस रूपी जीवित के निश्चय धर्म, उपमा आदि अलंकारों को शब्दार्थ रूपी शरीर के हार आदि के समान शोभाकारक धर्म, रीति को मानव स्वभाव तथा वृत्ति को मानव वृत्ति

१ सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होई,
शब्द अर्थ ताको कवित्त कहत विबुध सब कोई। (कविकुल कल्पतरु १/७)

२ उत्तम मध्यम अधम ए त्रिविध कवित पहिचानि,
तिनके लक्षण उदाहरन देत लेहु मन आनि ॥
वाक अर्थ ते कहत मनि व्यंग अधिक जहँ होई।
सो जन उत्तम कवित है, यह जानत कवि कोइ ॥
उत्तम व्यंग प्रधान गन, अप्रधान गन व्यंग।
सो मध्यम पुनि अधम गन, त्रिविध चित्र अव्यंग ॥
(कविकुल कल्पतरु ५, १, २, ३)

के समान बताया है। इसके अतिरिक्त चिन्तामणि ने इसी प्रसंग में काव्य के दो अन्य अंगों शय्या और पाक का भी उल्लेख किया है।[१]

काव्य के गुण :–

चिन्तामणि "कविकुलकल्पतरु" में काव्य के गुणों[२] का परिचय देते हुए माधुर्य[३] ओज[४]

१ शब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिव जानि,
अलंकार हारादि ते उपमादि मन आनि।
श्लेषादि गुन सूरतादिक से मानो चित्त,
वरनौ रीति सुभाव ज्यों वृत्ति वृत्ति सो मित्त।
जे रस आगे के धरम ते गुन बरनै जात,
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात।
पद अनुगुल विश्राम सो सज्जा सज्जा जानि,
रस अस्वाद भेद जे पाक पाक से मानि।
कवित पुरुष की साज सब समुझ लोक की रीति।
(कविकुल कल्पतरु १/९, १०, ११, १२, १३,)

२ प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि,
त्रिविध गुन तिन में सबै सुकवि लेत मनमानि। (वही, १/१३)

३ जो संयोग सिंगार में सुखद दवावै चित्त,
सो माधुर्य बखानिये यहई तत्व कवित्त।
जो संयोग सिंगार में करुण मध्य अधिकाइ,
विप्रलम्भ अरु सांत रस तामें अधिक बनाइ।
अनुस्वार जुत वरग जित सवै वर्ग अटवर्ग,
मृदु समास माधुर्य की घटना में जु निसर्ग। (वही, १/१४, १५, २०)

४ दीप्त चित्त विस्तार को हेतु ओज गुन जानि,
सुतों वीर वीभत्स अरु रौद्रक्रमाधिक मानि।
वरगन में जो आदि तरु तीजो अखार कोई,
तिनसों योग द्वितीय अरु चौथे को जो होई।

ाद[1] आदि गुणों को मान्य किया है और उनकी विस्तृत व्याख्या और विवेचना ही है।

ूपण:—

रस निरूपण करते हुए चिन्तामणि ने हाव-भाव[1], अनुभाव[2], तथा संचारी भावों[3] ूना की है। चिन्तामणि के विचार से लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो ार्य आदि होते हैं, काव्य तथा नाटक में वे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी े कहे जाते हैं। भावों को उन्होंने मनोविकार बताया है, जो सामाजिक के हृदय

रेफ जोग सब ठौर जो तुल्य वरन जुग योग,
सपट वरग वीरघ करत जे समास कवि लोग।
ऐसी घटना ओज की व्यंजक मन में आनि,
सकल सुकवि जन को मतौ सुजन लेहु मन जानि।
संजोगी उद्धत वरन जो पुनि विरध समास,
ऐसी रचना करत हैं पुनतहिं बीज प्रकास। (कविकुलकल्पतरु १/१६, २४)
सूखे ईंधन आग ज्यों स्वच्छ नीर की रीति,
झलके अक्षर अर्थ जो सो प्रसाद गुन नीति।
जामहिं सुनतहिं पदन के अर्थ बोध मन होई,
सो प्रसाद वरनादि इति साधारण सब ओइ। (वही, १/२८)
भ्रू नेत्रादि विकार जो कछु उपजै मन माहिं,
कछू सलक्ष्य विकार का हाव भाव है जाहि। (वही, ७/१५)
इति कारज अनुभाव गनि एकठाम वै आदि,
मधुर अंग इहाँ कह सहृदय सुखद अनादि।
जे पुनि थाई भाव को प्रकट करैं अलयास,
ताहि कहत अनुभाव हैं सब कवि बुद्धि विलास। (वही ६/१, २)
जे विशेष ते भाइ की अभिमुख रहे बनाइ,
ते संचारी वर्णिये कहत बड़े कविराई।
रहत सदा थिर भाव में प्रकट होत इहि भाँति,
ज्यों कल्लोल समुद्र में, यों संचारी जाति। (वही ६/८, ९)

में वासना रूप में स्थित रहते हैं। ये ही स्थायी तथा संचारी भावों के मूल तत्व हैं। मम्मट ने काव्य का गुणों युक्त तथा दोष रहित होना ही पर्याप्त बताया था, उन्होंने अलंकार को काव्य का आवश्यक तत्व नहीं माना था। हिन्दी रीति आचार्य चिन्तामणि ने उसे आवश्यक काव्य तत्व बताया। इसी प्रकार से चिन्तामणि ने काव्य के केवल दो भेद किये हैं, गद्य और पद्य। उसके चम्पू रूप को उन्होंने नहीं उल्लिखित किया है।

चिन्तामणि पर यद्यपि विद्यानाथ के विचारों का व्यापक प्रभाव बताया जाता है परन्तु चिन्तामणि ने कहीं-कहीं उनसे स्पष्ट वैभिन्न्य का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए विद्यानाथ ने काव्य की आत्मा व्यंग्य को माना है, जब कि चिन्तामणि ने रस को। इसी प्रकार से विद्यानाथ ने काव्य सम्पत्ति के अन्तर्गत शब्दार्थ, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति शय्या, तथा पाक का उल्लेख किया है[1] जबकि चिन्तामणि ने इनका वर्णन काव्य पुरुष का रूपक बताते समय किया है। काव्य दोष के स्वरूप[2] तथा परिहार का भी उन्होंने वर्णन किया है।[3] चिन्तामणि के बिचार से काव्य दोष उसे कहते हैं जो शब्द, अर्थ और रस का अपकर्ष होता है तथा जिससे काव्य का आनन्द नष्ट हो जाता है।

१　शब्दार्थौ, मूर्तिराख्यातौ जीवित व्यंग वैभवम्।
　हाराविवदलंकारास्तत्र स्वरूपमादयः॥
　श्लेषद्यियो गुणास्तत्र ज्ञानोदय इव स्थिताः।
　आत्मोत्कर्षावहस्तत्र स्वभावा इव रीतयः॥
　शोभामाहार्यकी प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा।
　पदानुगुन्यविश्रान्तिः शय्या सय्येव समता॥
　रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः।
　प्रख्याता लोकवदियंसामग्रीकाव्य संपदः। (प्रतापरुद्रयशोभूषण २/२५)

२　शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष,
　दोष कहत हैं ताहि को सुने घटतु है हर्ष। (कविकुलकल्पतरु ४/१)

३　जहाँ हेत परसिद्ध है तहँ न रहे तन बोख,
　सब अदृष्ट अनुकरन में इनते नहीं अतोख।
　चिन्तामनि गोपाल को बर्नन करे बताइ,
　वक्तादिक औचित्य ते दोषौ गुन हो जाई। (वही ४/९६, ९७)

चिन्तामणि ने चार प्रकार के दोष मानते हुए प्रथम अर्थात् शब्दगत दोषों के अन्तर्गत पन्द्रह दोष श्रुतिकटु, च्युत संस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट तथा विरुध्ययति कृत, द्वितीय अर्थात् वाक्यगत दोषों के अन्तर्गत सत्रह दोष प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, न्यून पद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात, चरनन्तर पद, अभवन्यतजोग, अकथित वाक्य, अस्थानस्थपद, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धहस्त, भग्नक्रम, अक्रम तथा अमतपरार्थ तृतीय अर्थात् अर्थगत दोषों के अन्तर्गत छब्बीस दोषों अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त ग्राम्य, संसयित, निर्हेतु, प्रसिद्धि विरुद्ध, अनवीकृत, नियमहीन, अनियमहीन, विशेषहीन, सामान्यहीन, साकांक्ष, अपदमुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, त्यक्तपुनः स्वीकृत तथा अश्लील एवं चतुर्थ अर्थात् रस गत दोषों के अन्तर्गत नौ दोषों संचारी भाव, स्थायी भाव तथा रस की स्वशब्दवाच्यता, अनुभाव तथा विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति प्रतिकूल विभावादि ग्रहण, मुख्य का अनुसंधान, अंग की बहु जुक्ति तथा प्रकृति विपर्यय का उल्लेख किया है।

रस के अंगों पर विचार करने के अतिरिक्त चिन्तामणि ने नौ रसों का स्वतंत्र रूप से भी विश्लेषण किया है। इनमें सर्वप्रथम उन्होंने शृंगार रस की व्याख्या की है, जिसका स्थायी भाव रति है। शृंगार रस के उन्होंने दो भेद बताये हैं: संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार। इनमें से प्रथम पति पत्नी के विलास और विहार वर्णन को कहते हैं तथा जहाँ पर दम्पति का मिलन नहीं हो पाता वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।[१] विप्र-

१ जामै थाई रति सु तो मन की लगन अनूप,
चिन्तामनि कवि कहत हैं सो शृंगार सरूप।
सु तौ एक संयोग है विप्रलंभ कहि और,
द्विविधि होत शृंगार यों बरनत कवि सिर मौर।
जहाँ दम्पतरि प्रीति सों बिलसत रचत विहार,
चितामनि कवि कहत यों तहं संजोग सिंगार।
जहाँ मिलै नहिं नारि अरु पुरुष सुबरन वियोग,
विप्रलम्भ यह नाम कहि बरनत, सब कवि लोग।।
(कविकुलकल्पतरु,१, २, ३, ९)

लम्भ शृंगार के उन्होंने चार प्रकार (१) पूर्व राग, (२) मान (३) प्रवास और (४) करुण माने हैं। इनमें से भी पूर्व राग के अन्तर्गत चिन्तामणि ने काम की विविध दशाओं का वर्णन किया है और उनके लक्षण उपस्थित किये हैं। मान के उन्होंने दो भेद माने है (१) प्रणयोद्भव तथा (२) ईर्ष्योद्भव, इसी प्रकार प्रवास तथा करुण का भी वर्णन है। इन सभी वर्णनों मे चिन्तामणि ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्देशित सिद्धांतों का ही पृथक् पृथक् रूप से वर्णन किया है।

इसी प्रकार से शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के विषय में चिन्तामणि ने हास्य रस के विषय में लिखते हुए कहा है कि उसकी उत्पत्ति विकृत आकृति अथवा बचन आदि से होती है। इसका स्थायी भाव हास होता है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है, आलम्बन विभाव शत्रु, उद्दीपन विभाव शत्रु की चेष्टायें अनुभाव भृकुटियाँ, व्यभिचारी भाव उग्रता, रंग रक्त तथा देवता रुद्र होता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, आलम्बन विभाव शत्रु, उद्दीपन विभाव उसकी चेष्टा, संचारी भाव घृणा तथा अनुभाव नायक का वीरोचित आचरण है। इसका देवता इन्द्र तथा रंग स्वर्ण है। वीर रस के (१) दान, (२) धर्म, (३) युद्ध तथा (४) दया नामक चार भेद होते हैं। भयानक रस का स्थायी भाव भय, आलम्बन विभाव पात्र, संचारी भाव शंका, देवता काल तथा वर्ण काला होता है। वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, आलम्बन विभाव रक्त आदि, उद्दीपन विभाव उसका प्रवाह, व्यभिचारी भाव आवेग देवता महाकाल तथा वर्ण नीला है। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, आलम्बन विभाव अलौकिक वस्तु, उद्दीपन विभाव उसकी महिमा, अनुभाव उसका दर्शन, संचारी भाव वितर्क, देवता कामदेव तथा वर्ण पीला है तथा शान्त रस का स्थायी भाव शम, आलम्बन विभाव विरक्ति, उद्दीपन विभाव सत्संग, अनुभाव पुलक, संचारी भाव हर्ष, देवता नारायण तथा वर्ण श्वेत होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि चिन्तामणि के रस निरूपण में यद्यपि मौलिकता प्रतीत होती है, परन्तु इसके साथ ही अनेक पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों के विचारों का प्रभाव भी उस पर मिलता है। रस के स्वतंत्र विवेचन में पृष्ठभूमि के रूप में चिन्तामणि की जो मान्यतायें हैं, उन पर मम्मट का प्रभाव है। उन्होंने भी रस को व्यंग्य मानते

१ वचनादिक वैकृत निरखि होत जु चित्त विकास। (कविकुलकल्पतरु ८,९)

हुए ध्वनि के एक भेद के रूप में स्वीकृत किया है।[1] इसी प्रकार से मम्मट के अतिरिक्त अभिनवगुप्त के सिद्धांतों का प्रभाव भी चिन्तामणि के विचारों पर स्पष्ट देखा जा सकता है। रस के विवेचन के सन्दर्भ में चिन्तामणि ने भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों आदि की जो विवेचना की है, वह मूलतः अभिनवगुप्त के आधार पर ही है। मम्मट तथा अभिनवगुप्त के अतिरिक्त चिन्तामणि ने अन्य जिन आचार्यों के सिद्धांतों का अनुगमन किया है, उनमें विश्वनाथ, धनंजय तथा विद्यानाथ आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य हैं।

अलंकार निरूपण :—

चिन्तामणि के अलंकार निरूपण में भी कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लिया है। कहीं कहीं पर तो उन्होंने कुछ विद्वानों तथा ग्रन्थों का उल्लेख भी किया है जिनमें से विश्वनाथ,[2] मम्मट[3] तथा कुवलयानन्द[4] के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अलंकार का स्वरूप निर्धारित करते हुए चिन्तामणि ने लिखा है कि अलंकारों द्वारा शब्दार्थ रूपी काव्य शरीर का अलंकरण होता है।[5] उन्होंने अलंकारों के दो प्रधान भेद किये हैं

१ यह रस पुनि सु अलक्ष्य क्रम व्यंग आपु धुनि हारि,
श्रृंगारादि विशेष पद वाचक कहत विचार।
वाचक पद रसु यह जो सब साधारन नाम,
चिन्तामनि कवि कहत हैं समुझौ बुध अभिराम।
इन शब्दन तें कहत हू बंधन रस की होइ,
यातें (हि) रस ठौर में व्यंग्य कहत सब कोइ।
(कविकुलकल्पतरु पृ० ८/१५१, ५२)

२ पर्जायोकति कहत यों विद्यानाथ सुजान। (वही, ३/२३६)

३ मम्मट अचरज इहां ऐसो किये विवेक,
परिसंख्यालंकार को समुझो पंडित एक। (वही ३/२६)

४ सिद्धसिद्धास्पद बहुरि द्विविध और निरधारि,
पुभग "कुवलयानन्द" में यह क्रम कियोविचारि। (वही, ३/६८)

५ सब्द अर्थ तनु वर्णिये जीवित रसजिय जानि,
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन मानि।
अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि,
उपमादिक कवितअलंकार त्यों जानि। (वही, १/९, २/४)

(१) शब्दालंकार तथा (२) अर्थालंकार ।[1] चित्रकाव्य अलंकार को चिन्तामणि ने अधम माना है ।[2] शब्दालंकारों में उन्होंने सात का वर्णन किया है जिनमें चमत्कार का मूल कारण शब्द होते हैं और उनको हटा देने से वह नहीं रहता । इसी प्रकार से अर्थालंकार के अन्तर्गत चिन्तामणि ने उपमा, मालोपमा, दर्शनोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, अपन्हुति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, विरोध, विशेष, अधिक, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विचित्र, अन्योन्य, विषम, सम, तुल्योगिता, दीपक, मालादीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या, उत्तर, समुचय, समाधि, भाविक, व्याघात, पर्याय, कारणमाला, एकावली, परिवृत्ति, प्रत्यनीक, सूक्ष्म, सार, उदात्त, संशिष्ट तथा संकर नामक ६७ अलंकारों का उल्लेख किया है ।

शब्द शक्ति निरूपण :—

शब्द शक्ति निरूपण करते समय चिन्तामणि ने मम्मट से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है । उन्होंने पहले शब्दार्थ निरूपण करते हुए तीन प्रकार के पद और उन्हीं के अनुसार तीन प्रकार के अर्थ बताये हैं, जो क्रमशः वाचक, लक्षक और व्यंजक तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य हैं ।[3] फिर उन्होंने शब्द शक्ति प्रसंग में अभिधा को छोड़कर केवल लक्षणा और व्यंजना की ही विवेचना की है । इनमें से भी लक्षणा का विवेचन बहुत संक्षिप्त है । लक्षणा के लिए तीन तत्व आवश्यक हैं (१) मुख्य अर्थ की बाधा,

१ वक्रोक्ति अनुप्रास पुनि कहि लाटानुप्रास,
जमक स्लेषोचित्र पुनि पुनुरुक्तवदाभास ।
सात शब्दालंकार ये, तिन में शब्द जो होई,
ताही ते पर्जाय पद दैन न भासै कोई । (कविकुलकल्पतरु २/२, ३)

२ सब्द चित्र इत ये सबै अधम कवित्त पहिचानि,
जैसे हैं ध्वनि हीन तें अर्थ चित्र सो मानि । (वही, २/३६)

३ पद वाचक अरु लाक्षणिक व्यंजक त्रिविध बखान ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थो तीनि प्रमान ॥ (वही, ५/१)

(२) मुख्य अर्थ से सम्बन्ध तथा (३) प्रयोजनगतता।[1] व्यंजना के विषय में चिन्तामणि ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। अभिधा तथा लक्षणा के विरत हो जाने पर किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाली शब्द शक्ति को व्यंजना कहते हैं।[2] व्यंजना के दो भेद हैं (१) शाब्दी व्यंजना तथा (२) आर्थी व्यंजना। इनमें से भी शाब्दी व्यंजना के (१) लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना[3] तथा (२) अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना[4] नामक दो भेद होते हैं।

ध्वनि निरूपण :—

चिन्तामणि के ध्वनि निरूपण का आधार मम्मटाचार्य कृत "काव्य प्रकाश" है। उन्होंने ध्वनि की परिभाषा करते हुए बताया है कि वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति को ही ध्वनि कहते हैं।[5] उन्होंने ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य माना है।[6] ध्वनि के दो भेद करते हुए उन्होंने अविवक्षित वाच्य ध्वनि तथा विवक्षित वाच्य ध्वनि नामक दो प्रकार बताये हैं। इनमें से प्रथम ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वक्ता की इच्छा

---

१ मुख्यारथ के बाध अरु जोग लक्षना होई,
होत प्रयोजन पाइ कै कहूं रूढ़ि हित सोइ।
गंगाघोषक है तहाँ होत तीर को बोध,
सीतलता रु पवित्रता तहाँ प्रयोजन सोध॥ (कविकुलकल्पतरु, ५/४, ५)

२ जह अभिधा अरु लक्षणा अति कछु भिन्न प्रकार।
होई अर्थ को बोध तह कवि व्यंजक व्यापार॥ (वही, २/७)

३ जहाँ विंजना वृत्ति वह होत लक्षना मूल,
जहाँ प्रयोजन जानिये कहत पंथ अनुकूल। (वही, २/६)

४ शब्द अनेकारथ बरनि अति कछु भिन्न प्रकार,
होइ संजोगादिक गमन इत आवाच्य को सार
तह व्यंजना कृति हुती यह मम्मट तत्व है जानि। (वही, ५/८, ९)

५ वाच्य लक्षते भिन्न जे कवित सुनों ते अर्थ।
भाले तो सब व्यंग कहि बरनत सुकवि समर्थ॥ (वही, ५/२)

६ उत्तम व्यंग प्रधान मत। (वही, ५/२, ३)

वाच्य अर्थ में न हो ।[१] इस ध्वनि के दो भेद होते हैं (१) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य तथा अन्यार्थ संक्रमित वाच्य । ये दोनों पदगत तथा वाक्यगत होती हैं । इसी प्रकार से विवक्षित वाच्य में वाच्य अर्थ विवक्षित रहता है तथा व्यंग्यार्थ का बोधक होता है । इसके भी दो भेद होते हैं (१) संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि तथा (२) असंक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि ।[२] इनमें से भी प्रथम के तीन भेद होते हैं (१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थशक्त्युद्भव तथा (३) शब्दार्थ-शक्त्युद्भव ।[३] इनमें से भी प्रथम के (१) अलंकारगत, (२) वस्तुगत, (३) पदगत, तथा (४) वाक्यगत नामक चार भेद होते हैं ।[४] फिर द्वितीय के तीन भेद किये गये हैं (१) स्वतःसम्भवी, (२) कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध तथा (३) कविनिवद्धपात्र प्रौढ़ोक्ति-मात्रसिद्ध । इनके भी आगे चलकर छत्तीस भेद हो जाते हैं । पहले वस्तु से व्यंग्य, वस्तु से अलंकार व्यंग्य, अलंकार से वस्तु व्यंग्य तथा अलंकार से अलंकार व्यंग्य तथा फिर पदगत, वाक्यगत एवं प्रबन्धगत ।[५] फिर तृतीय केवल वाक्यगत ही होता है । इसी प्रकार से ध्वनि के दूसरे प्रधान भेद अर्थात् असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि को चिन्तामणि ने रस ध्वनि माना है । विभाव आदि के संयोग से रस की प्रतीति व्यंग्य रूप में क्रम हीन रूप

१ वक्ता की इच्छा न जह, वाच्य अर्थ में होइ ।
सो अविवक्षित वाच्य है, कहत सकल कवि लोई ।। (कविकुलकल्पतरु ५/२, १)

२ वाच्य अर्थ सुविवक्षिता वाच्य द्विविध पहिचानि ।
लक्ष्य अलक्ष्य क्रमानि सो व्यंग सु मन में आनि ।। (वही, ५/२, ११)

३ प्रतिशब्दाकृत लब्धक्रम व्यंग्य सु त्रिविध बखानि ।
शब्द, अर्थ जुग सक्ति भव इम ध्वनि भेद सुजानि ।। (वही, ५/२, १२)

४ अलंकार अरु वस्तु जह व्यक्त शब्द ते होई ।
शब्द सक्ति उद्‌भव सु वह बरनत है कवि कोइ ।। (वही, ५/२, १३)

तथा

दोऊ पदगत वाच्यगत सो गनि चार प्रकार । (वही, ५, २, २७)

५ त्रिविध अर्थ व्यंजक द्विविध वस्तु अलंकित रूप,
त्यों ही व्यंग्य छः भेद सों द्वादस भेद अनूप ।
अर्थ शक्ति उद्‌भव अरथ बारह भेद विचारि,
सो पद वाक्य प्रबन्धगत छतिस मोहि निहारि । (वही, ५/२, १)

मे होती है।[1] इस ध्वनि के विविध भेदों में चिन्तामणि ने केवल पदगत रूपों की ही चर्चा की है।[2]

अन्य आचार्य

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के पश्चात् सर्वप्रथम तोष का नामोल्लेख किया जाता है। इनकी लिखी हुई कृति "सुधानिधि" है। इसका रचना काल सम्वत् १६६१ वि० है।[3] इस ग्रन्थ में रचयिता ने रस, भाव, भावोदय, भाव शान्ति, भावशबलता, रसाभास, रस दोष, वृत्ति तथा नायिका भेद आदि विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया है। तोष के परवर्ती साहित्यचार्यों में सर्वप्रथम जसवन्त सिंह का नाम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उल्लेख्य है। अलंकार शास्त्र का निरूपण करने वाले ग्रन्थों की परम्परा से इनके द्वारा रचे हुए "भाषा भूषण" नामक ग्रन्थ का नाम विशेष रूप से उल्लिखित किया जाता है। जसवन्त सिंह के पश्चात् "फतेहप्रकाश" के रचयिता छेमराम, "नायिका भेद" के रचयिता शम्भुनाथ तथा सम्भा जी, "रस रत्नावली" तथा "रस विलास" के रचयिता मंडन आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें से "फतेहप्रकाश" में छेमराम ने अलंकार निरूपण तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में, जैसा कि उनके शीर्षकों से भी स्पष्ट है, रस विवेचन तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया गया है।

१ गनि विभाव अनुभाव अरु संचारीन मिलाइ,
जित थाई है भाव जो सो रस रूप गनाइ।
कछुक यथाक्रम अधिक यह तीन हु को क्रम कोइ,
व्यंजन को न लख्यो परै तौ अलक्ष्य क्रम होइ। (कविकुलकल्पतरु, ५, २, ४८, ४९)

२ असंलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि आनि रसादिक चित्त।
इतै आदि पदलक्ष्य जे तिन्हे गनावत मित्त॥ (वही, ५, २, ४५)

३ संवत सोरह सै बरस, गो इकानवे बीति।
गुरु आषाढ़ की पूर्णिमा, रच्यो ग्रन्थ करि प्रति॥

मतिराम

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य मतिराम तिकवापुर (कानपुर) के निवासी थे। इनका जन्मकाल लगभग सम्वत् १६७४ माना जाता है। बाद में यह बूँदी राज्य के महाराज भावसिंह के आश्रय में रहने लगे। उन्हीं के लिए इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ललित ललाम' की रचना की[1], जिसका रचना काल सम्वत् १७१६ तथा १७४५ के मध्य माना जाता है। इस ग्रन्थ का विषय अलंकार निरूपण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुमायूँ के राजा उद्योतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिए सम्वत् १७७४ में 'अलंकार पंचाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना की।[2] यह ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत के सिद्धांतों के आधार पर रचा है।[3] रस निरूपण की दृष्टि से मतिराम की 'रसराज' नामक कृति उल्लेखनीय है। इसमें शृंगार रस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रसंग में नायक नायिका भेद भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से मतिराम ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थों में केवल रस और अलंकार का ही मुख्यतः विवेचन करते हुए इन्हीं के अन्तर्गत अन्य विषयों को भी उठाया है।

भूषण

परिचय तथा कृतियाँ :—

भूषण का जन्मकाल शिवसिंह सरोज के अनुसार सम्वत् १७३८ है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इनका जन्मकाल सम्वत् १६७० माना है। भूषण इनका

१　भावसिंह की रीझि को, कविता भूषन काम।
　ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह, कीन्हों ललित ललाम ॥ (१२)

२　ज्ञान चन्द के गुन घने गने मने गुनवन्त,
　बारिधि के मुक्तान को कौने पायो अन्त,
　तदपि यथामति सों करयों शब्द अर्थ अभिराम,
　अलंकारपच्चाशिका रची रुचिर अभिराम। (अलंकार पंचाशिका)

३　संसकिरित को अर्थ लै भाषा शुद्ध विचार,
　उदाहरण क्रम ए किये लीजो सुकवि सुधार ॥ (वही)

असली नाम न होकर वस्तुतः एक उपाधि है जो इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र द्वारा प्रदान की गयी थी।[१] यह विविध राज्याश्रयों में रहे, जिसमें महाराज शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भूषण की कृतियों में 'शिवराज भूषण', 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' तथा 'दूषण उल्लास' की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। इनमें से प्रथम कृति ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ में उपलब्ध विवरण से ही यह भी ज्ञात होता है कि यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका निवास त्रिविक्रमपुर था तथा इनके पिता का नाम रत्नाकर था।[२] यह ग्रन्थ हिन्दी लक्षण ग्रन्थों की परम्परा मे एक विशिष्ट कृति है। इसमें भूषण ने विविध अलंकारों के लक्षण देकर उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसमें उन्होंने सौ अलंकारों तथा पाँच शब्दालंकारों का भेदोपभेद सहित वर्णन प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण अशुद्ध भी हैं।

कुलपति मिश्र

परिचय तथा कृतियाँ :—

कुलपति मिश्र कविवर बिहारीलाल के भांजे तथा परशुराम मिश्र के सुपुत्र थे।[३] यह आगरे के निवासी थे, परन्तु जयपुर के महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके लिखे हुए जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार हैं १. द्रोण पर्व, २. युक्ति तरंगिणी, ३. नखशिख, ४. संग्राम सार तथा ५. रस रहस्य। इनमें से अन्तिम ही विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसका रचना काल सं० १७२७ वि० माना जाता है। इस ग्रन्थ

१ कुल सुलंक चित्रकूट पति साहस सील समुद्र।
कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥

२ द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥

३ अमू मिश्र तीन वंश में परशुराम जिमि राम।
तिनके सुत कुलपति कियो, रस रहस्य सुखधाम। (रस रहस्य, न, ३०)

४ संवत् सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बाद एकादशी, बार बरनि बागीस॥

मतिराम

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य मतिराम तिकवापुर (कानपुर) के निवासी थे। इनका जन्मकाल लगभग सम्वत् १६७४ माना जाता है। बाद में यह बूँदी राज्य के महाराज भावसिंह के आश्रय में रहने लगे। उन्हीं के लिए इन्होंने अपने ग्रन्थ 'ललित ललाम' की रचना की[1], जिसका रचना काल सम्वत् १७१६ तथा १७४५ के मध्य माना जाता है। इस ग्रन्थ का विषय अलंकार निरूपण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुमायूँ के राजा उदोतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिए सम्वत् १७७४ में 'अलंकार पंचाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना की।[2] यह ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत के सिद्धांतों के आधार पर रचा है।[3] रस निरूपण की दृष्टि से मतिराम की 'रसराज' नामक कृति उल्लेखनीय है। इसमें शृंगार रस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रसंग में नायक नायिका भेद भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से मतिराम ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थों में केवल रस और अलंकार का ही मुख्यतः विवेचन करते हुए इन्हीं के अन्तर्गत अन्य विषयों को भी उठाया है।

भूषण

परिचय तथा कृतियाँ :—

भूषण का जन्मकाल शिवसिंह सरोज के अनुसार सम्वत् १७३८ है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इनका जन्मकाल सम्वत् १६७० माना है। भूषण इनका

१ भावसिंह की रीझि को, कविता भूषन काम।
ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह, कीन्हों ललित ललाम ॥ (३२)

२ ज्ञान चन्द के गुन घने गने मने गुनवन्त,
वारिधि के मुक्तान को कौने पायो अन्त,
तदपि यथामति सों करयों शब्द अर्थ अभिराम,
अलंकारपञ्चाशिका रची रुचिर अभिराम। (अलंकार पंचाशिका)

३ संसकिरित को अर्थ लै भाषा शुद्ध विचार,
उदाहरण क्रम ए किये लीजो सुकवि सुधार ॥ (वही)

असली नाम न होकर वस्तुतः एक उपाधि है जो इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र द्वारा प्रदान की गयी थी।[१] यह विविध राज्याश्रयों में रहे, जिसमें महाराज शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भूषण की कृतियों में 'शिवराज भूषण', 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' तथा 'दूषण उल्लास' की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। इनमें से प्रथम कृति ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ में उपलब्ध विवरण से ही यह भी ज्ञात होता है कि यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका निवास त्रिविक्रमपुर था तथा इनके पिता का नाम रत्नाकर था।[२] यह ग्रन्थ हिन्दी लक्षण ग्रन्थों की परम्परा में एक विशिष्ट कृति है। इसमें भूषण ने विविध अलंकारों के लक्षण देकर उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसमें उन्होंने सौ अलंकारों तथा पाँच शब्दालंकारों का भेदोपभेद सहित वर्णन प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण अशुद्ध भी हैं।

कुलपति मिश्र

परिचय तथा कृतियाँ :—

कुलपति मिश्र कविवर बिहारीलाल के भांजे तथा परशुराम मिश्र के सुपुत्र थे।[३] यह आगरे के निवासी थे, परन्तु जयपुर के महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके लिखे हुए जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार हैं १. द्रोण पर्व, २. युक्ति तरंगिणी, ३. नखशिख, ४. संग्राम सार तथा ५. रस रहस्य। इनमें से अन्तिम ही विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसका रचना काल सं० १७२७ वि० माना जाता है। इस ग्रन्थ

१ कुल सुलंक चित्रकूट पति साहस सील समुद्र।
कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥

२ द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥

३ अभू मिश्र तीन बंश में परशुराम जिमि राम।
तिनके सुत कुलपति कियो, रस रहस्य सुखधाम। (रस रहस्य, ८, ३०)

४ संवत् सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बाद एकादशी, बार बरनि बानीस॥

का महत्व हिन्दी के रीति कालीन काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में विशिष्ट है कहा जाता है कि अपने इस ग्रन्थ की रचना कुलपति ने अपने आश्रयदाता जयपुर के महाराज रामसिंह के आदेशानुसार उन्हीं के विजय महल में की थी।[१] इस ग्रन्थ मे लेखक ने मौलिक सिद्धांत रचना का विशेष दावा नहीं किया है, क्योंकि उसका उद्देश्य संस्कृत भाषा में लिखित सिद्धांतों को ही हिन्दी में प्रस्तुत करना था।[२] इस ग्रन्थ में लेखक ने आठ वृत्तान्त तथा छै सौ बावन पदों में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य पुरुष रूपक, काव्य भेद, शब्द शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रस, गुण, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार निरूपण प्रस्तुत किया है। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती काव्य शास्त्रियों, विशेष रूप से मम्मट, विद्यानाथ, धनंजय, विश्वनाथ तथा केशवदास आदि के सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव कुलपति के सिद्धांतों पर स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। कुलपति ने इस ग्रन्थ में विविध स्थलों पर इस प्रभाव को स्वीकार किया है। इनमें मम्मट का प्रभाव अधिकांश विषयों पर है।[३] परन्तु उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि कुलपति ने स्वयं अपना मौलिक सिद्धांत नहीं प्रस्तुत किया है। वास्तव में विविध ग्रन्थों का पारायण और मनन करके उन्होंने कई स्थलों पर अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए[४] इस ग्रन्थ की रचना की है।

काव्य का लक्षण :—

काव्य या कवित्त की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कुलपति ने बताया है कि वह लौकिक आनन्द से युक्त होता है।[५]

१ कूरमकुल मंडन राम सम रामसिंह रस सदन भुव।
मुख बहुल सभा मंडल रचिय विजय महल जयसिंह सुव ॥ (रस रहस्य, १,८)

२ जिते देव बानी प्रगट है कविता को घात।
ते भाषा में होहि तो सब समझे रस बात ॥ (वही, १,१८)

३ जिते साज है कवित्त के मम्मट कहे बखान।
ते सब भाषा में कहे, रस रहस्य में आन ॥ (वही)

४ जग ते अद्भुत सुख सदन सब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त। (वही, १,१६)

५ शब्द अर्थ जिनते बने नीको भांति कवित्त।
सुधि पावन समरथ्य तिन कारण कवि को चित्त ॥ (वही, १,२३)

काव्य का प्रयोजन :—

कुलपति के विचारानुसार काव्य का प्रयोजन यश प्राप्ति, सम्पत्ति प्राप्ति, आनन्द प्राप्ति, दुरित नाश, चातुरी तथा जगत को वश में करना आदि हैं।[१]

काव्य के कारण:—

काव्य के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कुलपति ने बताया है कि (१) शक्ति, (२) विभक्ति तथा (३) अभ्यास ये तीनों ही काव्य के कारण होते हैं।[२]

काव्य के भेद :—

कुलपति ने काव्य के तीन भेद किये हैं (१) सर व्यंग्य प्रधान काव्य, (२) मध्यम काव्य तथा (३) चित्र काव्य। इसी का ध्वनि के आधार पर वर्गीकरण करते हुए उन्होंने इसे (१) उत्तम, (२) मध्यम तथा (३) अधम प्रकार का बताया है, जो काव्य प्रकाश के आधार पर ही है।[३]

शब्द अर्थ निरूपण :—

कुलपति ने शब्द और अर्थ काव्य शरीर मानते हुए उनकी विवेचना को प्राथमिकता दी है।[४] उनके विचार से शब्द तीन प्रकार के होते हैं (१) वाचक,

१ जस सम्पत्ति आनन्द अति, दुरितन डारे खोय।
होत कवित्त ते चातुरी, जगत राग बस होय॥ (रस रहस्य १,२८)

२ जग ते अद्‌भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
लच्छन मैंने कियो समुक्ति ग्रन्थ बहु चित्त॥ (वही, १३)

३ व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह, गुण गुण भूषण भूषणें दूषण दूषण एह। सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और, जीव सरस पुनि देह सब देह बसि जेहि ठौर। व्यंग अर्थ सम सुखद जहं मध्यम कहिए सोई, शब्द अर्थ है चित्र जहं व्यंग न अवर सु होई।

(वही, १।३४, ३५, ३८, ४०)

४ देह प्रथम ही देखिये बहुरि जीव को ज्ञान।
दूषण गुण भूषण को पाछें जानत मान॥ (वही, २। १)

तथा (२) वियोग शृंगार उनके मिलन के अभाव में होता है।[1] इनमें से वियोग शृंगार के उन्होंने पाँच भेद भी बताए हैं।[2] हास्य रस के विषय में कुलपति ने बताया है कि इसका स्थायी भाव व्यंग्य होता है। इसमें पात्र का रूप, चितवनि, चलना आदि विकृतिपूर्ण होते हैं। इसके आलम्बन विभाव विदूषक तथा दर्शक होते हैं। हास्य इसका अनुभाव तथा हर्ष, उद्वेग और चपलता आदि संचारी भाव होते हैं। यह रस सहृदयों के लिए सुखकारक होता है।[3] करुण रस का स्थायी भाव शोक, विभाव दुखी पात्र अनुभाव रुदन, संचारी भाव मूर्च्छा आदि होते है।[4] कुलपति ने शृंगार और करुण का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहाँ मिलन की आशा हो, वहाँ वियोग शृंगार तथा जहाँ मिलन

१ पति तिय रति प्रगट जहाँ सोई रस शृंगार।
इस संयोग वियोग करि ताके द्य परकार ॥
जेहि ठां नायक नायिका रमें सु है संयोग।
जहां अटक है मिलन की ताही कहत वियोग। [रसरहस्य ३/३९,४०]

२ अब वियोग कहि पाँच विधि तहूं पूरब अनुराग।
विरह ईर्षा शाप पुनि गमन विदेश विभाग ॥ [वही, ३/४३]

३ जहाँ अजोग को जोग पुनि, उलटे लखिये साज।
बुरो रूप चितवनि चलनि, हास विभाव समाज ॥
मन्द, मध्य अरु उच्च स्वर, हँसिबो है अनुभाव।
हर्ष, उद्वेग अरु चपलता, वह संचारी भाव ॥
इनते नृत्य कवित्त में, हास व्यंग जहां होय।
कवि सहृदय को सुखद है, कह्यो हास रस सोय ॥ [वही, ३/४७,५१,६९]

४ दुखी देखिये मित्र पुनि, मृतक आप अरु बन्धु।
इनते उपजत शोक जग दारिद्र जुत अरु अन्धु ॥
रुदन कम्प अरु रोम तन ये कहिये अनुभाव।
ग्लानि दीनता मूर्छा यह संचारी भाव ॥
समुझत नृत्य कवित्त में शोक व्यंग जह होय।
कवि सहृदय सब रसन में करुण बखानौं सोय [वही, ३/६२,६३,६४]

की आशा न हो, वहाँ करुण रस होता है।[1] रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध, आलम्बन विभाव शत्रु अनुभाव भृकुटी आदि फड़कना, संचारी भाव गर्व चपलता आदि होते हैं। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। यह रस चार प्रकार का होता है (१) युद्ध वीर, (२) दानवीर, (३) दयावीर तथा (४) धर्मवीर। इनमें से युद्धवीर का आलम्बन विभाव शत्रु, अनुभाव तीव्र वचन आदि तथा संचारी भाव गर्व आदि, दानवीर का आलम्बन विभाव दान का सुपात्र आदि, दयावीर का आलम्बन विभाव करुणा उपजाने वाला पात्र, सान्त्वनादायक वचन आदि अनुभाव तथा धैर्य आदि संचारी भाव होते हैं।[2] कुलपति ने वीर और रौद्र रस का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि वीर रस में समतापूर्ण उत्साह बना रहता है परन्तु रौद्र रस में उसका स्थान क्रोध ले लेता है।[3] भयानक रस का स्थायी भाव भय, आलम्बन विभाव भय उत्पन्न करने वाला पात्र, अनुभाव रोमांच आदि तथा संचारी भाव मूर्च्छा आदि होते हैं।[4] बीभत्स रस का स्थायी भाव ग्लानि, विभाव घृण्य वस्तु का दर्शन, श्रवण तथा स्मरण, अनुभाव कम्पन तथा

१ जहाँ आस है मिलन की, सो वियोग शृंगार।
जहाँ मिलन की आस नहीं, ताही करुण विचार ॥ [वही, ३/५२]

२ गर्व वचन रण रिपु लखत और कढे हथ्यार,
इनतें उपजत क्रोध जग में विभाव सिरदार।
भृकुटि कुटिल अरु अरुण दृग अधर फरक अनुभाव,
गर्व चपलता विकलता यह संचारी भाव ॥
इनतें नृत्य कवित्त में क्रोध व्यंग जह होय।
कवि सहृदय सब कहत हैं रौद्र सुरस है सोय ॥ [रसरहस्य ३/६६,६७,६८]

३ समता की सुधि है जहाँ सु है युद्ध उत्साह।
जह भूलै सुधि सम असम सो है क्रोध प्रवाह ॥

४ बाघ व्याल विकराल रण सूनो बन गृह देख।
जे रावर अपराध पुनि भयविभाव यह लेख ॥
कंप रोम प्रस्वेद पुनि यह अनुभाव बखानि।
मोह मूर्छा दीनता यह संचारी जानि ॥
इनतें नृत्य कवित्त में अति भय परगट होय।

) लक्षक तथा (३) व्यंजक तथा इन्हीं के अनुसार उनके अर्थ भी तीन प्रकार के हैं (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ तथा (३) व्यंग्यार्थ। [१]

शक्ति निरूपण :—

कुलपति ने शब्द शक्तियों की संख्या चार मानी है (१) अभिधा, (२) लक्षणा,) व्यंजना तथा (४) तात्पर्य वृत्ति। इनमें अभिधा शक्ति वह होती है जो किसी क पद के वाच्यार्थ की अवगति कराये। [२] लक्षणा शक्ति वह होती है जो वाचक के रिक्त अन्य प्रकार से लक्ष्यार्थ की अवगति कराये। व्यंजना वह शक्ति होती है जो ार्थ अथवा लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की अवगति कराये। [३] चौथी शब्द शक्ति वर्णन संस्कृत और हिन्दी के बहुत कम कवियों ने किया है। उपर्युक्त शब्दशक्तियों भेदोपभेदों की व्याख्या भी लक्षणों सहित उन्होंने उपस्थित की है।

नि निरूपण :—

कुलपति के विचारानुसार ध्वनि भेद से भी काव्य की (१) उत्तम (२) मध्यम (३) अधम नामक तीन कोटियाँ होती हैं। इसलिए उन्होंने ध्वनि प्रधान को ेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है। [४] उन्होंने लिखा है कि काव्य पुरुष का जीव ध्वनि, र शब्दार्थ, गुण, भूषण अलंकार तथा दूषण दोष होते हैं। [५] ध्वनि के भेद करते हुए

१. वाचक लक्षक व्यंग को शब्द तीन विधि सोइ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग पुनि अर्थ तीन विधि होइ॥ (रसरहस्य २,३)

२. वाचक सो जु सहाय बिन आप अर्थ कर देह, वाच्य अर्थ पद सुनत ही जाई चित्त महि लेह। या पद ते येही अरथ जान्यों ऐसो रूप, सो इच्छा भगवान की जो है शक्ति अनूप॥

(वही, २,४,६)

३. शब्द सुनै समुझै अरथ, होत जु अधिक प्रकास।
सोई व्यंग जु लक्षणा अभिधा मूल विलास॥ (वही २, १७)

४. कवित्त होत ध्वनि भेद तें उत्तम मध्यम और।
तातें ध्वनि वर्णन करौ, है औसर एहि ठौर॥ (वही, ३।१)

५. व्यंग जीवन ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणों दूषण दूषण एह॥ (वही, १,३४)

कुलपति ने बताया है कि यों तो ध्वनि के सहस्त्रों भेद हो सकते हैं परन्तु उन्होंने केवल इसके अठारह भेदों की ही चर्चा की है,[1] जो अधिकांशतः मम्मट आदि शास्त्रियों के सिद्धांतों के आधार पर हैं।

रस निरूपण :—

कुलपति का रस निरूपण प्रधानतः "साहित्य दर्पण", "काव्य प्रकाश" और "रसिक प्रिया" पर आधारित है। रस निरूपण के अन्तर्गत उन्होंने सबसे पहले भाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके चार प्रकार बताये हैं (१) विभाव,[2] (२) अनुभाव[3], (३) संचारी भाव[4] तथा (४) सात्विक भाव[5]। इनमें से विभाव के उन्होंने आलम्बन और उद्दीपन नामक दो भेद किये हैं। विभाव वे होते हैं जिनके प्रति तथा स्थायी भावों का प्रकटीकरण करने वाले अनुभाव कहलाते हैं तथा उनके सहायक को संचारी भाव। सात्विक भाव अनुभाव में ही मिलता है।

विविध रसों में कुलपति ने सभी का विवेचन प्रस्तुत किया है। सबसे पहले श्रृंगार रस का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उसमें दाम्पत्य रति का प्रकटीकरण होता है। श्रृंगार रस के दो भेद होते हैं (१) संयोग श्रृंगार नायक नायिका के मिलन

१ पद समूह, पद, बन्ध, ध्वनि संकर और संसृष्टि।
इरपि ग्रन्थ विस्तार तें, करी न तिन सौं वृष्टि॥ (वही, ३,१२६)

२ हियौ रहै जब लगि रहै सब वृत्तिन को भूप।
निश्चल इच्छा वासना, भाव वासना रूप॥ (वही ३, १०)

३ जिनतें जिनको जगत में प्रगटत है थिर भाव, तेई नित्त कवित्त में पावहि नाम अरु सब रस में संचरै तंह विभाव द्वै भांति। जे निवास थिर भाव के तै आलम्बन जानि॥ सुधि आवे जिनके लखे ते उद्दीप बखानि॥ (वही ३,१३)

४ थिर भावनि को और का प्रगटै ते अनुभाव। (वही ३,१३)

५ संचारी जेहि साथ ह्वै बहुत बढ़ावे दाव [वही, ३/१४]

६ बंधि रहिवौ सुरभंग पुनि, कम्प स्वेद अंसुआनि।
रोम विवर्नंद अन्त तनु, सात्विक भाव बखानि॥ [वही, ३,१७]

तथा (२) वियोग शृंगार उनके मिलन के अभाव में होता है।[1] इनमें से वियोग शृंगार के उन्होंने पाँच भेद भी बताए हैं।[2] हास्य रस के विषय में कुलपति ने बताया है कि इसका स्थायी भाव व्यंग्य होता है। इसमें पात्र का रूप, चितवनि, चलना आदि विकृतिपूर्ण होते हैं। इसके आलम्बन विभाव विदूषक तथा दर्शक होते हैं। हास्य इसका अनुभाव तथा हर्ष, उद्वेग और चपलता आदि संचारी भाव होते हैं। यह रस सहृदयों के लिए सुखकारक होता है।[3] करुण रस का स्थायी भाव शोक, विभाव दुखी पात्र अनुभाव रुदन, संचारी भाव मूर्च्छा आदि होते हैं।[4] कुलपति ने शृंगार और करुण का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जहाँ मिलन की आशा हो, वहाँ वियोग शृंगार तथा जहाँ मिलन

१ पति तिय रति प्रगट जहाँ सोई रस शृंगार।
इस संयोग वियोग करि ताके द्वय परकार॥
जेहि ठां नायक नायिका रमैं सु है संयोग।
जहाँ अटक है मिलन की ताही कहत वियोग। [रसरहस्य ३/३९,४०]

२ अब वियोग कहि पाँच विधि तहूं पूरब अनुराग।
विरह ईर्षा शाप पुनि गमन विदेश विभाग॥ [वही, ३/४३]

३ जहाँ अजोग की जोग पुनि, उलटे लखिये साज।
बुरो रूप चितवनि चलनि, ह्लास विभाव समाज॥
मन्द, मध्य अरु उच्च स्वर, हँसिबो है अनुभाव।
हर्ष, उद्वेग अरु चपलता, वह संचारी भाव॥
इनते नृत्य कवित्त में, हास व्यंग जहां होय।
कवि सहृदय को सुखद है, कह्यो हास रस सोय॥ [वही, ३/४७,५१,६९]

४ दुखी देखिये मित्र पुनि, मृतक आप अरु बन्धु।
इनते उपजत शोक जग दारिद्र जुत अरु अन्धु॥
रुदन कम्प अरु रोम तन ये कहिये अनुभाव।
ग्लानि दीनता मूर्छा यह संचारी भाव॥
समुझत नृत्य कवित्त में शोक व्यंग जह होय।
कवि सहृदय सब रसन में करुण बखानों सोय [वही, ३/६२,६३,६४]

की आशा न हो, वहाँ करुण रस होता है।[1] रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध, आलम्बन विभाव शत्रु अनुभाव भृकुटी आदि फड़कना, संचारी भाव गर्व चपलता आदि होते हैं। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। यह रस चार प्रकार का होता है (१) युद्ध वीर, (२) दानवीर, (३) दयावीर तथा (४) धर्मवीर। इनमें से युद्धवीर का आलम्बन विभाव शत्रु, अनुभाव तीक्ष्ण वचन आदि तथा संचारी भाव गर्व आदि, दानवीर का आलम्बन विभाव दान का सुपात्र आदि, दयावीर का आलम्बन विभाव करुणा उपजाने वाला पात्र, सान्त्वनादायक वचन आदि अनुभाव तथा धैर्य आदि संचारी भाव होते हैं।[2] कुलपति ने वीर और रौद्र रस का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि वीर रस में समतापूर्ण उत्साह बना रहता है परन्तु रौद्र रस में उसका स्थान क्रोध ले लेता है।[3] भयानक रस का स्थायी भाव भय, आलम्बन विभाव भय उत्पन्न करने वाला पात्र, अनुभाव रोमांच आदि तथा संचारी भाव मूर्च्छा आदि होते हैं।[4] बीभत्स रस का स्थायी भाव ग्लानि, विभाव घृण्य वस्तु का दर्शन, श्रवण तथा स्मरण, अनुभाव कम्पन तथा

१ जहाँ आस है मिलन की, सो बियोग शृंगार।
जहाँ मिलन की आस नहीं, ताही करुण विचार ॥ [वही, ३/५२]

२ गर्व बचन रण रिपु लखत और कढे हथियार,
इनतें उपजत क्रोध जग में विभाव सिरदार।
भृकुटि कुटिल अरु अरुण दृग अधर फरक अनुभाव,
गर्व चपलता विकलता यह संचारी भाव ॥
इनतें नृत्य कवित्त में क्रोध व्यंग जह होय।
कवि सहृदय सब कहत हैं रौद्र सुरस है सोय ॥ [रसरहस्य ३/६६,६७,६८]

३ समता की सुधि है जहाँ सु है युद्ध उत्साह।
जह भूलै सुधि सम असम सो है क्रोध प्रवाह ॥

४ बाघ व्याल विकराल रण सूनो बन गृह देख।
जे रावर अपराध पुनि भयविभाव यह लेख ॥
कंप रोम प्रस्वेद पुनि यह अनुभाव बखानि।
मोह मूर्छा दीनता यह संचारी जानि ॥
इनतें नृत्य कवित्त में अति भय परगट होय।

रोमांच आदि एवं संचारी भाव दुख आदि होते हैं। अद्भुत रस का स्थायी भाव आश्चर्य, विभाव आश्चर्यजनक घटना, वचन अथवा रचन, अनुभाव रोमांच तथा संचारी भाव हर्ष, शंका आदि होते हैं।[३] इसी प्रकार से शान्त रस का स्थायी भाव तत्व ज्ञान से प्रकट हुआ निर्वेद, आलम्बन विभाव विरक्त साधु आदि अनुभाव तटस्थ व्यवहार तथा संचारी भाव हर्ष आदि होते हैं।[२]

दोष निरूपण :—

कुलपति ने अपने ग्रन्थ 'रस रहस्य' के पाँचवें वृतान्त में दोष निरूपण प्रस्तुत किया है। इसका आधार मुख्यतया मम्मटाचार्य की कृति 'काव्य प्रकाश' ही है। उनका विचार है कि दोष केवल वहीं पर दोष होता है, जहाँ वह काव्य को विरस कर दे, परन्तु

कवि सहृदय को मन गमत कहू भयानक सोय ॥ [वही ३/७९,८०,८१]

१ अनि भावनि को देखिबो सुनिबो सुमिरनि जानि।
और निषिद्ध कदर्य ये ग्लानिविभाव बखानि ॥
निन्दा करिबो कंप तनु रोम जु हैं अनुभाव।
दुख असूया जानियो यह संचारी भाव ॥
कवित्त नृत्य में ग्लानि जहू इनतें परगट होय।
नव रस में वीभत्स रस ताहि कहैं सब कोय ॥ [रस रहस्य, ३/८३ ८४,८५]

२ सिद्धि मंडली तपोबन कथा जगत सम सान।
ए विभाव अनुभाव पुनि सब में समता ज्ञान ॥
तत्व ज्ञान तें कवित्त में जहू प्रगटे निर्वेद।
कहैं शांत रस तासु को सोहै तायी भेद ॥ [वही ३/९१,९२]

३ जहू अनहोने देखिये बचन रचन अनुरूप।
अद्भुत रस के जानिये ये विभाव सु अनूप ॥
बचन कंप अरु रोम तनु यह कहिये अनुभाव।
हर्ष शंक चित मोह पुनि यह संचारी भाव ॥
जेहि ठां नृत्य कवित्त में व्यंग अचरज होय।
तोऊ रस में जानियों अदभुत रस है सोया ॥ [वही ३/७७,८८,८९]

जहा पर वह विरोध की बाधा करता है, वहाँ उससे रस पुष्टि होती है ।[1] कुलपति ने दोषों के चार वर्ग किये हैं (१) शब्दगत दोष, (२) वाक्यगत दोष, (३) अर्थगत दोष तथा (४) रस गत दोष ।[2] उन्होंने बताया है कि काव्य के ये दोष रस का वैसे ही अपकर्ष करते हैं जैसे शारीरिक अथवा मानसिक दोष आत्मा का ।[3]

गुण निरूपण :—

कुलपति ने अपने 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ के छठे वृतान्त के अन्तर्गत काव्य के गुणों का निरूपण प्रस्तुत किया है। कुलपति का यह विवेचन भी मूलतः मम्मटाचार्य के 'काव्य प्रकाश' पर पर आधारित है। कुलपति ने काव्य गुणों के विषय में लिखा है कि गुण रस का धर्म और उत्कर्ष कर्त्ता होता है। वह काव्य मे अचल भाव से स्थिर रहता है ।[4] उनका यह भी विचार है कि काव्य में रस का उत्कर्ष गुणों तथा अलंकारों द्वारा समान रूप से होता है ।[5] काव्य के अन्य अनेक (बीस) गुणों की अपेक्षा कुलपति ने केवल तीन गुणों को ही प्रधान मानकर उनका विवेचन किया है ।[6]

१ जहाँ विरस ताको कहै, तहाँ होय यह दोष ।
बाधहि जहाँ विरुद्ध कों, जहां करे रस पोष ।। [रसरहस्य, ५/१३१]

२ जाहि रहत हो और है, जेहि फेरो फिरि जाय ।
शब्द अर्थ रस सबन में, सोइ दोष कहाय ।। [वही ५/३]

३ शब्द अर्थ में प्रगट ह्वै, रस समुझत नहि देई ।
सो दूषण तन मन बिथा, जो जिय को हर लेई ।। [वही, ५/२]

४ जो प्रधान रस को धरम, निपट बड़ाई हेतु ।
सोई गुण कहिये, अचल थिति, रस को परम निकेत ।। [वही, ६/२]

५ होय बड़ाई दुहुन तें विरस करें नहि कोय ।
अलंकार अरु गुनन ते भेद कौन विधि होय ।।
रसहि बढावैं होय जह कबहुंक अंग निवास ।
अनुप्रास उपमादि से अलंकार सुप्रकाश ।। [वही, ६/१२,१३]

६ तीनों गुण नहि बीस गुण मधुर ओज प्रसाद ।
अधिक सुखद लहिये नहीं बरने कौन सवाद ।।
कछु क इनहीं करि गहै कछु क दोष वियोग ।
कछु क दोष ताको भजत यों गुण बीस न जोग ।। (वही, ६/१२, १३)

गुणों के भेद करते हुए कुलपति ने लिखा है कि रस गत गुण तीन प्रकार के होते हैं (१) माधुर्य (२) ओज तथा (३) प्रसाद। इनमें से माधुर्य का निवास शृंगार, करुण और शान्त रसों में होता है,[१] ओज गुण का निवास बीभत्स तथा रौद्र रसों में होता है[२] तथा प्रसाद गुण का निवास सभी गुणों में सम्भाव्य है। इसकी स्थिति रस में तभी होगी जब वह चित्त को स्वच्छ जल के वस्त्र को तथा अग्नि के ईंधन को व्याप्त कर लेगा।[३]

रीति निरूपण :—

कुलपति का रीति निरूपण भी मूलतः मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। उन्होंने बताया है कि वृत्यानुप्रास एक अथवा अनेक वर्णों की आवृत्ति को कहते हैं।[४] वृत्यानुप्रास के तीनों रूप नागरिका, परुषा तथा कोमल वृत्तियों की वर्ण योजना पर आधारित होते हैं। इनमें से उपनागरिका उसे कहते हैं जो माधुर्य के व्यंजक वर्णों से युक्त हो, परुषा ओज के तथा कोमला प्रसाद के।[५] इन तीनों वृत्तियों को वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली भी कहते हैं।[६]

१ तीन भाँति सो मधुरता ओज प्रसादहि जानि।
शान्त करुण शृंगार रस सुखद मधुरता मानि।
द्रव्य चित्त जाके सुनत अति आनन्द प्रधान।
सु है मधुरता रसनुक्रम प्रथम सरस ही आनि॥ (रसरहस्य, ६/३, ४)

२ चितहिं बढावे तेज करि, ओज वीर रस वास।
बहुत रुद्र बीभत्स में जाको बसें निवास॥ (वही, ६/५)

३ नव रस में उज्ज्वल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद रचना वरन इनके कहौं अनूप॥ (वही, ६/६)

४ एक अनेकों वरण बहु फिर वृत्त तब होय। (वही, ७/९)

५ उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक बरनत होय।
ओज प्रकाशक वरन तें पुरुष कहिये सोय॥
वरन प्रकाश प्रसाद को करै कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुण भेद तें कहैं बड़े कवि लोय॥ (वही, ७/१०, ११)

६ वैदरभी गौड़ी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सौं कोऊ कवी, बरनत रीति बखानि॥ (वही,७/१२)

अलंकार निरूपण :—

कुलपति मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'रस रहस्य' के सातवें तथा आठवें वृतान्तों में अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अलंकार को काव्य के शब्दार्थ रूपी शरीर का आभूषण माना है। उनके विचार से कुछ अलंकारों से अलंकरण अपेक्षाकृत कम होता है तथा उनसे रस भी अधिक उल्लसित नहीं होता। ऐसे अलंकारों मे यमक, श्लेष तथा चित्र अलंकार हैं।[1] कुलपति ने शब्दालंकारों में वक्रोक्ति तथा अर्थालंकारों में उपमा को प्राथमिकता दी है, क्योंकि उनके विचार से इनका चमत्कार उक्ति विशेष पर ही आधारित है।[3] इसी प्रकार से अर्थालंकारो में उन्होंने उपमा को प्रधान माना है, क्योंकि उनके विचार से उपमान और उपमेय अर्थालंकारों के प्राण हैं।[4]

सुखदेव मिश्र

आचार्य सुखदेव मिश्र का रचना काल सम्वत् १७२० से लेकर सम्वत् १७६० तक मना जाता है यह दौलतपुर रायबरेली के निवासी थे। इनके लिखे हुए ग्रन्थों में (१) वृत्त विचार (२) छन्द विचार (३) फाजिलअली प्रकाश (४) रसार्णव (५) शृंगारलता, (६) अध्यात्म प्रकाश (१७५५) तथा (७) दशरथराय आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें से अधिकांश में इन्होंने छन्द शास्त्र का विवेचन प्रस्तुत किया है, जो इनके महत्व का मुख्य कारण है। छन्द शास्त्र के अतिरिक्त उन्होंने रस निरूपण के अन्तर्गत विविध रसों का वर्णन किया है। जिनमें से शृंगार रस का विवेचन विशेष विस्तार के साथ किया है। इसके अतिरिक्त नायक नायिका भेद भी इनके 'रसार्णव' नामक ग्रन्थ में मिलता है।

१ व्यंग जीव, ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण-गुण, भूषण भूषणौ दूषण दूषण एहु। (रसरहस्य, १/३४)

२ जमक चित्र अरु श्लेष में रस को नाहि हुलास।
यातें याकै स्वल्प ही बरनै भेद प्रकाश॥ (७/४४)

३ उक्ति भेद तें होत है, अलंकार पर जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, द्वै बिधि प्रथम बखानि॥ (वही, ७/३)

४ उपमान रु उपमेय हैं अलंकार के प्रान।
तातें इनको प्रथम ही कहियत रूप बखान॥ (वही, ८/१)

अन्य आचार्य

आचार्य सुखदेव मिश्र के पश्चात् जिन आचार्यों के नाम हिन्दी की इस समीक्षा शास्त्रीय रीति परम्परा में उल्लेखनीय हैं, उनमें नायिका भेद (सम्वत् १७६०) के लेखक राम जी, 'रस सागर' और 'भूषण विलास' के लेखक गोपाल राम, 'रस विवेक' के लेखक बलिराम, 'उपमालंकार' तथा 'दम्पति विलास' के लेखक बलवीर, 'रस चन्द' के लेखक कल्यानदास तथा 'रस सागर' के लेखक श्रीनिवास आदि हैं। इन सभी आचार्यों ने संस्कृत तथा पूर्ववर्ती रीति आचार्यों के सिद्धान्तों के आधार पर विविध विषयों का विवेचन अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी ने सम्वत् १७४९ में 'वधू विनोद नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें प्रबन्धात्मक शैली में लेखक ने नायिका भेद प्रस्तुत किया है।

कविवर देव

परिचय तथा कृतियाँ :—

कविवर देव का जन्म सम्वत् १७३० के लगभग माना जाता है। उनका रचना काल सम्वत् १७४६ से लेकर १७९० तक अनुमानित किया जाता है। उनके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या सत्तर से अधिक बतायी जाती है यद्यपि इनमें से केवल पच्चीस ही उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में से 'रस विलास', 'भवानी विलास', 'भाव विलास' 'काव्य रसायन', 'शब्द रसायन', 'सुजान विनोद', 'कुशल विलास' तथा 'सुखसागर तरंग' आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। देव की विविध कृतियों में पुनरावृत्ति बहुत अधिक मात्रा में मिलती है। विशेष रूप से जहाँ तक विभिन्न लक्षणों और उदाहरणों का सम्बन्ध है, वे अनेक कृतियों में एक ही रूप में मिलते हैं। विषय की दृष्टि से भी इनमें एकरूपता विद्यमान है। इसका कारण यह बताया जाता है कि उन्हें स्थायी रूप से किसी एक राज्याश्रय में रहने का अवसर नहीं मिला और वे बराबर एक दरबार से दूसरे दरबार में जाते रहे।

देव द्वारा रचित उपर्युक्त कृतियों में से 'रस विलास' की रचना सम्वत् १७८३

में की गयी थी। इसे उन्होंने अपने आश्रयदाता भोगी लाल[1] के लिए लिखा था। इस ग्रन्थ में देव ने नायिका भेद[2] विषय को उसके आधारों सहित[3] बहुत विस्तृत विवेचन के साथ प्रस्तुत किया है। 'भवानी विलास' में देव ने रस का निरूपण प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ उन्होंने भवानीदत्त के लिए लिखा था। 'भाव विलास' में देव ने रस अ अलंकार विवेचन किया है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने सम्वत् १७४६ में की थी। इसी प्रकार से 'काव्य रसायन' में देव ने शब्द शक्ति, वृत्ति, रीति, गुण, रस तथा अलंकार निरूपण किया है। उपर्युक्त कृतियों के आधार पर देव के सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

काव्य निरूपण :—

देव ने शब्द को जीव, अर्थ को मन तथा रस यश युक्त काव्य को शरीर माना है।[4] इसीलिए देव ने सबसे पहले इन्हीं की व्याख्या की है और समर्थ काव्य के लक्षण बताये हैं।[5] इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य की महिमा का भी वर्णन 'काव्य रसायन' के

१ सम्बत् सत्रह सै बरस और तिरासी जानि।
रस विलास बसमी विजय पूरन सकल कलानि ॥ (रसविलास)

२ कोटि कोटि विधि कामिनी तिनके कोटिन भेव।
तिन पै माया मानुषी बरनत हैं कवि देव ॥ (वही)

३ जाति, कर्म गुन देस अरु काल वय क्रम जानि।
प्रकृति सत्व है नायिका, आठों भेद बखानि ॥ (वही)

४ शब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर ॥ (काव्य रसायन)

५ शब्द सुमति मुख तें कढै ले पद बचननि अर्थ।
छन्द भाव भूषन सरस सौ कहि काव्य समर्थ ॥
तातें पहले शब्द अरु कीजे अर्थ विचार।
सुनत रसाहृन देव कवि काव्य श्रुति सुखकार ॥ (वही)

प्रथम प्रकाश में ही किया है।[१] कवि के अ दर्श पर भी उन्होंने विचार प्रकट उन्होंने काव्य की तुलना अमर तरू से की है।[३]

अलंकार निरूपण :—

अपने 'काव्य रसायन' नामक ग्रन्थ में देव ने अलंकारों का निरूपण प्र है। अलंकार का महत्व[४] बताते हुए उन्होंने प्रमुख अलंकारों[५] तथा अर्थालंकारो किया है। इनमें से शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, चित्र तथा अन्तर्लापिका है।[६] इनमें से मुख्यालंकार के अन्तर्गत स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक,

१ ऊंच नीच तरु कर्म बस, चलौ जात ससार।
रहत भव्य भगवंत जस नव्य काव्य सुखसार।
रहत न घर वर धाम धन तरुपर सरवर कूप।
जस शरीर जग में अमर भव्य काव्य रसरूप ।। (काव्य रसायन)

२ जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहीं छोभ को छांहीं।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहर ता अति चाहीं ।।
बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आदर सादर कै गुन गाहीं।
सील ससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहीं ।। (वही)

३ चित्त थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव।
चितबदलि दल फूल फलि बरसत सरस सभाव ।।
खेत बीज अंकुर सलिल भाषा दर फल पूल।
आठ अंग रस अमर तरु चुवत अमीरस मूल ।।
खेत पाल प्रारब्धि विधि बीज सुअंकुर योग।
सलिल नेह सावसु बिटप छन्द पत्र परियोग ।।
अलंकार रस अर्थ के फल फूलनि आमोद।
मधुर सरस रस अमरतरु अमर अमीरस मोद ।। (वही)

४ कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति ।। (शब्द रसायन)

५ अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
इनहीं के अनुसार सौं सकल चित्र अनुकूल ।। (वही)

६ अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारिनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव ।। (वही)

अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, हेतु, सहोक्ति, सहोक्ति माला, सूक्ष्म, लेश, भय, प्रेम, रसवत, उदात्त, ऊर्जस्वि, अपन्हुति, समाधि, निदर्शना, दृष्टान्त, निन्दास्तुति, स्तुति निन्दा, संयम, विरोध, विरोधाभास, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत, असम्भव, असंगति, परिकर, तथा तद्गुन एवं गौण मिश्रालंकारों में अनुगुन, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुनवत, प्रत्यनीक, लेखसार, मिलित, कारण माला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भावना, प्रदर्शन, गूढोक्ति, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, विकल्प, संकीर्ण, भाविक, आसिष्य, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्यान्याश्रित, सामान्य विशेष, उन्मीलित, पिहित, अर्थापति, विधि, निषेध, अत्युक्ति, प्रेयुक्ति तथा अन्योक्ति आदि का वर्णन किया गया है।

रस निरूपण :—

जैसा कि ऊपर कहा गया है मूलतः 'भवानी विलास' नामक कृति में देव ने रस का निरूपण प्रस्तुत किया है, यद्यपि उनके अन्य ग्रन्थों में भी रस विवेचन सम्बन्धी कथन उपलब्ध होते हैं; क्योंकि वास्तव में केवल शृंगार ही एक मूल रस है। इसी से उत्पन्न हुआ उत्साह वीर रस का रूप धारण करता है, तथा रति से उत्पन्न हुआ निर्वेद शान्त रस का रूप धारण करता है।[1] देव के विचार से रस की निष्पत्ति छै भावों से होती है, १. स्थायी भाव, २. विभाव, ३. अनुभाव, ४. सात्विक भाव, ५. संचारी भाव तथा ६. हाव।[2] देव ने कायिक संचारी तथा सात्विक भावों में कोई भेद नहीं माना है। कुछ संचारी शरीर पर तथा कुछ हृदय पर प्रभाव डालने वाले होते हैं।[3]

१ भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सांत संचार॥ (भवानी विलास १, १०)

२ थित विभाव अनुभाव अरु कहौं सात्विक भाव।
संचारी अरु हाव ये रस कारण षट भाव॥ (वही, १, १४)

३ कायिक वस सात्विक ऊपर मानस निरवेदादि।
संचारी सिंगार के भाव कहत भरतादि॥ (वही, १, १४)

श्रृंगार रस :—

रस का स्वरूप निरूपित करने के पश्चात् देव ने श्रृंगार रस का विवेचन है ।[1] इसका स्थायी भाव रति होता है, आलम्बन नायिका, उद्दीपन उपवन आदि,[2] अ प्रसन्नता, चितवनि आदि होते हैं ।[3] श्रृंगार को उन्होंने प्रधान रस अथवा रस राज ।[4] इसके उन्होंने दो भेद किये हैं १. संयोग श्रृंगार तथा २. वियोग श्रृंगार भेदों को उन्होंने १. प्रच्छन्न तथा २. प्रकाश नामक दो विभेदों से विभाजित किय श्रृंगार की चार अवस्थाएं होती हैं १. पूर्वानुराग, २. मान, ३. प्रवास ४. संयोग ।[5] इनमें से प्रथम अवस्था पूर्वानुराग की होती है । इसके पश्चात् वियो दस दशाएँ होती हैं तथा फिर मान, प्रवास और संयोग की अवस्थाएँ

१ नव रस के थिति भाव हैं, तिनको बहु विस्तार ।
तिनमें रति थिति भाव ते उपजत रसश्रृंगार ।
नेकु जु प्रियजन देखि सुनि आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कबिन के सुमति कहत रस सोइ । (भवानी विलास)

२ नायकादि आलम्बन होई,
उपवन सुरभि उद्दीपन सोई । (शब्दरसायन)

३ आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि ।
ये अनुभाव श्रृंगार के, अंग अंग जिय जानि । (भाव विलास)

प्रकृति पुरुष श्रृंगार में नौ रस कौ संचार,
जैसे मठ आकाश में घटत अकाश प्रकार । (शब्दरसायन)

४ निर्मल स्याम सिंगार हरि देव अकास अनंत,
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस विवस न पावत अंत ।
भाव सहित सिंगार है नवरस झलक अजस्त्र ।
ज्यों कंकण मणि कनक कौ ताही में नवरत्न ।। (भवानीविलास)

५ रस सिंगार के भेद हैं वियोग संयोग ।
सो प्रच्छन्न प्रकास कहि दै दै कहू प्रयोग ।। (वही)

६ सौ पूरब अनुराग अरु, मान प्रवास संयोग ।
वियोग चौविधि, एक विधि आनन्द रूप संयोग ।। (वही, २/२)

हैं।[१] इसी प्रकार से अन्य रसों के विषय में भी देव ने विचार किया है, परन्तु वह इतना विस्तृत नहीं है।

सूरति मिश्र

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य सूरति मिश्र का रचना काल अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश माना जाता है। यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा इनका निवास आगरे में था। इनके लिखे हुए ग्रन्थों में (१) अलंकार माला, (२) रस रत्नमाला, (३) सरसरस, (४) रस ग्राहक चन्द्रिका, (५) नखशिख, (६) काव्य सिद्धांत तथा (७) रस रत्नाकर आदि का उल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में से सब नहीं मिलते। जो मिलते हैं उनमें "काव्य सिद्धांत" का ही महत्व अधिक है। इस ग्रंथमें आचार्य सुरति मिश्र ने काव्य की सम्यक् परिभाषा[२] प्रस्तुत करके उसके कारणों[३] का निर्देश किया है तथा काव्य प्रयोजन काव्य रूप, शब्द विवेचन, काव्य प्रकार, काव्य दोष, काव्य गुण, अलंकार निरूपण तथा छन्द विवेचन आदि प्रस्तुत किया है। इन प्रसंगों में कोई विशेष मौलिकता नहीं है। कहीं कहीं मम्मट कृत "काव्य प्रकाश" की स्पष्ट छाया आभासित होती है।

१ प्रथम होत सम्पति के पूर्वानुराग वियोग।
अभिलाषादिक दस दसा ता पीछे संयोग॥
ते वियोग संयोग तें मान प्रवास संयोग।
यहि विधि मध्य वियोग के होत अपार संयोग॥ (भवानीविलास २/३, ४)

२ उदाहरण के लिए वीभत्स रस के विषय में उन्होंने लिखा है :—
वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय माँहि।
छिन बाढ़ै वीभत्स रस, चित्त की रुचि मिट जाहि॥ (शब्द रसायन)

३ बरनन मन रंजन जहाँ, रीति अलौकिक होई।
निपुन कर्म कवि को जु तिहि, काव्य कहत सब कोई॥ (काव्य सिद्धांत)

४ कारण देव प्रसाद जिहि, शक्ति कहत सब कोइ।
व्युत्पत और अभ्यास मिलि, जय बिन काव्य न होइ॥ (वही)

गोप

परिचय तथा कृतियाँ :—

गोप का रचना काल सम्वत् १७७३ माना जाता है। यह ओरछा के नरेश महाराज पृथ्वी सिंह के आश्रय में थे। उन्हीं के आश्रय में इन्होंने (१) रामालंकार, (२) रामचन्द्रभूषण, तथा [३] रामचन्द्राभरण नामक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से "रामचन्द्रभूषण" नामक ग्रन्थ में इन्होंने अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकार की परिभाषा[१] देने के पश्चात् इन्होंने परम्परानुगामिता का परिचय देते हुए विविध अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों के उदाहरण और लक्षण प्रस्तुत किये हैं। इनके अन्य ग्रन्थों में भी मुख्य रूप से इसी विषय को उठाया गया है।

याकूब खाँ

परिचय तथा कृतियाँ :—

याकूब खाँ लिखित "रसभूषण" की रचना सम्वत् १७७५ में हुई थी। इसमें लेखक ने अलंकार निरूपण तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया है। इसमें इन दोनों विषयों को संयुक्त करके लेखक ने उपस्थित किया है और वर्णन क्रम के विषय में भी स्पष्टीकरण किया है।[२] उनका विचार है कि नायिका भेद तथा अलंकार का अन्तर्सम्बन्ध इस कारण भी है क्योंकि किसी नायिका की शोभा आभूषण के अभाव में नहीं होती।[३] इस ग्रन्थ में लेखक ने उपर्युक्त विषयों के साथ रस, स्थायी भाव, विभाव तथा अनुभाव आदि का भी विस्तार से वर्णन किया है।

---

१ सब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सों जान।
भाव भेद गुन रूप से, प्रगट होत है आन॥ (रामचन्द्रभूषण)

२ अलंकार संयुक्त कहों नायिका भेद पुनि।
बरनो क्रम निजु उक्ति, लक्षन और उदाहरनि॥ (रस भूषण)

३ अलंकार बिनु नायिका, सोभित होई न आन।
अलंकार जुत नायिका, यातें कहों बखानि॥ (वही)

कुमारमणि भट्ट

परिचय तथा कृतियाँ :—

कुमारमणि भट्ट तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम हरिवल्लभ था। इनके द्वारा रचित "रसिक रसाल" नामक ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १७७६ माना जाता है।[१] इस ग्रन्थ में लेखक ने काव्य के प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्य के भेद, विविध रसों, भाव विभाव आदि, नायिका भेद तथा विविध अलंकारों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का आधार मम्मट का "काव्य प्रकाश" है। लेखक ने स्वयं इसका उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है।

श्रीपति

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य श्रीपति का रचना काल सन् १७२० के लगभग माना जाता है। यह कालपी के रहने वाले ब्राह्मण थे।[३] इन्होंने अपने विविध ग्रन्थों में अनेक काव्य शास्त्रीय विषयों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके आचार्यत्व का पता इनकी इस क्षमता से भी लगता है कि इन्होंने अन्य कवियों के साथ केशवदास जैसे आचार्य कवियों की कृतियों में से भी अनेक दोष पूर्ण काव्योदाहरण निकाले हैं। इसी कारण श्रीपति के परवर्ती कवियों और शास्त्रियों पर उनके सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में "कविकुल कल्पद्रुम", "रस सागर", "अनुप्रास विनोद", "विक्रम विलास", "सरोज कालिका", "अलंकार गंगा" तथा "काव्य सरोज" आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ ही उनकी ख्याति का विशेष कारण है।

१ रस सागर रवि तुरंग, बिधु, संवत मधुर बसन्त।
बिकस्यो रसिक रसाल लखि, हुलसत सहृदय सन्त॥ (रसिक रसाल)

२ काव्य प्रकाश विचारि कछु, रचि भाषा में हाल।
पंडित सुकवि कुमारमणि, कीन्हो रसिक रसाल॥ (वही)

३ सुकवि कालपी नगर को, द्विवज मति श्रीपति राइ।
जस समस्वाद जहान कों, बरनत सुध समुदाय॥ (काव्य सरोज १,४)

इसकी रचना श्रीपति ने सम्वत् १७७७ वि० को की थी।[1] श्रीपति के इसी ग्रन्थ के अधार पर उनके सिद्धांतों का परिचय संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का स्वरूप :—

काव्य सरोज के प्रथम दल में काव्य का स्वरूप विवेचन करते हुए श्रीपति ने बताया है कि दोष रहित तथा गुण, अलंकार एवं रस से युक्त, शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[2] श्रीपति के विचार से काव्य रचना शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास तथा प्रतिभा से होती है।[3] इनमें से शक्ति की व्याख्या करते हुए श्रीपति ने लिखा है, यह पुण्य विशेष है, जिसके अभाव में काव्य रचना सम्भव नहीं होती। यदि उसके अभाव में भी कोई हठ पूर्वक काव्य रचना में प्रवृत्त होता है, तो वह हँसी का पात्र बनता है।[4] इसी प्रकार से निपुणता उसे कहते हैं, जिसके कारण कवि को सहज ही पद तथा उसका अर्थ प्राप्त हो जाता है तथा जो जग व्यवहार होता है, उसी को लोक मत कहते हैं।[5] वह शास्त्र ज्ञान व्युत्पत्ति कहलाता है तथा किसी सुकवि का सत्संग करते हुए नित्य काव्य रचना करना अभ्यास कहा जाता है।[6] प्रतिभा उसे कहते हैं जो नूतन तर्क, सुन्दर पद तथा शक्ति पूर्ण सूझ प्रदान करे।[7]

१ संवत मुनि मुनि मुनि ससी, सावन सुभ बुधवार।
असित पंचमी को लियो, ललित ग्रन्थ अकार॥ (वही १,४)

२ शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥ (वही १,६)

३ शक्ति निपुणता लोकमत, वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत हैं, ताको ललित प्रकास॥ (वही)

४ शक्ति सुपुन्य विशेष है, जा बिन कवित न होइ।
जो कोऊ हठ सों रचे, हंसी करै कवि लोइ॥ (काव्य सरोज १,८)

५ पद पदार्थ आवे तुरत, ताहि निपुनता जानु।
जो जग को व्यवहार है, वही लोकमत मानु॥ (वही १,९)

६ परिराजान बहुत शास्त्र में सो वितपत्ति बखान।
रचे कवित नित सुकवि ढिग, सों अभ्यास प्रमान॥ (वही १,१०)

७ नूतन तर्क प्रसन्न पद, युक्ति बोध करतार।
प्रतिमा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति अगार॥ वही १,११)

काव्य दोष :—

'काव्य सरोज' के चतुर्थ तथा पंचम दलों में श्रीपति ने काव्य दोषों का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य दोष से श्रेष्ठ काव्य भी नष्ट हो जाता है।[1] उनके विचार से दोष दो प्रकार का होता है (१) शब्द दोष तथा (२) अर्थ दोष। इनमें से शब्द दोषों के अन्तर्गत उन्होंने श्रुति कटु, अनर्थक, व्याहतार्थ, यतिभंग, अप्रयुक्त, असमर्थ शिथिल, ग्राम्य, असंगत, भाषाच्युत, अश्लील तथा प्रतिकूल आदि दोषों का तथा अर्थ दोषों के अन्तर्गत दुष्क्रम, खंडित, असम्मितमान, वस्तुसंविधि, संदिग्ध, दुष्ट वाक्य, अपक्रम, अगत, विरस, पुनिरुक्ति, हीनोपमा, तथा अधिकोपमा आदि का वर्णन किया है।

अलंकार निरूपण :—

श्रीपति ने 'काव्य सरोज' के दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें दलों में क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालंकार, तथा उपमालंकार निरूपण किया है। काव्य में अलंकार प्रयोग को श्रीपति आवश्यक मानते हैं क्योंकि उसके अभाव में उसकी शोभा नहीं होती है।[2] इनमें उपमालंकार का विवेचन विशेष रूप से विस्तृत है, जिसके अन्तर्गत श्रीपति ने उपमेयोपमा, प्रतीयोपमा, वाक्योपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, नियमोपमा, निश्चयोपमा, संशयोपमा, अमूर्तोपमा तथा ललितोपमा आदि का वर्णन किया गया है।

रस निरूपण :—

'काव्य सरोज' के तेरहवें दल में श्रीपति ने रस निरूपण प्रस्तुत किया है। यों तो उन्होंने काव्य के सभी अंगों को आवश्यक बताया है, परन्तु इसको उन्होंने उनमें विशिष्टता प्रदान की है।[3] श्रीपति ने इस प्रसंग में रस के विविध अंगों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है।

१ जा पदार्थ के दोष ते, आछे कवित्त नसाइ।
दूषन तासो कहत हैं, श्रीपति पंडित राइ॥ (काव्य सरोज १.१३)

२ जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसे, बनित कविता रूप (वही १०८)

३ जदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं रस बिन तदपि प्रवीन॥ (वही १३,१)

इसकी रचना श्रीपति ने सम्वत् १७७७ वि० को की थी।[1] श्रीपति के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके सिद्धांतों का परिचय सक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का स्वरूप :—

काव्य सरोज के प्रथम दल में काव्य का स्वरूप विवेचन करते हुए श्रीपति ने बताया है कि दोष रहित तथा गुण, अलंकार एवं रस से युक्त, शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[2] श्रीपति के विचार से काव्य रचना शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास तथा प्रतिभा से होती है।[3] इनमें से शक्ति की व्याख्या करते हुए श्रीपति ने लिखा है, यह पुण्य विशेष है, जिसके अभाव में काव्य रचना सम्भव नहीं होती। यदि उसके अभाव में भी कोई हठ पूर्वक काव्य रचना में प्रवृत्त होता है, तो वह हँसी का पात्र बनता है।[4] इसी प्रकार से निपुणता उसे कहते हैं, जिसके कारण कवि को सहज ही पद तथा उसका अर्थ प्राप्त हो जाता है तथा जो जग व्यवहार होता है, उसी को लोक मत कहते हैं।[5] वह शास्त्र ज्ञान व्युत्पत्ति कहलाता है तथा किसी सुकवि का सत्संग करते हुए नित्य काव्य रचना करना अभ्यास कहा जाता है।[6] प्रतिभा उसे कहते है जो नूतन तर्क, सुन्दर पद तथा शक्ति पूर्ण सूझ प्रदान करे।[7]

१ संवत मुनि मुनि मुनि ससी, सावन सुभ बुधवार।
असित पंचमी को लियो, ललित ग्रन्थ अकार॥ (वही १,४)

२ शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥ (वही १,६)

३ शक्ति निपुणता लोकमत, वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत हैं, ताको ललित प्रकास॥ (वही)

४ शक्ति सुपुन्य विशेष है, जा बिन कवित न होइ।
जो कोऊ हठ सो रचे, हंसी करै कवि लोइ॥ (काव्य सरोज १,८)

५ पद पदार्थ जाते तुरत, ताहि निपुनता जानु।
जो जग को व्यवहार है, वही लोकमत मानु॥ (वही १,९)

६ परिराजन बहुत शास्त्र में सो वितपत्ति बखान।
रचे कवित नित सुकवि ढिग, सों अभ्यास प्रमान॥ (वही १,१०)

७ नूतन तर्क प्रसन्न पद, युक्ति बोध करतार।
प्रतिभा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति आगार॥ वही १,११)

काव्य दोष :—

'काव्य सरोज' के चतुर्थ तथा पंचम दलों में श्रीपति ने काव्य दोषों का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य दोष से श्रेष्ठ काव्य भी नष्ट हो जाता है।[1] उनके विचार से दोष दो प्रकार का होता है (१) शब्द दोष तथा (२) अर्थ दोष। इनमें से शब्द दोषों के अन्तर्गत उन्होंने श्रुति कटु, अनर्थक, व्याहतार्थ, यतिभंग, अप्रयुक्त, असमर्थ शिथिल, ग्राम्य, असंगत, भाषाच्युत, अश्लील तथा प्रतिकूल आदि दोषों का तथा अर्थ दोषों के अन्तर्गत दुष्क्रम, खंडित, असम्मितमान, वस्तुसंविधि, संदिग्ध, दुष्ट वाक्य, अपक्रम, अगत, विरस, पुनिरुक्ति, हीनोपमा, तथा अधिकोपमा आदि का वर्णन किया है।

अलंकार निरूपण :—

श्रीपति ने 'काव्य सरोज' के दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें दलों में क्रमशः शब्दालंकार, अर्थालंकार, तथा उपमालंकार निरूपण किया है। काव्य में अलंकार प्रयोग को श्रीपति आवश्यक मानते हैं क्योंकि उसके अभाव में उसकी शोभा नहीं होती है।[2] इनमें उपमालंकार का विवेचन विशेष रूप से विस्तृत है, जिसके अन्तर्गत श्रीपति ने उपमेयोपमा, प्रतीयोपमा, वाक्योपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, नियमोपमा, निश्चयोपमा, संशयोपमा, अमूर्तोपमा तथा ललितोपमा आदि का वर्णन किया गया है।

रस निरूपण :—

'काव्य सरोज' के तेरहवें दल में श्रीपति ने रस निरूपण प्रस्तुत किया है। यों तो उन्होंने काव्य के सभी अंगों को आवश्यक बताया है, परन्तु इसको उन्होंने उनमें विशिष्टता प्रदान की है।[3] श्रीपति ने इस प्रसंग में रस के विविध अंगों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है।

१ जा पदार्थ के दोष ते, आछे कवित्त नसाइ।
दूषन तासो कहत हैं, श्रीपति पंडित राइ ॥ (काव्य सरोज ३.१३)

२ जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसे, बनित कविता रूप (वही १०८)

३ जदपि दोष बिनु गुन सिहत, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छबि नहीं रस बिन तदपि प्रवीन ॥ (वही १३,१)

रसिक सुमति

परिचय तथा सिद्धान्त :—

रसिक सुमति जाति के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम ईश्वरदास था तथा यह आगरे के निवासी थे। इनके लिखे 'अलंकार चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १७८६ है।[१] इस ग्रन्थ की रचना रसिक सुमति ने कुवलयानन्द के आधार पर की थी और ग्रन्थ के आरम्भ तथा अन्त में इसका उल्लेख भी कर दिया है।[२] जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमे रचयिता ने अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया है। जिन अलंकारों का लेखक ने विवेचन किया है वे उपमा, अनन्वय, रूपक, परिना, गुंफ, कारन, भ्रान्ति, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति उपमानोपमेय, सम्भावना, व्यतिरेक, विरोधाभास, असम्भव, अल्प, अन्योन्य, यथासंख्य, श्लेष, परिवृत्त, सहोक्ति, विशेषोक्ति, स्वाभावोक्ति, लैस, अत्युक्ति, लोकोक्ति, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, जुक्ति, प्रतीत, परिकर, परिकरांकुर, प्रहसन, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, आक्षेप, विभावना, अधिक, मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, अनुगुन, पूर्वरूप, समुच्चय, वक्रोक्ति, श्लेष, एकावली, मालादीपक, क्रम, पर्याय, विनोक्ति, परिसंख्या, विकल्प, समाधि काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, ललित, अनुज्ञा, रत्नावलि, गूढ़ोत्तर, भाविक, उदात्त, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, दृष्टान्त, प्रस्तुतांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, असंगति, सम, विचित्र, व्याघात, प्रत्यनीक तथा अनुप्रास आदि अलंकार है। इस ग्रन्थ में लेखक ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है कि अलंकार शब्द तथा अर्थ की विविध प्रकार की विशेषताओं को कहते हैं।[३]

१ लिधि लषहु रस वसु रिषि शशि संवतई सावन मास।
कुज पुस्य तेरसि असित को यह कियो ग्रन्थ प्रकास ॥ (अलंकार चन्द्रोदय, १८७)

२ रसिक कुवलयानन्द लखि अधि, असि मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चन्द्रोदयहि, बरनतु हिय हुलसाय ॥

तथा

लिखि मथि कुवलयानन्द मत अनों कियो उद्योग।
अलंकार चन्द्रोदय निकारियो सुमित लिखिबे जोग ॥ (वही)

३ सबद अरथ की चित्रता, विविध भांति की होई,
अलंकार तासों कहत रसिक विबुध कवि लोई ॥ (अलंकार चंद्रोदय)

अन्य आचार्य

रसिक सुमति के पश्चात् अन्य आचार्यों में "नायिका भेद" तथा "चित्रकाव्य" के रचयिता श्रीधर, "विष्णु विलास" के रचयिता लाल, "नायिका भेद" के रचयिता कुन्दन बुन्देलखण्डी, "नायिका भेद" तथा "रस लतिका" के रचयिता केशवराय, "रस भूषण" तथा "दशरूपक" के रचयिता गोढू राम, "रस शृंगार समुद्र" के रचयिता बेनी प्रसाद, "रस दीपक" तथा "नायिका भेद" के रचयिता खंग राम, "कमरुद्दीन खाँ हुलास" के रचयिता भंजन, "कंठाभूषण" तथा "रस रत्नाकर" के रचयिता भूपति, "कृष्ण चन्द्रिका" के रचयिता बीर, "अलंकार रत्नाकर" तथा "भाषाभूषण" के रचयिता बंशीधर तथा दलपति राय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी उपर्युक्त कृतियों में साहित्य शास्त्र के विविध अंगों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

सोमनाथ मिश्र

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य सोमनाथ मिश्र का रचना काल सन् १७३३ से लेकर १७५३ ई० तक माना जाता है। इनके पिता का नाम नीलकंठ मिश्र तथा अग्रज का नाम गंगाधर मिश्र था। इनका उपनाम शशिनाथ उल्लखित है।[१] यह जयपुर नरेश महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ भी रहे थे। उनके लिए उन्होंने "रसपीयूषनिधि" नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[२] इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १७९४ वि० है।[३] इस ग्रन्थ में बाईस तरंगें हैं। इसमें लेखक ने छन्द शास्त्र, काव्य स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, शब्द शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण तथा अलंकार विवेचन

१ हूजे सहाई शशिनाथ को जय जय सिंधुर मुख जननि। (शृंगार विलास)

२ कही कुंवर परताप ने, सखा मध्य सुख पाय।
सोमनाथ हमको सरस, पोथी देउ बनाय॥

३ सत्रह से चौरानबे, संवत जेठ सुमास।
कृष्न पक्ष दसमी भृगौ, भयो ग्रन्थ परकास॥ (रस पीयूष निधि)

प्रस्तुत किया है। "रस पीयूष निधि" के अतिरिक्त आचार्य सोमनाथ द्वारा रचित कुछ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख भी किया जाता है, जिनमें (१) शृंगार विलास, (२) कृष्ण लीलावती, (३) पंचाध्यायी, (४) सुजान विलास, (५) माधव विनोद मुख्य हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थों में एक दूसरे की सामग्री की पुनरावृत्ति भी मिलती है, जिसके कारण मौलिकता कम हो गई है। सोमनाथ पर पूर्ववर्ती साहित्य शास्त्रियों में से अप्पय दीक्षित मम्मट तथा विश्वनाथ आदि का विशेष रूप से प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। यहाँ पर सोमनाथ के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय उनकी "रस पीयूष निधि" नामक कृति के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य निरूपण :—

आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ "रस पीयूष निधि" की छठी तरंग में कवित्त की परिभाषा करते हुए बताया है कि दोष रहित, छन्दबद्ध तथा गुण, अर्थ एवं अलंकार युक्त कवि कर्म को कवित्त कहते हैं।[१] सोमनाथ के विचार से काव्य की रचना यश, धन, विनोद तथा मंगल के लिए की जाती है।[२] उन्होंने बताया है कि काव्य का प्राण व्यंग शब्द तथा अर्थ काव्य का शरीर, उसकी शोभा गुण तथा दोष होते हैं।[३] इसी प्रकार से काव्य के भेद करते हुए सोमनाथ ने लिखा है कि वह तीन प्रकार का होता है (१) उत्तम, (२) मध्यम तथा (३) अधम। इनमें से उत्तम काव्य वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार हो[४], मध्यम काव्य वहाँ होता है जहाँ शब्दार्थ तथा व्यंग्यार्थ का

१ सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध ॥ (रसपीयूषनिधि ६,२)

२ कीरति, बित्त, विनोद अरु अति मंगल को देति।
करे भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ॥ (वही ६,३)

३ व्यंगि प्राण अरु अंग सब, शब्द अरथ पहिचानि।
दोष और गुण अलंकृत, दूषणादि उर आनि ॥ (वही ६,६)

४ उत्तम मध्यम अधम अस त्रिविध कवित्त सु मानि।
व्यंग सरस जह कवित्त में सो उत्तम उर मानि ॥ (वही ६,७,१०)

चमत्कार हो तथा अधम काव्य उसे कहते हैं जहाँ व्यंग्यार्थ का अभाव हो तथा शब्द अथवा अर्थ की सरसता हो।[१]

शब्द शक्ति निरूपण :—

सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ "रस पीयूष निधि" की छठी तरंग में शब्द शक्ति निरूपण प्रस्तुत किया है। उन्होंने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं। (१) अभिधा, (२) लक्षणा और [३] व्यंजना। इनमें से प्रथम अर्थात् अभिधा शक्ति शब्द के उचित अर्थ सूचन करती है।[२] द्वितीय लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ को परित्यक्त करके अन्य अर्थ का सूचन करती है।[३] इसके दो भेद होते हैं [१] रूढ़िवती लक्षणा तथा [२] प्रयोजनवती लक्षणा।[४] तृतीय व्यंजना शक्ति व्यंग्यार्थ का सूचन करती है, जिसका सूचक शब्द व्यंजक कहलाता है।[५] व्यंजक वाच्यार्थ से अधिक अर्थ का सूचन करता है।[६] इन शब्द शक्तियों में से कुछ के उपभेद भी सोमनाथ ने लिखे हैं।

ध्वनि निरूपण:—

आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'रसपीयूष निधि' की सातवीं तथा अठारहवीं तरंग में ध्वनि का निरूपण किया है। उनके ध्वनि विवेचन पर मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। सोमनाथ ने ध्वनि का स्वरूप[७] स्पष्ट करते हुए उसके विविध भेद किये हैं। उन्होंने

१ शब्द अरथ सम व्यंगि जहू सो मध्यम ठहराय।
शब्द अरथ की सरसई व्यंग्य न अधम बताव ।। (रसपीयूषनिधि ७,१२)

२ या अक्षर को यह अरथ ठीकहि यह ठहराय।
जानि परैं जातें सु वह अभिधा वृत्ति कहाय ।। (वही ६,२०)

३ मुख्यारथ को छोड़ि के पुनि तिहि के ढिग और।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और ।। (वही ६,२४)

४ कवित्त विविधि यह लीनी मान, रूढ़ प्रयोजनवती बखान (वही ६,२५)

५ अधिक कहै कहि अर्थ कौं व्यंजक शब्द सु जानि। (वही ६,३६)

६ समुझि लीजिये अर्थ पुनि और बीच हू होय।
रसिकनि को सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोय ।। (वही ६,३७)

७ ध्वनि भेद तें होत कवित अनूप।
बखानत सो ध्वनि को अब रूप ।।

ध्वनि के अठारह मुख्य भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने व्यंग्य को काव्य शरीर का प्राण मानते हुए[1] व्यंग्य प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य बताया है।[2] ध्वनि के भेदों में उन्होंने अविवक्षित वाच्य ध्वनि आदि का ही पूर्ण विवेचन किया है।[3] इसके उन्होंने अविवक्षित वाच्य ध्वनि, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि तथा विवक्षित वाच्य ध्वनि आदि भेदों की व्याख्या की है।

रस निरूपण:—

आचार्य सोमनाथ ने अपने दो ग्रन्थों "रस पीयूष निधि" तथा "शृंगार विलास" में रस निरूपण प्रस्तुत किया है। रस विषयक इनके सिद्धान्तों पर भानुमिश्र, मम्मट तथा विश्वनाथ के विचारों का अधिक प्रभाव मिलता है। रस प्रसंग के संदर्भ में सोमनाथ ने बताया है कि चित्त का एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना विकार कहलाता है[4] और उन्हीं विकारों में से रसानुकूल विकारों को भाव कहा जाता है।[5] इस प्रकार से उन्होंने विकार और भाव में अन्तर नहीं माना है। भाव का स्वरूप स्पष्ट करने के पश्चात् सोमनाथ ने भाव के चार भेद किए हैं (१) स्थायी भाव, (२) संचारी भाव, (३) विभाव तथा (४) अनुभाव। उन्होंने सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत

होय लक्षना मूल जह गुढ़, व्यंग्य परकास।
वाच्य अर्थ है वृथा जह सो ध्वनि कहस विलास। (रसपीयूषनिधि ७/१,२)

१ व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि। (वही ६,६)

२ व्यंग्य सरस जह कवित में सो उत्तम अरु आनि। (वही ६,७)

३ कवि की इच्छा है न जहं वाच्य अर्थ पै मित्र।
सो अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहि बरनत सु विचित्र ॥ (वही ७,३)

४ चित्त किहि हेतुहि पाय, जब होई और से और।
ताको नाम विकार कहि, बरनत कवि सिर मौर ॥ (वही)

५ रस को मूल भाव पहिचानों।
ताको यह लक्षण उर आनों।
चित्तवृत्ति ही लौ ठहराय।
भाव वासना रूप बताय ॥
रस अनुकूल विकार जो होत।
तासो भाव कहत कवि गोत। (वही ७,९,१०)

ा है।[1] भाव के इन चार भेदों में से उन्होंने स्थायी तथा संचारी भावों को आन्तर तथा विभावों और अनुभावो अथवा सात्विक भावों को शरीर भाव कहा है।[2]

भाव की व्याख्या करते हुए सोमनाथ ने उसे रस का मूल बताया है। सहृदय वासना चित्त वृत्ति के रूप में विद्यमान रहती है उसी को उन्होंने भाव कहा है।[3] अतिरिक्त किसी रस युक्त रचना के पारायण अथवा श्रवण से भी हृदय में जिस की उत्पत्ति होती है उसे भी उन्होंने भाव के ही नाम से वर्णित किया है। की परिभाषा करते हुए सोमनाथ ने लिखा है कि विभाव उन दोनों प्रकार के भावों को कहते हैं जो किसी के प्रति और किसी के हृदय में उत्पन्न होते हैं।[5] के सोमनाथ ने दो भेद किये है (१) आलम्बन विभाव, जिसमें स्थायी भाव रहता [२] उद्दीपन विभाव, जिसके द्वारा स्थायी भाव चमक उठता है।[6] इसी प्रकार रस को दर्शाते हैं, वे अनुभाव कहे जाते है।[7] संचारी उन्हें कहते हैं जो नौ रसों में

चारि प्रकार सुभाव हैं प्रथम विभाव बखानि।
फिरि अनुभाव सु जानिये संचारी पुनि आनि।
ताते पुनि थाई समुझि चौविधि इम उरआनि।
सातुग भाव जु हैं सु वहथनुभावनि में जानि (रसपीयूषनिधि ७,११,१२)
भाव सु द्वै विधि उर में आनों। अंतर अरु सारीरिक मानों॥
अंतर के थाई संचारी। और जानि सारीरिक भारी॥ (वही १,९)
रस को मूल भाव पहिचानों। ताको यह लक्षण उर मानो॥
चित्त वृति ही लो ठहराय। भाव वासना रूप बताया॥
रस अनुकूल विकार जु होत। ताको भाव कहत कवि गोत॥ (वही १,६,७,८,)
चित किहि हेतुहि पाय, जब होई और से और।
ताको नाम विकास कहि, बरनत कवि सिर मौर॥ (शृंगारविलास ४,५)
जिहि तें उपजतु है जहां जिहि के थाई भाव।
तासों कहत विभाव सब समुझि रसिक कविराव॥ (रसपीयूषनिधि १,१३)
थाई भावनि को जु बसेरो। सो विभाव आलम्बन हेरो॥
चमकि उठै पुनि जाहि निहारै। सो उद्दीपन कहत पुकारै॥

(शृंगार विलास १,१०)

दरसावै परकास रस सो अनुभाव बखानि। (रसपीयूषनिधि १,१६)

संचरण करते हैं और स्थायी भावों में सहायक के रूप में रहते हैं।[1] तथा
उन भावों को कहते हैं जो स्थिर रहते हुए सब भावों के प्रधान हों।[2]

शृंगार रस के विवेचन के प्रसंग में सोमनाथ ने उसके दो भेद ब
संयोग शृंगार तथा [२] वियोग शृंगार। इनमें से संयोग शृंगार दम्पति के
कहते हैं[3] तथा वियोग शृंगार दम्पति के बिछुड़ने को।[4] शृंगार रस को उन्हों
माना है।[5] इसके अतिरिक्त उन्होंने हास्य रस,[6] करुण रस,[7] रौद्र रस,[8] वीर र

१　कहे तीस और अरु तीन ए संचारी समझाई।
सबहुन रस में संचारत ह्वै के संग सहाइ॥ (शृंगार विलास १,१९)

२　थिर अति थाई भाव बखानो। सब भावनि को ठाकुर जानो।
जो विधि ताहि हिये में आनो। सो अब परगट कहत में मानो।
(वही, १,३)

नायक सब ही भाव को टारें टरें न रूप।
तासो थाई भाव कहि बरनत हैं कवि भूप॥ (रसपीयूषनिधि ७,३१

३　दंपति मिलि विधुर न जहाँ मनमथ कला प्रवीन।
ताहि संजोग सिंगार कहि बरनत सुकवि कुलीन॥ (वही ८,२)

४　प्रीतम के बिछुरनि विषै जो रस उपजतु आइ।
विप्रलम्भ सिंगार सो कहत सकल कविराइ॥ (वही १५,१)

५　नव रस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि। (वही ८,१)

६　सुनि के सरस कवित्त कों होत व्यंग्य जब हास।
तब ही ताकों हास्य रस कहियतु है सविलास॥ (वही १७,१

७　सुनतहि जहाँ कवित में व्यंगि होय जब सोक।
करुणा रस तासों कहैं सकल सुकवि रस ओक॥ (वही १७,३)

८　जब कवित्त में आनि के क्रोध व्यंगि ठहराई।
ताहि रुद्र रस कहत हैं सबै सुकवि सुख पाई। (वही १७,६)

९　जब कवित्त में सुनत ही व्यंग्य होय उत्साह।
तहाँ वीर रस समझियो चौंबधि के कवि नाह॥ (वही १७,८)

स[1] बीभत्स रस,[2] अद्भुत रस,[3] तथा शान्त रस,[4] का स्वरूप विश्लेषण करते हुए इनके लक्षण प्रस्तुत किये हैं तथा इनमें से प्रत्येक का वर्ण भी लिखा है।[5]

दोष निरूपण :—

आचार्य सोमनाथ मिश्र ने अपने ग्रन्थ "रस पीयूष निधि" की बीसवीं तरंग में काव्य दोष निरूपण प्रस्तुत किया है। इनके इन सिद्धांतों पर मम्मट तथा विश्वनाथ के विचारों का प्रभाव है। सोमनाथ के विचार से दोष मुख्य अर्थ अथवा रस का हनन करते हैं जिसके आश्रय शब्द तथा अर्थ होते हैं।[6] उन्होंने दोषों के चार भेद किये हैं [१] शब्दगत दोष, [२] अर्थगत दोष, [३] वाक्यगत दोष तथा [४] रसगत दोष।[7] इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने असमर्थ, कर्णकटु, अप्रयुक्त, अश्लील तथा सन्दिग्ध, द्वितीय

१ सुनि कवित्त में व्यंगि मय जबही परगट होय।
नहीं भयानक रस बरनि कहैं सबै कवि लोय॥ (रसपीयूषनिधि, १७,१५)

२ जहँ कवित्त को सुनत ही हिय में सरसै ग्लानि।
ताहि कहैं बीभत्स रस कवि कोविद पहिचानि॥ (वही १७,१६)

३ जहँ कवित्त में सुनि महा अचिरज बेगि सु होई।
तहाँ प्रकट उर आनिये अद्भुत रस है सोई। (वही, १७, १८)

४ प्रकट होय निरवेद जहँ ब्रह्म ज्ञान तें आय।
सुनि कवित्त तासो कहैं सांत सु रस सुख पाय। (वही १७,२०)

५ स्याम बरन सिंगार रस, श्वेत हास्य रस आनि।
पारावत के रंग सम करुना रस पहिचानि॥
अरुन बरन पुनि रुद्र रस, वीर पीत रंग होत।
मिलन भयानक नील अति, रस बीभत्सउदोत॥
गौर बरन अद्भुत रस भाखा।
अति ही सेत सांत अभिलाखा॥ (वही, ७, ४८, ४९, ५०)

६ रस को मुख्य गनि हनत है, जिहि सब्दारथ ओट।
तासों दूषन कहत है कवि रसिकनि के चोट॥ (वही, २०, २१)

७ जाके राखे ते रहैं दूरि करैं मिटि जाय।
शब्दारथ अरु वाक को रस को दोष बताय॥ (वही, २०, २१)

के अन्तर्गत न्यूनपद और हतवृत्त, तृतीय के अन्तर्गत सहचरभिन्न, चाहजुत, व्याहत, निर्हेतु, दुष्क्रम, पुनरुक्त, अनवीकृत, सामान्य, विशेष, विशेष समान्य प्रसिद्धि विरुद्ध तथा विद्या विरुद्ध एवं चतुर्थ के अन्तर्गत प्रकृति विपर्यय आदि दोषों का उल्लेख किया है।

गुण निरूपण :—

आचार्य सोमनाथ मिश्र ने अपने "रसपीयूषनिधि" नामक ग्रन्थ की इक्कीसवी तरंग में काव्य गुणों का निरूपण किया है। इस विवेचन का आधार भी प्रधानतः मम्मट के सिद्धान्त हैं। सोमनाथ ने लिखा है कि यदि कविता दोष विहीन होने पर भी गुण से युक्त न हो तो शोभा नही पाती।[1] उन्होंने गुणों के तीन प्रकार बताये हैं [१] माधुर्य गुण, [२] ओज गुण तथा [३] प्रसाद गुण।[2] इनमें से माधुर्य गुण वह गुण होता है जिसको सुनते ही हृदय द्रवित हो जाय तथा अंग अंग में सुख हो।[3] यह गुण शृंगार, करुण तथा शान्त रसों मे स्थित होता है।[4] ओज गुण उसे कहते हैं जिसको सुनते ही तेज बढ़े।[5] यह वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों में क्रमशः अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में स्थित रहता है।[6] इसी प्रकार से प्रसाद गुण सभी रसों में समान रूप से विद्यमान रहने वाला तथा अर्थ की अवगति कराने वाला होता है।[7]

१ कविता दोष विहीन हू बिन गुण लसं न मित्र।
  ताते गुण बरनत प्रकट रीझै सुनत विचित्र ॥ (रसपीयूषनिधि, २१, १)
२ त्रिविध सुगुण उर में पहिचानों। मधुरता सु पुनि ओज बखानौ।
  ताते बहुरि प्रसाद बनावौ। पढ़ि सुनि अति आनन्द बरसावौं। (वही, २१, २)
३ श्रवन सुनत ही हिय द्रवै अंग अंग सुख होई।
  ताहि मधुरता गुन कहै कवि कोविद सब कोई ॥ (वही, २१, ४)
४ रस सिंगार अरु करुन में पुनि सांत में आनि।
  मधुराई की सरसई तो बरसे सुख दानि ॥ (वही, २१, ३)
५ बढ़े तेज उद्धत महा जाहि सुनत ही चित्त।
  ताहि कहत है ओज गुण ते कविता के मित्त ॥ (वही, २१, ७)
६ बरनि ओज गुण वीर में ताते अधिक सु रुद्र।
  ताते बढ़ि वीभत्स में भाखत बुद्धि समुद्र ॥ (वही, २१, ८)
७ सबहू रस में अर्थ जहँ गंग तीर के तूल।
  ताको कहत प्रसाद गुन सुनत बढ़े हिय फूल ॥ (वही, २१, ११)

अलंकार निरूपण :—

आचार्य सोमनाथ मिश्र ने अपने ग्रन्थ "रसपीयूषनिधि" की इक्कीसवीं तथा बाईसवीं तरंगों मे अलंकारों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने शब्दालंकारों के अन्तर्गत वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, तथा चित्र एवं अर्थालंकारों के अन्तर्गत उपमा, अनन्वय, उपमानोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपक वृति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष व्याघात, गुंफा, एकावली, माला दीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारक दीपक, समाधि, काव्यार्थपत्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, विकल्प, प्रौढ़ोक्ति, सम्भावना, मिथ्या ध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतदगुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष, गूढ़ोत्तर, चित्रोत्तर, सूक्ष्म, विहित, व्याजोक्तिः गूढ़ोक्ति, विवृत्तोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरूक्ति प्रतिषध, विधि, हेतु, प्रयत्नीक, अनुमान, संसृष्टि तथा संकर आदि अलंकारों का उल्लेख किया है।

करन

परिचय तथा कृतियाँ :—

आचार्य सोमनाथ के परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में सर्वप्रथम "रस कल्लोल" के रचयिता करन कवि का नाम उल्लेखनीय है। इनका रचना काल सम्वत् १७५७ माना गया है। यह पन्ना नरेश के आश्रित कवि थे। जाति के यह ब्राह्मण थे तथा उनके पिता का नाम श्रीधर था। उन्होंने शिवाजी तथा छत्रसाल की प्रशंसा में भी कुछ पद लिखे थे। अपने "रस कल्लोल" नामक ग्रन्थ में इन्होंने रस, गुण, ध्वनि, शब्द शक्ति, काव्य भेद तथा वृत्ति आदि का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने अपने जो सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं, उनका आधार मम्मट कृत "काव्य प्रकाश" ही है।

गोविन्द

गोविन्द का नाम करन कवि के पश्चात् हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा में उल्लेखनीय है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ "कर्णाभरण" है। इसका रचना काल सम्वत् १७९७ है।[1] इस ग्रन्थ के आचार्य गोविन्द ने विविध अलंकारों की विवेचना उदाहरण सहित प्रस्तुत की है।

रसलीन

रसलीन का जन्म काल सम्वत् १७४७ तथा मृत्यु काल सम्वत् १८०७ वि० माना जाता है। यह बिलग्राम, हरदोई के निवासी थे। इनका वास्तविक नाम सैयद गुलाम नबी था। इनके द्वारा रचित साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में "अंग दर्पण" तथा "रस प्रबोध" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम में नखशिख वर्णन तथा द्वितीय में रस निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

रघुनाथ बन्दीजन

रसलीन के परवर्ती आचार्यों में "काव्य कलाधर" (सम्वत् १८०२) तथा "रसिक मोहन" (सम्वत् १७९६) के रचयिता रघुनाथ बन्दीजन का नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों में से "काव्य कलाधर" में लेखक ने भाव भेद, रस भेद तथा नायिका भेद का विवेचन प्रस्तुत किया है तथा "रसिक मोहन" में अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया है।

१ नग निधि रिषि बिधु बरष में सावन सित तिथि सम्भु।
कीन्हीं सुकवि गुविन्द जू, कर्णाभरण आरम्भु ॥ (कर्णाभरण)

उदयनाथ कवीन्द्र

उदयनाथ कवीन्द्र के पिता का नाम कालिदास था। इनके द्वारा लिखित "रस चन्द्रोदय" अथवा "विनोद चन्द्रोदय" नामक ग्रन्थ की रचना का काल सम्वत् १८०४ है।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने नायिका भेद तथा रस निरूपण प्रस्तुत किया है। रसों में केवल शृंगार रस के ही संयोग तथा वियोग पक्षों का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है।

भिखारी दास

परिचय तथा कृतियाँ:—

आचार्य भिखारीदास प्रतापगढ़ के निकटवर्ती ट्योंगा ग्राम के निवासी थे। यह जाति के कायस्थ थे। इनका वर्ण यहीवार था। इनके भाई का नाम चमन लाल तथा पिता का नाम कृपालदास था। यह अरवर प्रदेश के राजा पृथवीपति सिंह के भाई हिन्दू पति सिंह के आश्रित थे[2] जिनके लिए इन्होंने अपने कई ग्रन्थ रचे थे। इनमें से "शृंगार निर्णय" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसमें इसका उल्लेख भी आचार्य ने किया है।[3] उनकी मुख्य कृतियों में "रस सारांश" (रचनाकाल सम्वत् १७९१)[4], "नाम प्रकाश" (रचना

१ सम्वत् सतक अठारह चार। नाहक नाहकाहि निरधार।
लिखहि कविन्द ललित रस पंथ। कियो विनोद चन्द्रोदय ग्रन्थ॥

२ जगत विदित उदयाद्रि सों अरवर देश अनूप।
रवि लौं पृथवीपति उदित तहाँ सोमकुलभूप॥
सोदर तिनके ज्ञाननिधि हिन्दूपति शुभ नाम।
जिनको सेवा में लह्यो दास सकल सुखधाम॥ [काव्य निर्णय, पृष्ठ २]

३ श्री हिन्दूपति रीझि हित समुझि ग्रन्थ प्राचीन।
दास कियो शृंगार को निरनय सुनो प्रवीन॥ [शृंगार निर्णय, पृष्ठ ३]

४ सत्रह सै इक्यानवें नभ सुदि छठि बुधवार।
अरवर देश प्रतापगढ़ भयो ग्रन्थ अवतार॥ [रस सारांश, पृ० ३]

काल सम्वत् १७९५)[1] "छन्दोर्णव पिंगल" (रचना काल सम्वत् १७९९)[2], काव्य निर्णय[3] (रचना काल सम्वत् १८०३)[3] तथा "शृंगार निर्णय" (रचना काल सम्वत् १८०७)[4] आदि हैं। उपर्युक्त कृतियों के रचना क्रम काल के अनुसार आचार्य भिखारीदास का समय सम्वत् १७६० तथा मृत्यु का लगभग सम्वत् १८०७ माना जाता है।[5] उपर्युक्त ग्रन्थों में "काव्य निर्णय" में आचार्य भिखारीदास ने पदार्थ, अलंकार, रस, ध्वनि, गुण, दोष तथा चित्रकाव्य आदि का विश्लेषण किया है, "शृंगार निर्णय" में शृंगार रस के दोनों भेदों के साथ नायिका भेद के अन्तर्गत नायिकाओं, सखियों तथा दूतियों आदि का भी विवेचन है, "रस सारांश" में रस आदि काव्य के अंगों का विश्लेषण हुआ है तथा "छन्दोर्णव पिंगल" में छन्द शास्त्र की व्याख्या है। उनकी शेष कृतियों का विषय साहित्य शास्त्रीय विवेचन नहीं है। भिखारीदास के विचारों पर मुख्यतः मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित के सिद्धांतों का व्यापक रूप से प्रभाव लक्षित होता है। यहाँ पर भिखारीदास के उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर इनके सिद्धांतों का परिचयात्मक विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य स्वरूप निरूपण:—

आचार्य भिखारीदास ने अपने 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ में काव्य के आदर्श के विषय में लिखा है कि काव्य रचना के तीन उद्देश्य होते हैं। एक तो तप और साधना द्वारा संसारेतर सिद्धि, दूसरे सम्पत्ति लाभ तथा तीसरे यश प्राप्ति। काव्य की चर्चा से

१ सत्रह सै पंचानवे अगहन को सित पक्ष।
तेरसि मंगल को भयो नाम प्रकाश प्रत्यक्ष।। [नाम प्रकाश, पृ० ३]

२ सत्रह सै निन्यानवे मधु बदि नवैमा बिन्दु।
दास किया छन्दार्णव सुमिरि साँव से इंदु।। (छन्दोर्णव पिंगल, पृष्ठ १२२)

३ अट्ठारह सै तीनि को सम्वत आसिन मास।
ग्रन्थ काव्य निरनय रच्यो विजय दसमि दिन दास।। [काव्य निर्णय, पृष्ठ१]

४ संवत् विक्रम नृप को अट्ठारह सै सात।
माधव सुदि तेरस गुरौ अरवर थल विख्यात।। (शृंगार निर्णय पृ० २)

५ दे० "आचार्य भिखारीदास" डा० नारायणदास खन्ना, पृ० २५ तथा २६।

बुद्धिमानों को सवत्र और सर्व काल में सुख प्राप्त होता है।[1] काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दास जी ने लिखा है कि रस कविता का शरीर, अलंकार उसके आभूषण, गुण उसके रूप रंग तथा दोष उसकी कुरूपता होते हैं।[2] उन्होंने गुण को अलंकार का समानधर्मा बतलाया है।[3]

कवियों के गुणों की चर्चा करते हुए दास जी ने लिखा है कि वे तीन होते हैं (१) प्रतिभा, (२) सुकवियों द्वारा निर्दशित विविध काव्य रीतियों का अध्ययन तथा (३) लोक व्यवहार। उनका विचार है कि इन तीनों के योग से ही कविता हो सकती है अन्यथा इनमें से किसी एक के भी अभाव में वह एक पहिये का गाड़ी होकर रह जायगी।[4]

काव्य की भाषा के विषय में दास जी ने लिखा है काव्य प्रयोग में यद्यपि ब्रज, मागी, अमर, नाग, यवन तथा फारसी आदि भाषाएं रही हैं, परन्तु सर्व प्रचलित भाषा ब्रज है, जिसमें संस्कृत और फारसी का योग है।[5] परन्तु रीति काल में ब्रज भाषा ही काव्य के

१ एक लहै तप पुंजन्ह के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहै बहु सम्पति केशव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई॥
एकन्ह को असहीं सो प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाईं॥
(काव्य निर्णय, पृ० ४)

२ रस कविता को अंग भूषन हैं भूषत सकल।
गुन सरूप औ रंग दूषन करैं कुरूपता॥ (वही, पृ० ५, १.१३)

३ रस के भूषित करन ते, गुन बरने सुख दानि।
गुन भूषन अनुमानि कै अनुप्रास उर आनि॥ (वही, १९, २४)

४ सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधातें।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी सुनी बहुलोक की बातें॥
दास हैं जामे एकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातें।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र नियातें॥
(काव्य निर्णय पृ० ५)

५ भाषा ब्रजभाषा रुचिर कहै सुकवि सब कोई।
मिलै संस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होई॥

लिए सर्वोत्तम रूप में सर्वमान्य थी। यह उनके कथन से स्पष्ट है।[१] इस प्रकार से दास जी ने भाषा को काव्य के आधार के रूप में मान्य किया है क्योंकि कवि वाणी भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाती है।

दास जी ने लिखा है कि काव्य के अधिकारी केवल रसिक ही होते हैं।[२] रसिक की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि रस की बातों[३] से प्रेम रखने वाले लोग रसिक कहे जाते हैं।[४] भिखारीदास ने श्रेष्ठ और सफल कवि की कसौटी भविष्य में के कवियों का उस पर रीझना बताया है। सामयिक यश प्राप्ति को उन्होंने स्थायी ख्याति के समक्ष हीनतर बताते हुए उच्च कोटि के काव्य की कसौटी के रूप में प्रतिपादित किया है।[५]

काव्य के गुणों के विषय में दास जी ने लिखा है कि सतकवियों ने यों तो काव्य के दस गुणों का कथन किया है परन्तु फिर केवल तीन गुणों में ही उनका संचयन कर दिया है।[६] इन तीन गुणों को उन्होंने इस प्रकार लिखा है— [१] अक्षर गुण, [२] अर्थ गुण तथा [३] वाक्य गुण। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद, द्वितीय के अन्तर्गत समता, कान्ति, उदारता, अर्थ व्यक्ति तथा समाधि एवं तृतीय

ब्रज मागधी मिले अमर, नाग जमन भाखानि।
सहज पारसीहु मिले षट्विधि कवित्त बखानि (वही, १.१६)

१ ब्रज भाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो।
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहु से जानिये॥ (काव्य निर्णय १.१६)

२ रस कवित्त परिचवता जानैं रसिक न और। (रस सारांश, पृ० ४)

३ रस बातें ताको कहत जो रसिकनि सुख देत। (वही, पृ० ४)

४ रसिक कहावें ते जिन्हैं रस बातन से हेत। (वही, पृ० ४)

५ मौसम जे होहैं ते विशेष सुख में हैं पुनि हिन्दूपति साहेब के नीके मनमानो हैं
एते परतोष रसराज रसलीन वासुदेव से प्रवीन परें कविन्ह बखानौ है॥
तातें यह उद्यम अकारथ न जहै सब भाँति ठहरहे भलो हों हूं अनुमानो है।
आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताइ न तु राधिकाकन्हाई सुमिरन को बहानो है।
(काव्य निर्णय, पृ० ३)

६ दस विधि के गुन कहत हैं पहिले सुकवि सुजान।
पुनि तीनै गुन गति रची सब तिनै के दरम्यान। (वही, पृ० १९१)

के अन्तर्गत श्लेष और पुनरक्ति प्रकाश की गणना की है।[1] उनका विचार है कि काव्य में इन गुणों की स्थिति सहज रूप से ही रहती है, ठीक उसी प्रकार से, जिस प्रकार से सज्जन पुरुषों के हृदय में शौर्य आदि गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं।[2] इन में से माधुर्य गुण के विषय में उन्होंने लिखा है कि यह गुण वहाँ होता है जहाँ अनुस्वार युक्त तथा मृदु वर्ण हो, परन्तु टवर्ग के वर्ण न हों।[3] इसी प्रकार से उन्होंने अन्य गुणों को भी सोदाहरण परिभाषित किया है।

शब्दशक्ति निरूपण :—

आचार्य भिखारीदास ने अपने "काव्य निर्णय" नामक ग्रन्थ के द्वितीय उल्लास में शब्दशक्ति निरूपण प्रस्तुत किया है। इसका आधार मुख्यतः मम्मट के सिद्धांत हैं। पहले पद विवेचन करते हुए दास जी ने उसके तीन भेद किये हैं (१) वाचक पद, (२) लाक्षणिक पद तथा (३) व्यंजक पद।[4] इन तीनों की विस्तृत स्वरूप व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि वाचक पद जाति, यदिच्छा, गुण और क्रिया के द्वारा निश्चित होता है।[5] इसी प्रकार से अभिधा के विषय में उन्होंने लिखा है कि यह वहाँ होती है, जहाँ केवल एक ही अर्थ होता है।[6] इसी प्रकार से लक्षणा के विषय में उनका कथन है कि जहाँ

१ अक्षर गुन माधुर्य अरु ओज प्रसाद विचारि।
समता कान्ति उदारता दूषन हरन नहारि।
अर्थव्यक्त समाधिये अर्थहि करै प्रकार।
वाक्यन ने गुन श्लेष अरु पुनरुक्ती परकास। (काव्यनिर्णय, पृ० १९१)

२ ज्यों सतजन हिय ते नहीं सुरतादि गुन जाय।
त्यों विदग्ध हिय में रहै दसं गुन सहज स्वभाय। (वही, पृ १९१)

३ अनुस्वार जुत वर्ण जुत सबै वर्ग अटवर्ग।
अक्षर जामे मृदु परै सो माधुर्य निसर्ग॥ (वही, पृ० १९२)

४ पद वाचक अरु लाच्छानिक व्यंजक तीनि विधान। (वही, २, १)

५ जाति जदिच्छा गुन क्रिया नाम जु चारि प्रमान।
सबको संज्ञा जाति गनि वाचक कहै सुजान॥
(वही, पृ० ७)

६ जामे अभिधा सक्ति करि, अर्थ न दूजो कोइ।
वहँ काव्य कीन्हें बनै, तातौ मिश्रित होई॥ (वही पृ० ११)

मुख्यार्थ की बाधा हो वहाँ लक्षणा शक्ति होती है।[1] उन्होंने लक्षणा के दो भेद किये हैं (१) रूढ़ि और (२) प्रयोजनवती।[2] इनमें से रूढ़ि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्यार्थ से अभिप्राय स्पष्ट न हो, वरन् जग प्रसिद्धि से उसकी अवगति हो।[3] फिर प्रयोजनवती लक्षणा के उन्होंने दो भेद किये हैं (१) शुद्धा तथा (२) गौणी।[4] इनमें से भी शुद्धा के उन्होंने चार प्रकार बताये हैं (१) उपादान, (२) लक्षित, (३) सारोपा तथा (४) साध्यवसाना।[5] इनमें से उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ अर्थ सिद्धि दूसरों के गुण ग्रहण करने से हो।[6] लक्षित लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अर्थ सिद्धि के लिए अपना गुण छोड़ दे।[7] सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी प्रकार की समानता के कारण एक शब्द का आरोपण दूसरे पर किया जाय और तब अर्थ की सिद्धि हो।[8] साध्यवसाना लक्षणा वहाँ होती है जहाँ जिसकी समता करनी हो उसे ही मुख्य कह दिया जाय तथा विषय का नाम नहीं लिया जाय।[9] गौणी लक्षणा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तथा उसके भेद करते हुए दास जी ने लिखा है कि गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ गुणों के योग से लक्षणा का व्यापार हो। गौणी लक्षणा के उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) सारोपा

१ मुख्य अर्थ के बाध तें शब्द लाच्छनिक होत। (काव्य निर्णय, पृ० ११)

२ रूढ़ि औ प्रयोजनवती द्वै लच्छना उदोत। (वही, पृ० ११)

३ मुख्य अर्थ के बाध पै, जग में वचन प्रसिद्ध।
रूढ़ि लच्छना कहत हैं ताको सुमति समृद्ध। (वही, पृ० ११)

४ प्रयोजनवती जु लच्छना है विधि तासु प्रमान।
एक शुद्ध गौनी दुतिय भाषत सुकवि सुजान॥ (वही, पृ० १२)

५ उपादान इक आनिये दूजी लच्छित ठान।
तीजी सारोपा कहैं चौथी साध्यवसान। (वही, पृ० ११)

६ उपादान सो लच्छना परगुन लीन्हें होइ। (वही पृ० १२)

७ निज लच्छन औरहि दिये, लच्छ लच्छना जोग।

८ और थापिये और को क्यों हू समता पाइ।
सारोपा सो लच्छना कहैं सकल कविराई। (वही, पृ० १३)

९ जाकी समता कहन कौ वहै मुख्य कहि देई।
साध्यवान सुलच्छना विषय नाम नहि लेइ॥ (वही, पृ० १४)

तथा (२) साध्यवसाना।[1] इनमें से सारोपा गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ गुण के अनुसार आरोपित लक्षणा हो।[2] तथा साध्यवसाना गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ गुण के अनुसार उपमेय के स्थान पर केवल उपमान ही प्रयुक्त हो।[3] इसी प्रकार से व्यंजना की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि व्यंजना शक्ति वहाँ होती है जहाँ शब्द के सीधे अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो।[4] इसके उन्होंने दो भेद किये हैं (१) अभिधामूलक तथा (२) लक्षणामूलक। इनमें से अभिधामूलक व्यंजना वहाँ होती है जहाँ किसी अनेक अर्थ वाले शब्द का भिन्न अर्थ प्रतीत हो।[5] लक्षणामूलक व्यंजना के दो भेद किये हैं (१) गूढ़ तथा (२) अगूढ़।[6] इनमें से गूढ़ व्यंजना उसे कहते हैं जिसे केवल सहृदय समझ सके तथा अगूढ़ उसे जो सर्व बोधक हो।[7]

ध्वनि निरूपण :—

आचार्य भिखारीदास ने सर्वप्रथम ध्वनि के दो भेद बताये हैं (१) अविवक्षित वाच्य ध्वनि तथा (२) विवक्षित वाच्य ध्वनि।[8] इनमें से अविवक्षित वाच्य ध्वनि वहाँ

१ गुन लखि गौनी लच्छना द्वै विधि तासु प्रमान।
सारोपा प्रथमै गनौ दूजी साध्यवसान ॥ (काव्य निर्णय, पृ० १४)
२ सगुनारोप सुलच्छना गुन लखि करि आरोप। (वही, पृ० १४)
३ मानौ साध्यवसान सो केवल ही उपमान। (वही, पृ० १५)
४ सूधौ अर्थ जु बचन को तेहि तजि औरे बैन।
समुझि परै ते कहत हैं शक्ति व्यंजना एन ॥ (वही, पृ० १६)
५ शब्द अनेकारथन बल होई दूसरो अर्थ।
अभिधामूलक व्यंग तेहि भाषत सुकवि समर्थ ॥ (वही, पृ० १६)
६ गूढ़ अगूढ़ौ व्यंग है होत लच्छना मूल।
छिवो गूढ़ प्रसिद्ध कहौ हैं अगूढ़ सम तूल ॥ (वही, पृ० १६)
७ कवि सहृदय जा कहं लखै व्यंग कहावत गूढ़।
वाको सब कोई लखत सो पुनि होय अगूढ़ ॥ (वही, पृ० १६)
८ ध्वनि के भेद दुभांति को भनै भारती धाम।
अविवक्षितो विवक्षतो वाच्य दुहुन कौ नाम ॥ (वही, पृ० ५०)

होती है, जहाँ वाच्य से व्यंग्य की अवगति हो। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता की इच्छा नहीं जानी जाती, बल्कि व्यंग्य से ही वास्तविक अर्थ का बोध होता है।[1] उन्होंने अविवक्षित वाच्य के दो भेद बताये हैं (१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।[2] इनमें से अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ वाच्यार्थ अपने दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है।[3] अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ परिस्थिति के अनुसार मुख्यार्थ का का त्याग हो जाता है।[4] विवक्षित वाच्य ध्वनि वहाँ होती है जहाँ कवि द्वारा अपेक्षित अर्थ हो।[5] इनके दो भेद होते हैं (१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि तथा (२) लक्ष्य क्रम ध्वनि। इनमें से असंलक्ष्यक्रम ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ रस पूर्णता आभासित हो तथा रस भाव आदि के क्रम का आभास न हो।[6] लक्ष्य क्रम ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ शब्द अर्थ तथा शब्दार्थ शक्तियों द्वारा उत्पन्न व्यंग्य का सूचन हो।[7] इसी प्रकार से उन्होंने गुणीभूत व्यंग्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह वहाँ होती है, जहाँ व्यंग्यार्थ में कोई चमत्कार न हो। इसे उन्होंने मध्यम काव्य की कोटि में रखा है।[8] गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद किये हैं

१ वकता की इच्छा नहीं बचनहि को जु सुभाव।
व्यंग कहैं तिहि वाच्य को अविवक्षित ठहराउ। (काव्यनिर्णय पृ० ५०)

२ अर्थान्तर संक्रमित इक है अविवक्षित वाच्य।
पुनि अत्यंत तिरस्कृतौ दूजौ भेद पराच्य। (वही, पृ० ५०)

३ अर्थान्तर संक्रमित सो वाच्य जु व्यंग अतूल।
गूढ़ व्यंग यामें सही होत लक्षना मूल॥ (वही, पृ० ५०)

४ है अत्यंत तिरस्कृतौ निपट तजै ध्वनि होय।
समय लक्ष तें पाइये, मुख्य अर्थ को गोय॥ (वही, पृ० ५०)

५ वहै विवक्षित वाच्य ध्वनि चाहि करै कवि चाहि। (वही, पृ० ५०)

६ असंलक्ष्य क्रम व्यंग जहँ रस पूरनता चारु।
लखि न परै क्रम जेहिं जौं सज्जन चित्त उदारु। (वही, पृ० ५१

७ होत लक्ष्यक्रम व्यंग में तीनि भाँति की व्यक्ति।
शब्द अर्थ की शक्ति है अरु शब्दारथ शक्ति। (वही पृ० ५१)

८ व्यंगारथ में कुछ चमत्कार नहिं होइ।
गुनीभूत सो व्यंग है मध्यम काव्यो सोइ॥ (वही, पृ० ६४)

(१) अगूढ़, (२) अपरांग, (३) तुल्य प्रधान, (४) अस्फुट, (५) काकु, (६) वाच्य सिद्ध अंग, (७) सन्दिग्ध तथा (८) असुन्दर। इन सबकी उन्होंने सोदाहरण व्याख्या भी की है। फिर दास जी ने अवर काव्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि जहाँ केवल वाच्यार्थ का पोषण हो तथा व्यंग्य का अभाव और सरलता हो वहाँ अवर काव्य होता है।[1]

काव्य दोष निरूपण :—

आचार्य भिखारीदास ने काव्य के दोषों का निरूपण करते हुए बताया है कि ये चार प्रकार के होते हैं (१) शब्द दोष, (२) वाक्य दोष, (३) अर्थ दोष तथा (४) रस दोष।[2] इनमें से शब्द दोषों के अन्तर्गत उन्होंने श्रुति कटु, भाषाहीन, अप्रयुक्त, असमर्थ निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, ग्राम्य, सन्दिग्ध, अप्रतीत, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेय तथा विरोधमान आदि दोषों का उल्लेख किया है तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[3] वाक्य दोषों के अन्तर्गत प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, विसन्धि न्यूनपद, अधिकपद, पतत्प्रकर्ष, पुनिरुक्ति, समाप्तपुनराप्त, चरणान्तर्गत पद, अभवन्मतयोग, अकथितकथनीय, अस्थानपद, संकीर्ण पद, गर्भित, अमतपरार्थ, प्रकरणभंग तथा प्रसिद्ध हत आदि दोषों की गणना की है।[4] अर्थ दोषों के अन्तर्गत अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहत,

१ बचनारथ रचना जहाँ व्यंग न नेकु लखाइ।
सरल जानि तेहि काव्य को अवर कहै कबिराइ॥ (काव्यनिर्णय, पृ० ६८)

२ दोष शब्द हूं वाक्य हूं अर्थ रसहू में होई।
तेहि तजि कविताई करै सज्जन सुमती जोइ॥ (वही, पृ० २४१)

३ श्रुतिकटु भाषाहीन अप्रयुक्तो असमर्थहि।
तजि निहितारथ अनुचितार्थ पुनि तजो निरर्थहि॥
अवाचको अस्लील ग्राम्य संदिग्ध न कीजै।
अप्रतीत नेयार्थ क्लिष्ट को नाम न लीजै॥
अविमृष्ट विधेय विरुद्धमति छंदस दुष्ट ये सब्दकहि।
कहु सब्द समासहि के मिलेकहूँ एकहैअक्षरहि॥ (वही, पृ० २४८)

४ प्रतिकूलाक्षर जानि मानि हतवृत्तानि सन्धयनि।
न्यूनाधिकपद कथित शब्दपुनिपतित प्रकर्षनि॥

पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, सन्दिग्ध, निर्हेत, अनवीकृत, नियम परिवृत्त, अनियम परिवृत्त विशेष परिवृत्त, समान्य परिवृत्त, साकांक्षा, विधि अयुक्त, अनुवाद अयुक्त, प्रसिद्ध विरुद्ध विद्या विरुद्ध, प्रकाशित विरुद्ध, सहचरभिन्न, अश्लीलार्थ तथा व्यक्त पुनः स्वीकृत आदि दोषों को रखा है।[1]

रस निरूपण :—

आचार्य भिखारीदास ने रस निरूपण के प्रसंग में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्‌भुत नामक आठ रसों के क्रमशः प्रीति, हँसी, शोक, रिस उत्साह भय, घिन तथा विस्मय नामक स्थायी भाव बताये हैं.[1] यद्यपि उन्होंने नवें रस शान्त को भी उल्लेख किया है, जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।[2] उन्होंने लिखा है कि रस वहाँ समझना चाहिये, जहाँ भाव, विभाव, अनुभाव, चर तथा थिर भावों द्वारा पुष्ट होकर हृदय तन्मय हो जाय।[3] इनमे से स्थायी भाव को उन्होंने रस का बीज माना है, जिसका कारण विभाव तथा कार्य अनुभाव है।[4]

शृंगार रस का विवेचन करते हुए आचार्य भिखारीदास ने लिखा है कि नायक नायिका का प्रेम ही इसके अन्तर्गत आता है।[5] इसके उन्होंने दो भेद किये हैं (१) वियोग

तजि सभील पुनरुक्त चरन अन्तर्गत पद गहि।
पुनि अमत सत योगजानि अकथित कथनीयहि।।
पदस्थावस्थ संकीरनो गर्भित असित परारथहि।
पुनि प्रकरन भंग प्रसिद्धहते छन्द सवा वयदूषणा तजहि।।
(काव्य निर्णय, पृ० २५५,५६)

१ प्रीति हँसी अरु सोक रिसु, उत्साहो भव मित्र।
घिन विस्मय थिर भाव ये, आठ बसे शुभ चित्त।। (वही, पृ० ३१)

२ नाटक में रस आठ ही, कह्यो भरत ऋषि राइ।
अनत नवम किय सान्त रस तहं निर्वेद थाइ।। (वही, पृ० ४१)

३ लाख विभाव अनुभाव ही, थिर थिर भावै नेकु।
रस सामग्री जो रसै रसैं गनै धरि टेकु।। (वही, पृ० ३२)

४ तातें थाई भाव को, रस को बीज गनाव।
कारन जानि विभाव अरु, कारज है अनुभाव।। (वही, पृ० ३२)

५ प्रीति नायिका नायकहि, सो सिंगार रस ठाइ। (वही, पृ० ३४)

तथा (२) संयोग शृंगार। इनमें से वियोग शृंगार के उन्होंने पाँच प्रकार बताये अभिलाष, (२) प्रवास, (३) विरह, (४) असूया तथा शाप।[१] वियोग शृंगार त उन्होंने दस काम दशाओं (१) लालसा[२], (२) चिन्ता,[३] (३) स्मृति[४], (४) न[५], (५) उद्वेग[६], (६) प्रलाप[७], (७) उन्माद[८], (८) व्याधि[९], (९) जड़ता[१०] ०) मरण[११] का वर्णन किया है। शृंगार रस के अन्तर्गत ही उन्होंने नायक-नायिका

एक होत संयोग पाँच वियोगहि थाप।
सो अभिलाष प्रवास अरु विरह असूया साप॥ (काव्यनिर्णय, पृ० ३८)

नैन बैन मन मिलि रहे चाह्यो मिलन सरीर।
कथन प्रेमलालसदसा उर अभिलास गंभीर॥ (शृंगार निर्णय, पृ० १००)

मनसुबनि ते मिलन को जहं संकल्प विकल्प।
ताहि कहै चिन्तादसा जिनकी बुद्धि अनल्प॥ (वही, पृ० १०१)

जहं इकाग्रचित करि धरे सब भावन को ध्यान।
सुस्मृति दसा तेहि कहत हैं लखि लखि बुद्धि निधान॥ (वही, पृ० १०३)

दास दसा गुन कथन में सुमिरि सुमिरि तिय पीय।
अंग अंगनि बरनै सहित रस रंगनि रमनीय॥ (वही, पृ० १०२)

जहाँ दुःखरूपी लगै सुखद जु वस्तु अनेग।
रहिबो कहुं न सोहात सो दुसह दसा उद्वेग॥ (वही, पृ० १०४)

सखियन सो के जड़नि सो तन मन भरयो संताप।
मोह बैन बकियबो करै ताको कहत प्रलाप॥ (वही, पृ० १०५)

सो उनमाद दसा दुसह धरे बौरई साज।
रोइ रोज बिलखत उठै करै मोह के काज॥ (वही, पृ० १०६)

ताप दुबरई स्वास अति व्याधि दसा में लेखि।
आहि आहि बकिवा करे आहि आहि सब देखि॥ (वही, पृ० १०७)

मरन दसा सब भाँति सो ह्वे निरास मरि जाय।
जीवन मृत के बरनिये तहँ रस भंग बराय॥ (वही, पृ० १०८)

जड़ता में सब आचरन भूलि जाति अभ्यास।
तम निद्रा बोलनि हँसनि भूख प्यास रस त्रास॥ (वही, पृ० १०८)

भेद भी प्रस्तुत किया है। फिर अन्य रसों में से हास्य रस के विषय में लिखा है कि जिस रचना के श्रवण से चित्त प्रसन्न हो तथा हँसी आये उसे हास्य कहते हैं।[1] जहाँ किसी रचना के द्वारा हृदय में उत्साह उत्पन्न हो, वहाँ वीर रस होता है।[2] जहाँ किसी रचना के द्वारा हृदय करुणामय हो जाय, वहाँ करुण रस होता है।[3] इसी प्रकार से जहाँ किसी रचना के द्वारा क्रोध उत्पन्न हो, वहां रौद्र, जहाँ भय हो, वहाँ भयानक, जहाँ घृणा हो वहाँ बीभत्स तथा जहाँ विस्मय हो वहां अद्भुत रस होता है।[4] जहाँ वैराग्य भावना के कारण शुभ अशुभ समान मालूम हो, वहाँ निर्वेद की वृद्धि के फलस्वरूप शान्त रस होता है।[5]

दास जी ने व्यभिचारी या संचारी भावों का उल्लेख करते हुए बताया है कि वे निर्वेद ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता मोह, स्मृति, धृति व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, विषाद, उत्कण्ठा, निद्रा अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, गर्व, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क होते हैं।

अलंकार निरूपण :-

आचार्य भिखारीदास द्वारा अपने 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत अलंकार निरूपण में यह नवीनता है कि उन्होंने सबसे पहले अलंकारों का वर्गीकरण विविध वर्गों के अनुसार कर लिया है। उन्होंने उपमादि वर्ग के अन्तर्गत १. उपमा, २. अनन्वय, ३. उपमेयोपमा, ४. प्रतीप, ५. दृष्टान्त, ६. अर्थान्तरन्यास, ७. विकस्वर, ८. निदर्शना, ९.

१ हँसी भरयो चित हुँसि उठै जो रचना सुनि दास।
कवि पंडित ताको कहै यह पूरन रस हास ॥ (काव्य निर्णय, पृ० ३१)

२ जो उत्साहित चित्त में देत बढ़ाइ उछाह।
सो कविताई को कहैं वीर रस कविराइ ॥ (वहीं, पृ० ३१)

३ सोक चित्र जाके सुनत करुनामय ह्वै जाइ।
ता कविताई को कहै करुना रस कविराइ ॥ (वहीं, पृ० ३१)

४ है रिस बाढ़े रुद्र रस, भयहि भयानक लेखि।
घिन ते है बीभत्स रस, अद्भुत विस्मय वेखि।

५ मन विराग सम शुभ अशुभ सो निर्वेद कहन्त।
ताहि बढ़े ते होत है शान्त हिये रस सन्त ॥ (वहीं, पृ० ४१)

तुल्योगिता तथा १०. प्रतिवस्तूपमा नामक अलंकारों को रखा है।[1] फिर उत्प्रेक्षादि वर्ग के अन्तर्गत १. उत्प्रेक्षा, २. अपह्नुति, ३. स्मरण, ४. भ्रम, तथा ५. सन्देह अलंकारों को रखा है।[2] व्यतिरेक रूपक वर्ग के अन्तर्गत व्यतिरेक तथा रूपक के अधिक, हानि, सम, तद्रूप आदि रूपों का उल्लेख किया है। रूपक के उन्होंने निरंग, परम्परित, परिनाम तथा समस्त विषयक भेद प्रस्तुत किये हैं।[3] अतिशयोक्ति आदि वर्ग के अन्तर्गत १. अतिशयोक्ति, २. उदात्त, ३. अधिक, ४. अल्प तथा ५. विशेष अलंकारों की गणना की है।[4] अन्योक्ति आदि वर्ग के अन्तर्गत १. अप्रस्तुत प्रशंसा, २. प्रस्तुतांकुर, ३, समासोक्ति, ४. व्याजस्तुति, ५. आक्षेप तथा ६. पर्यायोक्ति अलंकारों को रखा है।[5] विरुद्ध आदि वर्ग में १. विरुद्ध, २. विभावना, ३. व्याघात, ४. विशेषोक्ति, ५. असंगति तथा ६. विषम आदि अलंकारों का उल्लेख किया है।[6] उल्लास आदि वर्ग के अन्तर्गत १. उल्लास, २. अवज्ञा, ३,

१ उपमा पूरन अर्थ लुप्त उपमान अनन्वय।
उपमेयोपम अरु प्रतीत श्रौती उपमावय॥
पुनि दृष्टान्त बखानि जानि अर्थान्तरन्यासहि।
बिकस्वरो निदरसनातुल्य जोग्यता प्रकासहि॥
गनि लेहु सु प्रतिवस्तूपमा, अलंकार बारह विदित।
उपमान और उपमेय को है विकारसमुझौ सुचि॥ (काव्यनिर्णय, पृ० ७०)

२ उत्प्रेक्षारु अपह्नुत्यो सुमिरन भ्रम सन्देहु।
इनके भेद अनेक हैं ये पाँचों गनि लेहु॥ (वही, पृ० ८७)

३ रूपक होत निरंग पुनि परंपरित परिनाम।
अरु समस्त विषयक कहैं विविध भाँति अभिराम। (वही, पृ० १०१)

४ अतिशयोक्ति बहु भाँति की, अरु उदात्त तहँ ल्याइ।
अधिक अल्प सविशेषनौ पंच भेद ठहराइ। (वही, पृ० १०७)

५ अप्रस्तुत परसंस अरु प्रस्तुत अंकुर लेखि।
समासोक्ति व्याज स्तुत्यो आक्षेपहि अवरेखि॥
परजायोक्ति समेत किय षट भूषन इक ठौर।
जानि सकल अन्योक्ति में सुनहु सुकवि सिरमौर॥ (वही, पृ० ११८)

६ विविध विरुद्ध विभावना, व्याघातहि उर आनि।
विशेषोक्तिरु असंगत्यौ विषम समेत ६ जानि॥ (वही, पृ० १२७)

अनुज्ञा, ४. लेश, ५. विचित्र, ६. तद्गुण, ७. स्वगुण, ८. अतद्गुण ९. पूर्व रूप, १०. अनुगुण, मीलित, १२. उन्मीलित, १३. सामान्य तथा १४. विशेष आदि अलंकारों की चर्चा की है।[1] सम आदि वर्ग में १. सम, २. समाधि, ३. परिवृत्ति, ४. भाविक, ५. प्रहर्षण, ६. विषादना, ७. सम्भावना, ९. समुच्चय १०. अन्योन्य, ११. विकल्प, १२. सहोक्ति, १३. विनोक्ति, १४. प्रतिषेध, १५. विधि तथा १६. काव्यार्थापत्ति आदि अलंकारों की गणना की है।[2] सूक्ष्म आदि वर्ग के अन्तर्गत १. सूक्ष्म, २. पिहित, ३. युक्ति, ४. गूढोत्तर, ५. गूढोक्ति, ६. मिथ्या ध्यवसित, ७. ललित, ८. विवृतोक्ति, ९. व्याजोक्ति, १०. परिकर तथा ११. परिकरांकुर आदि अलंकारों का उल्लेख किया है।[3] स्वभावोक्ति आदि वर्ग के अन्तर्गत, १. स्वभावोक्ति, २. हेतु, ३. प्रमाण ४. काव्यलिंग, ५. निरुक्ति ६. लोकोक्ति ७. छेकोक्ति, ८. प्रत्यनीक, ९. परिसंख्या तथा १०. प्रश्नोत्तर आदि अलंकारों की चर्चा की है।[4] यथासंख्य तथा दीपक आदि वर्ग के अन्तर्गत १. यथासंख्य, २. एकावली ३.

१ विविध भाँति उल्लास अवग्या अनुज्ञा गनि।
बहुरयो लेस विचित्र तद्गुनो सगुन अस मनि।
और अतद्गुनु पूर्व रूप अनुगुन अवरेखहि।
मिलित और सामान्य जानि उन्मिलित विशेषहि।
ए होत चतुर्दश भाँति के अलंकार सुनियें सुमति।
सब गुन दोषादि प्रकार गनि, किये एक ही ठौर थिति। (काव्यनिर्णय, १३२)

२ सम समाधि परिवृत्त गनि, भाविक हरष विषाद।
असम्भवो सम्भावना समुच्चयो अविवाद।
अन्योन्यरु विकल्प पुनि सह विनोक्ति प्रतिषेध।
विधि काव्यार्थापत्ति जुतसौं रह कहत सुमेध। (वही, पृ० १४९)

३ सूछम पिहिती युक्ति गनि गूढोत्तर गूढोक्ति।
मिथ्याध्यवसित ललित अरु विवृतोक्ति व्याजोक्ति।
परिकर परिकर अंकुरो इग्यारह अवरेखि। (वही, पृ० १६३)

४ स्वभावोक्ति हेतुहि सहित जे बहुभाँति प्रमान।
काव्य लिंग निरउक्ति गनि अरु लोकोक्ति सुजान।
पुनि छेकोक्ति विचारि कै प्रत्यनीक सम तूल।
परिसंख्याप्रश्नोत्तरो बस वाचक पद मूल। (वही पृ० १७६)

कारणमाला, ४. उत्तरोत्तर, ५. रसनोपमा, ६. रत्नावली, ७. पर्याय तथा ८. दीपक आदि अलंकारों को रखा है।[1] इनके अतिरिक्त उन्होंने उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय, अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास तथा लटानुप्रास, वीप्सा, यमक तथा सिंहावलोकन आदि अलंकारों का भी उल्लेख किया है। फिर शब्दालंकार वर्ग के अन्तर्गत १. श्लेष, २. विरोधाभास, ३. मुद्रा, ४. वक्रोक्ति तथा ५. पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकारों की चर्चा की है।[2]

दूलह कवि

दूलह कवि का रचना काल सम्वत् १८०० से लेकर सम्वत् १८२५ तक माना जाता है। इनके पिता का नाम उदयनाथ कवीन्द्र था। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ 'कवि-कुल कण्ठाभरण' है। इस ग्रन्थ में इन्होंने अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ उन्होंने 'कुवलयानन्द' तथा "चन्द्रालोक" के आधार पर लिखा गया है और इसका उल्लेख भी विविध स्थलों पर किया गया है।[3] इस ग्रन्थ में लेखक ने एक सौ सत्रह अलंकारों का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ रीति कालीन अलंकार ग्रन्थों की परम्परा में उल्लेखनीय स्थान रखता है।

अन्य आचार्य

दूलह कवि के साथ ही जिन अन्य आचार्यों का उल्लेख आवश्यक है, उनमें 'रस कल्लोल,' 'रस तरंगिणी' तथा 'अलंकार दीपक' के रचयिता शम्भुनाथ मिश्र (सम्वत्

१ यथा संख्य एकावली कारन माला ठाय।
उत्तरोत्तर रसनोपमा रत्नावलि पर्याय।
ए सातौ क्रम भेद हैं दीपक एकै पाँच।
आदि आवृतौ देहुली कारन माला जाँच। (काव्यनिर्णय, पृ० १८२)

२ स्लेष विरोधाभास है सब्दालंकृत दास।
मुद्रा अरु वक्रोक्ति पुनि मरुक्तवदाभास॥ (वही, पृ० २०५)

३ कुवलयानन्द चन्द्रालोक मते कहीं,
लुप्ता ये आठों, आठों प्रहर प्रमानिये।

१८०६) 'नायिका भेद' के लेखक हित रामकृष्ण, 'नायिका भेद' के लेखक लाला गिरधारी लाल, 'शृंगार सागर' (सम्वत् १८११) के लेखक चन्द्रदास, 'रूपविलास' (सम्वत् १८१३) के लेखक रूपसाहि आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ विशेष महत्व का है, जिसमें लेखक ने काव्य का लक्षण, काव्य का उद्देश्य, काव्य के करण छन्द, निरूपण, नायक नायिका भेद, रस निरूपण, अर्थालंकार, नायिका नायक भेद, शब्दालंकार तथा चित्रालंकार निरूपण तथा षट् ऋतु वर्णन प्रस्तुत किया है।

बैरीलाल

यह असनी के निवासी थे। इनकी कृति "भाषाभरण" रीति कालीन शास्त्रीय ग्रंथों में अलंकार निरूपण प्रस्तुत करने वाली उल्लेखनीय कृति है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८२५ वि० में रचा गया था[1] इस ग्रंथ की रचना "कुवलयानन्द" के आधार पर की गयी है। इस ग्रन्थ के ४७५ छन्दों में रचयिता ने विविध अलंकारों के उदाहरण सहित लक्षण उपस्थित किये हैं। यद्यपि कहीं-कहीं कभी इसमें अस्पष्ट अथवा अशुद्ध उदाहरण भी दिये गये हैं, फिर भी लक्षण ग्रन्थों की परम्परा में इस कृति का अपना स्थान है।

समनेस

आचार्य समनेस की कृति "रसिक विलास" की रचना सम्वत् १८२७ वि० में हुई थी।[2] इस ग्रन्थ में रचयिता ने शृंगार, वीर, रौद्र, वीभत्स, करुण तथा शान्त आदि रसों की व्याख्या करते हुए नायक नायिका भेद, दूती कर्म, भाव, अनुभाव, सात्विक भाव, तथा वियोग दशाओं का वर्णन किया है। इस युग में रस निरूपण प्रस्तुत करने वाली कृतियों में इसका उल्लेखनीय स्थान है।

१ सार कर बसु विधु वर्ष में निर्मल मधु को पाइ।
त्रिदशि और बुध मिलि कियो भाषाभरण सुभाइ ॥ (भाषाभरण, ८)

२ संवत रिषि जुग बसु ससी, कुज पून्य नभ मास।
सम्पूरन समनेस कृत, वनियो रसिक विलास। (रसिक विलास)

शिवनाथ

आचार्य शिवनाथ जाति के ब्राह्मण थे। यह कुरसी, बाराबंकी के निवासी थे। इनके पिता का नाम झाऊलाल था। इन्होंने अपने ग्रन्थ "रस वृष्टि" की रचना पवावा हरदोई के राजा कुशलसिंह के लिए की थी। इस ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १८२८ वि० है। इस ग्रन्थ का विषय रसनिरूपण तथा नायिका भेद है। इसमें रस निरूपण तो अधिकांशतः परम्परागत शैली के ही अनुसार किया गया है परन्तु नायिका भेद में कुछ नवीनता अवश्य है।

रतन

रतन कवि का रचना काल सम्वत् १८३० के लगभग बताया जाता है। यह श्रीनगर, गढ़वाल के राजा फतेहसाहि के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता के लिए उन्हीं के नाम पर उन्होंने अपने ग्रन्थ 'फतेहभूषण' की रचना की। इसके अतिरिक्त इनकी एक और कृति का उल्लेख किया जाता है, जिसका शीर्षक "अलंकार दर्पण" है। इनमें से प्रथम में शब्द शक्तियों काव्य, भेदों, ध्वनि, रस काव्य दोषों आदि का विवेचन है तथा द्वितीय में अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

ऋषिनाथ

इनके पिता का नाम ठाकुर कवि तथा इनका निवास स्थान असनी था। हिन्दी रीति कालीन अलंकार निरूपण विषयक ग्रन्थों की परम्परा में इनके द्वारा रचित "अलंकारमणि मंजरी" का नाम उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८३१ वि० में रचा गया था। इसमें कोई नवीनता नहीं है तथा परम्परागत शैली के आधार पर ही अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

जनराज

जनराज जाति के वैश्य थे। इनका वास्तविक नाम डेढ़राज था और उन्हें "जनराज" नाम गुरु द्वारा प्रदान किया गया था। जनराज द्वारा रचित "कवितारस

विनोद" नामक ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १९२३ वि० है। इस ग्रन्थ में लेखक ने छन्द वर्णन काव्य की कोटियों, काव्य, की परिभाषा, शब्द शक्ति निरूपण, ध्वनि निरूपण तथा गुणीभूत व्यंग्य निरूपण, अलंकार निरूपण, काव्य गुणों तथा काव्य दोषों का वर्णन, रस निरूपण, भाव, विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव वर्णन, नखशिख वर्णन तथा षट् ऋतु वर्णन प्रस्तुत किया है।

उजियारे

उजियारे कवि के पिता का नाम नवलशाह था। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे और इनका निवास स्थान वृन्दावन था। इनके लिखे हुए दो ग्रन्थों (१) जुगुल रस प्रकाश तथा (२) रस चन्द्रिका का उल्लेख मिलता है। इन दोनों का ही विषय रस निरूपण है। इनमें से प्रथम की रचना लेखक ने जुगुल किशोर दीवान के लिए तथा द्वितीय की दौलतराम के लिए की थी। इन ग्रन्थों में कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर शैली में भी विषय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में विवरण गत पर्याप्त एकरूपता विद्यमान है। निरूपण का आधार भरत मुनि कृत नाट्य शास्त्र है, जिसका उल्लेख भी कर दिया गया है।

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य उल्लेखनीय आचार्यों में "अलंकार दर्पण" (सम्वत् १८२६) के लेखक हरिनाथ, "नायिका भेद" (सम्वत् १८४०) के लेखक रंगखाँ, काव्याभरण" (सम्वत् १८४५) के लेखक चन्दन, "शृंगार चरित्र" (सम्वत् १८४१), "अवधूत भूषण" (सम्वत् १८५७) तथा "सरफराज चन्द्रिका" (सम्वत् १८४३) के लेखक देवकीनन्दन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यशवन्तसिंह

यशवन्तसिंह कृत "शृंगारशिरोमणि" नामक ग्रन्थ भी रीति काल में लिखी गयी शास्त्रीय कृतियों की परम्परा में उल्लेखनीय स्थान रखता है। इस ग्रन्थ का रचना

काल सम्बत् १८५६ माना जाता है। इसमें रस निरूपण के प्रसंग के अन्तर्गत स्थायी भाव, संचारी भाव, आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव, नायिका भेद, भाव वर्णन, नायक भेद, उद्दीपन वर्णन, अनुभाव वर्णन, सात्विक भाव वर्णन, संचारी भाव वर्णन, हाव वर्णन आदि विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस युग के अन्य ग्रन्थों की तुलना में इस ग्रन्थ का विषय वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है।

जगतसिंह

जगतसिंह गोंडा के निवासी थे। इनके पिता का नाम दिग्विजयसिंह था। जगतसिंह ने अपने ग्रन्थ "साहित्य सुधानिधि" की रचना सम्वत् १८५८ में की थी। अपने वंश परिचय तथा रचना काल का उल्लेख भी इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में किया है।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने जो विषय विवेचत किया है वह संस्कृत तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रसिद्ध कृतियों के आधार पर है, जिनकी स्वीकृति लेखक ने इस ग्रन्थ में की है।[2] इस ग्रन्थ की विविध तरंगों में रचयिता ने काव्य के भेदों का वर्णन, शब्दनिरूपण, वृत्ति वर्णन, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार वर्णन, काव्य गुण वर्णन, भाव वर्णन, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अनुभाव तथा सात्विक भावों का वर्णन, रीति निरूपण, काव्य दोष आदि विषयों का विवेचन किया है।

रामसिंह

महाराज रामसिंह नरवरगढ़ के नरेश थे। इनके पिता का नाम राजा छत्रसिंह था। इनके ग्रन्थों में (१) अलंकार दर्पण, (२) रस शिरोमणि, (३) रस निवास तथा

१ श्री सरजू के उत्तर गोंडा ग्राम। तिहिपुर बसत कविगनन आठों याम।
तिनमें एक अलप कवि अति मति मंद। जगतसिंह सो बरनत बरवै छन्द।
सम्वत् वसु शर शशि अति गुरुवार। शुक्ल पंचमी माधौं रच्यौं उदार।
(साहित्य सुधानिधि ८, ९)

२ जो प्राचीन काव्य मन किये उदार। ताते हैं न और कछु कियो विकार।

(४) रस विनोद आदि का उल्लेख किया जाता है। जैसा कि इन ग्रन्थों के शीर्षकों से स्पष्ट है इनके विषय अलंकार तथा रस निरूपण हैं। इनमें श्रृंगार रस के अन्तर्गत ही नायिका भेद भी प्रस्तुत किया गया है। इनमें से "रस शिरोमणि"[1] की रचना सम्वत् १८३० में तथा "रस निवास"[2] की रचना सम्वत् १८३९ में की गयी थी। इनका उल्लेख भी इन कृतियों में मिलता है।

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य आचार्यों में "नरेन्द्र भूषण" (सम्वत् १८४५) तथा "दलेल प्रकाश" (संवत् १८४८) के रचयिता मान कवि, "टिकातराय प्रकाश" (संवत १८३९) तथा "रस विलास" नामक ग्रन्थों के रचयिता बेनी बन्दीजन, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही सेवादास का उल्लेख भी आवश्यक है। उनका रचना रचनाकाल सम्वत् १८४० से लेकर १८४५ के लगभग माना जाता है। इनके रचे हुए ग्रन्थों में (१) गीता महात्म, (२) अलबेलेलालजू की छप्पय, (४) राधाकृष्ण विहार, (५) रघुनाथ अलंकार तथा (६) रस दर्पण आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ इन्होंने अपने गुरु अलबेलेलाल के लिये लिखी थीं। शेष में से दो विशेष महत्व की हैं, जो "रघुनाथ अलंकार" तथा "रस दर्पण" हैं। रघुनाथ अलंकार" की रचना सेवादास ने सम्वत् (१८४० में की थी। इस ग्रन्थ का विषय अलंकार निरूपण है। इसकी रचना लेखक ने

भरत भोज अरु मम्मट श्री जयदेव। विश्वनाथ गोविन्दभट दीक्षित भेव।
भानुदत्त आदिक को करि अनुमान। दियौ प्रगट करि भाषा कवित विधान।
(साहित्य सुधानिधि)

१ माघ सुदि तिथि पूरना पग मुंड अति गुरुवार।
गिनि अठारह सै बरस पुनि तीस संमत सार॥ (रस शिरोमणि, ३३२)

२ नरवरपति रविकुल तिलक छत्रसिंह गुन धाम।
रामसिंह तिहि सुत रचित, रस निवास अभिराम॥
बरस अठारा सै अधिक, उंचालीस बखानि।
आसुनि सुदि दशमी, सम्वत् सरि पहिचानि।

"कुवलयानन्द तथा "चन्द्रालोक" के आधार पर की थी, जिनका इसमें उल्लेख भी है।[1] "रस दर्पण" की रचना सम्वत् १८४० में हुई थी।[2] इस ग्रन्थ में नायिका भेद के साथ श्रृंगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शान्त रसों का वर्णन किया गया है।

गोकुल नाथ

यह काशी के निवासी थे। इनके पिता का नाम रघुनाथ कवि था। इनका रचना काल सम्वत् १८४० से लेकर १८७० तक माना जाता है। इनके ग्रन्थों में (१) चेत चन्द्रिका, (२) महाभारत, (३) राधा नखशिख, (४) सीताराम, (५) गुणरादि तथा (६) कविमुख मंडन आदि का उल्लेख किया जाता है। इनमें से प्रथम की रचना महाराज चेतसिंह के आदेशानुसार की गयी थी। इसका विषय अलंकार निरूपण है।

पद्माकर

पद्माकर जाति के तैलंग ब्राह्मण थे। यह बांदा के निवासी थे। इनके [illegible] का नाम मोहनलाल भट्ट था। पद्माकर का जन्म काल सम्वत् १८१० तथा मृत्यु काल सम्वत् १९८० था। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ जयपुर के महाराज जगतसिंह के नाम पर 'जगद्विनोद' शीर्षक से रचित हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'पद्माभरण' है। इनमें से 'जगद्विनोद' का रचना काल सम्वत् १८५७ के लगभग बताया जाता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने नायिका नायक भेद, हाव, सात्विक भाव, संचारी भाव तथा विविध रसों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'पद्माभरण' अलंकार शास्त्र पर लिखा गया है।

१ कुवलयानन्द चन्द्रालोक में अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि कैं अलंकार कहि राम॥ (रघुनाथ अलंकार, १९४)

२ फागुन बदि तिथि सप्तमी वार शुक्र शुभ जान।
अष्टादस सं संबत ऊपर चालिस आन॥ (रस दर्पण, ८)

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य आचार्यों में 'बरवै नायिका भेद' के रचयिता यशोदानन्दन 'विद्वद्विलास' (सम्वत् १८६०) तथा 'दीपक प्रकाश' (सम्वत १८६५) के रचयिता ब्रह्मदत्त, 'साहित्य रस' तथा रस कल्लोल' (लगभग सम्वत् १८८५) के रचयिता करन कवि, 'वाग मनोहर' (सम्वत् १८६०) के रचयिता गुरुदीन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों के आधार पर साहित्य शास्त्र के विविध विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

शिवप्रसाद

यह दतिया के निवासी थे। इनके लिखे हुए 'रस भूषण' नामक ग्रन्थ का नाम रीति शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १८६९ में हुई थी।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने मूलतः विभिन्न रसों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें शृंगार रस का संक्षिप्त तथा शेष रसों का विस्तार से विवेचन है, यद्यपि इस युग के अन्य सभी आचार्यों ने शृंगार रस का विस्तृत तथा अन्य रसों का संक्षिप्त में विवेचन किया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायक नायिका भेद, दर्शन, सखी, संयोग, वियोग पक्षों आदि की लेखक ने व्याख्या प्रस्तुत की है। बीच बीच में कुछ अलंकारों का भी वर्णन इस कृति में मिलता है।

बेनी प्रवीन

यह जाति के ब्राह्मण थे तथा लखनऊ के निवासी थे। लखनऊ के बादशाह के दीवान के पुत्र नवलकृष्ण कायस्थ (लल्लन जी) के आदेशानुसार इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ

१ संबत् एक हजार अरु आठ सैकरा जान।
साल उन्नहत्तर की जहां पौष मास पहिचान ॥

'नवरसतरंग' की रचना की थी, जिसका रचना काल सम्वत् १८७४ है।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने नव रस, स्थायी भाव तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया है। यह वर्णन बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत लेखक ने स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, नायिका के ज्ञात यौवना, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना के नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा मुग्धा तथा प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा तथा धीरा धीरा, प्रौढ़ा के रतिप्रीता और आनन्द सम्मोहा ज्येष्ठा, तथा कनिष्ठा, परकीया के ऊढ़ा, अनूढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा मुदिता, सुरतिदुःखिता, गर्विता, मानवती, प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासक सज्जा, उत्तमा मध्यमा, तथा अधमा आदि भेदाभेद प्रस्तुत किये हैं। नायक वर्णन भी इसी प्रसंग में प्रस्तुत किया गया है।

रणधीर सिंह

यह सिहरामऊ, जौनपुर के निवासी थे। इनका जन्म काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार सम्वत् १८७७ तथा प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अनुसार सम्वत् १८९४ था। इनके ग्रन्थों में (१) काव्य रत्नाकर, (२) भूषण कौमुदी, (३) पिंगल, (४) नामार्णव तथा (५) रस रत्नाकर हैं। इनमें से 'काव्य रत्नाकर' ही मुख्यतः प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १८९७ है। यह अधिक मौलिकता से युक्त नहीं है और रचयिता ने इसके आधार ग्रन्थों का उल्लेख भी इसमें कर दिया है।[2] इस ग्रन्थ में लेखक ने जिन

कृष्ण पक्ष तिथि तीजि जहं चन्द्रवार शुभ लेख।
बाँदा में दुपहर समें कीन्हों ग्रन्थ विशेष ।। (रस भूषण)

१ समय देखि दिय दीपयुत सिद्ध चन्द्र बल पाइ।
माघ मास श्री पंचमी श्री गोपाल सहाय।
नवरस में ब्रजराज नित कहत सुकवि प्रचीन।
सो नवरस सुनि रीझि हैं नवल कुसल परवीन ।। (नवरसतरंग)

२ लखि मति चन्द्रलोक अरु काव्य प्रकाश सुदीप्त।
औरौ भाषाग्रन्थ बहुत ताकी संगत गीत।
काव्य रीति जितनी प्रगट था निकरी इक ठौर।
इतनोई पढ़ि बूझि है सकल काव्य को तौर। (काव्य रत्नाकर)

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य आचार्यों में 'बरवै नायिका भेद' के रचयिता यशोदानन्दन 'विद्वद्विलास' (सम्वत् १८६०) तथा 'दीपक प्रकाश' (सम्वत १८६५) के रचयिता ब्रह्मदत्त, 'साहित्य रस' तथा रस कल्लोल' (लगभग सम्वत् १८८५) के रचयिता करन कवि, 'बाग मनोहर' (सम्वत् १८६०) के रचयिता गुरुदीन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों के आधार पर साहित्य शास्त्र के विविध विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

शिवप्रसाद

यह दतिया के निवासी थे। इनके लिखे हुए 'रस भूषण' नामक ग्रन्थ का नाम रीति शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १८६६ में हुई थी।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने मूलतः विभिन्न रसों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें श्रृंगार रस का संक्षिप्त तथा शेष रसों का विस्तार से विवेचन है, यद्यपि इस युग के अन्य सभी आचार्यों ने श्रृंगार रस का विस्तृत तथा अन्य रसों का संक्षिप्त में विवेचन किया है। श्रृंगार रस के अन्तर्गत नायक नायिका भेद, दर्शन, सखी, संयोग, वियोग पक्षों आदि की लेखक ने व्याख्या प्रस्तुत की है। बीच बीच में कुछ अलंकारों का भी वर्णन इस कृति में मिलता है।

बेनी प्रवीन

यह जाति के ब्राह्मण थे तथा लखनऊ के निवासी थे। लखनऊ के बादशाह के दीवान के पुत्र नवलकृष्ण कायस्थ (लल्लन जी) के आदेशानुसार इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ

१ संवत् एक हजार अरु आठ सैकरा जान।
साल उन्नहत्तर की जहां पौष मास पहिचान॥

'नवरसतरंग' की रचना की थी, जिसका रचना काल सम्वत् १८७४ है।[1] इस ग्रन्थ में लेखक ने नव रस, स्थायी भाव तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया है। यह वर्णन बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत लेखक ने स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, नायिका के ज्ञात यौवना, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना के नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा मुग्धा तथा प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा तथा धीरा धीरा, प्रौढ़ा के रतिप्रीता और आनन्द सम्मोहा ज्येष्ठा, तथा कनिष्ठा, परकीया के ऊढ़ा, अनूढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा मुदिता, सुरतिदुखिता, गर्विता, मानवती, प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासक सज्जा, उत्तमा मध्यमा, तथा अधमा आदि भेदापभेद प्रस्तुत किये हैं। नायक वर्णन भी इसी प्रसंग में प्रस्तुत किया गया है।

रणधीर सिंह

यह सिंहरामऊ, जौनपुर के निवासी थे। इनका जन्म काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार सम्वत् १८७७ तथा प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अनुसार सम्वत् १८९४ था। इनके ग्रन्थों में (१) काव्य रत्नाकर, (२) भूषण कौमुदी, (३) पिंगल, (४) नामार्णव तथा (५) रस रत्नाकर हैं। इनमें से 'काव्य रत्नाकर' ही मुख्यतः प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का रचना काल सम्वत् १८९७ है। यह अधिक मौलिकता से युक्त नहीं है और रचयिता ने इसके आधार ग्रन्थों का उल्लेख भी इसमें कर दिया है।[2] इस ग्रन्थ में लेखक ने विविध

कृष्ण पक्ष तिथि तीजि जहं चन्द्रवार शुभ लेख।
बाँदा में दुपहर समें कीन्हों ग्रन्थ विसेष ॥ (रस भूषण)

१ समय देखि सिग सीयपुत सिद्ध चन्द्र बल पाइ।
माघ मास श्री पंचमी श्री गोपाल सहाय॥
नवरस में ब्रजराज नित कहत सुकवि प्रवीन।
सो नवरस सुनि रीझि हैं नवल कुसल परवीन ॥ (नवरसतरंग)

२ लखि मति चन्द्रलोक अरु काव्य प्रकाश सुदीप्त।
औरो भाषाग्रन्थ बहुत ताकी संगत गीत।
काव्य रीति जितनी प्रगट या निकरी इक ठौर।
इतनोई पढ़ि बूझि है सकल काव्य को तौर। (काव्य रत्नाकर)

साहित्य शास्त्रीय विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया है, उनमे काव्य का प्रयोजन, काव्य की कोटियाँ, शब्द शक्तियाँ, ध्वनि निरूपण, नवरस, भाव, सात्विक भाव, स्थायी भाव, अनुभाव, नायिका भेद, अलंकार निरूपण, काव्य के गुण तथा दोष आदि हैं।

नारायण

यह गोकुल के निवासी थे। उन्होंने दतिया के राजा भवानी सिंह के आदेशानुसार 'नाट्य दीपिका' नामक कृति की रचना की थी। इस ग्रन्थ का विषय नाट्य विवेचन है। इसका आधार सार्ङ्गधर तथा भरत की कृतियाँ हैं जिनका इस ग्रन्थ में उल्लेख भी है।[1] इस ग्रन्थ में नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया गया है। यह पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप में लिखी गयी है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का महत्व यह भी है कि हिन्दी गद्य में नाट्य कला विषयक यह सर्वप्रथम रचना है।

रसिक गोविन्द

यह वृन्दावन के निवासी थे। इनका रचना काल सम्वत् १८५० से लेकर सम्वत् १८९० तक माना जाता है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ में 'रसिक गोविन्दान नन्दघन', सर्वप्रमुख है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८५८ में रचा गया था। इस ग्रन्थ में लेखक ने अलंकार निरूपण, काव्य के गुण, काव्य के दोष, रस तथा नायक नायिका भेद का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया है।

प्रतापसाहि

परिचय तथा कृतियाँ :—

प्रतापसाहि का रचना काल सम्वत् १८८० से लेकर १९०० तक माना जाता है। यह बुन्देलखंड के रहने वाले रतनसेन बन्दीजन के सुपुत्र थे। ये चरखारी के महा-

१　सार्ङ्गधर अरु भरत ने, करें जु ग्रन्थ अपार।
सार-सार संग्रह करैं, निज मति के अनुसार। (नाट्य दीपिका)

राज विक्रम साहि तथा महाराज छत्रसाल पुरन्दर के आश्रय में रहे थे। इनके विविध मौलिक ग्रन्थों में (१) जयसिंह प्रकाश, (२) काव्य विलास, (३) शृंगार मंजरी, (४) व्यंग्यार्थ कौमुदी, (५) शृंगार शिरोमणि, (६) अलंकार चिन्तामणि, (७) काव्य विनोद तथा (८) जुगुल नखशिख आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें से 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', की रचना लेखक ने सम्वत् १८८२ में की थी।[१] इस ग्रन्थ में लेखक ने शब्द शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का स्वरूप विश्लेषण करते हुए अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उनकी दूसरी उपलब्ध कृति 'काव्य विलास' की रचना सम्वत् १८८६ में हुई थी।[२] इस ग्रन्थ में लेखक ने काव्य के लक्षण काव्य का प्रयोजन, काव्य के कारण तथा काव्य के भेद बताते हुए शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा गुण दोष निरूपण आदि प्रस्तुत किये हैं। प्रतापसाहि के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के आधार पर ही उनके सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर उपस्थित किया जा रहा है।

काव्य निरूपण :—

प्रतापसाहि ने काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि व्यंग्यार्थ काव्य का जीव होता है, शब्दार्थ उसका शरीर तथा अलंकार उसके आभूषण।[३] फिर काव्य के भेद प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य के तीन भेद होते हैं (१) उत्तम काव्य, (२) मध्यम काव्य तथा (३) अधम काव्य।[४] इनमें से उत्तम काव्य

१ सम्वत् ससि वसु वसु द है रवि असाढ़ को मास।
किय व्यंग्यारथ कौमुदी सुकवि प्रताप प्रकास॥ (व्यंगार्थ कौमुदी, पृ० १२९)

२ काव्य प्रकाश प्रदीप लखि सब साहित को देखि।
सुकवि प्रताप विचारि चित कह्यो सुमति अवरेखि॥
संवत शशि वसु वसु बहुरि ऊपर षट पहिचानि।
सावन मास त्रयोदशी सोमवार उर आनि॥ (काव्य विलास पृ० १४४, ४५)

३ व्यंग्य जीव कहि कवित को हृदय सु धुनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि पुनि भूषण भूषण जानि॥ (काव्य विलास, १, १९)

४ सो कवित गनि तीन विधि उत्तम मध्यम नाम।
अवर सु अधम बखानिये बरनत कवि परनाम॥ (वही, १, २०)

वहाँ होता है जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कृत हो।[1] मध्यम काव्य वहाँ होता है, जहाँ इन दोनों अर्थों का चमत्कार समान हो।[2] अधम अथवा चित्र काव्य वहाँ होता है, जहाँ केवल शब्दार्थ का चमत्कार हो तथा व्यंग्यार्थ का अभाव हो।[3] इसके दो भेदों (१) शब्द चित्र तथा (२) अर्थ चित्र का उन्होंने उल्लेख किया है।[4] प्रताप-साहि ने अपने "काव्य विलास" नामक ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं पर विचार करते हुए बताया है कि काव्य के तीन हेतु हैं (१) संस्कृत, (२) वृत्ति तथा (३) अभ्यास।[5] इसी प्रकार से काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्राप्ति के अतिरिक्त आनन्द की भी प्राप्ति होती है।[6]

शब्द शक्ति निरूपण :—

प्रतापसाहि ने अपने "काव्य विलास" नामक ग्रन्थ के द्वितीय विलास में शब्द शक्ति निरूपण प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम उन्होंने शब्द तथा अर्थ की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो कान से सुना जाय वह शब्द है, तथा जो चित्त में समझा जाय वह अर्थ। श्रव्यशब्द ध्वन्यात्मक तथा लिपिबद्ध शब्द वर्णात्मक कहे जाते हैं।[7]

१ वाच्यार्थ तें जहू बनत सुन्दर व्यंग्य प्रधान।
अर्थ चमत्कृत पद ललित उत्तम काव्य सुजान ॥ (काव्यविलास, १, २१)

२ वरणत काव्य प्रसंग ते व्यंग न अति से होइ।
व्यंग्य वाच्य सम लखि परै मध्यम कहिये सोइ ॥ (वही, १, २३)

३ जहाँ व्यंग्य नहिं वर्णिये शब्द अर्थ बलवान।
शब्द चित्र यक अर्थ चित्र अधम काव्य सो जान। (वही, १,२४)

४ छकी शब्द सौं व्यंग्य जो शब्द चित्र सो जानि।
समुझि परै नहिं अर्थ सौं अर्थ चित्र पहिचानि ॥ (वही, १, २५)

५ प्रथम संस्कृत वृत्ति पुनि तीजो कहि अभ्यास।
कारण तीनि सुकाव्य के वरनत सुकवि विलास ॥ (वही, १, १२)

६ चारि वर्ग जासु तें आवत करतल साध्य।
सुनत सुखद समुझत सुखद बरनत सुखद समृद्धि। (वही, १, ९)

७ श्रवण सुने ते शब्द है समुझे चित्त सु अर्थ।
वर्णात्मक धुन्यात्मक है विधि कहत समर्थ ॥ (वही, २, १)

प्रतापसाहि ने अर्थ बोध कराने वाली वृत्ति अथवा शब्दशक्तियों के तीन प्रकार बताये हैं (१) शक्ति (अथवा अभिधा), (२) लक्षणा तथा (३) व्यंजना।[१] इनमें लक्षणा के उन्होंने पहले रूढ़ा तथा प्रयोजनवती, फिर उपादान लक्षणा तथा लक्षणा, फिर सारोपा तथा साध्यवसाना तथा फिर गौड़ी और शुद्धा, तथा गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या और धर्मि तथा धर्म गत, पुनः पदगत और वाक्यगत आदि भेद बताये हैं। इसी प्रकार से व्यंजना के भी उन्होंने शाब्दी तथा आर्थी नामक भेद करते हुए पुनः लक्षणामूला और अभिधा मूला आदि भेद बताये हैं।

रस निरूपण :—

रस निरूपण करते समय आचार्य प्रतापसाहि ने विभाव[२], अनुभाव[३], संचारी भाव[४] तथा स्थायी भावों[५] आदि का भी स्वरूप विश्लेषण प्रस्तुत किया है। फिर रसों में सर्वप्रथम शृंगार रस का विवेचन करते हुए बताया है कि इसका स्थायी भाव रति है तथा आलम्बन विभाव दम्पति हैं। इसके उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) संयोग शृंगार तथा (२) वियोग शृंगार।[६] इनमें से वियोग शृंगार के उन्होंने पाँच भेद बताये हैं, जो

१ जहाँ शब्द में रचित है निज अर्थहि को बोध।
शक्ति लक्षणा व्यजना वृत्य तीन विधि सोध ॥ (काव्यविलास, २, १)

२ जिनते प्रगटत जगत में रति आदिक थिर भाव।
पावत हैं सुकवित में तेई नाम विभाव। (वही, ३, २९)

३ जे प्रतीति रस की करत ते अनुभाव प्रमाण।
भुज उत्क्षेप कटाछ बच आलिंगन ये जान ॥ (वही, ३, २६)

४ सकल रसन में संचरे ते संचारी भाव।
पुष्ट करत रस को सदा कहत सुकवि मन भाव ॥ (वही, ३, २७)

५ ह्वै कन्ध ते उठत जहं आनन्द अंकुर जोय।
गनि विरुद्ध अविरुद्ध ते थायं कहियत सोय ॥ (वही, ३, २८)

६ रति प्रगटे दम्पति मिले सो कहि रस शृंगार।
कहि संयोग वियोग द्वै तासु भेद निरधार ॥ (वही, ३, ४९)

इस प्रकार हैं (१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास, (४) उत्कण्ठा तथा (५) शाप।[1] शेष रसों का विवेचन इसमें नहीं है।

काव्य गुण निरूपण :—

आचार्य प्रतापसाहि ने अपने ग्रन्थ "काव्य विलास" के पाँचवें प्रकाश में काव्य गुणों का निरूपण किया है। इनके इन सिद्धान्तों का आधार मम्मट तथा विश्वनाथ की धारणायें हैं। उन्होंने काव्य के गुण के विषय में लिखा है कि गुण की स्थिति रस में अचल रूप से रहती है तथा वह उसके उत्कर्ष कर्ता होते हैं। उन्होंने तीन गुण बताये हैं जिनमें दसों गुण समाविष्ट हैं (१) माधुर्य, (२) ओज तथा (३) प्रसाद।[2] इनमें से माधुर्य गुण चित्त को द्रवित करने तथा आनन्द की वृद्धि करने वाला होता है। यह शृंगार, करुणा और शान्त रसों में स्थित रहता है। टवर्ग के अतिरिक्त अंत्याक्षर वर्ण इसके व्यंजक वर्ण होते हैं (जैसे) इसमें लघु समास होते हैं।[3] ओज, गुण, वीर, रौद्र तथा

१ द्वै विधि कहत संयोग पुनि पाँच प्रकार वियोग ।
पृथक् पृथक् इन सबन के भेद कहत कवि लोग ।
पूर्व राग पुनि मान कहि बहुरि प्रवास बखानि ।
उत्कण्ठा पुनि श्राप कहि पाँच भाँति पहिचानि ।। (वही, ३, ५८, ५९)

२ ज्यों शरीर के धर्म में सौर्य अधिक पहिचान ।
त्यों रस में उत्कर्ष गुण अचल स्थित जिय जान ।
शब्द अर्थ में गनत है गुन इमि सरल विसेखि ।
शब्द अर्थ भूषण मिले न्यारे चल थिर लेखि ।
प्रथम गनत माधुर्य गुण ओज प्रसाद बखानि ।
अश्लेषादिक दश गुने इनके अन्तर जानि ।। (काव्य विलास, ५, १, २, ३)

३ द्रवत चित जाके सुनत आनन्द बढ़त अथाह ।
रस सिंगार माधुर्य गुण करुण शान्त रस माह ।
उत वर्गान्तहि रेफ युत ट वर्गादि नहि वर्ण ।
लघु समास पद वर्ण जहं गुण माधुर्य सुवर्ण ।। (वही, ५, ४, ५)

वीभत्स रसों में क्रमशः विकसित रूप में दीर्घ समास युक्त होकर स्थित रहता है।[१] इसी प्रकार से प्रसाद गुण अर्थ की अवगति इतनी शीघ्रता से कराने वाला होता है, जितनी शीघ्रता से जल स्वच्छ वस्त्र को ग्रहण करता है।[२]

काव्य दोष निरूपण :—

आचार्य प्रतापसाहि ने अपने ग्रन्थ "काव्य विलास" के छठे उल्लास में काव्य दोष निरूपण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य दोष उसे कहते हैं जो मुख्य अर्थ का बोध न होने दे।[३] उन्होंने इसके तीन प्रकार बताये हैं (१) शब्दगत, (२) अर्थगत तथा (३) रसगत।[४] इसके अतिरिक्त उन्होंने दोषों का एक अन्य भेद भी बताया है जिसे वाक्यगत दोष कहा है तथा जिसे पदगत दोष से अलग उल्लिखित किया है।[५]

नवीन

यह वृन्दावन के निवासी थे। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "रंगतरंग" की रचना इन्होंने नाभा नरेश के पुत्र मालवेन्द्र देव सिंह के लिए की थी। इस ग्रन्थ का रचना काल

१ महत तेज को प्रहत चित उद्धत बरन प्रसिद्धि।
तहां ओज गुण गनत है वीर रौद्र रस सिद्धि।
उद्धत वर्ण उदण्ड पद दीर्घ समास विचारि।
वीरहि ते पुनि रौद्र ते अरु वीभत्स निहारि॥
(काव्य विलास, ५, ११, १२)

२ साधारने सब आखर विमल वसन जिमि नीर।
जानि परहु तुरतहि अरथ गहि प्रताप गुन धीर॥ (वही, ८, १५)

३ अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होई।
ताको दूषण कहत हैं शब्द अर्थ रसं सोई॥ (वही, ६, १)

४ शब्द फिरे जो फिरत है, अर्थ फिरे फिर होइ।
शब्द अर्थ दूषण तहा, मानत सब कवि लोइ॥ (वही, ६, २)

५ पदगत अरु पुनि वाक्यगत शब्द दोष द्वै भाँति।
कहूं सुपद के अंश में नित्य अनित्य बिसाति॥ (वही, ६, ३)

सम्वत् १८९९ है। इस ग्रन्थ में रचयिता ने विविध रसों का निरूपण तथा नायिका भेद प्रस्तुत किया है। इसी के अन्तर्गत इसमें उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि का भी वर्णन मिलता है। यह ग्रन्थ रीति काल के शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में आने वाली अन्तिम रचना है।

रीति शास्त्रीय परम्परा : सिंहावलोकन

इस प्रकार से हिन्दी समीक्षा शास्त्र की इस रीति कालीन परम्परा का प्रसार सम्वत् १७०० वि० से लेकर संवत् १८९९ तक मिलता है। एक सहस्र वर्षों से अधिक के इस काल में संस्कृत साहित्य शास्त्र के आधार पर साहित्य के विविध अंगों और तत्वों का सर्वक्षेत्रीय निरूपण हुआ। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं, इस निरूपण की प्रतिपादन प्रवृत्तियाँ संस्कृत से ही प्रभावित नहीं, परन्तु इसके साथ ही साथ कहीं कहीं पर स्वतंत्र साहित्य चिन्तन के संकेत भी मिलते रहे। मूल संस्कृत की परम्परा भिन्न हिन्दी व्याख्याओं में भी इसका क्षीण आभास मिलता है। इसी प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रचलित विविध सम्प्रदायों के अनुकरण पर ही इन रीति साहित्य शास्त्रियों ने भी रस अथवा अलंकार आदि की ही प्रधानता स्वीकार करते हुए अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त एक दूसरे दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में काव्य शास्त्रीय चिन्तन की जो परम्परा मुनि भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्रस्तीर्ण मिलती है, वह भी हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र की परम्परा से कई रूपों में सम्बद्ध मिलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य शास्त्र की संस्कृत परम्परा हिन्दी रीति परम्परा के रूप में आगे भी अक्षुण्ण रही, क्योंकि दोनों के निर्माण का आधार प्रायः समान सिद्धांत और शैलियाँ ही रही हैं। इसीलिए संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा का अन्त होने के पूर्व ही हिन्दी रीति परम्परा का आरम्भ हो गया और इस प्रकार से प्राचीन भारत की इस परम्परा को समाप्त होने से बचा लिया गया।

हिन्दी रीति परम्परा का प्रवर्तन और प्रसार संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के आधार पर अवश्य हुआ है, परन्तु इन दोनों में एक मौलिक भेद है। संस्कृत के साहित्य

शास्त्री मूल रूप से काव्य शास्त्रज्ञ थे जबकि हिन्दी रीति शास्त्री प्रधानत: कवि थे । अत: इस प्रयोजनगत प्रतिरूपता के कारण बहुधा इन दोनों परम्पराओं के विविध आचार्यों में सैद्धांतिक मत वैभिन्न्य भी दिखायी पड़ता है । इसके साथ ही साथ समकालीन वातावरण ने भी इन शास्त्रज्ञों की मनोवृत्ति के निर्धारण में कार्य किया है । संस्कृत के आचार्य मूलत: ज्ञान वृत्ति के कारण इस क्षेत्र में क्रियाशील हुए थे, जबकि रीति कालीन आचार्यों ने काव्य शास्त्र की शिक्षा अथवा अपने आश्रयदाताओं के निर्देशानुसार इस दिशा में कार्य किया और टीका ग्रन्थों की भी रचना की । इसके अतिरिक्त रीति काल के साहित्य शास्त्री स्वयं कवि होने के कारण श्रृंगारिक काव्य रचना में भी प्रवृत्त रहे ।

इस युग में लिखे गये हिन्दी रीति साहित्य का वर्गीकरण मुख्यत: चार श्रेणियों के अन्तर्गत किया जा सकता है । इनमें से प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं, जिनमें रीति शास्त्रियों ने अलंकार विवेचन प्रस्तुत किया है । इस प्रकार की कृतियों में गोपा कृत "अलंकार चन्द्रिका" [सं० १६१५ वि०], जसवन्तसिंह कृत "भाषाभूषण" [सं० १६९५], भूषण कृत "शिवराजभूषण" [सं० १७३०], श्रीपति कृत "अलंकार-गंगा" [सं० १७७०], शम्भुनाथ कृत "अलंकार दीपक" [सं० १८०६], महाराज रामसिंह कृत "अलंकार दर्पण" [सं० १८३५], पद्माकर कृत "पद्माभरण" [सं० १८६७] तथा प्रतापसाहि कृत "अलंकार चिन्तामणि" [सं० १८९४] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें रस शास्त्र का विवेचन मिलता है । इस प्रकार की कृतियों में केशवदास कृत "रसिकप्रिया" [सं० १५४८], तोष कृत "सुधानिधि" [सं० १६९१], कुलपति कृत "रस रहस्य" [सं० १७२४], श्रीनिवासकृत "रस सागर" [सं० १७५०], सूरतिमिश्र कृत "रस रत्नाकर" "रस रत्नमाला" तथा "रस ग्राहक चन्द्रिका" [सं० १७६० के लगभग], देवकृत "भवानी विलास", "रस विलास" तथा "कुशल विलास" [सं० १७८३ के लगभग], श्रीपति कृत "रस सागर", [सं० १७७०], भिखारीदास कृत "रस सारांश" [सं० १७९१], रसलीन कृत "रस प्रबोध" [सं० १७९८], उदयनाथ कृत "रस चन्द्रोदय" [सं० १८०४], रामसिंह कृत "रस निवास", सेवादास कृत "रसदर्पण" [सं० १८४०], पद्माकर कृत "जगतविनोद" [सं० १८६७], बेनी प्रवीन कृत "नवरसतरंग" [सं० १८७२], करन कृत "रस कल्लोल" [सं० १८८५], तथा ग्वाल कृत "रसरंग" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें नायक अथवा नायिका भेद विवेचित किया गया है । इस प्रकार की कृतियों में कृपाराम कृत "हिततरंगिणी" [सं० १५९८], सूरदास

कृत "साहित्य लहरी" [सं० १६०७], नन्ददास कृत "रस मंजरी", चिन्तामणि कृत "शृंगार मंजरी", मतिराम कृत "रसराज" और "साहित्यसार", देव कृत "सुखसागर तरंग" तथा "जातिविलास", कुन्दन कृत "नायिका भेद" [सं० १७५२], केशवराम कृत "नायिका भेद" [सं० १७५४], भिखारीदास कृत "शृंगार निर्णय" [सं० १८०७] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ; तथा चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें काव्य शास्त्र के सामान्य विषयों का सैद्धांतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस श्रेणी में आने वाली कृतियों में केशवदास कृत "कविप्रिया" [सं० १६५८], चिन्तामणि कृत "कविकुलकल्पतरु" [सं० १७०७] तथा "काव्य प्रकाश", देव कृत "भाव-विलास" और "काव्य रसायन" [अथवा शब्द रसायन], सूरति मिश्र कृत "काव्य सिद्धांत", श्रीपति कृत "काव्य सरोज" [सं० १७७७] तथा "काव्यकल्पद्रुम" [सं० १७८०], सोमनाथ कृत "रसपीयूष निधि" [सं० १७९४] भिखारीदास कृत "काव्य निर्णय" [सं० १८०३], करन कृत "साहित्य रस" [सं० १८६०] तथा प्रतापसाहि कृत "व्यंग्यार्थ कौमुदी" [सं० १८२२] "काव्य विलास" सं० [१८८२] तथा "काव्य विनोद" [सं० १८९६] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि हिन्दी रीति शास्त्रीय परम्परा में प्रधान रूप से क्रियाशीलता का परिचय यद्यपि कुछ शताब्दियों तक ही मिलता है, परन्तु इसका प्रसार सुदीर्घ काल तक है। पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा पर यह आधारित है और इसी से सम्बद्ध है। दूसरे शब्दों में यह उस परम्परा की अक्षुण्णता की भी सूचक है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जिस प्रकार से रीति शास्त्रीय परम्परा संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा की अनुगामिनी है, उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा जिसके विषय में आगे लिखा जायगा, रीति शास्त्रीय परम्परा की अगली कड़ी के रूप में मान्य की जा सकती है।

अध्याय : ६

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परंपराओं और दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराएँ

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र और प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा शास्त्र की सुदीर्घ और गहन परम्पराओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रायः संसार के सभी प्राचीन साहित्यों में समीक्षा शास्त्र का विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह एक संयोग की बात है कि किन्हीं भाषाओं में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला ऐतिहासिक विवरण प्रामाणिक रूप से उपलब्ध है और किन्हीं में नहीं। जहाँ तक प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा साहित्य का सम्बन्ध है, उसके विषय में यह निर्णय नहीं किया जा सका है कि यथार्थतः उसका आरम्भ कब हुआ। इसी प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकास के प्राचीन युग में यद्यपि तिथि आदि की जानकारी उपलब्ध है परन्तु वहाँ भी उसके कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।

इस स्थिति का स्थूल कारण यह है कि किसी भी सभ्य देश में वाङ्मय का का विकास समीक्षा से आरम्भ नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों और संहिताओं के युग में समीक्षा शास्त्र या उसके किसी अंग का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार से पाश्चात्य ग्रीस आदि देशों में भी महान् चिन्तकों के आविर्भाव के समय में भी समीक्षा शास्त्र के नाम से कोई स्वतंत्र शास्त्र निर्मित नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों आदि में सूत्र रूप से समीक्षा शास्त्र विषयक संकेत मिलते हैं। इन्हीं सूत्रों का भाष्य परवर्ती युग में विविध भाष्यकारों द्वारा किया गया। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य शास्त्र का प्रायः सर्वप्रथम और प्रख्यात ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" भी इसी प्रकार का भाष्य कहा जा सकता है। बहुत प्राचीन सूत्रों की भरत मुनि ने इसमें विस्तृत व्याख्या की है और उनका पुष्टीकरण किया है।

इसी प्रकार से प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र भी स्वतंत्र रूप में विकसित नहीं हुआ। जहाँ तक उसके अस्तित्व का प्रश्न है, ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व तक उसके संकेत मिलते हैं। अपने स्वतन्त्र रूप में यह सूत्र संकेत समीक्षा का कोई स्वरूप बोध समग्र

रूप में नहीं करा सकते, क्योंकि इनका मूल रूप समीक्षा का सम्यक् निदर्शन नहीं कर सकता है। परवर्ती युगों में विविध दृष्टियों से इनकी भी विस्तृत व्याख्या और स्पष्टीकरण हुआ। लगभग एक सहस्र वर्षों तक इन सिद्धान्तों और विचारों को जो सर्वमान्यता प्राप्त हुई, वह जहाँ एक ओर इनके असाधारण महत्व की परिचायक है, वहीं दूसरी ओर इस सत्य का भी द्योतन करती है कि भावी शास्त्रीय प्रशस्ति की दृष्टि से इनकी क्षमता कितनी अधिक थी।

काव्य का प्रयोजन : पाश्चात्य तथा भारतीय मत

होमर तथा हेसियड के दृष्टिकोण :—

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में भारतीय साहित्य शास्त्र के प्रायः विपरीत रूप में भरत जैसा कोई पंडित आरम्भ में नहीं हुआ। वहाँ पर यूनान में यूरोप के प्राचीनतम महाकवि होमर का अविर्भाव हुआ, जिसने ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व "ईलियड" और "ओडेसी" नामक दो महाकाव्यों का प्रणयन करके अपरिमित ख्याति प्राप्त की। यद्यपि स्वतंत्र रूप से होमर के साहित्य सिद्धान्तों अथवा काव्य विषयक मान्यताओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है; परन्तु उसके महाकाव्यों में निहित सन्देशों के आधार पर इसका अनुमान लगाया जा सकता है। होमर के विचार से काव्य का ध्येय आनन्द प्रदान करना होना चाहिये। होमर का यह मत आगे आने वाले महान् चिन्तकों द्वारा समर्थित हुआ यद्यपि हेसियड ने होमर के कथन में इतना और जोड़ दिया कि काव्य का प्रयोजन मात्र आनन्द प्रदान करना नहीं होना चाहिये बल्कि उसके द्वारा जन कल्याण भी आवश्यक है। होमर और हेसियड द्वारा निर्देशित साहित्य और काव्य सम्बन्धी इन धारणाओं को परवर्ती युग में पर्याप्त मान्यता मिली। यहाँ तक कि प्रायः आधुनिक युग तक ये ही सिद्धान्त न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ सर्वैव मान्य होते रहे।

वामन और रुद्रट के दृष्टिकोण :—

जहाँ तक भारतीय साहित्य धारणा का सम्बन्ध है, हमारे यहाँ काव्य का प्रयोजन यश प्राप्ति बताया गया है। श्रेष्ठ काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के फल देने वाला होता है, यह आचार्य वामन का मत है। वामन के परवर्ती आचार्य रुद्रट ने भी इसी प्रयोजन को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है कि देदीप्यमान और निर्मल रचना

करने वाला महाकवि सरस काव्य की रचना करके अपना तथा अपने नायक का नाम अमर कर देता है। उन्होंने यह भी बताया कि भक्ति काव्य रचने वाले कवि की प्रत्येक कामना अवश्य पूर्ण होती है। इसलिये काव्य रचना एक प्रकार का परोपकार है और परोपकार की महत्ता बहुत अधिक बताई गई है।

कुन्तक और मम्मट के मत :—

दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुन्तक ने काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुये काव्यबन्ध को उच्च कुलीनों के हृदयों को आनन्दित करने वाला कोमल तथा मृदु शैली में अभिव्यक्त धर्मसिद्धि का मार्ग बताया है। उनके विचार मे काव्य के परिज्ञान से पुरुषों को नूतन औचित्य युक्त व्यवहार तथा चेष्टा का सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है। परन्तु व्यापक दृष्टि से काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट द्वारा विचार किया गया। इस विषय में उनकी धारणा अधिक व्यावहारिक और यथार्थ है। उन्होंने लिखा है कि काव्य के प्रयोजन यश प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोग विनाश, तात्कालिक आनन्द अनुभव तथा उपदेश देना आदि हैं। मम्मट की यह धारणा अपने पूर्वकालीन पंडितों की धारणाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण, अधिक संतुलित और अधिक व्यावहारिक है। तुलनात्मक दृष्टि से इन सब विचारकों के मन्तव्यों का परीक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि मम्मट के पूर्वकालीन चिन्तक इस विषय में जो कुछ कहते हैं, वह एक प्रकार का आदर्श कथन है। उसमें काव्य का उद्देश्य यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक दृष्टि से विचारा गया है। परन्तु मम्मट की काव्य के प्रयोजन विषयक धारणा में इस आदर्श और अव्यावहारिकता का अभाव है।

विश्वनाथ का मत :—

मम्मट के पश्चात् चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन पर विचार किया। उन्होंने इस विषय पर कहा कि काव्य के द्वारा ही अल्प बुद्धि वालों को बिना किसी परिश्रम के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। "साहित्य दर्पण" में लिखित विश्वनाथ का यह मत काव्य के गौरव को कुछ कम कर देता है। काव्य की उच्चता का गान करने वाले प्राचीन साहित्य पंडितों के मतों में काव्य के लिये पर्याप्त प्रतिभा और पांडित्य अपेक्षित है, परन्तु विश्वनाथ ने अल्प बुद्धि वालों के लिये भी काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि निर्देशित करके उसे अपेक्षाकृत सरल सिद्ध किया। कुल मिलाकर, भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के उद्देश्यों

का निदर्शन करने वाले उपर्युक्त मत ही विशिष्ट हैं। परवर्ती काल में संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा से निःसृत जब हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा का आरम्भ हुआ, तब प्रायः उन्हीं मूल सिद्धान्तों में न्यूनाधिक परिवर्तन किया गया और उन्हें ही ग्रहण कर लिया गया।

पाश्चात्य और भारतीय मतों की तुलना

पाश्चात्य धारणा की विशिष्टता और महत्व :—

पाश्चात्य विचारकों ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में आनन्दानुभूति को सर्वमान्य किया। आगे चलकर इसमें एक बात और जोड़ दी गई और वह यह कि आनन्दानुभूति के साथ ही साथ काव्य को मानव का कल्याण भी करना चाहिये। यह दोनों प्रकार की धारणाएं प्राचीन यूनानी चिन्तकों द्वारा प्रवर्तित की गई। होमर और हिसियाड के पश्चात् यूनानी चिन्तकों में चौथी शताब्दी पूर्व में आविर्भूत हुये अरस्तू ने पुनः इसी प्रश्न को उठाया। उसने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि काव्य के प्रयोजनों में सर्व प्रमुख यही है कि वह मनुष्य को आनन्द प्रदान करे। उसने इस आनन्द प्रदान करने की विधि बताते हुये यह कहा है कि काव्य ऐसा तभी कर सकता है जब कि वह प्रकृति का अनुकरण करे। अरस्तू की इस दूसरी बात का सम्बन्ध उसके अनुकरण सिद्धान्त से है जिसकी चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। परन्तु जहाँ तक काव्य के उद्देश्य के रूप में आनन्दानुभूति का सम्बन्ध है अरस्तू ने इसमें एक बात और जोड़ी है, और वह यह कि काव्य को आनन्द सृष्टि के अतिरिक्त पृथक् रूप में उपदेशात्मक भी होना चाहिये। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि अरस्तू ने काव्य के इन दो उद्देश्यों को पृथक्-पृथक् रूप से ही मान्य किया है, परन्तु दूसरे रूप में उसने यह भी स्पष्ट किया है कि इन दोनों उद्देश्यों में तत्वगत एकात्मकता होते हुए भी प्रथम की अपेक्षा द्वितीय को विशिष्टता प्रदान की जा सकती है। यहाँ पर यह उल्लेख करना उचित होगा कि उपदेशात्मकता से अरस्तू का आशय नैतिक आदेश से है। उसके विचार से चूंकि काव्य सत्य का निरूपण करता है, और उसकी आवश्यकता भी इसी कारण से है, इसलिए उससे इसकी पूर्ति की भी अपेक्षा की जाती है।

भारतीय मत की विशिष्टता और महत्व :—

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के सभी विचारकों द्वारा इस प्रश्न का विश्लेषण नहीं किया गया है। जहाँ तक

संस्कृत के प्रतिनिधि चिन्तकों का सम्बन्ध है, उनमें से प्रायः अधिकांश ने साहित्य के गहनतर पक्षों का निरूपण करने की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि संस्कृत के काव्यशास्त्री प्रायः साहित्य या काव्य की आत्मा जैसे प्रश्नों पर भी विचार विमर्श और वाद विवाद करते रहे। संस्कृत साहित्य शास्त्र में रस, अलकार आदि जो विविध सम्प्रदाय हैं, वे इस कथन के प्रमाण हैं कि इन आचार्यों ने प्रायः अधिक महत्वपूर्ण साहित्य पक्षों की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। काव्य के प्रयोजन को उन्होंने अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं रखा, क्योंकि उनके विचार से काव्य या नाटक एक शास्त्रीय रूप है और इसलिये सृष्टा के दृष्टिकोण से इसका उद्देश्य विचार इसके तत्व विश्लेषण की अपेक्षा अप्राथमिक है। कुछ काव्य शास्त्रियों ने जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, अवश्य इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने इसके जो उद्देश्य बताए हैं, वे मूलतः यश अर्जन ही निर्दशित करते हैं, जो लौकिक अमरता के विचार से सबसे बड़ा प्रलोभन है। काव्य रचना के माध्यम से धन प्राप्ति इसी का दूसरा पक्ष है जिसका सम्बन्ध लौकिक सुख की सुलभता से है।

नाटक, महाकाव्य और भाषण कला : दृष्टिगत प्रमुखता

पाश्चात्य मत :—

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्पराओं के ऐतिहासिक अध्ययन से एक दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य की अवगति होती है, और वह यह है कि प्राचीन भारत के अधिकांश संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने वाङ्मय के विविध अंगों में नाटक और महाकाव्य को प्रधानता दी है। काव्य के मुक्तक तथा अन्य रूपों का उल्लेख उन्होंने बाद में किया। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य विचारकों ने प्राचीन काल से इन दोनों विषयों पर तो विचार किया था ही, परन्तु इसके साथ ही साथ भाषण शास्त्र को भी उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण स्वीकार किया। यही कारण है कि भाषण शास्त्र को प्राचीन पाश्चात्य विचारकों ने एक कला और शास्त्र के रूप में प्रमुख मान कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की। भाषण शास्त्र के विषय में पश्चिम के विचारकों में सर्व प्रथम ग्रन्थ रचना रेक्स तथा टिसिएस ने की है। इनके अतिरिक्त अरस्तू ने भाषण शास्त्र पर विचार करते हुए उसके उद्देश्य और तत्वों की व्यख्या की। उसके मत के अनुसार भाषण शास्त्र का उद्देश्य वक्ता के मत से श्रोता को प्रभावित करना है। उसने भाषण की भाषा और शैली पर भी विचार किया।

सिसरो का दृष्टिकोण :

यूनान में साहित्य शास्त्रियों की जो परम्परा रही, उसमें भाषण शास्त्र विषयक प्रायः उपर्युक्त विचार ही इस सन्दर्भ में प्रमुख रूप से मान्य हैं। इन विचारकों ने साहित्य के विविध रूपों की व्याख्या के साथ ही साथ भाषण शास्त्र को भी समान रूप से महत्व प्रदान करते हुए उसका विश्लेषण किया। यूनान के पश्चात् जब साहित्य और कला का केन्द्र रोम पहुँच गया, तब रोमीय साहित्य चिन्तन की परम्परा प्रचलित हुई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका आरम्भ लगभग दूसरी शताब्दी में हुआ। रोमीय साहित्य शास्त्रियों में सर्वप्रथम सिसरो है, जिसने भाषण शास्त्र के महत्व को मुक्त रूप से स्वीकार किया। वह भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता का इतना बड़ा समर्थक था कि उसने स्पष्ट रूप से भाषण कला और साहित्य में भाषण कला को प्राथमिक महत्व प्रदान किया। उसने सबसे पहले इस बात की घोषणा की कि साहित्य और काव्य का महत्व केवल उतना ही है, जितना कि वे भाषण कला के लिये सहायक और लाभप्रद हों। तुलनात्मक दृष्टिकोण से वह भाषण कला को रोम की तत्कालीन परिस्थितियाँ देखते हुए भी अधिक उपयोगी मानता था।

यूनान के अरस्तू और आइसाक्रेटीज आदि के भाषण कला विषयक सिद्धान्तों में सबसे पहले सिसरो ने ही परिवर्तन किया। भाषण कला को उसने एक युगीन आवश्यकता मान कर उसे युग जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उसके मत से भाषण कला मनुष्य की मनुष्यता का परिचय देने के लिये एक माध्यम का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त भाषण शास्त्र मानवीय श्रेष्ठता का घोतन और मानवीय सभ्यता का प्रचार भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सिसरो रोमीय विचारधारा पर यूनानी प्रभाव का विरोध करता था और रोमीय विचारधाराओं के स्वतंत्र विकास की सम्भावनाओं की खोज अधिक आवश्यक मानता था। सिसरो के बाद रोम में जो चिन्तक हुए उन्होंने सिसरो से अधिक सहमति न प्रगट की, क्योंकि वे यूनानी उपलब्धियों के माध्यम से ही भावी मार्ग का निर्देशन सम्भव मानते थे। इसके अतिरिक्त चूँकि वे भाषण कला की तुलना में साहित्य और काव्य को उच्च मानते थे, इसलिये उन्होंने भाषण शास्त्र पर विशेष रूप से विचार नहीं किया और इस सम्बन्ध में भी प्रायः उपर्युक्त मत ही रोम में मान्य रहा।

विल्सन का दृष्टिकोण :—

चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग जब यूरोप में साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ

तब इन दृढ़ विचारधाराओं को भावी विकास की दिशाएँ मिली। जहाँ तक भाषण शास्त्र का सम्बन्ध है, सर टामस विल्सन ने इस पुनर्जागरण युग में सब से पहले सोलहवीं शताब्दी में इस पर विचार किया। विल्सन ने भाषण कला के उद्देश्य की अपेक्षा उसके तत्वों की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दिया। इस प्रकार से लगभग मध्य युग तक इस विषय पर स्वतंत्र शास्त्र के रूप मे विचार होता रहा। इसके बाद यूनानी, रोमीय तथा अंग्रेजी भाषण शास्त्रियों के भाषण विषयक सिद्धान्तों का संयोजन और मूल्यांकन किया गया। परवर्ती समय में साहित्य या काव्य से भाषण कला का कोई प्रत्यक्ष या अन्तसम्बन्ध नहीं रह गया और इसके ऊपर जो भी विचार हुआ वह साहित्य या काव्य से अलग स्वतंत्र रूप में।

नाटक सम्बन्धी धारणाएँ

भारतीय मत : भरत मुनि :—

प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र में भरत मुनि ने साहित्यिक रूपों में सर्व प्रथम नाटक की व्याख्या की है। भरत के बाद भामह ने नाटकों के स्वरूप का विश्लेषण किया और यह बतलाया है कि अभिनेता और अभिनय योग्य वर्णन ही उसकी विशेषता होनी चाहिए। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धनंजय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दश रूपक" की रचना की। इसमें उन्होंने नाटक के अंग उपांगों की विस्तृत व्याख्या की है। धनंजय ने नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, सम, वकार, वीथी, अक तथा ईहा मृग नाम के दस भेद बताये हैं, फिर उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार से भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य शास्त्र के विकास के प्राचीनतम युग से ही नाटक के स्वरूप विश्लेषण के गम्भीर प्रयत्न किये है। परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि संस्कृत भाषा में जितना समृद्ध नाटक साहित्य उपलब्ध है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि संस्कृत मे क्रियात्मक साहित्यकारों ने नाटक के माध्यम को अधिक अपनाया और साहित्य शास्त्रियों ने इसे उतने अधिक महत्व का नहीं माना, जितना महाकाव्य आदि को। इसलिये उनके ग्रन्थों में नाटक के स्वरूप विवेचन की दिशा में प्रयत्न तो मिलते हैं, परन्तु इस साहित्य माध्यम को उन्होंने प्रधानता नहीं दी।

प्लेटो का मत :—

प्राचीन यूरोपीय साहित्य शास्त्रियों में वह सर्वप्रथम विचारक प्लेटो ही था जिसने नाटक की व्याख्या की। परन्तु उसके सामने इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये

पर्याप्त सामग्री और आधार थे। इसका कारण यह था कि उसके समय तक यूनानी साहित्य के क्षेत्र में नाटक का पर्याप्त विकास हो चुका था। अनेक नाटककारों की रचनाएँ, क्लैसिकल और ऐतिहासिक महत्व की सिद्ध हो चुकी थीं। रंगमंच के विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं और समाज में नाट्य अभिनय और नाट्य दर्शन का प्रचार था। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह थी कि व्यावहारिक क्षेत्रों में भ्रष्ट नाटकों और कुरुचिपूर्ण जन मनोवृत्ति का परिचय मिल रहा था। इस विडम्बना को देख कर प्लेटो ने दृढ़ता पूर्वक यह घोषणा की कि जनता का बहुमत साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी कदापि नहीं हो सकता। प्लेटो नाटक का विरोधी नहीं था, परन्तु समकालीन नाटक प्रवृत्तियों को देखते हुए उसे उनका विरोध और सैद्धान्तिक खंडन करना पड़ा। इसका कारण यह है कि वह नाटक को काव्य के तीन प्रमुख रूपों में एक मानता था। उसका यह दृढ़ विचार था कि नाटक में शिष्ट और सुसंस्कृत जीवन की छाया होनी चाहिए।

प्लेटो के बाद युरीपाईडीज ने सब से पहले यह सिद्धान्त निर्देशित किया कि नाटक का कथानक विशिष्ट क्षेत्रीय समस्याओं से युक्त होना चाहिये। युरीपाईडीज के बाद अरस्तू ने नाटक या नाटक के स्वरूप के विषय में विचार करके यह बताया कि नाटक या दुःखान्तक को कोई गम्भीर जीवन चित्र से सम्बन्धित कार्य का अनुकरण करना चाहिये और इसके साथ ही साथ उसमें उदात्तता का गुण भी अनिवार्य रूप से समाविष्ट होना चाहिये। तुलनात्मक दृष्टिकोण से अरस्तू ने दुखान्तक को कई अर्थों में महाकाव्य का समान रूप माना। नाटक को इस प्रकार से काव्य का एक प्रमुख भेद मानते हुए उसने वर्गीकृत किया। सुखान्तक और दुखान्तक के रूप में नाटक के दो भेद किये। काव्य की भाँति ही उसने नाटक को भी अनुकरण का एक माध्यम माना। उसने यह भी कहा कि नाटक और महाकाव्य में बहुत कम विभिन्नता है। उनका प्रमुख अंतर यह है कि नाटक और महाकाव्यों के छन्दों में भिन्नता होती है। परन्तु उसने नाटक का स्थान महाकाव्य की अपेक्षा हीनतर प्रतिपादित किया। सुखान्तक की अपेक्षा उसने दुखान्तक नाटक की विस्तार से व्याख्या की। दुखान्तक नाटक की परिभाषा करते हुए उसने उसे उस कार्य की अनुकृति माना जो कार्य व्यापार के रूप में होती है तथा जो करुणा आदि अनुभूतियों का विरेचन करती है।

होरेस के विचार :—

यूनानी चिन्तकों में प्रायः उपर्युक्त विचार की नाटक के प्रयोजन और स्वरूप

के विषय में मान्यता रही। अरस्तू के बाद के प्राय: सभी विचारकों ने न्यूनाधिक रूप में मौलिकता का परिचय देते हुए इन्हीं का अनुमोदन किया। इस प्रकार से इन सिद्धान्तों ने भावी समीक्षकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यहाँ तक कि यूनानी चिन्तन की परम्परा का अन्त होने पर जब रोमीय परम्परा आरम्भ हुई, तब भी यही विचार प्रमुख रूप से मान्य हुए। होरेस ने नाटक के एक प्रमुख रूप प्रहसन को व्यंग्य काव्य से पृथक् किया और इन दोनों की स्वतंत्र रूप से व्याख्या की। प्राय: यूनानी सिद्धान्तों के अनुगमन पर ही उसने नाटक के तत्वों को भी स्वीकार कर लिया।

प्राचीन यूनानी नियमों का समर्थन करते हुए उसने व्यावहारिकता पर अधिक जोर दिया। इसलिए उसने विषय, पात्र और शैली की पारस्परिक अनुरूपता पर सब से अधिक बल दिया। नाटक में अंक योजना, अंकों में दृश्य योजना, दृश्यों में पात्र प्रवेश और पात्रों के वार्तालाप तथा चरित्र चित्रण में स्पष्ट निर्देश करते हुए उसने नाटक में क्रियाशीलता को आवश्यक बताया। नाटक में गीतों के समावेश का भी उसने समर्थन किया। नाटक के प्रयोजन और आदर्श के सम्बन्ध में होरेस का यह मत है कि नाटक में नीति तथा धर्म विषयक चित्रण हास्य तथा करुण की अपेक्षा अधिक सम्मत हैं। संक्षेप में, उपर्युक्त विचार ही रोमीय चिन्तन की परम्परा द्वारा निर्देशित नाट्य धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बेन जानसन का दृष्टिकोण :—

यूनानी और रोमीय नाट्य सिद्धान्तों का प्रभाव मध्य युगीन अँग्रेजी विचारकों पर भी पड़ा। बेन जानसन ने इस पर विस्तार से विचार किया। वह स्वयं भी एक नाटककार था, इसलिये उसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक नाट्य विवेचन अधिक यथार्थ है। बेन जानसन नाटक में नाटकीयता और भावनात्मकता के तत्वों के समावेश का विरोधी था। वैचारिक दृष्टिकोण से वह शास्त्र और परम्परा का कट्टर समर्थक था। लेकिन जहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, वह इस प्रवृत्ति को त्याज्य समझता था।

उसने ट्रेजेडी और कामेडी दोनों की विस्तार से व्याख्या की। इस विषय में उसका सबसे महत्वपूर्ण मन्तव्य यह है कि ट्रेजेडी और कामेडी में कोई उपकरणगत भेद नहीं है तथा कोई लक्ष्यगत भिन्नता भी नहीं है। इन दोनों का उद्देश्य समान रूप से आनंदानुभूति और उपदेशात्मकता है। ट्रेजेडी अपने करुण दृश्यों द्वारा नैतिकता की शिक्षा देती है परन्तु कामेडी मूर्खता को उपेक्षणीय कह कर नैतिक होने की प्रेरणा देती

है। ट्रैजेडी का सम्बन्ध उच्चता और असाधारणता से होता है, परन्तु कामेडी सामान्य अनुभवों पर आधारित रहती है। इस भेद के अतिरिक्त ट्रैजेडी का काव्य आधार भी होता है जो कामेडी का नहीं होता। बेन जानसन के नाटक सम्बन्धी इन विचारों को देखने पर इस बात का पता चलता है कि वह नाटक, काव्य और साहित्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में पुरानी वैचारिक निष्ठाओं से सहमति रखता था और इनमें उल्लंघन उचित नहीं मानता था।

डाक्टर जानसन का मत:—

इसी प्रकार से अंग्रेजी समीक्षकों में डाक्टर जानसन ने अठारहवीं शताब्दी में नाटक के स्वरूप और रचना पर विचार किया। जानसन ने नाटक रचना के क्षेत्र में जिन सिद्धान्तों का निदर्शन किया है, उनमें कुछ बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें मिश्रित नाटक का स्वरूप निदर्शन किया गया है। ये नाटक इस प्रकार के नाटक हैं, जिनमें दुःखान्त और सुखान्त स्पष्ट और पृथक् रूप में न होकर मिश्रित अंग हों। डाक्टर जानसन शास्त्रीय अनुकरण का समर्थक तो था, परन्तु वह उसके अन्धानुकरण करने का विरोधी था। इसलिए साहित्य सिद्धान्तों के क्षेत्र में डाक्टर जानसन ने स्पष्ट रूप से यह निर्देशित किया है कि प्राचीन सिद्धान्तों का न तो पूर्ण अनुकरण ही करना चाहिए और न पूर्ण बहिष्कार। उसके विपरीत उनका पुनर्व्याख्यान करके युगीन आवश्यकताओं के अनुसार उनका परिष्कार करना चाहिए। अपने परिष्कृत रूप में ही वे किसी नए युग में ग्राह्य हो सकते हैं।

अनुकरण सिद्धान्त और रस साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

अनुकरण : काव्य का मूल स्रोत :—

पाश्चात्य विचारकों में अरस्तू ने काव्य का मूल स्रोत अनुकरण को माना है। उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि वह काव्य की आत्मा के रूप में भी उसे प्रतिष्ठित करता है। अरस्तू ने अनुकरण के ही आधार पर कला के दो भेद किये हैं, जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत ललित कलाओं तथा द्वितीय के अन्तर्गत काव्य आदि कलाओं को रखा है। अरस्तू ने काव्य, नाटक तथा संगीत को अनुकरण के विविध प्रकार माना है और यह निर्देशित किया है कि इनमें विषयगत तथा अभिव्यक्तिगत पारस्परिक भिन्नताएँ विद्यमान हैं।

रस : काव्य की आत्मा:—

संस्कृत साहित्य शास्त्र में रस के सर्वप्रथम व्याख्याता और अन्य आचार्य भरत मुनि का समय दूसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया जाता है। अपने "नाट्यशास्त्र" के माध्यम से भरत प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र के सर्व प्रमुख प्रतिनिधि पंडित ठहरते हैं। भरत चूँकि नाटक में रस को सबसे अधिक महत्व देते थे, इसलिए यह उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय कहा गया। भरत ने रस की शास्त्रीय व्याख्या की। रस की महत्ता का पांडित्यपूर्ण शैली में प्रतिपादन करते हुए उन्होंने रसानुभूति का सूक्ष्म विश्लेषण किया। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत का रस का वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक रूप में मान्य हुआ।

रस को काव्य की आत्मा मानते हुए मुनि भरत ने रस की जो असाधारण रूप से महत्वपूर्ण मान्यता सिद्ध की है उसका आशय यह नहीं है कि उन्होंने नाटक के अन्य अंगों की सर्वथा उपेक्षा की है। वस्तुतः रस के शास्त्रीय विश्लेषण के साथ ही साथ उन्होंने नाटक के अप्रधान या सहायक अंगों के रूप में अलंकार आदि का भी विवेचन किया है। यही नहीं उपमा, रूपक, दीपक और यमक, इन चार मुख्य अलंकारों के भी नाटक में स्थान और समावेश का निर्देश करते हुए उन्होंने इनकी सोदाहरण व्याख्या की है। इसी प्रकार से गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुप्तार्थ, न्यायपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत आदि दस काव्य दोष और श्लेष प्रसाद समता, समाधि, ओज, पद, सौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति आदि दस काव्य गुणों का भी उल्लेख किया है और उनकी सम्यक् व्याख्या की है।

महाकाव्य और नाटक में रस की प्रधानता

भरत का मत:—

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भरत मुनि ने नाटक में रस की प्रधानता सिद्ध की है। रस का विभाजन उन्होंने आठ भागों में किया है, जो कि शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स तथा अद्भुत है। नवाँ रस भरत ने नहीं माना है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रस विषयक वर्गीकरण नाटक का मूल और प्रधान तत्व मानते हुए उसे

नाट्य रस कहा। भरत का रस विवेचन, संस्कृत साहित्य शास्त्र का इस क्षेत्र में मूल आधार है। भरत के बाद आनन्दवर्द्धन ने रस और प्रबन्ध काव्य में उसकी अभिव्यंजना पर विचार किया है। उनके मत में महाकाव्य में रस की ही प्रधानता होती है। इसलिए उसमें रस के अनुसार ही औचित्य होना चाहिए। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि जो महाकाव्य रस प्रधान होगा वह इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य से श्रेष्ठ होगा। महाकाव्य के समान ही नाटक में भी रस योजना पर मुख्यता देनी चाहिए। गद्य रचना में भी रस औचित्य ही सर्वत्र संघटना का नियामक होता है यद्यपि उसमें कोई छन्द नियम नहीं होता।

आनन्दवर्द्धन का दृष्टिकोण:—

आनन्दवर्द्धन के मत के अनुसार रस औचित्य का आश्रय करने वाली रचना गद्य और पद्य में सर्वत्र शोभा पाती है यद्यपि विषय के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत भेद अवश्य हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने रस के विरोधी तत्वों का भी उल्लेख किया है। उनके मत के अनुसार कवि को अपने काव्य में इन रस विरोधी तत्वों के समाविष्ट होने से बचाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अंगी रस के विषय में उन्होंने लिखा है कि काव्य में प्रधान रस का अन्य रसों के साथ समावेश होना स्वाभाविक है, [illegible] प्रतीत होने वाली अंगिता का विघातक नहीं होता है। जिस प्रकार से किसी प्रबन्ध में व्यापक एक प्रधान कार्य ही रखा जाता है, उसी प्रकार से रस की स्थिति में विरोध नहीं होता। अन्य रस के प्रधान होने पर उसके विरोधी या अविरोधी किसी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें भी उनका अवरोध हो सकता है। आनन्दवर्द्धन ने भरत मुनि की ही भाँति रसों में शृंगार की प्रधानता मान्य की है। उनका मन्तव्य है कि सत् कवि को इसी रस का वर्णन करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए क्योंकि उसमें प्रमाद सुगम प्रकट हो जाता है। शिष्यों को काव्य प्रवृत्त करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए यदि इसके विरोधी रसों से इसके अंगों का स्पर्श हो तो वह दूषित नहीं होता।

अभिनवगुप्त का मत:—

दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत सूत्र की व्याख्या की। ऐसा करते समय उन्होंने कुछ अन्य विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याओं से असहमति प्रकट की। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने विस्तार से अपने मत का

प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त के विचार से रस की उत्पत्ति नाटक से होती है। उनका विचार है कि भाव शब्द के अर्थ पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति रसों से नहीं होती वरन् उचित प्रकार से सम्बद्ध हृदयगत रसों का विविध प्रकार के अभिनयों द्वारा भावना करना ही भाव कहलाता है।

अभिनवगुप्त ने शान्त रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि संसार में धर्म, अर्थ तथा काम की भाँति मोक्ष भी एक प्रकार का पुरुषार्थ है। जिस प्रकार से विविध चित्र वृत्तियाँ रति आदि से पूरित होकर आस्वाद की योग्यता प्राप्त करके शृंगार आदि रसावस्था को प्राप्त कराती हैं, उसी प्रकार से मोक्ष नामक पुरुषार्थ के योग्य चित्तवृत्ति भी रस की अवस्था को प्राप्त कराती और इस प्रकार की चित्तवृत्ति ही शांत रस का स्थायी भाव होती है। दूसरे शब्दों में उसे निर्वेद कहा जाता है। निर्वेद तत्व ज्ञान के प्रति उपयोगी होता है और तत्व ज्ञान से ही मोक्ष होता है।

धनंजय का मत:—

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धनंजय ने रस को रूपक के तीसरे आधारभूत तत्व के रूप में मान्य किया, जिसका लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि स्थायी भाव में विभाव अनुभाव सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भाव का योग होने पर रस का आविर्भाव होता है। रस के आस्वाद और उसके भोक्ता के विषय में धनंजय का मत है कि स्थायी भाव स्वाद्यत्व के कारण रस बनता है और वह रसिक में ही विद्यमान रहता है। इसीलिए धनंजय ने काव्य को रसिक परक माना है और रस को दर्शकवर्ती। उनका यह भी मत है कि काव्य के अर्थ से अर्थ से भावित आस्वाद नर्तक में भी होता है। धनंजय ने स्वाद के उद्भूत होने की प्रक्रिया का स्पष्ट करते हुए बताया है कि स्वाद काव्यार्थ के सम्भेद से आत्मानंद रूप में उत्पन्न होता है।

विकास, विस्तार, क्षोभ और विच्छेद नामक मन की चार अवस्थाओं के अनुसार ही उन्होंने रस के भी भेद किए हैं जो कि शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र हैं। धनंजय के अनुसार इनसे ही पृथक् पृथक् रूप से हास्य, अद्भुत, भय और करुण की उत्पत्ति हुई है। शान्त रस को धनजय ने अभिनेय नहीं माना है। इस कारण रूपक में उसे स्थान नहीं दिया है। काव्य परन्तु क्षेत्र से उन्होंने उसका निषेध नहीं किया है। काव्य में उसे मर्यादित बताते हुए उन्होंने उसे अनिर्वाच्य तथा सम का प्रकर्ष

माना है और उसका स्वरूप मोद आनन्द है। आनन्द रस में सुख दुःख, विषय द्वेष, राग इच्छा आदि का अभाव और भावत्व की प्रधानता रहती है। अतः धनंजय ने कहा है कि चन्द्र आदि विभावों निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों एवं रोमांच आदि अनुभावों से जो स्थायी भाव स्वादित होता है उस ही रस कहते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भोज ने रस योजना पर विचार किया। उनके विचार से रस योजना की चौबीस विभूतियाँ होती, जिसके स्वरूप ज्ञान से कवि काव्य की रचना करने में समर्थ होता है। इन्हें ही भोज ने रसोक्तियाँ कहा है। भोज के अनुसार ये रसोक्तियाँ भाव, जन्म, अनुबंध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम, शेष, विशेष, परिशेष, विप्रलंभ, सम्भोग, चेष्टायें, परिस्थितियाँ, निर्मिति, प्रकीर्ण, प्रेम, प्रेम पुष्टियाँ, नायिका नायक गुण, पाक आदि निष्पत्ति तथा नानालंकार संसृष्टि के प्रकार हैं।

मम्मट का दृष्टिकोण:—

इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट ने रस निष्पत्ति पर अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने रस उस स्थायी भाव को कहा जिसका अभिव्यंजन विविध विभावों, तथा व्यभिचारी भावों से व्यंजना वृत्ति के द्वारा होता है। मम्मट ने यह स्वीकार किया है कि स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध में रस की उत्पत्ति का कथन ठीक है। उन्होंने रस पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान, निर्विकल्पक नहीं माना है, क्योंकि उसमें विभावों आदि के सम्बन्ध की प्रधानता है, परन्तु उन्होंने उसे सविकल्पक भी नहीं माना है क्योंकि आस्वादन से उसका प्रचुर अलौकिक आनन्द युक्त होना भी अनुभव सिद्ध है।

इस प्रकार से उन्होंने उसे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न माना है, परन्तु वह इनसे भिन्न होकर भी उनके गुण को एक साथ रखता है। इसमें रस का ज्ञान उसके विरोध को न प्रकट करके उसकी अलौकिकता को ही प्रकट करता है। इस प्रकार से मम्मट ने रस निष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विवेचन किया है। मम्मट के परवर्ती जिन संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने रस की व्याख्या की है, उनमें से पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने ध्वनि काव्य के पाँच भेद करके रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मान कर उसकी आत्मा रस का विस्तार से वर्णन किया है।

रस का महत्व:—

जहाँ तक रस सिद्धान्त के प्रवर्तन और प्रतिपादन का सम्बन्ध है प्राचीन संस्कृत

आलोचना अद्वितीय है। इसका कारण यह है कि भरत मुनि से लेकर संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में आने वाले अन्तिम शास्त्रियों तक प्रायः सभी ने रस के महत्व को कुछ मतभेद के साथ स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत समीक्षा सिद्धान्त रूप में ही अधिक पुष्ट रही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्कृत के क्रियात्मक साहित्य में भी चमत्कार को ही मुख्य रूप से समाविष्ट किया गया है। इसलिये अलंकार आदि के विवेचन की ओर संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया। कुल मिलाकर, ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन साहित्य पंडितों ने साहित्य को प्रत्यक्ष जीवन से सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा बहुत कम की और उसकी प्रेरणा स्वान्तः सुखाय: और फल, यश अथवा किसी सीमा तक धन प्राप्ति मान कर ही अपने कर्तव्य की इति समझ ली और सन्तोष भी प्राप्त किया।

रस विषयक दृष्टिकोण की तुलना

यदि हम उपर्युक्त भारतीय साहित्य विषयक मान्यताओं के संदर्भ में पाश्चात्य विचारकों के सिद्धान्तों की परख करते हैं तब हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा प्राचीन काल से ही संस्कृत समीक्षा के विपरीत व्यावहारिक, भाव भूमि पर आधारित रही है। परन्तु इसके अतिरिक्त दोनों में ही एक और मौलिक भेद दिखाई देता है, वह यह है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य सिद्धान्त प्रत्यक्षतः वाङ्मय की भिन्न-भिन्न विधाओं से सम्बन्ध रखते हैं जब कि पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त साहित्य से कम सम्बन्धित हैं, अन्य कलाओं और शास्त्रों से अधिक। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन इस कथन की और भी पुष्टि करता है। जहाँ तक रस के विवेचन का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि वह प्राचीन भारतीय काव्य सिद्धान्तों के विकास का आधार रहा है, परन्तु पाश्चात्य विचारकों ने मुख्यतः रस के सन्दर्भ में साहित्यिक सिद्धान्तों का निदर्शन कभी नहीं किया। यह अवश्य है कि कुछ पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों ने रस के महत्व को अवश्य स्वीकार किया। ऐसे लोगों में कीथ आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

काव्य भेदों का निरूपण : भारतीय और पाश्चात्य मत

भामह के विचार:—

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्पराओं में जिन विषयों पर विशेष

माना है और उसका स्वरूप शम बताया है। शान्त रस में सुख दुख, चिन्ता द्वेष, राग इच्छा आदि का अभाव और समभाव की प्रधानता रहती है। अन्त में धनंजय ने कहा है कि चन्द्र आदि विभावों निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों तथा रोमांच आदि अनुभावों से जो स्थायी भाव भावित होता है उसे ही रस कहते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भोज ने रस योजना पर विचार किया। उनके विचार से रस योजना की चौबीस विभूतियाँ होती, जिनके स्वरूप ज्ञान से कवि काव्य की रचना करने में समर्थ होता है। इन्हें ही भोज ने रसोक्तियाँ कहा है। भोज के अनुसार ये रसोक्तियाँ भाव, जन्म, अनुबंध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम, शेष, विशेष, परिशेष, विप्रलंभ, सम्भोग, चेष्टायें, परिस्थितियाँ, निरुक्ति, प्रकीर्ण, प्रेम, प्रेम पुष्टियाँ, नायिका नायक गुण, पाक आदि प्रेमसंभितः तथा नानालंकार संसृष्टि के प्रकार हैं।

मम्मट का दृष्टिकोण:—

इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट ने रस निष्पत्ति पर अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने रस उस स्थायी भाव को कहा जिसका अभिव्यंजन विविध विभावों, तथा व्यभिचारी भावों से व्यंजना वृत्ति के द्वारा होता है। मम्मट ने यह स्वीकार किया है कि स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध में रस की उत्पत्ति का कथन ठीक है। उन्होंने रस पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान, निर्विकल्पक नहीं माना है, क्योंकि उसमें विभावों आदि के सम्बन्ध की प्रधानता है, परन्तु उन्होंने उसे सविकल्पक भी नहीं माना है क्योंकि आस्वा-दन से उसका प्रचुर अलौकिक आनन्द युक्त होना भी अनुभव सिद्ध है।

इस प्रकार से उन्होंने उसे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न माना है, परन्तु वह इनसे भिन्न होकर भी उनके गुण को एक साथ रखता है। इससे रस का ज्ञान उसके विरोध को न प्रकट करके उसकी अलौकिकता को ही प्रकट करता है। इस प्रकार से मम्मट ने रस निष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विवेचन किया है। मम्मट के परवर्ती जिन संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने रस की व्याख्या की है, उनमें से पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने ध्वनि काव्य के पाँच भेद करके रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मान कर उसकी आत्मा रस का विस्तार से वर्णन किया है।

रस का महत्व:—

जहाँ तक रस सिद्धान्त के प्रवर्तन और प्रतिपादन का सम्बन्ध है प्राचीन संस्कृत

आलोचना अद्वितीय है। इसका कारण यह है कि भरत मुनि से लेकर संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में आने वाले अन्तिम शास्त्रियों तक प्रायः सभी ने रस के महत्व को कुछ मतभेद के साथ स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत समीक्षा सिद्धान्त रूप में ही अधिक पुष्ट रही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्कृत के क्रियात्मक साहित्य में भी चमत्कार को ही मुख्य रूप से समाविष्ट किया गया है। इसलिये अलंकार आदि के विवेचन की ओर संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया। कुल मिलाकर, ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन साहित्य पंडितों ने साहित्य को प्रत्यक्ष जीवन से सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा बहुत कम की और उसकी प्रेरणा स्वान्तः सुखाय और फल, यश अथवा किसी सीमा तक धन प्राप्ति मान कर ही अपने कर्तव्य की इति समझ ली और सन्तोष भी प्राप्त किया।

रस विषयक दृष्टिकोण की तुलना

यदि हम उपर्युक्त भारतीय साहित्य विषयक मान्यताओं के संदर्भ में पाश्चात्य विचारकों के सिद्धान्तों की परख करते हैं तब हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा प्राचीन काल से ही संस्कृत समीक्षा के विपरीत व्यावहारिक, भाव भूमि पर आधारित रही है। परन्तु इसके अतिरिक्त दोनों में जो एक और मौलिक भेद दिखाई देता है, वह यह है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य सिद्धान्त प्रत्यक्षतः वाङ्मय की भिन्न-भिन्न विधाओं से सम्बन्ध रखते हैं जब कि पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त साहित्य से कम सम्बन्धित हैं, अन्य कलाओं और शास्त्रों से अधिक। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन इस कथन की और भी पुष्टि करता है। जहाँ तक रस के विवेचन का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि वह प्राचीन भारतीय काव्य सिद्धान्तों के विकास का आधार रहा है, परन्तु पाश्चात्य विचारकों ने मुख्यतः रस के सन्दर्भ में साहित्यिक सिद्धान्तों का निदर्शन कभी नहीं किया। यह अवश्य है कि कुछ पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों ने रस के महत्व को अवश्य स्वीकार किया। ऐसे लोगों में कीथ आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

काव्य भेदों का निरूपण : भारतीय और पाश्चात्य मत

भामह के विचार:—

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्पराओं में जिन विषयों पर विशेष

रूप से साहित्यकारों ने विचार किया है, उनमें से एक काव्य भेदों का निरूपण है। जहाँ तक संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रवर्तक मुनि भरत का सम्बन्ध है, उन्होंने अपने रस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय काव्य के भेदों पर अधिक विचार नहीं किया। क्योंकि उनके विचार से रस का काव्य या नाटक में समान रूप से महत्व है। भरत के पश्चात् भामह ने सबसे पहले संस्कृत में काव्य के भेद बताये। पहले उन्होंने देवादिचरित का निरूपक कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित और कल्पित वस्तु का निरूपक कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित तथा फिर महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक आदि भेद किये हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुये उन्होंने बताया है कि महाकाव्य का स्वरूप निरूपण सर्गबद्ध, और महान् होता है। उसमें सुन्दर शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार तथा सुन्दर वस्तु होनी चाहिये। उसमें पाँच सन्धियाँ होनी चाहिये जो कि मंत्र, दूत प्रयाण, युद्ध और नायक अभ्युदय हैं। वह स्पष्ट और उत्कर्षशील होना चाहिये। लोक स्वभाव के वर्णन तथा विविध रस निरूपण के साथ उसमें धर्म आदि वर्गों का वर्णन होना चाहिये। उसमें पहले नायक का उत्कर्ष दिखाकर उसका वध नहीं करना चाहिये। उसमें यदि नायक का उत्कर्ष किसी कारण से न दिखाना हो उसका आख्यान तथा स्तुति भी निरर्थक है।

दंडी का वर्गीकरण :—

सातवीं शताब्दी में आचार्य दंडी ने काव्य के तीन भेद किए। पहला छंदबद्ध काव्य अथवा पद्य, दूसरा छंदहीन काव्य अर्थात गद्य और तीसरा गद्य पद्य मिश्रित काव्य अर्थात चम्पू। इस भेद के बाद दंडी ने महाकाव्य की व्याख्या की जिसके अनुसार महाकाव्य का आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश के द्वारा होता है। उसकी रचना का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा अन्य श्रेष्ठ कथा होनी चाहिए। उसे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष दायक होना चाहिए। उसका नायक बुद्धिमान और उदात्त होना चाहिए। उसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्रमा, सूर्य, उपवन, जल क्रीड़ा, मधुपान तथा प्रेमोत्सव आदि के वर्णन होने चाहिए। उसमें प्रेम, विरह, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार, विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक विजय आदि के प्रसंग होने चाहिए। उसमें विविध वृतान्त तथा विस्तृत वर्णन होने चाहिए। उसके सर्ग संतुलित होने चाहिए और छन्दों का चयन अच्छा होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक भिन्न छन्द में होना चाहिए। उसे अलंकार पूर्ण और लोक रंजक होना चाहिए क्योंकि यह गुण उसके स्थायित्व में सहायक होते हैं। यदि किसी महाकाव्य में उपर्युक्त गुणों में

से किसी का अभाव हो, परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हो, तो भी उसे दूषित नहीं कहा जायेगा। महाकाव्य की रचना करने वाले को पहले नायक के गुणों का वर्णन करना चाहिए और तब उसके द्वारा शत्रु की पराजय का। नायक के शत्रु का वंश शौर्य तथा विद्वत्ता आदि का वर्णन करने के पश्चात् उसे पराजित करने का, नायक के उत्कर्ष का वर्णन होना चाहिए।

वामन का मत :—

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वामन ने काव्य के भेद करते हुए पहले उसे गद्य और पद्य में विभाजित किया। फिर गद्य को कवियों की कसौटी बताया। गद्य के तीन प्रकार निर्देशित किए जो कि वृत्तगन्धी, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय: है। गद्य वह होता है जो पूर्णात्मक गद्य के विपरीत हो। इसी प्रकार से सम, अर्द्धसम और निबद्ध दो प्रकार का होता है। वामन के काव्य वर्गीकरण विषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने मुक्तक की अपेक्षा महाकाव्य का महत्व अधिक प्रतिपादित किया है।

आनन्दवर्द्धन के विचार :

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि विवेचन के सन्दर्भ में विविध काव्य भेदों का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने महाकाव्य के दो भेदों की चर्चा की है, रस प्रधान महाकाव्य और इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य। इन दोनों में रस प्रधान महाकाव्य को उन्होंने श्रेष्ठ बताया है। इसी प्रकार से नाटक में भी रस योजना की मुख्यता निर्देशित की है। यहां तक कि कोई छन्द नियम न होने पर भी गद्य रचनाओं में रस औचित्य भी मुख्य वस्तु होती है। आनन्दवर्द्धन ने संस्कृत के काव्य शास्त्रियों में सबसे पहले चित्र काव्य का स्वरूप निर्धारित किया है। इसकी परिभाषा करते हुए उन्होंने बताया है कि व्यंग्य के प्रधान और गुण भाव से स्थिर होने पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों से भिन्न जो काव्य होता है उसे चित्र काव्य कहते हैं। चित्र काव्य का वर्गीकरण करते हुये उन्होंने उसके दो भेद किये हैं। चूंकि यह भेद शब्द और अर्थ पर आधारित होते हैं, इसलिये इन्हें शब्द चित्र और अर्थ चित्र कहा जाता है।

धनंजय का मत :—

दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धनंजय के अपने "दशरूपक" नामक ग्रन्थ में काव्य के विविध रूपों में से नाटक के अंग [उपांगों का विस्तृत विश्लेषण उपस्थित किया है।

धनंजय ने रूपक के दस भेद बताए हैं, ये भेद नाटक, प्रकरण भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग है। धनंजय ने रूपक के तीन आधारभूत तत्व वस्तु, नेता तथा रस निर्धारित किए हैं। इसके पश्चात् वस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके दो प्रकार आधिकारिक तथा प्रासंगिक बताये हैं। इनमें से आधिकारिक वस्तु के तीन भेद प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र तथा प्रासंगिक वस्तु के दो भेद पताका और प्रकरी बताए हैं। नाटक की पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, वस्तु की पाँच अवस्थायें तथा सन्धियाँ भी उन्होंने उल्लिखित की हैं। इसके पश्चात् नेता और रस का भी विश्लेषण किया है।

भोज का वर्गीकरण :—

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भोज ने श्रव्य काव्य का विवेचन किया है। श्रव्य काव्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि जो काव्य दृश्य नहीं होता तथा बोला नहीं जाता और केवल कानों को ही सुख प्रदान करता है, वह श्रव्य काव्य होता है। श्रव्य काव्य के उन्होंने छः भेद किये हैं। ये भेद आख्या, नान्दी, समस्काव, वस्तु निर्देश, अक्षिप्त तथा ध्रुवा हैं। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य को भोज ने चारो वृत्तियों के अंगों से युक्त उदात्त नायक वाला तथा चतुर्वर्ग फलदायक बताया है। प्रबन्ध में उन्होंने पाँच सन्धियाँ मानी हैं और उसके अभ्यवृत्त वाला तथा गुणयुक्त निर्देशित किया है। फिर उन्होंने यह बताया है कि प्रबन्ध काव्य में किस प्रकार के वर्णन से रस का उत्कर्ष होता है, किस प्रकार के वर्णन से रस का पोषण होता है, किस प्रकार के वर्णन से सरसता आती है तथा किस प्रकार के वर्णन से रस की वर्षा होती है। नायक की प्रतिष्ठा तथा उत्कर्ष आदि के विषय में भी भोज ने स्पष्ट निर्देश किये हैं। इसी प्रकार से भोज ने दृश्य काव्य के स्वरूप की भी विवेचना की है। भोज के अनुसार दृश्य काव्य उसे कहते हैं जो अभिनेताओं द्वारा कथित एवं वाचिक अभिनयों द्वारा निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है। दृश्य काव्य के उन्होंने छः और भी भेद किये हैं जो लास्य, ताण्डव, छलिक, सम्पा, हल्लीसक और रासक हैं।

मम्मट के विचार :—

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट ने काव्य के भेद करते हुए उसके तीन प्रकार बताए। इनमें से पहला उत्तम काव्य, दूसरा मध्यम काव्य और तीसरा अवर काव्य कहा। इन्हें ध्वनि काव्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्रकाव्य भी कहा जाता है। इनमें से उत्तम काव्य वह होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण

हो। इसी प्रकार से मध्यम काव्य वह होता है, जिसमें व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण गुणीभूत हो तथा अवर काव्य वह होता है जिसमें व्यंग्यार्थ न हो तथा शब्द चित्र और वाच्य चित्र हो।

विश्वनाथ का मत :—

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्वनाथ ने काव्य के रूपों का विवेचन करते हुए श्रव्य काव्य के दो भेद किए हैं, गद्य और पद्य। इनमें से पद्य उस काव्य को कहते हैं जो छन्दों में लिखा गया हो। इसके उन्होंने अनेक भेद किए है, उदाहरण के लिए मुक्त पद्य वाला काव्य मुक्तक, दो श्लोकों से वाक्य पूर्ति करने वाला काव्य युग्मक, तीन पद्यों वाला काव्य विशेषक, चार पद्यों वाला काव्य कलापक और पाँच या पाँच से अधिक पद्यों वाला काव्य कुलक कहा जाता है। इस प्रकार से श्रव्य काव्य के वर्गीकरण के पश्चात् विश्वनाथ ने महाकाव्य की विवेचना की है। उनके विचार से महाकाव्य उसे कहते हैं जिसमें सर्गों का निबन्धन हो। उसमें एक धीरोदात्त नायक होना चाहिये, एक अंगी रस होना चाहिये, उनमें नाटक की सभी सन्धियाँ रहनी चाहिये, उसकी कथा ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध होनी चाहिये, और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से उसका एक फल होना चाहिये। महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वर्ण्य वस्तु के विषय में निर्देश होना चाहिये। उसमे दुष्टों की निन्दा और गुणियों की प्रशंसा होनी चाहियें। उसकी सर्ग संख्या आठ से अधिक होनी चाहिये। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्द भिन्न हो जाना चाहिये और आगामी कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें विविध प्रकार के पूर्ण वर्णन होना चाहिये तथा उसका नामकरण कवि या नायक के अनुसार होना चाहिये। इस प्रकार से महाकाव्य का स्वरूप विश्लेषण करते हुए विश्वनाथ ने गद्य काव्य की विवेचना की है। गद्य के उन्होंने चार प्रकार बताये हैं, मुक्तक, वृत्तगंधी, उत्कलिका प्राय: तथा चूर्णक। इनमें से पहला समास रहित होता है, दूसरे में पद्यांश होते हैं, तीसरे में दीर्घ समास होते हैं और चौथे में लघु समास होते हैं। विश्वनाथ ने कथा का भी स्वरूप निर्देश किया है। उनके विचार से उसमें सरस वस्तु गद्य के द्वारा निर्मित होती है। इसी प्रकार से आख्यायिका के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा हैं कि वह कथा के समान होती है। उसमें कवि वंश का वर्णन होता है और पद्य भी यत्र तत्र होते हैं। अंत में विश्वनाथ ने चम्पू काव्य की व्याख्या करते हुये बताया है कि चम्पू उस काव्य को कहते हैं जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों।

जगन्नाथ का मत :—

सत्रहवीं शताब्दी में पंडित राज जगन्नाथ ने काव्य के भेद बताते हुए लिखा है कि उसके चार प्रकार होते है। पहला उत्तमोत्तम काव्य, दूसरा उत्तम काव्य, तीसरा मध्यम काव्य और चौथा अधम काव्य। इनमें से उत्तमोत्तम काव्य वह होता है जिसमे शब्द और अर्थ दोनों स्वयं गौण होकर किसी चामत्कारिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें। उत्तम काव्य वह होता है जिसमें व्यंग्य प्रधान न होते हुए भी चामत्कारिकता हो। मध्यम काव्य उसे कहते हैं जिनमें वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो तथा अधम काव्य वह होता है, जिसमें शब्द चमत्कार प्रधान तथा अर्थ चमत्कार उसकी शोभा के लिए ही हो। इस वर्गीकरण के पश्चात् जगन्नाथ ने ध्वनि काव्य का विवेचन किया है। ध्वनि काव्य के भेदों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके अभिधा मूलक के तीन भेद रस, ध्वनि, वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि और लक्षणामूलक के दो भेद, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य किये। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ध्वनि काव्य के उपर्युक्त पाँच भेदों में से रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मानकर उन्होंने उसकी आत्मा रस का विस्तार से विवेचन किया है।

काव्य वर्गीकरण विषयक भारतीय मत का सार

ऊपर भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में योग देने वाले महान् काव्य शास्त्रियों के काव्य के विविध भेदों से सम्बन्ध रखने वाले मन्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि भरत, भामह, दंडी, वामन, आनन्दवर्द्धन, धनंजय, भोज, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि शास्त्रज्ञों ने नाटक, महाकाव्य, चम्पू काव्य, चित्र काव्य, कथा, आख्यायिका तथा गाथा आदि श्रव्य और दृश्य काव्य के विविध भेदों की विस्तार से व्याख्या की है। भरत ने विशेष रूप से रस की विवेचना के सन्दर्भ में नाटक के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है। महाकाव्य का उन्होंने कई दृष्टियों से नाटक से साम्य सिद्ध किया है।

भामह ने संस्कृत साहित्य में सर्व प्रथम महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा और गाथा का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। दंडी ने अपना काव्य भेद विवेचन आख्यायिका, कथा और चम्पू काव्य तक सीमित रखा। वामन ने गद्य और पद्य काव्यों

की विवेचना की। आनन्दवर्द्धन ने महाकाव्य, नाटक आदि का तो स्वरूप विवेचन किया ही, साथ ही साथ चित्रकाव्य की भी व्याख्या की। धनंजय ने रूपक के भेदों का उल्लेख करते हुए उसके तत्वों की विस्तार से व्याख्या की है।

भोज ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य के विविध प्रकरणों का विश्लेषण किया और मम्मट ने ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्र काव्य का स्वरूप निर्देशन किया। विश्वनाथ ने श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, गद्य काव्य, कथा, आख्यायिका और चम्पू की व्याख्या की। इसी प्रकार से जगन्नाथ ने काव्य के भेद बताते हुए उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में उनका वर्गीकरण किया है और ध्वनि काव्य की विशदता से विवेचना की है। इन शास्त्रज्ञों की वैचारिक मौलिकता और विशिष्टता की ओर यथा स्थान संकेत किया जा चुका है।

काव्य का वर्गीकरण : पाश्चात्य मत

प्लेटो का मत :—

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की विविध परम्पराओं के अन्तर्गत जो उल्लेखनीय चिन्तक हुए हैं, उन्होंने काव्य भेदों के सिद्धान्त निरूपण की दिशा में गम्भीर दृष्टिकोण का परिचय दिया है। स्फुट रूप से काव्य के स्वरूप और प्रयोजन के सम्बन्ध में यूनान के अनेक प्राचीन साहित्य मनीषियों ने अपना मत प्रकट किया है परन्तु काव्य का सूक्ष्म वर्गीकरण सैद्धान्तिक रूप से सबसे पहले प्लेटो ने किया। प्लेटो ने सबसे पहले काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके तीन भेद किए। पहला गीतिकाव्य, दूसरा नाटक और तीसरा महाकाव्य, इन तीनों को ही उसने वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत रखा। गीतिकाव्य के विषय में उसने लिखा कि वह कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती है। गीति काव्य और महाकाव्य की रचना के लिए प्लेटो ने कुछ नियमों का भी निदर्शन किया है, जो उसके सामंजस्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। प्लेटो का मत था कि सामंजस्य काव्य रचना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है।

जहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, प्लेटो के समय तक नाटक के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हो चुका था। ऐतिहासिक और सम सामयिक नाट्य अभिनय

तथा नाट्य प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के बाद प्लेटो इस निष्कर्ष पर आया कि उनसे अनैतिकता बढ़ रही है। इस विडम्बना को देखकर प्लेटो ने यह दृढ़ धारणा बना ली कि जनता का बहुमत साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी कदापि नहीं हो सकता। उसने नाटक के दो रूप बताए जो कि सुखान्तक और दुखान्तक नाटक हैं। पृथक् पृथक् रूप से उसने इन दोनों का स्वरूप निरूपण किया और इन दोनों का महत्व और प्रभाव भी विश्लेषित किया। इनमें से सुखान्तक नाटक की आवश्यकता और मर्यादा बताते हुए प्लेटो ने लिखा कि सुखान्तक नाटक से हास्य सृष्टि तो होनी चाहिए, परन्तु किसी की भावनाओं को चोट नहीं पहुंचनी चाहिए।

अरस्तू का वर्गीकरण :—

प्लेटो के पश्चात् स्फुट रूप से फिर इन विषयों पर विविध विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए, परन्तु काव्य के भेदों का वैज्ञानिक वर्गीकरण अरस्तू के द्वारा ही सम्भव हो सका। अरस्तू ने दुखान्तक, सुखान्तक नाटक और महाकाव्य नामक काव्य के तीन भेद करके इनकी पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट की। उदाहरण के लिए उसने बताया कि भिन्न छन्द के कारण ही नाटक और महाकाव्य में अन्तर होता है। महाकाव्य एक विशिष्ट समाज के लिए अर्थ रखता है। महाकाव्य के अभिनय की आवश्यकता इसलिए है, क्योंकि यह सुसंस्कृत समाज के लिए है, परन्तु नाटक के विषय में ऐसा नहीं है, क्योंकि वह निम्न कोटि के समाज के लिए भी हो सकता है। उसी ने महाकाव्य का इसी दृष्टिकोण के आधार पर नाटक के अपेक्षा अधिक महत्व का सिद्ध किया है।

जहाँ तक दुखान्तक नाटक का सम्बन्ध है, यूनान के प्राचीन साहित्य विचारकों में सबसे पहले अरस्तू ने ही उसके स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया। उसने उसे किसी गम्भीर, महत्वपूर्ण और महान् कार्य का रंग स्थल पर अनुकरण बताया जो भाषा के माध्यम से मानवीय भावनाओं का परिमार्जन करता है। उसने दु खान्तक नाटक के छः तत्व निर्देशित किए जो कथानक, चरित्र चित्रण, पद रचना, विचार तत्व, दृश्य विधान तथा गीत हैं। इनमें से कथानक ही वह तत्व है जिसे उसने दुखान्तक नाटक की आत्मा बताया है, क्योंकि उसका विचार है कि इसी की उसमें मुख्यता रहती है। उसने इसे कथामूलक, कल्पना मूलक और इतिहास मूलक के नाम से कथानक के तीन प्रकार निर्देशित किए हैं। इसी प्रकार से चरित्र चित्रण के तत्व के विषय में अरस्तू का यह मत है कि दुखान्तक नाटक के पात्रों में श्रेष्ठता, भाषा प्रयोग की स्वाभाविकता साधारण मानवता तथा समरूपता नामक चार गुण होने चाहिए।

दुखान्तक नाटक की रचना के विषय में अरस्तू ने लिखा है कि उसमें आदि, मध्य और अंत होने चाहिए। उसके विचार से दुखान्तक नाटक के स्थायी भाव शोक और भय ही हैं, प्रशंसा नहीं। इसी प्रकार से सुखान्तक नाटक को उसने यद्यपि जीवन की अपेक्षा मनुष्य का हीनतर चित्रण कहा है ; इसलिए सुखान्तक नाटक का मूल भाव हास्य होता है। इसमें निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। उसका विचार है कि सुखान्तक नाटक में मनुष्य की उन दुर्बलताओं और सीमाओं का चित्रण होना चाहिए जो मूर्खतापूर्ण हों और जिनके प्रदर्शन से दर्शकों के मन में हास्य की उद्भावना हो। किसी भी प्रकार से किसी को पीड़ा पहुँचाना सुखान्तक नाटक का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

जहाँ तक महाकाव्य के कथानक की रचना का सम्बन्ध है अरस्तू ने लिखा है कि वह उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए जिनके अनुसार दुखान्तक नाटक के कथानक की होती है। इसका कारण यह है कि अरस्तू के विचार से महाकाव्य कई अर्थों में दुखान्तक नाटक से साम्य रखता है, यद्यपि उसका निश्चित विचार था कि महाकाव्य का क्षेत्र दुखान्तक नाटक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। दुखान्तक नाटक के समान ही महाकाव्य के भी उसने चार प्रकार बताये हैं (१) सरल, (२) जटिल, (३) नैतिक और (४) करुण। इसके अतिरिक्त कुछ तत्वों को छोड़ कर जैसे गीत और दृश्य विधान आदि, दोनों के सभी अन्य तत्व समान होते हैं। इस प्रकार से यद्यपि दुखान्तक नाटक और महाकाव्य में अरस्तू ने अनेक प्रकार की समता बताई है, परन्तु उसने इनका पारस्परिक अन्तर भी स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिए इन दोनों में कथा के आकार और छन्द का अन्तर रहता है। उसके विचार से महाकाव्य में छन्दगत एकात्मकता होनी आवश्यक है उसके मत के अनुसार कथानक, पात्र, विचार और भाषा नामक महाकाव्य मूल तत्व होते हैं।

अन्य विचारकों के मत:—

इस प्रकार से ऊपर गीतिकाव्य, महाकाव्य, दुखान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक तथा साहित्य के अन्य रूपों के विषय में जो परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह इन विषयों के सिद्धान्त निरूपण के क्षेत्र में शास्त्रीय महत्व का माना जाता है। अरस्तू के परवर्ती यूनानी समीक्षकों में से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसने उसके पश्चात् कोई नई देन इन क्षेत्रों में दी हो। यहाँ तक कि यूनानी साहित्य शास्त्र की परम्परा में आने वाले अन्तिम महान् विचारक लोंजाइनस तक ने इन क्षेत्रों में सिद्धान्त निदर्शन नहीं किया। साहित्य या कला में उदात्तता के स्वरूप के विवेचन के सन्दर्भ में उसने प्रासंगिक रूप से

अवश्य अपने मन्तव्य प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनमें काव्य रूपों की व्याख्या और स्वरूप निदर्शन की कोई प्रत्यक्ष चेष्टा नहीं लक्षित होती। यही नहीं, लौंजाइनस के पश्चात् जब यूनानी साहित्य चिन्तन की इस महान् परम्परा का अन्त हो गया और एथेन्स के स्थान पर रोम साहित्य चिन्तन का केन्द्र बन गया तब भी मुख्य रोमीय समीक्षकों सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर भी भिन्न भिन्न साहित्य रूपों के स्वरूप की व्याख्या के प्रयत्न कम ही दिखाई देते हैं।

इस परम्परा में आने वाले सिसरो आदि विचारकों ने काव्य के वैज्ञानिक स्वरूप निरूपण का प्रयत्न तो नहीं किया परन्तु उसके सामान्य तत्वों पर अवश्य अपना मत प्रकट किया। उदाहरण के लिए सिसरो का विचार है कि उत्कृष्ट काव्य की कसौटी यह है कि उसमें युगीन आकर्षण के साथ स्थायित्व भी हो। उसका विचार है कि काव्य एक प्रकार की दैवी प्रेरणा का परिणाम है। इसलिए कवि को अपने कार्य के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार होना चाहिए। उसका विचार है कि एक समर्थ कवि को अपने काव्य में कल्पना और यथार्थ दोनों का समावेश करना चाहिए और अपनी भाषा और उसके रचना तत्वों की ओर कभी भी उपेक्षा भाव नहीं दिखाना चाहिए। श्रेष्ठ काव्य के लिए उसने उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति दोनों को आवश्यक बताया है, यद्यपि इन दोनों में वह प्रथम को अधिक महत्व देता है। काव्य विषयक सिसरो की उपर्युक्त मान्यताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके अतिरिक्त इन क्षेत्रों में अन्य रोमीय समीक्षकों द्वारा कोई मौलिक चिन्तन नहीं हुआ। अधिकांशतः यूनानी सिद्धान्तों की ही पुनरावृत्ति की गयी।

काव्य वर्गीकरण विषयक पाश्चात्य मत का सार

रोम में साहित्य चिन्तन की जो परम्परा आरम्भ हुई थी उसमें काव्य रूपों का निरूपण किसी विचारक ने इसलिये भी वैज्ञानिक रूप में और विस्तार से करने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि आरम्भिक कालीन अधिकांश रोमीय चिन्तक साहित्य और काव्य की अपेक्षा भाषण कला को अधिक महत्व देते थे। इसलिए साहित्य रूपों के सम्बन्ध में, अप्रधान और प्रासंगिक रूप से वह जो कुछ भी कह देते थे, उसमें प्रायः यूनानी सिद्धान्तों का ही अनुगमन होता था। होरेस रोमीय समीक्षकों में पहला चिन्तक था जो साहित्य को भाषण कला की अपेक्षा मुख्यता प्रदान करता था। यद्यपि वह एक

विचित्र संयोग सिद्ध हुआ कि उसे साहित्य शास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था। इसलिए होरेस के साहित्यिक मन्तव्य अधिक मौलिकता लिए नहीं प्रतीत होते और इन पर यूनानी समीक्षकों के विचारों का भारी प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। उसने कवि के लिये व्यावहारिक बुद्धि प्रयोग अनुमोदित की है। आलंकारिकता, स्पष्टता, सरलता, विचित्रता, छन्दात्मकता और सजग शब्द प्रयोग को उसने काव्य में मर्यादित घोषित किया है।

उसने कवि के लिये दार्शनिक सिद्धान्तों का यथेष्ठ परिचय आवश्यक बताया है। वह काव्य को केवल दो कोटियों का मानता था, श्रेष्ठ काव्य और हीन काव्य। उसका निश्चित विचार था कि यदि कोई काव्य श्रेष्ठ काव्य नहीं है तो वह अनिवार्यतः निम्न कोटि का होगा। यूनानी चिन्तकों से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुये वह भी काव्य का ध्येय उपदेशात्मकता और आनन्दानुभूति दोनों मानता था। उसने काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हुये कवियों के लिये यह निर्देश किया कि वे यूनानी साहित्यिक आदर्शों को सदैव अनुगामित करें। होरेस ने रोमीय चिन्तकों में सबसे पहले काव्य का वर्गीकरण किया और व्यंग्य काव्य का प्रयोजन व्यक्ति अथवा समाज के दोषों का निराकरण करना बतलाया।

उसने व्यंग्य काव्य और प्रहसन का भेद करते हुये उसके चरित्रों का भी स्पष्टीकरण किया है। उसका मत है कि व्यंग्य काव्य के पात्रों का हास्य संतुलित और विवेकपूर्ण होता है जब कि प्रहसन के पात्रों का नहीं। इसके अतिरिक्त इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर उसने यह बतलाया कि व्यंग्य काव्य में सदैव उद्देश्यपूर्णता रहती है जब कि प्रहसन निरुद्देश्य भी हो सकता है। इसी प्रकार से नाट्य कला पर भी होरेस ने जो विचार प्रकट किये, वे यूनानी विचारधारा से प्रभावित हैं। उसने भी नाटक के तत्वों में कथा, कथा निरूपण, पात्र और शैली आदि तत्वों का विश्लेषण किया। उसने नाटक में अंक योजना और दृश्य योजना के विषय में निर्देश देते हुये यह बताया कि उसमें क्रियाशीलता होनी आवश्यक है। नाटक में गीतों का समावेश उसने समर्थित किया है। जहाँ तक नाटक के प्रयोजन और आदर्श का सम्बन्ध है उसका मत है कि नाटक में नीति तथा धर्म विषयक चित्रण, हास्य तथा करुणा की अपेक्षा अधिक सम्मत है।

इस प्रकार से यूरोपीय साहित्य चिन्तन की यह दूसरी परम्परा भी समाप्त होती है और इस समय से लेकर लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक इन विषयों में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं दिखलाई देती। मध्य युग में जब साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में पुनर्जागरण हुआ तब

अपेक्षाकृत नवीन दृष्टिकोण से इन प्राचीन उपलब्धियों को आंका गया और तभी इनके भावी विकास की भी सम्भावनाएँ हुईं।

भारतीय सिद्धान्तों की सर्वांगीणता : अलंकार तत्व

भरत और दंडी :—

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में रस तथा ध्वनि आदि सिद्धान्तों की '' र अलंकार सिद्धान्त का भी विशेष महत्व है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अलंकारों का विवेचन सबसे पहले भरत मुनि ने किया। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में प्रधानत. नाटक के सन्दर्भ में ही चार मुख्य अलंकार बताये, जो उपमा, रूपक, दीपक और यमक है। भरत के बाद सातवीं शताब्दी में दंडी ने अपने "काव्यादर्श" नामक ग्रन्थ में अलंकारों का विवेचन किया। अलंकार की परिभाषा देते हुये दंडी ने कहा है कि अलंकार काव्य के सौन्दर्य कारक धर्मों को कहा जाता है। उन्होंने कई प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है जिनमें उत्तम अलंकार अतिशयोक्ति को माना है। इसके अतिरिक्त दंडी ने प्रेय अलंकार, रसवत् अलंकार और श्लेष अलंकारों का वर्णन किया है। जिनमें उत्तम अलंकार अतिशयोक्ति को माना है और उसकी विस्तार से व्याख्या की है।

वामन और रुद्रट का अलंकार वर्गीकरण :—

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वामन ने अपने "काव्यालंकार" सूत्र नामक ग्रन्थ में अलंकार का महत्व बताते हुये लिखा है कि काव्य की शोभा अलंकार से ही होती है। जहाँ तक अलंकार की परिभाषा का सम्बन्ध है, वामन का मत है कि सौन्दर्य को अलंकार कहते हैं। वामन के पश्चात् रुद्रट ने नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ में अलंकारों का वर्गीकरण करते हुये उसके चार भेद किये हैं। पहला वास्तव अलंकार, जिसके उन्होंने सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित एवम् एकावली नामक तेईस भेद किये हैं। दूसरा अलंकार रुद्रट ने औपम्य बताया है जिसके उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपन्हुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, और स्मरण नामक २१ भेद होते हैं। तीसरा अलंकार रुद्रट के मत में अतिशय अलंकार है, जिसके पूर्व विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात

तथा अहेतु नामक बारह भेद होते हैं। और चौथा अलंकार रुद्रट के अनुसार श्लेष अलंकार होता है जिसके अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्व तथा विरोधाभास नामक दस भेद होते हैं। इस प्रकार से रुद्रट ने संस्कृत के काव्य शास्त्रियों में सबसे पहले अलंकारों का वैज्ञानिकता और सम्पूर्णता के साथ विवेचन किया है।

अन्य भारतीय सिद्धान्त : वैशिष्ट्य और महत्व

दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुन्तक ने "वक्रोक्ति जीवितम्" नामक ग्रन्थ की रचना करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अलंकार की परिभाषा करते हुए कुन्तक ने लिखा कि जिससे अलंकृति हो, उसे अलंकार कहते हैं। कुन्तक के अलंकार विवेचन के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है और उन साहित्य पंडितों का विरोध किया है, जो इसे अलंकार मानते हैं। इसी प्रकार से संस्कृत में ध्वनि सिद्धान्त आदि का प्रवर्त्तन और विस्तार से व्याख्या विविध आचार्यों ने की है, जिसके सम्बन्ध में यथा स्थान लिखा गया है। यहाँ पर इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि इन सिद्धान्तों का प्रवर्तन और निरूपण भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी विशेषता रही है और यद्यपि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी अलंकार आदि का काव्य में स्थान स्वीकार किया गया है, परन्तु इतना निश्चित है कि वहाँ उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

पाश्चात्य सिद्धान्त : वैशिष्ट्य और महत्व

भारतीय काव्य शास्त्र की भाँति ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी कुछ ऐसे विषयों को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है, जिनको पाश्चात्य चिन्तकों ने विस्तार से विवेचित किया है; यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उन्हें या तो बिल्कुल महत्व नहीं दिया गया या कला के एक रूप में उन्हें सामान्य रूप से मान्यता दी गई है। उदाहरण के लिए भाषण कला का उल्लेख किया जा सकता है। भाषण कला ऐसा विषय है, जिसे यूरोपीय साहित्य शास्त्र में अत्यधिक महत्व दिया गया है और जिस पर बहुत विस्तार से लिखा गया है। इस कथन का प्रमाण यह है कि ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व यूरोप में भाषण कला की वैज्ञानिक और शास्त्रीय शिक्षा का आयोजन हुआ था। उसी समय भाषण शास्त्र पर सर्व प्रथम ग्रन्थ भी लिखा गया था।

जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है, कोरेक्स तथा टीसीयेस ने भाषण शास्त्र के विषय तथा उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया था। फिर थ्रेसीमेक्स ने इस शास्त्र का

वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसे सम्पूर्णता प्रदान की। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि थ्रेसीमेकस ने भाषा और भाषा की शुद्धता पर विशेष गौरव दिया। उसका मत था कि भाषण में प्रयुक्त भाषा को सामान्य प्रयोग की भाषा से उच्चतर होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से उसने भाषा के अलंकरण की आवश्यकता भी बताई। इसके पश्चात् प्लेटो ने भाषणशास्त्र पर विचार करते हुए यह लिखा कि भाषण में वक्ता सत्य की इस लिए उपेक्षा करता है कि उसमें कृत्रिमता अधिक होती है। वक्तागण अपनी बात को शब्द जाल और चतुराई से कहते हैं। प्लेटो का यह विचार था कि उच्च कोटि के भाषण शास्त्र के लिए उच्च कोटि कला आवश्यक है। यह कला वक्ता को विषय का पूर्ण ज्ञान होना है। प्लेटो के विचार से भाषण कला का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि उसका अनुभव यह था कि वक्ताओं को भाषण कला का सम्यक् ज्ञान नहीं था।

अरस्तू और सिसरो के मत :—

भाषण कला विषयक अरस्तू के विचार बहुत मौलिक और विश्लेषणपूर्ण हैं। भाषण कला की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा कि यह अवस्था विशेष में प्रत्यय के उपलब्ध साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। उसने बताया कि भाषण कला तर्क कला की अनुपूरक है। भाषण कला के व्यापक महत्व की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि इसका सम्बन्ध जन साधारण से होता है और सभी लोग थोड़ा बहुत इसका प्रयोग करते हैं। अरस्तू के बाद यूनानी समीक्षकों में कोई ऐसा उल्लेखनीय विचारक नहीं हुआ जिसने इस क्षेत्र में किसी मौलिक सिद्धान्त की रचना की हो। जब रोमीय परम्परा का आरम्भ हुआ तब उसके सर्व प्रथम उल्लेखनीय समीक्षक सिसरो ने भाषण शास्त्र पर विचार किया। भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता पर उसने बहुत गौरव दिया। भाषण कला और काव्य कला में वह भाषण कला को मुख्यता देता था। यहाँ तक कि वह साहित्य या काव्य को भाषण कला का सहायक मानता था।

इसके अतिरिक्त वह अपने युग के लिए भी भाषण कला को अधिक उपयोगी समझता था। उसके समय तक रोम में यूनानी भाषण शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का प्रचार था। परन्तु उसने सबसे पहले रोमीय परम्परा में यूनानी नियमों में परिवर्तन करके उन्हें अपने अनुकूल बनाया। सिसरो का विचार था कि भाषण कला एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता परिचय देने मे समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त वह मानवीय सभ्यता का द्योतक और प्रचारक भी होता है। इस दृष्टिकोण से उसने

भाषण कर्ता की योग्यताएँ निर्धारित करते हुए यह बताया कि उसे इस माध्यम का गुरुत्व समझकर उसका निर्वाह करना चाहिए। भाषण कर्ता को अपने विषय का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। उसे प्रासंगिक विषयों की पर्याप्त व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए।

भाषण कर्ता के लिए उसने सिद्धान्तों का पालन अनिवार्य बताया। सिसरो ने भाषण कला के तीन आदर्श माने (१) मूल विषय तथा प्रासांगिक विषयों का आधिकारिक ज्ञान, (२) श्रोताओं को विषय विवेचन तथा भाषा शैली से प्रभावित करना, (३) श्रोताओं को निरन्तर प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना। भाषण कर्ता के लिए स्वयं को अनुशासित करना भी आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषण कर्ता अपनी प्राकृतिक प्रतिभा का उपयोग करे, भाषण कला का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन करे और अभ्यास भी करे। जहाँ तक भाषण की भाषा का सम्बन्ध है, उसने आलंकारिक भाषा के प्रयोग को अनुमोदित किया है, क्योंकि श्रोता उससे अधिक प्रभावित होता है और उसकी स्पष्ट धारणा थी कि अन्ततः श्रोतागण ही भाषण कर्ता की श्रेष्ठता के निर्णायक होंगे। इस प्रकार से रोम के साहित्य चिन्तकों में केवल सिसरो ही ऐसा हुआ है जिसने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया।

विल्सन के विचार :—

रोमीय परम्परा के अन्त के बाद मध्य युग में जब साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ तब सोलहवीं शताब्दी में सर टामस विल्सन ने भाषण शास्त्र के विषय में प्रयत्न किए। जहाँ भाषण शास्त्र के प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन का प्रश्न है, विल्सन का महत्व बहुत अधिक है। विल्सन के युग में समकालीन परिस्थितियों के सर्व क्षेत्रीय ज्ञान को भाषण कर्ता के लिये एक अतिरिक्त नियम के रूप में मान्य किया गया। शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुगमन की महत्ता बताने के साथ व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के विषय में भी कुछ नियम बने। कुल मिलाकर, विषय का सम्यक् ज्ञान, विषय का कलापूर्ण प्रयोग और विषय के अनुरूप शैली में अभिव्यक्ति, प्रभावपूर्ण भाषण के तत्व बताए गये। शैली के विषय में यह कहा गया कि उसमें अलंकार, चमत्कार के साथ स्पष्टता भी होनी चाहिये। शैली की सफलता भाषा पर भी निर्भर करती है इसलिये भाषा रचना के लिये अनुरूप शब्दावली का चयन अनुमोदित किया गया। इस प्रकार से पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में विषय निरूपण और महत्व की दृष्टि से भाषण शास्त्र की विशिष्टता दी गई। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मध्य युग के पश्चात् जो पाश्चात्य समीक्षा लिखी गई वह साहित्यिक विषयों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है।

वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसे सम्पूर्णता प्रदान की। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि थ्रेसीमेकस ने भाषा और भाव की दृढ़ता पर विशेष गौरव दिया। उसका मत था कि भाषण में प्रयुक्त भाषा भी सामान्य प्रयोग की भाषा से उत्कृष्ट होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से उसने भाषा के अलंकरण की आवश्यकता भी बताई। इसके पश्चात् प्लेटो ने भाषणशास्त्र पर विचार करते हुए यह लिखा कि भाषण में वक्ता सत्य की इस लिए उपेक्षा करता है कि उसमें कृत्रिमता अधिक होती है। वक्तागण अपनी बात को शब्द जाल और चतुराई से कहते हैं। प्लेटो का यह विचार था कि उच्च कोटि के भाषण शास्त्र के लिए उच्च कोटि कला आवश्यक है। यह कला वक्ता को विषय का पूर्ण ज्ञान होना है। प्लेटो के विचार से भाषण कला का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि उसका अनुभव यह था कि वक्ताओं को भाषण कला का सम्यक् ज्ञान नहीं था।

अरस्तू और सिसरो के मत :—

भाषण कला विषयक अरस्तू के विचार बहुत मौलिक और विश्लेषणपूर्ण हैं। भाषण कला की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा कि वह अवस्था विशेष में प्रत्यय के उपलब्ध साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। उसने बताया कि भाषण कला तर्क कला की अनुपूरक है। भाषण कला के व्यापक महत्व की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि इसका सम्बन्ध जन साधारण से होता है और सभी लोग थोड़ा बहुत इसका प्रयोग करते हैं। अरस्तू के बाद यूनानी समीक्षकों में कोई ऐसा उल्लेखनीय विचारक नहीं हुआ जिसने इस क्षेत्र में किसी मौलिक सिद्धान्त की रचना की हो। जब रोमीय परम्परा का आरम्भ हुआ तब उसके सर्व प्रथम उल्लेखनीय समीक्षक सिसरो ने भाषण शास्त्र पर विचार किया। भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता पर उसने बहुत गौरव दिया। भाषण कला और काव्य कला में वह भाषण कला को मुख्यता देता था। यहाँ तक कि वह साहित्य या काव्य को भाषण कला का सहायक मानता था।

इसके अतिरिक्त वह अपने युग के लिए भी भाषण कला को अधिक उपयोगी समझता था। उसके समय तक रोम में यूनानी भाषण शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का प्रचार था। परन्तु उसने सबसे पहले रोमीय परम्परा में यूनानी नियमों में परिवर्तन करके उन्हें अपने अनुकूल बनाया। सिसरो का विचार था कि भाषण कला एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता परिचय देने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त वह मानवीय सभ्यता का द्योतक और प्रचारक भी होता है। इस दृष्टिकोण से उसने

भाषण कर्ता की योग्यताएँ निर्धारित करते हुए यह बताया कि उसे इस माध्यम का गुरुत्व समझकर उसका निर्वाह करना चाहिए। भाषण कर्ता को अपने विषय का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। उसे प्रासंगिक विषयों की पर्याप्त व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए।

भाषण कर्ता के लिए उसने सिद्धान्तों का पालन अनिवार्य बताया। सिसरो ने भाषण कला के तीन आदर्श माने (१) मूल विषय तथा प्रासंगिक विषयों का आधिकारिक ज्ञान, (२) श्रोताओं को विषय विवेचन तथा भाषा शैली से प्रभावित करना, (३) श्रोताओं को निरन्तर प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना। भाषण कर्ता के लिए स्वयं को अनुशासित करना भी आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषण कर्ता अपनी प्राकृतिक प्रतिभा का उपयोग करे, भाषण कला का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन करे और अभ्यास भी करे। जहाँ तक भाषण की भाषा का सम्बन्ध है, उसने आलंकारिक भाषा के प्रयोग को अनुमोदित किया है, क्योंकि श्रोता उससे अधिक प्रभावित होता है और उसकी स्पष्ट धारणा थी कि अन्ततः श्रोतागण ही भाषण कर्ता की श्रेष्ठता के निर्णायक होंगे। इस प्रकार से रोम के साहित्य चिन्तकों में केवल सिसरो ही ऐसा हुआ है जिसने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया।

विल्सन के विचार :—

रोमीय परम्परा के अन्त के बाद मध्य युग में जब साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ तब सोलहवीं शताब्दी में सर टामस विल्सन ने भाषण शास्त्र के विषय में प्रयत्न किए। जहाँ भाषण शास्त्र के प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन का प्रश्न है, विल्सन का महत्व बहुत अधिक है। विल्सन के युग में समकालीन परिस्थितियों के सर्व क्षेत्रीय ज्ञान को भाषण कर्ता के लिये एक अतिरिक्त नियम के रूप में मान्य किया गया। शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसरण की महत्ता बताने के साथ व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के विषय में भी कुछ नियम बने। कुल मिलाकर, विषय का सम्यक् ज्ञान, विषय का कलापूर्ण प्रयोग और विषय के अनुरूप शैली में अभिव्यक्ति, प्रभावपूर्ण भाषण के तत्व बताए गये। शैली के विषय में यह कहा गया कि उसमें अलंकार, चमत्कार के साथ स्पष्टता भी होनी चाहिये। शैली की सफलता भाषा पर भी निर्भर करती है इसलिये भाषा रचना के लिये अनुरूप शब्दावली का चयन अनुमोदित किया गया। इस प्रकार से पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में विषय निरूपण और महत्व की दृष्टि से भाषण शास्त्र को विशिष्टता दी गई। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मध्य युग के पश्चात् जो पाश्चात्य समीक्षा लिखी गई वह साहित्यिक विषयों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है।

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा : दृष्टिकोणगत साम्य और वैषम्य

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उनका प्रसार आज से सहस्रों वर्षों पूर्व तक है। पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गत यहाँ मुख्यतः यूनानी रोमीय तथा अंग्रेजी समीक्षा परम्पराओं का उल्लेख किया गया है और भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत संस्कृत तथा हिन्दी रीति कालीन परम्पराओं की चर्चा की गयी है। यदि पाश्चात्य समीक्षात्मक चिन्तन के अस्तित्व के संकेत ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व तक मिलते हैं, तो भारतीय समीक्षा शास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ भी सूत्र रूप में वैदिक काल से माना जाता है। परन्तु साहित्य चिन्तन का संयोजित रूप में प्रस्तुतीकरण करने वाली सर्वप्रथम शास्त्रीय कृति जिस प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास में अरस्तू कृत "पोयटिक्स" मानी जाती है उसी प्रकार से संस्कृत में भरत मुनि रचित "नाट्यशास्त्र"। पाश्चात्य समीक्षा में यूनानी परम्परा के अन्त के पश्चात् प्रायः उसी के निर्धारित मार्गों पर रोमीय परम्परा का आरम्भ तथा उसके पश्चात् अंग्रेजी परम्परा का विकास हुआ। इसी प्रकार से हमारे यहाँ संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के अन्त के पश्चात् प्रायः उसी की इंगित दिशाओं पर रीति शास्त्र की परम्परा का आरम्भ एवं तत्पश्चात् आधुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ हुआ।

पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन में दृष्टिकोणगत अन्तर यह है कि पाश्चात्य समीक्षा में मूल रूप से काव्य अथवा साहित्य के भेदों का स्वतन्त्र रूप में विचार कम किया गया है, जब कि भारतीय समीक्षा में उनका पृथक्-पृथक् रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि पाश्चात्य साहित्य में काव्य शास्त्र, छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र, भाषण शास्त्र तथा सौन्दर्य शास्त्र आदि को परस्पर भिन्न समझ कर इन पर स्फुट रूप से विचार किया गया है। इसके विपरीत भारतीय साहित्य में काव्य शास्त्र का समग्र रूप से विशुद्ध विश्लेषण हुआ है। उसमें काव्य के स्वरूप काव्य की आत्मा, काव्य के उद्देश्य, काव्य के कारण, काव्य के गुण, अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, काव्य के दोष, काव्य की भाषा तथा कवि शिक्षा आदि का सम्यक् निरूपण मिलता है। संस्कृत में काव्य शास्त्र को दर्शन आदि से सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक् विषय मानकर विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या के वैज्ञानिक प्रयत्न हुये हैं। संस्कृत में काव्यशास्त्र के भाषा, छन्द, अलंकार आदि किसी अंग का स्फुट विवेचन न होकर काव्य की आत्मा पर अन्वेषणात्मक दृष्टि से चिन्तन हुआ है। पाश्चात्य साहित्य में इस गवेषणा वृत्ति का भी अभाव है। उसमें वैयक्तिक आग्रह की प्रबलता सैद्धान्तिक निरूपण में भी मिलती है, जब कि भारतीय चिन्तन वैचारिक संगठनात्मकता का प्रतीक है।